प्रसाद साहित्य

प्रसाद ग्रंथावली 4

प्रसाद ग्रंथावली

खंड-4

भारतीय ग्रंथ निकेतन द्वारा प्रकाशित

प्रसाद का साहित्य

कविता

कामायनी
आँसू
झरना
लहर
महाराणा का महत्व
प्रेम पथिक

नाटक

चन्द्रगुप्त
स्कंदगुप्त
अजातशत्रु
ध्रुवस्वामिनी
जनमेजय का नागयज्ञ
राज्यश्री
विशाख
कामना
एक घूंट

उपन्यास

कंकाल
तितली
इरावती

कहानी-संग्रह

छाया
इंद्रजाल
आकाशदीप
प्रतिध्वनि
आंधी

निबंध

काव्य और कला तथा अन्य निबंध

प्रसाद ग्रंथावली—चार भाग

मुंशी प्रेमचन्द का साहित्य

उपन्यास

कर्मभूमि
कायाकल्प
ग़बन
गोदान
निर्मला
प्रतिज्ञा
प्रेमाश्रम
मनोरमा
रंगभूमि
रूठी रानी और प्रेमा (दो उपन्यास)
वरदान
सेवासदन

कहानी-संग्रह

मानसरोवर—आठ भाग

नाटक

कर्बला
संग्राम
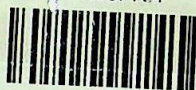
प्रसाद ग्रंथावली

खंड-4—कहानी-निबंध

भारतीय ग्रन्थ निकेतन
2713, कूचा चेलान, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

प्रकाशक : भारतीय ग्रन्थ निकेतन
2713 कूचा चेलान, दरिया गंज
नई दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष : 1988
मूल्य : 100.00
मुद्रक : रूबी प्रिंटर्स
बाबरपुर रोड, शिवाजी पार्क
शाहदरा-दिल्ली-110032

Prasad granthavali, Part IV : Jay Shankar Prasad

छाया

तानसेन

1

यह छोटा-सा सरोवर भी क्या ही सुन्दर है, सुहावने आम और जामुन के वृक्ष चारों ओर से इसे घेरे हुए हैं। दूर से देखने में यहाँ केवल एक बड़ा-सा वृक्षों का झुरमुट दिखाई देता है, पर इसका स्वच्छ जल अपने सौंदर्य को ऊँचे ढूहों में छिपाये हुए है। कठोर-हृदया धरती के वक्षस्थल में यह छोटा-सा करुणा कुंड, बड़ी सावधानी से, प्रकृति ने छिपा रक्खा है।

संध्या हो चली है। विहँग-कुल कोमल कल-रव करते हुए अपने-अपने नीड़ की ओर लौटाने लगे हैं। अंधकार अपना आगमन सूचित कराता हुआ वृक्षों के ऊँचे टहनियों के कोमल किसलयों को धुँधले रंग का बना रहा है। पर सूर्य की अंतिम किरणें अभी अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहती हैं। वे हवा के झोकों से हटाई जाने पर भी अंधकार के अधिकार का विरोध करती हुई सूर्यदेव की उंगलियों की तरह हिल रही हैं।

संध्या हो गई। कोकिल बोल उठा। एक सुंदर कोमल कंठ से निकली हुई रसीली तान ने उसे भी चुप कर दिया। मनोहर-स्वर-लहरी उस सरोवर-तीर से उठकर तट के सब वृक्षों को गुंजरित करने लगी। मधुर-मलयानिल-ताड़ित जल-लहरी उस स्वर के ताल पर नाचने लगी। हर-एक पत्ता ताल देने लगा। अद्भुत आनंद का समावेश था। शांति का नैसर्गिक राज्य उस छोटी रमणीयभूमि में मानों जमकर बैठ गया था।

यह आनंद-कानन अपना मनोहर स्वरूप एक पथिक से छिपा न सका, क्योंकि वह प्यासा था। जल की उसे आवश्यकता थी। उसका घोड़ा, जो बड़ी शीघ्रता से आ रहा था, रुका, और वह उतर पड़ा। पथिक बड़े वेग से अश्व से उतरा, पर वह भी स्तब्ध खड़ा हो गया; क्योंकि उसको भी उसी स्वर-लहरी ने मंत्रमुग्ध फणी की तरह बना दिया। मृगया-शील पथिक क्लांत था—वृक्ष के सहारे खड़ा हो गया। थोड़ी देर तक वह अपने को भूल गया। जब स्वर-लहरी-ठहरी, तब उसकी निद्रा भी टूटी। युवक सारे श्रम को भूल गया, उसके अंग में एक अद्भुत स्फूर्ति मालूम हुई। वह, जहाँ से स्वर सुनाई पड़ता था, उसी ओर चला। जाकर देखा, एक युवक खड़ा होकर उस अंधकार-रंजित जल की ओर देखा रहा है।

पथिक ने उत्साह के साथ जाकर उस युवक के कंधे को पकड़ कर हिलाया। युवक का ध्यान टूटा। उसने पलटकर देखा।

2

पथिक का वीर-वेश भी सुंदर था। उसकी खड़ी मूंछें उसके स्वाभाविक गर्व को तनकर जता रही थीं। युवक को उसके इस असभ्य बर्ताव पर क्रोध तो आया, पर कुछ सोचकर वह चुप हो रहा। और, इधर पथिक ने सरल स्वर से एक छोटा-सा प्रश्न कर दिया—क्यों भई, तुम्हारा नाम क्या है?

युवक ने उत्तर दिया—रामप्रसाद।

पथिक—यहाँ कहाँ रहते हो? अगर बाहर के रहने वाले हो, तो चलो, हमारे घर पर आज ठहरो।

युवक कुछ न बोला, किन्तु उसने एक स्वीकार-सूचक इंगित किया। पथिक और युवक, दोनों, अश्व के समीप आये। पथिक ने उसकी लगाम हाथ में ले ली। दोनों पैदल ही सड़क की ओर बढ़े।

दोनों एक विशाल दुर्ग के फाटक पर पहुंचे और उसमें प्रवेश किया। द्वार के रक्षकों ने उठ कर आदर के साथ उस पथिक को अभिवादन किया। एक ने बढ़कर घोड़ा थाम लिया। अब दोनों ने बड़े दालानों और अमराइयों को पार करके एक छोटे-से पाईं बाग में प्रवेश किया।

रामप्रसाद चकित था, उसे यह नहीं ज्ञात होता था कि वह किसके संग कहाँ जा रहा है। हाँ, यह उसे अवश्य प्रतीत हो गया कि यह पथिक इस दुर्ग का कोई प्रधान पुरुष है।

पाईं-बाग में बीचों-बीच एक चबूतरा था, जो संगमरमर का बना था। छोटी-छोटी सीढ़ियाँ चढ़कर दोनों उस पर पहुंचे। थोड़ी देर में एक दासी पानदान और दूसरी वारुणी की बोतल लिए हुए आ पहुँची।

पथिक, जिसे अब हम पथिक न कहेंगे, ग्वालियर-दुर्ग का किलेदार था, मुगल सम्राट् अकबर के सरदारों में से था। बिछे हुए पारसी कालीन पर मसनद के सहारे वह बैठ गया। दोनों दासियाँ फिर एक हुक्का ले आईं और उसे रखकर मसनद के पीछे खड़ी होकर चँवर करने लगीं। एक ने रामप्रसाद की ओर बहुत बचाकर देखा।

युवक सरदार ने थोड़ी-सी वारुणी ली। दो-चार गिलौरी पान की खाकर फिर वह हुक्का खींचने लगा। रामप्रसाद क्या करे; बैठे-बैठे सरदार का मुँह देख रहा था। सरदार के ईरानी चेहरे पर वारुणी ने वार्निश का काम किया। उसका चेहरा चमक उठा। उत्साह से भरकर उसने कहा—रामप्रसाद, कुछ-कुछ गाओ। यह उस दासी की ओर देख रहा था।

3

रामप्रसाद, सरदार के साथ बहुत मिल गया। उसे अब कहीं भी रोक-टोक नहीं है। उसी पाईं-बाग में उसके रहने की जगह है। अपनी खिचड़ी आँच पर चढ़ाकर प्रायः चबूतरे पर आकर गुनगुनाया करता। ऐसा करने की उसे मनाही नहीं थी। सरदार भी कभी-कभी खड़े होकर बड़े प्रेम से उसे सुनते थे। किन्तु उस गुनगुनाहट की धुन में, कभी-कभी पान में चूना रखना भूल जाया करती थी, और कभी-कभी मालकिन के 'किताब' माँगने पर 'आफताबा' ले जाकर बड़ी लज्जित होती थी। पर तो भी बरामदे में से उसे एक बार उस चबूतरे की ओर देखना ही पड़ता था।

रामप्रसाद को कुछ नहीं—वह जंगली जीव था। उसे इस छोटे-से उद्यान में रहना पसंद नहीं था, पर क्या करे। उसने भी एक कौतुक सोच रक्खा था। जब उसके स्वर में मुग्ध होकर कोई अपने कार्य में च्युत हो जाता, तब उसे बड़ा आनंद मिलता।

सरदार अपने कार्य में व्यस्त रहते थे। उन्हें संध्या को चबूतरे पर बैठकर रामप्रसाद के दो-एक गाने सुनने का नशा हो गया था। जिस दिन गाना नहीं सुनते, उस दिन उनको वारुणी में नशा कम हो जाता—उनकी विचित्र दशा हो जाती थी। रामप्रसाद ने एक दिन अपने पूर्व-परिचित सरोवर पर जाने के लिये छुट्टी माँगी; मिल भी गई।

संध्या को सरदार चबूतरे पर नहीं बैठे, महल में चले गये। उनकी स्त्री ने कहा—आज आप उदास क्यों हैं?

सरदार—रामप्रसाद के गाने में मुझे बड़ा ही सुख मिलता है।

सरदार-पत्नी—क्या आपका रामप्रसाद इतना अच्छा गाता है जो उसके विना आपको चैन नहीं? मेरी समझ में मेरी बाँदी उससे अच्छा गा सकती है।

सरदार—(हँसकर) भला! उसका नाम क्या है?

सरदार-पत्नी—वही, सौसन—जिसे मैं देहली से ख़रीदकर ले आई हूँ।

सरदार—क्या ख़ूब! अजी, उसको तो मैं रोज देखता हूँ। वह गाना जानती होती, तो क्या मैं आज तक न सुन सकता!

सरदार-पत्नी—तो इसमें बहस की कोई जरूरत नहीं है। कल उसका और रामप्रसाद का सामना कराया जावे।

सरदार—क्या हर्ज।

4

आज उस छोटे-से उद्यान में अच्छी सज-धज है। साज लेकर दासियाँ बजा रही हैं। 'सौसन' संकुचित होकर रामप्रसाद के सामने बैठी है। सरदार ने उसे

गाने की आज्ञा दी। उसने गाना आरंभ किया—

कहो री, जो कहिबे की होई ।
बिरह बिथा अंतर की वेदन सो जाने जेहि होई ।।
ऐसे कठिन भये पिय प्यारे काहि सुनावों रोई ।
'सूरदास' सुखमूरि मनोहर लै जुगयो मन गोई ।।

कमनीय कामिनी-कंठ की प्रत्येक तान में ऐसी सुंदरता थी कि सुनने वाले, बजाने वाले—सब चित्र लिखे-से हो गये । रामप्रसाद की विचित्र दशा थी, क्योंकि सौसन के स्वाभाविक भाव, जो उसकी ओर देखकर होते थे—उसे मुग्ध किये हुए थे ।

रामप्रसाद गायक था, किन्तु रमणी-सुलभ भ्रू-भाव उसे नहीं आते थे । उसकी अंतरात्मा ने उससे धीरे-से कहा कि 'सर्वस्व हार चुका !'

सरदार ने कहा—रामप्रसाद, तुम भी गाओ । वह भी एक अनिवार्य आकर्षण से—इच्छा न रहने पर भी, गाने लगा ।

हमारो हिरदय कलिसहु जीत्यो ।
फटत न सखी अजहुँ उहि आसा बरिस दिवस पर बीत्यो ।।
हमहूँ समुझि पर्‌यौ नीके कर यह आसा तनु रीत्यो ।
'सूरस्याम' दासी सुख सोवहु भयउ उभय मन चीत्यो ।।

सौसन के चेहरे पर गाने का भाव एकबारगी अरुणिमा में प्रकट हो गया । रामप्रसाद ने ऐसे करुण स्वर से इस पद को गाया कि दोनों मुग्ध हो गये ।

सरदार ने देखा कि मेरी जीत हुई । प्रसन्न होकर बोल उठा—रामप्रसाद, जो इच्छा हो, माँग लो ।

यह सुनकर सरदार-पत्नी के यहाँ से एक बाँदी आई और सौसन से बोली—बेगम ने कहा है कि तुम्हें भी जो माँगना हो, हमसे माँग लो ।

रामप्रसाद ने थोड़ी देर तक कुछ न कहा । जब दूसरी बार सरदार ने माँगने को कहा, तब उसका चेहरा कुछ अस्वाभाविक-सा हो उठा । वह विक्षिप्त स्वर से बोल उठा—यदि आप अपनी बात पर दृढ़ हों, तो 'सौसन' को मुझे दे दीजिये ।

उसी समय सौसन भी उस बाँदी से बोली—बेगम साहिब यदि कुछ मुझे देना चाहें, तो अपने दासीपन से मुझे मुक्त कर दें ।

बाँदी भीतर चली गई । सरदार चुप रह गये । बाँदी फिर आई और बोली—बेगम ने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार की और यह हार दिया है ।

इतना कहकर उसने एक जड़ाऊ हार सौसन को पहना दिया ।

सरदार ने कहा—रामप्रसाद, आज से तुम 'तानसेन' हुए । यह सौसन भी तुम्हारी हुई; लेकिन धरम से इसके साथ ब्याह करो ।

तानसेन ने कहा—आज से हमारा धर्म 'प्रेम' है । □□

चंदा

1

चैत्र, कृष्णाष्टमी का चंद्रमा अपना उज्ज्वल प्रकाश 'चंद्रप्रभा' के निर्मल जल पर डाल रहा है। गिरि-श्रेणी के तरुवर अपने रंग को छोड़कर धवलित हो रहे हैं; कल-नादिनी समीर के संग धीरे-धीरे बह रही है। एक शिला-तल पर बैठी हुई कोलकुमारी सुरीले स्वर से—'दरद दिल काहि सुनाऊँ प्यारे! दरद'···गा रही है।

गीत अधूरा ही है कि अकस्मात् एक कोलयुवक धीर-पद-संचालन करता हुआ उस रमणी के सम्मुख आकर खड़ा हो गया। उसे देखते ही रमणी की हृदय-तंत्री बज उठी। रमणी बाह्य-स्वर भूलकर आंतरिक स्वर से सुमधुर संगीत गाने लगी और उठकर खड़ी हो गई। प्रणय के वेग को सहन न करके वर्षा-वारिपूरिता स्रोतस्विनी के समान कोल-कुमार के कंध-कूल से रमणी ने आलिंगन किया।

दोनों उसी शिला पर बैठ गये, और निर्निमेष सजल नेत्रों से परस्पर अवलोकन करने लगे। युवती ने कहा—तुम कैसे आये?

युवक—जैसे तुमने बुलाया।

युवती—(हँसकर) हमने तुम्हें कब बुलाया? और क्यों बुलाया?

युवक—गाकर बुलाया, और दरद सुनाने के लिये।

युवती—(दीर्घ निःश्वास लेकर) कैसे क्या करूं? पिता ने तो उसी से विवाह करना निश्चय किया है।

युवक—(उत्तेजना से खड़ा होकर) तो जो कहो, मैं करने के लिये प्रस्तुत हूं।

युवती—(चंद्रप्रभा की ओर दिखाकर) बस, यही शरण है।

युवक—तो हमारे लिए कौन दूसरा स्थान है?

युवती—मैं तो प्रस्तुत हूँ।

युवक—हम तुम्हारे पहले।

युवती ने कहा—तो चलो।

युवक ने मेघ-गर्जन-स्वर से कहा—चलो।

दोनों हाथ में हाथ मिलाकर पहाड़ी से उतरने लगे। दोनों उतरकर चंद्रप्रभा के तट पर आये, और एक शिला पर खड़े हो गये। तब युवती ने कहा—अब बिदा!

युवती ने कहा—किससे? मैं तो तुम्हारे साथ—जब तक सृष्टि रहेगी तब तक—रहूंगा।

इतने ही में शाल-वृक्ष के नीचे एक छाया दिखाई पड़ी और वह इन्हीं दोनों की ओर आती हुई दिखाई देने लगी। दोनों ने चकित होकर देखा कि एक कोल खड़ा है। उसने गंभीर स्वर से पूछा—चंदा! तू यहाँ क्यों आई?

युवती—तुम पूछनेवाले कौन हो?

आगंतुक युवक—मैं तुम्हारा भावी पति 'रामू' हूँ।

युवती— मैं तुमसे ब्याह न करूँगी।

आगंतुक युवक—फिर किससे तुम्हारा ब्याह होगा?

युवती ने पहले के आये हुए युवक की ओर इंगित करके कहा—इन्हीं से।

आगन्तुक युवक से अब न सहा गया। घूमकर पूछा—क्यों हीरा! तुम ब्याह करोगे?

हीरा—तो इसमें तुम्हारा क्या तात्पर्य है?

रामू—तुम्हें इससे अलग हो जाना चाहिये।

हीरा—क्यों, तुम कौन होते हो?

रामू—हमारा इससे संबंध पक्का हो चुका है।

हीरा—पर जिससे संबंध होनेवाला है, वह सहमत न हो, तब?

रामू—क्यों चंदा! क्या कहती हो?

चंदा—मैं तुमसे ब्याह न करूँगी।

रामू—तो हीरा से भी तुम ब्याह नहीं कर सकतीं!

चंदा—क्यों?

रामू—(हीरा से) अब हमारा-तुम्हारा फैसला हो जाना चाहिये, क्योंकि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।

इतना कहकर हीरा के ऊपर झपटकर उसने अचानक छुरे का बार किया।

हीरा यद्यपि सचेत हो रहा था; पर उसको सम्हलने में विलंब हुआ, इससे घाव लग गया, और वह वक्ष थाम कर बैठ गया। इतने में चंदा जोर से क्रंदन कर उठी—साथ ही एक वृद्ध भील आता हुआ दिखाई पड़ा।

2

युवती मुंह ढाँपकर रो रही है, और युवक रक्ताक्त छूरा लिये, घृणा की दृष्टि से खड़े हुए, हीरा की ओर देख रहा है। विमल चन्द्रिका में चित्र की तरह वे दिखाई दे रहें हैं। वृद्ध को जब चंदा ने देखा, तो और वेग से रोने लगी। उस दृश्य को देखते ही वृद्ध कोल-पति सब बात समझ गया, और रामू के समीप जाकर छूरा उसके हाथ से ले लिया, और आज्ञा के स्वर में कहा—तुम दोनों हीरा को नदी के समीप ले चलो।

इतना कहकर वृद्ध उन सबों के साथ आकर नदी-तट पर जल के समीप खड़ा

हो गया। रामू और चंदा दोनों ने मिलकर उसके घाव को धोया और हीरा के मुँह पर छींटा दिया, जिससे उसकी मूर्छा दूर हुई। तब वृद्ध ने सब बातें हीरा से पूछीं; पूछ लेने पर रामू ने कहा—क्यों, यह सब ठीक है ?

रामू ने कहा—सब सत्य है।

वृद्ध—तो तुम अब चंदा के योग्य नहीं हो, और यह छूरा भी—जिसे हमने तुम्हें दिया था—तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम शीघ्र ही हमारे जंगल से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा हाल महाराज से कह देंगे, और उसका क्या परिणाम होगा सो तुम स्वयं समझ सकते हो। (हीरा की ओर देखकर) बेटा ! तुम्हारा घाव शीघ्र अच्छा हो जायगा, घबड़ाना नहीं, चंदा तुम्हारी ही होगी।

यह सुनकर चंदा और हीरा का मुख प्रसन्नता से चमकने लगा, पर हीरा ने लेटे-ही-लेटे हाथ जोड़कर कहा—पिता ! एक बात कहनी है, यदि आपकी आज्ञा हो।

वृद्ध—हम समझ गये, बेटा ! रामू विश्वासघाती है।

हीरा—नहीं पिता ! अब वह ऐसा कार्य नहीं करेगा। आप क्षमा करेंगे, मैं ऐसी आशा करता हूँ।

वृद्ध—जैसी तुम्हारी इच्छा।

कुछ दिन के बाद जब हीरा अच्छी प्रकार से आरोग्य हो गया, तब उसका ब्याह चंदा से हो गया। रामू भी उस उत्सव में सम्मिलित हुआ, पर उसका बदन मलीन और चिंतापूर्ण था। वृद्ध कुछ ही काल में अपना पद हीरा को सौंप स्वर्ग को सिधारा। हीरा और चंदा सुख से विमल चाँदनी में बैठकर पहाड़ी झरनों का कलनाद-मय आनंद-संगीत सुनते थे।

3

अंशुमाली अपनी तीक्ष्ण किरणों से वन्य-देश को परितापित कर रहे हैं। मृगसिंह एक स्थान पर बैठकर, छाया-सुख में अपने बैर-भाव को भूलकर, ऊँघ रहे हैं। चंद्रप्रभा के तट पर पहाड़ी की एक गुहा में जहाँ कि छतनार पेड़ों की छाया उष्ण वायु को भी शीतल कर देती है, हीरा और चंदा बैठे हैं। हृदय के अनंत विकास से उनका मुख प्रफुल्लित दिखाई पड़ता है। उन्हें वस्त्र के लिये वृक्षगण वल्कल देते हैं; भोजन के लिये प्याज, मेवा इत्यादि जंगली सुस्वादु फल, शीतल स्वच्छंद पवन; निवास के लिये गिरि-गुहा; प्राकृतिक झरनों का शीतल जल उनके सब अभावों को दूर करता है, और सबल तथा स्वच्छंद बनाने में ये सब सहायता देते हैं। उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं पड़ती। अस्तु, उन्हीं सब सुखों से आनंदित व्यक्तिद्वय 'चंदप्रभा' के जल का कल-नाद सुनकर अपनी हृदय-वीणा को बजाते हैं।

चंदा—प्रिय ! आज उदासीन क्यों हो ?

हीरा —नहीं तो, मैं यह सोच रहा हूँ कि इस वन में राजा आने वाले हैं। हम लोग यद्यपि अधीन नहीं हैं, तो भी उन्हें शिकार खेलाया जाता है, और इसमें हम लोगों की कुछ हानि भी नहीं है। उसके प्रतिकार में हम लोगों को कुछ मिलता है, पर आजकल इस वन में जानवर दिखाई नहीं पड़ते। इसलिये सोचता हूँ कि कोई शेर या छोटा चीता भी मिल जाता, तो कार्य हो जाता।

चंदा—खोज किया था ?

हीरा—हाँ, आदमी तो गया है।

इतने में एक कोल दौड़ता हुआ आया, और कहा—राजा आ गये हैं और तहखाने में बैठे हैं। एक तेंदुआ भी दिखाई दिया है।

हीरा का मुख प्रसन्नता से चमकने लगा, और वह अपना कुल्हाड़ा सम्हालकर उस आगंतुक के साथ वहाँ पहुँचा, जहाँ शिकार का आयोजन हो चुका था।

राजा साहब झंझरी में बंदूक की नाल रखे हुए ताक रहे हैं। एक ओर से बाजा बज उठा। एक चीता भागता हुआ सामने से निकला। राजा साहब ने उस पर वार किया। गोली लगी, पर चमड़े को छेदती हुई पार हो गई; इससे वह जानवर भागकर निकल गया। अब तो राजा साहब बहुत ही दु:खित हुए। हीरा को बुलाकर कहा—क्यों जी, यह जानवर नहीं मिलेगा ?

उस वीर कोल ने कहा—क्यों नहीं ?

इतना कहकर वह उसी ओर चला। झाड़ी में, जहाँ वह चीता घाव से व्याकुल बैठा था, वहाँ पहुँचकर उसने देखना आरम्भ किया। क्रोध से भरा हुआ चीता उस कोल-युवक को देखते ही झपटा। युवक असावधानी के कारण वार न कर सका, पर दोनों हाथों से उस भयानक जंतु की गर्दन को पकड़ लिया, और उसने भी इसके कंधे पर अपने दोनों पंजों को जमा दिया।

दोनों में बल-प्रयोग होने लगा। थोड़ी देर में दोनों जमीन पर लेट गये।

4

यह बात राजा साहब को विदित हुई। उन्होंने उसकी मदद के लिए कोलों को जाने की आज्ञा दी। रामू उस अवसर पर था। उसने सबके पहले जाने के लिए पैर बढ़ाया, और चला। वहाँ जब पहुँचा, तो उस दृश्य को देखकर घबड़ा गया, और हीरा से कहा—हाथ ढीला कर; जब यह छोड़ने लगे, तब गोली मारूँ, नहीं तो संभव है कि तुम्हीं को लग जाय।

हीरा—नहीं, तुम गोली मारो।

रामू—तुम छोड़ो तो मैं वार करूँ।

हीरा—नहीं, यह अच्छा नहीं होगा।

रामू—तुम उसे छोड़ो, मैं अभी मारता हूँ।

हीरा—नहीं, तुम वार करो।

रामू—वार करने से संभव है कि उछले और तुम्हारे हाथ छूट जायँ, तो तुमको यह तोड़ डालेगा।

हीरा—नहीं, तुम मार लो, मेरा हाथ ढीला हुआ जाता है।

रामू—तुम हठ करते हो, मानते नहीं।

इतने में हीरा का हाथ कुछ बात-चीत करते-करते ढीला पड़ा; वह चीता उछलकर हीरा की कमर को पकड़कर तोड़ने लगा।

रामू खड़ा होकर देख रहा है, और पैशाचिक आकृति उस घृणित पशु के मुख पर लक्षित हो रही है और वह हँस रहा है।

हीरा टूटी हुई साँस से कहने लगा—अब भी मार ले।

रामू ने कहा—अब तू मर ले, तब वह भी मारा जायेगा। तूने हमारा हृदय निकाल लिया है, तूने हमारा घोर अपमान किया है, उसी का प्रतिफल है। इसे भोग।

हीरा को चीता खाये डालता है; पर उसने कहा—नीच ! तू जानता है कि 'चंदा' अब तेरी होगी। कभी नहीं ! तू नीच है—इस चीते से भी भयंकर जानवर है।

रामू ने पैशाचिक हँसी हँसकर कहा—चंदा अब तेरी तो नहीं है, अब वह चाहे जिसकी हो !

हीरा ने टूटी हुई आवाज से कहा—तुझे इस विश्वासघात का फल शीघ्र मिलेगा और चंदा फिर हमसे मिलेगी। चंदा…प्यारी…च…

इतना उसके मुख से निकला ही था कि चीते ने उसका सिर दाँतों के तले दाब लिया। रामू देखकर पैशाचिक हँसी-हँस रहा था। हीरा के समाप्त हो जाने पर रामू लौट आया, और झूठी बातें बनाकर राजा से कहा कि उसको हमारे जाने के पहले ही चीता ने मार लिया।

राजा बहुत दुखी हुए, और जंगल की सरदारी रामू को मिली।

5

बसंत की राका चारों ओर अनूठा दृश्य दिखा रही है। चंद्रमा न मालूम किस लक्ष्य की ओर दौड़ा चला जा रहा है; कुछ पूछने से भी नहीं बताता। कुटज की कली का परिमल लिये पवन भी न मालूम कहाँ दौड़ रहा है; उसका भी कुछ समझ नहीं पड़ता। उसी तरह, चंद्रप्रभा के तीर पर बैठी हुई कोल-कुमारी का कोमल कंठ-स्वर भी किस धुन में है—नहीं ज्ञात होता।

अकस्मात् गोली की आवाज ने उसे चौंका दिया। गाने के समय जो उसका

मुख उद्वेग और करुणा से पूर्ण दिखाई पड़ता था, वह घृणा और क्रोध से रंजित हो गया, और वह उठकर पुच्छमर्दिता सिंहनी के समान तनकर खड़ी हो गई, और धीरे से कहा—यही समय है। ज्ञात होता है, राजा इस समय शिकार खेलने पुनः आ गये हैं—बस, वह अपने वस्त्र को ठीक करके कोल-बालक बन गई, और कमर में से एक चमचमाता हुआ छुरा निकालकर चूमा। वह चाँदनी में चमकने लगा। फिर वह कहने लगी—यद्यपि तुमने हीरा का रक्तपात कर लिया है, लेकिन पिता ने रामू से तुम्हें ले लिया है। अब तुम हमारे हाथ में हो, तुम्हें आज रामू का भी खून पीना होगा।

इतना कहकर वह गोली के शब्द की ओर लक्ष्य करके चली। देखा कि तह-खाने में राजा साहब बैठे हैं। शेर को गोली लग चुकी है, और वह भाग गया है, उसका पता नहीं लग रहा है, रामू सरदार है, अतएव उसको खोजने के लिये आज्ञा हुई, वह शीघ्र ही सन्नद्ध हुआ। राजा ने कहा—कोई साथी लेते जाओ।

पहले तो उसने अस्वीकार किया, पर जब एक कोल युवक स्वयं साथ चलने को तैयार हुआ, तो वह नहीं भी न कर सका, और सीधे—जिधर शेर गया था, उसी ओर चला। कोल-बालक भी उसके पीछे है। वहाँ घाव से व्याकुल शेर चिग्घाड़ रहा है, इसने जाते ही ललकारा। उसने तत्काल ही निकलकर वार किया। रामू कम साहसी नहीं था, उसने उसके खुले हुए मुँह में निर्भीक होकर बन्दूक की नाल डाल दी; पर उसके जरा-सा मुँह घुमा लेने से गोली चमड़ा छेद-कर पार निकल गई, और शेर ने क्रुद्ध होकर दाँत से बन्दूक की नाल दबा ली। अब दोनों एक दूसरे को ढकेलने लगे; पर कोल-बालक चुपचाप खड़ा है। रामू ने कहा—मार, अब देखता क्या है?

युवक—तुम इससे बहुत अच्छी तरह लड़ रहे हो।

रामू—मारता क्यों नहीं?

युवक—इसी तरह शायद हीरा से भी लड़ाई हुई थी, क्या तुम नहीं लड़ सकते?

रामू—कौन, चंदा! तुम हो? आह, शीघ्र मारो, नहीं तो अब यह सबल हो रहा है।

चंदा ने कहा—हाँ, लो मैं मारती हूँ, इसी छुरे से हमारे सामने तुमने हीरा को मारा था, यह वही छुरा है, यह तुझे दुःख से निश्चय ही छुड़ावेगा—इतना कहकर चंदा ने रामू की बगल में छुरा उतार दिया। वह छटपटाया। इतने ही में शेर को मौका मिला, वह भी रामू पर टूट पड़ा और उसका इति कर आप भी वहीं गिर पड़ा।

चंदा ने अपना छुरा निकाल लिया, और उसको चाँदनी में रंगा हुआ देखने लगी, फिर खिलखिलाकर हँसी और कहा,—'दरद दिल काहि सुनाऊँ प्यारे'!

फिर हुँसकर कहा—हीरा ! तुम देखते होगे, पर अब तो यह छुरा ही दिल की दाह सुनेगा। इतना कहकर अपनी छाती में उसे भोंक लिया और उसी जगह गिर गई, और कहने लगी···हीरा···हम···तुमसे तुमसे···मिले ही······

चंद्रमा अपने मंद प्रकाश में यह सब देख रहा था।

□□

ग्राम

1

टन ! टन ! टन ! स्टेशन पर घंटी बोली।

श्रावण-मास की संध्या भी कैसी मनोहारिणी होती है ! मेघ-माला-विभूषित गगन की छाया सघन रसाल-कानन में पड़ रही है ? अँधियारी धीरे-धीरे अपना अधिकार पूर्व-गगन में जमाती हुई, सुशामनकारिणी महाराणी के समान, विहंग प्रजागण को सुख-निकेतन में शयन करने की आज्ञा दे रही है। आकाशरूपी शासन-पत्र पर प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा दिखाई पड़ती है···ग्राम्य स्टेशन पर कहीं एक-दो दीपालोक दिखाई पड़ता है। पवन हरे-हरे निकुंजों में से भ्रमण करता हुआ झिल्ली के झनकार के साथ भरी हुई झीलों में लहरों के साथ खेल रहा है। बूँदियाँ धीरे-धीरे गिर रही हैं, जो जूही की कलियों को आर्द्र करके पवन को भी शीतल कर रही हैं।

थोड़े समय में वर्षा बंद हो गई। अंधकार-रूपी अंजन के अग्रभाग-स्थित आलोक के समान चतुर्दशी की लालिमा को लिये हुए चंद्रदेव प्राची में हरे-हरे तरुवरों की आड़ में से अपनी किरण-प्रभा दिखाने लगे। पवन की सनसनाहट के साथ रेलगाड़ी का शब्द सुनाई पड़ने लगा। सिग्नलर ने अपना कार्य किया। घंटा का शब्द उस हरे-भरे मैदान में गूंजने लगा। यात्री लोग अपनी गठरी बाँधते हुए स्टेशन पर पहुँचे। महादैत्य के लाल-लाल नेत्रों के समान अंजन-गिरिनिभ इंजिन का अग्रस्थित रक्त-आलोक दिखायी देने लगा। पागलों के समान बड़बड़ाती हुई अपनी धुन की पक्की रेलगाड़ी स्टेशन पर पहुँच गई। धड़ाधड़ यात्री लोग उतरने-चढ़ने लगे। एक स्त्री की ओर देखकर फाटक के बाहर खड़ी हुई दो औरतें—जो उसकी सहेली मालूम देती हैं—रो रही हैं, और वह स्त्री एक मनुष्य के साथ रेल में बैठने को उद्यत है। उनकी क्रंदन-ध्वनि से स्त्री दीन-भाव से उनकी ओर देखती हुई, बिना समझे हुए, सेकंड क्लास की गाड़ी में चढ़ने लगी; पर उसमें बैठे हुए

बाबू साहब—'यह दूसरा दर्जा है, इसमें मत चढ़ो' कहते हुए उतर पड़ें, और अपना हंटर घुमाते हुए स्टेशन से बाहर होने का उद्योग करने लगे।

विलायती पिक का वृचिस पहने, बूट चढाये, हुंटिंग कोट, धानी रंग का साफा, अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी का महासम्मेलन बाबू साहब के अंग पर दिखाई पड़ रहा है। गौर वर्ण, उन्नत ललाट—उसकी आभा को बढ़ा रहे हैं। स्टेशन मास्टर से सामना होते ही शेकहैंड करने के उपरांत बाबू साहब से बातचीत होने लगी।

स्टे० मा०—आप इस वक्त कहाँ से आ रहे हैं ?

मोहन०—कारिंदों ने इलाकों में बड़ा गड़बड़ मचा रक्खा है, इसलिये मैं कुसुमपुर—जो कि हमारा इलाका है—इंस्पेक्शन के लिए जा रहा हूँ।

स्टे० मा०—फिर कब पलटियेगा ?

मोहन०—दो रोज में। अच्छा, गुड इवनिंग !

स्टेशर मास्टर, जो लाइन-क्लियर दे चुके थे, गुड इवनिंग करते हुए अपने आफिस में घुस गये।

बाबू मोहनलाल अंग्रेज़ी काठी से सजे हुए घोड़े पर, जो पूर्व ही स्टेशन पर खड़ा था, सवार होकर चलते हुए।

2

सरलस्वभावा ग्रामवासिनी कुलकामिनीगण का सुमधुर संगीत धीरे-धीरे आम्रकानन में से निकलकर चारों ओर गूंज रहा है। अंधकार गगन में जुगनू-तारे चमक-चमक कर चित्त को चंचल कर रहे हैं। गामीण लोग अपना हल कंधे पर रखे, बिरहा गाते हुए, बैलों की जोड़ी के साथ, घर की ओर प्रत्यावर्त्तन कर रहे हैं।

एक विशाल तरुवर की शाखा में झूला पड़ा हुआ है, उस पर चार महिलाएँ बैठी हैं, और पचासों उसको घेरकर गाती हुई घूम रही हैं। झूले के पेंग के साथ 'अबकी सावन सइयाँ घर रहु रे' की सुरीली पचासों कोकिल-कंठ से निकली हुई तान पशुगणों को भी मोहित कर रही है। बालिकाएँ स्वच्छंद भाव से क्रीड़ा कर रही हैं। अकस्मात् अश्व के पद-शब्द ने उन सरला कामिनियों को चौंका दिया। वे सब देखती हैं, तो हमारे पूर्व-परिचित बाबू मोहनलाल घोड़े को रोककर उस पर से उतर रहे हैं। वे सब उनका भेष देखकर घबड़ा गयीं और आपस में कुछ इंगित करके चुप रह गयीं।

बाबू मोहनलाल ने निस्तब्धता को भंग किया, और बोले—भद्रे ! यहाँ से कुसुमपुर कितनी दूर है ? और किधर से जाना होगा ? एक प्रौढ़ा ने सोचा कि 'भद्रे' कोई परिहास-शब्द तो नहीं है, पर वह कुछ कह न सकी, केवल एक ओर दिखा कर बोली— इहाँ से डेढ़ कोस तो बाय, इहैं पैंड़वा जाई।

बाबू मोहनलाल उसी पगडंडी से चले। चलते-चलते उन्हें भ्रम हो गया, और

वह अपनी छावनी का पथ छोड़कर दूसरे मार्ग से जाने लगे। मेघ घिर आये, जल वेग से बरसने लगा, अंधकार और घना हो गया। भटकते-भटकते वह एक खेत के समीप पहुँचे; वहाँ उस हरे-भरे खेत में एक ऊँचा और बड़ा मचान था, जो कि फूस से छाया हुआ था, और समीप ही में छोटा-सा कच्चा मकान था।

उस मचान पर बालक और बालिकाएँ बैठी हुईं कोलाहल मचा रही थीं। जल में भीगते हुए भी मोहनलाल खेत के समीप खड़े होकर उनके आनंद-कलरव को श्रवण करने लगे।

भ्रांत होने से उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया। रात्रि अधिक बीत गयी। कहां ठहरें? इसी विचार में वह खड़े रहे, बूंदें कम हो गयीं। इतने में एक बालिका अपने मलिन वसन के अंचल की आड़ में दीप लिये हुए उसी मचान की ओर जाती दिखाई पड़ी।

3

बालिका की अवस्था 15 वर्ष की है। आलोक से उसका अंग अंधकार-घन में विद्युल्लेखा की तरह चमक रहा था। यद्यपि दरिद्रता ने उसे मलिन कर रक्खा है, पर ईश्वरीय सुषमा उसके कोमल अंग पर अपना निवास किये हुए है। मोहनलाल ने घोड़ा बढ़ाकर उससे कुछ पूछना चाहा, पर संकुचित होकर ठिठक गये। परन्तु पूछने के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं था। अस्तु, रूखेपन के साथ पूछा—कुसुमपुर का रास्ता किधर है?

बालिका इस भव्य मूर्ति को देख कर डरी, पर साहस के साथ बोली—मैं नहीं जानती। ऐसे सरल नेत्र-संचालन से इंगित करके उसने ये शब्द कहे कि युवक को क्रोध के स्थान में हँसी आ गयी और कहने लगा—तो जो जानता हो, मुझे बतलाओ, मैं उससे पूछ लूंगा।

बालिका—हमारी माता जानती होंगी।

मोहन०—इस समय तुम कहाँ जाती हो?

बालिका—(मचान की ओर दिखाकर) वहाँ जो कई लड़के हैं, उनमें से एक हमारा भाई है, उसी को खिलाने जाती हूँ।

मोहन०—बालक इतनी रात को खेत में क्यों बैठा है?

बालिका—वह रात-भर और लड़कों के साथ खेत ही में रहता है।

मोहन०—तुम्हारी माँ कहाँ है?

बालिका—चलिये, मैं लिवा चलती हूँ।

इतना कहकर बालिका अपने भाई के पास गयी, और उसको खिलाकर तथा उसके पास बैठे हुए लड़कों को भी कुछ देकर उसी क्षुद्र-कुटीराभिमुख गमन करने लगी। मोहनलाल उस सरला बालिका के पीछे चले।

4

उस क्षुद्र कुटीर में पहुँचने पर एक स्त्री मोहनलाल को दिखाई पड़ी, जिसकी अंगप्रभा स्वर्ण-तुल्य थी, तेजोमय मुख-मण्डल, तथा ईषत् उन्नत अधर अभिमान से भरे हुए थे, अवस्था उसकी 50 वर्ष से अधिक थी। मोहनलाल की आंतरिक अवस्था, जो ग्राम्य जीवन देखने से कुछ बदल चुकी थी, उस सरल गम्भीर तेजोमय मूर्ति को देख और भी सरल विनययुक्त हो गयी। उसने झुककर प्रणाम किया। स्त्री ने आशीर्वाद दिया और पूछा—बेटा! कहाँ से आते हो?

मोहन०—मैं कुसुमपुर जाता था, किंतु रास्ता भूल गया···।

'कुसुमपुर' का नाम सुनते ही स्त्री का मुख-मंडल आरक्तिम हो गया और उसके नेत्र से दो बूंद आँसू निकल आये। वे अश्रु करुणा के नहीं, किंतु अभिमान के थे।

मोहनलाल आश्चर्यान्वित होकर देख रहे थे। उन्होंने पूछा—आपको कुसुमपुर के नाम से क्षोभ क्यों हुआ?

स्त्री—बेटा! उसकी बड़ी कथा है, तुम सुनकर क्या करोगे?

मोहन०—नहीं मैं सुनना चाहता हूँ, यदि आप कृपा करके सुनावें।

स्त्री—अच्छा, कुछ जलपान कर लो, तब सुनाऊँगी।

पुन: बालिका की ओर देख कर स्त्री ने कहा—कुछ जल पीने को ले आओ।

आज्ञा पाते ही बालिका उस क्षुद्र गृह के एक मिट्टी के वर्तन में से कुछ वस्तु निकाल। उसे एक पात्र में घोलकर ले आयी, और मोहनलाल के सामने रख दिया। मोहनलाल उस शर्बत को पान करके फूस की चटाई पर बैठकर स्त्री की कथा सुनने लगे।

5

स्त्री कहने लगी—हमारे पति इस प्रांत के गण्य भूस्वामी थे, और वंश भी हम लोगों का बहुत उच्च था। जिस गाँव का अभी आपने नाम लिया है, वहीं हमारे पति की प्रधान जमींदारी थी। कार्यवश कुंदनलाल नामक एक महाजन से कुछ ऋण लिया गया। कुछ भी विचार न करने से उनका बहुत रुपया बढ़ गया, और जब ऐसी अवस्था पहुँची तो अनेक उपाय करके हमारे पति धन जुटा कर उनके पास ले गये, तब उस धूर्त ने कहा—"क्या हर्ज है बाबू साहब! आप आठ रोज में आना, हम रुपया ले लेंगे, और जो घाटा होगा, उसे छोड़ देंगे, आपका इलाका फिर जायगा, इस समय रेहननामा भी नहीं मिल रहा है।" उसका विश्वास करके हमारे पति फिर बैठ रहे, और उसने कुछ भी न पूछा। उनकी उदारता के कारण वह संचित धन भी थोड़ा हो गया, और उधर उसने दावा

करके इलाका—जो कि वह ले लेना चाहता था—बहुत थोड़े रुपये में नीलाम करा लिया। फिर हमारे पति के हृदय में, उस इलाके के इस भाँति निकल जाने के कारण, बहुत चोट पहुँची और इसी से उनकी मृत्यु हो गयी। इस दशा के होने के उपरांत हम लोग इस दूसरे गाँव में आकर रहने लगीं। यहाँ के जमींदार बहुत धर्मात्मा हैं, उन्होंने कुछ सामान्य 'कर' पर यह भूमि दी है, इसी से अब हमारी जीविका है।···

इतना कहते-कहते स्त्री का गला अभिमान से भर आया और कुछ कह न सकी।

स्त्री की कथा को सुनकर मोहनलाल को बड़ा दुःख हुआ। रात विशेष बीत चुकी थी, अतः रात्रि-यापन करके, प्रभात में मलिन तथा पश्चिमगामी चंद्र का अनुशरण करके, बताये हुए पथ से वह चले गये।

पर उनके मुख पर विषाद तथा लज्जा ने अधिकार कर लिया था। कारण यह था कि स्त्री की जमींदारी हरण करने वाले, तथा उसके प्राणप्रिय पति से उसे विच्छेद कराकर इस भाँति दुःख देने वाले कुंदनलाल मोहनलाल के ही पिता थे।

□□

रसिया बालम

1

संसार को शांतिमय करने के लिए रजनी देवी ने अभी अपना अधिकार पूर्णतः नहीं प्राप्त किया है। अंशुमाली अभी अपने आधे बिंब को प्रतीची में दिखा रहे हैं। केवल एक मनुष्य अर्बुद-गिरि-सुदृढ़ दुर्ग के नीचे एक झरने के तट पर बैठा हुआ उस अर्ध-स्वर्ण पिंड की ओर देखता है और कभी-कभी दुर्ग के ऊपर राज-महल की खिड़की की ओर भी देख लेता है, फिर कुछ गुनगुनाने लगता है।

घंटों उसे वैसे ही बैठे बीत गये। कोई कार्य नहीं, केवल उसे उस खिड़की की ओर देखना। अकस्मात् एक उजाले की प्रभा उस नीची पहाड़ी भूमि पर पड़ी और साथ ही किसी वस्तु का शब्द हुआ, परन्तु उस युवक का ध्यान उस ओर नहीं था। वह तो केवल उस खिड़की में के उस सुंदर मुख की ओर देखने की आशा से उसी ओर देखता रहा, जिसने केवल एक बार उसे झलक दिखाकर मंत्रमुग्ध कर दिया था।

इधर उस कागज में लिपटी हुई वस्तु को एक अपरिचित व्यक्ति, जो छिपा खड़ा था, उठाकर चलता हुआ। धीरे-धीरे रजनी की गंभीरता उस शैल-प्रदेश में और भी गंभीर हो गयी और झाड़ियों की ओट में तो अंधकार मूर्तिमान हो बैठा हुआ ज्ञात होता था, परन्तु उस युवक को इसकी कुछ भी चिंता नहीं। जब तक उस खिड़की में प्रकाश था, तब तक वह उसी ओर निर्निमेष देख रहा था, और कभी-कभी अस्फुट स्वर से वही गुन-गुनाहट उसके मुख से वनस्पतियों को सुनाई पड़ती थी।

जब वह प्रकाश बिलकुल न रहा, तब वह युवक उठा और समीप के झरने के तट से होते हुए उसी अंधकार में विलीन हो गया।

2

दिवाकर की पहली किरण ने जब चमेली की कलियों को चटकाया, तब उन डालियों को उतना ही ज्ञात हुआ, जितना कि एक युवक के शरीर-स्पर्श से उन्हें हिलना पड़ा, जो कि काँटे और झाड़ियों का कुछ भी ध्यान न करके सीधा अपने मार्ग का अनुसरण कर रहा है। वह युवक [illegible] और जाकर अपने पूर्व-परिचित शिलाखंड [illegible] आरम्भ हुई। धीरे-धीरे एक सैनिक पुरुष ने [illegible] हाथ रक्खा।

युवक चौंक उठा और क्रोधित होकर बो[illegible]

आगंतुक हँस पड़ा और बोला—यही [illegible] और क्यों इस अन्तःपुर की खिड़की के साम[illegible] प्राय है?

युवक—मैं यहाँ घूमता हूँ, और यह [illegible] मित्र! वह बात यह है कि मेरा एक मित्र इ[illegible] उसका दर्शन पा जाता हूँ, और अपने चित्त को प्रसन्न करता हूँ।

सैनिक—पर मित्र! तुम नहीं जानते कि यह राजकीय अंतःपुर है। तुम्हें ऐसे देख कर तुम्हारी क्या दशा हो सकती है? और महाराजा तुम्हें क्या समझेंगे?

युवक—जो कुछ हो; मेरा कुछ असत् अभिप्राय नहीं है, मैं तो केवल सुन्दर रूप का दर्शन ही निरन्तर चाहता हूँ, और यदि महाराज भी पूछें तो यही कहूँगा।

सैनिक—तुम जिसे देखते हो, यह स्वयं राजकुमारी है, और तुम्हें कभी नहीं चाहती। अतएव तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है।

युवक—क्या वह राजकुमारी है? तो चिंता क्या! मुझे तो केवल देखना है, मैं बैठे-बैठे देखा करूँगा। पर तुम्हें यह कैसे मालूम कि वह मुझे नहीं चाहती?

सैनिक—प्रमाण चाहते हो तो (एक पत्र देकर) यह देखो।

युवक उसे लेकर पढ़ता है उसमें लिखा था—

"युवक !

तुम क्यों अपना समय व्यर्थ व्यतीत करते हो ? मैं तुमसे कदापि नहीं मिल सकती। क्यों महीनों से यहाँ बैठे-बैठे अपना शरीर नष्ट कर रहे हो, मुझे तुम्हारी अवस्था देखकर दया आती है। अतः तुमको सचेत करती हूँ, फिर कभी यहाँ मत बैठना।

वही—
जिसे तुम देखा करते हो !"

3

युवक कुछ देर के लिए स्तंभित हो गया। सैनिक सामने खड़ा था। अकस्मात् युवक उठकर खड़ा हो गया और सैनिक का हाथ पकड़कर बोला—मित्र ! तुम हमारा उपकार कर सकते हो ? यदि करो, तो कुछ विशेष परिश्रम न होगा।

सैनिक—कहो, क्या है ? यदि हो सकेगा, तो अवश्य करूँगा।

तत्काल उस युवक ने अपनी उँगली एक पत्थर से कुचल दी, और अपने फटे वस्त्र में से एक टुकड़ा फाड़कर तिनका लेकर उसी रक्त से टुकड़े पर कुछ लिखा, और उस सैनिक के हाथ में देकर कहा—यदि हम न रहें, तो इसको उस निष्ठुर के हाथ में दे देना। बस, और कुछ नहीं।

इतना कहकर युवक ने पहाड़ी पर कूदना चाहा; पर सैनिक ने उसे पकड़ लिया, और कहा— रसिया ! ठहरो ! —

युवक अवाक् हो गया; क्योंकि अब पाँच प्रहरी सैनिक के सामने सिर झुकाये खड़े थे, और पूर्व सैनिक स्वयं अर्बुदगिरि के महाराज थे।

महाराज आगे हुए और सैनिकों के बीच में रसिया। सब सिंहद्वार की ओर चले। किले के भीतर पहुँचकर रसिया को साथ में लिये हुए महाराज एक प्रकोष्ठ में पहुँचे। महाराज ने प्रहरी को आज्ञा दी कि महारानी और राजकुमारी को बुला लावे। वह प्रणाम कर चला गया।

महाराज—क्यों बलवंत सिंह ! तुमने अपनी यह क्या दशा बना रक्खी है ?

रसिया—(चौंककर) महाराज को मेरा नाम कैसे ज्ञात हुआ ?

महाराज—बलवंत ! मैं बचपन से तुम्हें जानता हूँ और तुम्हारे पूर्व पुरुषों को भी जानता हूँ।

रसिया चुप हो गया। इतने में महारानी भी राजकुमारी को साथ लिये हुए आ गयीं।

महारानी ने प्रणाम कर पूछा—क्या आज्ञा है ?

महाराज—बैठो, कुछ विशेष बात है। सुनो, और ध्यान से उसका उत्तर दो। यह युवक जो तुम्हारे सामने बैठा है, एक उत्तम क्षत्रिय कुल का है, और मैं इसे जानता हूँ। यह हमारी राजकुमारी के प्रणय का भिखारी है। मेरी इच्छा है कि इससे उसका ब्याह हो जाय।

राजकुमारी, जिसने कि आते ही युवक को देख लिया और जो संकुचित होकर इस समय महारानी के पीछे खड़ी थी, यह सुनकर और भी संकुचित हुई। पर महारानी का मुख क्रोध से लाल हो गया। वह कड़े स्वर में बोलीं—क्या आपको खोजते-खोजते मेरी कुसुम-कुमारी कन्या के लिये यही वर मिला है ? वाह ! अच्छा जोड़ मिलाया। कंगाल और उसके लिए निधि; बंदर और उसके गले में हार; भला यह भी कहीं संभव है ? आप शीघ्र अपने भ्रांतिरोग की औषधि कर डालिये। यह भी कैसा परिहास है ! (कन्या से) चलो बेटी, यहाँ से चलो।

महाराज—नहीं, ठहरो और सुनो। यह स्थिर हो चुका है कि राजकुमारी का ब्याह बलवंत से होगा, तुम इसे परिहास मत जानो।

अब जो महारानी ने महाराज के मुख की ओर देखा, तो दृढ़प्रतिज्ञ दिखाई पड़े। निदान विचलित होकर महारानी ने कहा—अच्छा, मैं भी प्रस्तुत हो जाऊँगी पर इस शर्त पर कि जब यह पुरुष अपने बाहुबल से उस झरने के समीप से नीचे तक एक पहाड़ी रास्ता काटकर बना ले; उसके लिए समय अभी से केवल प्रातःकाल तक का देती हूँ—जब तक कि कुक्कुट का स्वर न सुनाई पड़े। तब अवश्य मैं भी राजकुमारी का ब्याह इसी से कर दूँगी।

महाराज ने युवक की ओर देखा, जो निस्तब्ध बैठा हुआ सुन रहा था। वह उसी क्षण उठा और बोला—मैं प्रस्तुत हूँ, पर कुछ औजार और मसाले के लिए थोड़े विष की आवश्नकता है।

उसकी आज्ञानुसार सब वस्तुएँ उसे मिल गयीं, और वह शीघ्रता से उसी झरने के तट की ओर दौड़ा, और एक विशाल शिलाखंड पर जाकर बैठ गया, और उसे तोड़ने का उद्योग करने लगा; क्योंकि इसी के नीचे एक गुप्त पहाड़ी पथ था।

4

निशा का अंधकार कानन-प्रदेश में अपना पूरा अधिकार जमाये हुए है। प्रायः आधी रात बीत चुकी है। पर केवल उन अग्नि-स्फुलिंगों से कभी-कभी थोड़ा-सा जुगनू का-सा प्रकाश हो जाता है, जो कि रसिया के शस्त्र-प्रहार से पत्थर में से निकल पड़ते हैं। दनादन् चोट चली जा रही है—विराम नहीं है क्षण भर भी—

न तो उस शैल को और न उस शस्त्र को। आलौकिक शक्ति से वह युवक अविराम चोट लगाये ही जा रहा है। एक क्षण के लिये भी इधर-उधर नहीं देखता। देखता है, तो केवल अपना हाथ पत्थर; उंगली एक तो पहले ही कुचली जा चुकी थी, दूसरे अविराम परिश्रम! इससे रक्त बहने लगा था। पर विश्राम कहाँ? उस वज्रसार शैल पर वज्र के समान कर से वह युवक चोट लगाये ही जाता है। केवल परिश्रम ही नहीं, युवक सफल भी हो रहा है। उसकी एक-एक चोट में दस-दस सेर के ढोके कट-कट कर पहाड़ पर से लुढ़कते हैं, जो सोये हुए जंगली पशुओं को घबड़ा देते हैं। यह क्या है? केवल उसकी तन्मयता—केवल प्रेम ही उस पाषाण को भी तोड़े डालता है।

फिर वही दनादन्—बराबर लगातार परिश्रम, विराम नहीं है! इधर उस खिड़की में से आलोक भी निकल रहा है और कभी-कभी एक मुखड़ा उस खिड़की से झांककर देख रहा है। पर युवक को कुछ ध्यान नहीं, वह अपना कार्य करता जा रहा है।

अभी रात्रि के जाने के लिये पहर-भर है। शीतला वायु उस कानन को शीतल कर रही है। अकस्मात् 'तरुण-कुक्कुट-कंठनाद' सुनाई पड़ा, फिर कुछ नहीं। वह कानन एकाएक शून्य हो गया। न तो वह शब्द ही है और न तो पत्थरों से अग्नि-स्फुलिंग निकलते हैं।

अकस्मात् उस खिड़की में से एक सुन्दर मुख निकला। उसने आलोक डालकर देखा कि रसिया एक पात्र हाथ में लिये है और कुछ कह रहा है। इसके उपरांत वह उस पात्र को पी गया और थोड़ी देर में वह उसी शिलाखंड पर गिर पड़ा। यह देख उस मुख से भी एक हल्का चीत्कार निकल गया। खिड़की बंद हो गयी। फिर केवल अंधकार रह गया।

5

प्रभात का मलय-मारुत उस अर्बुद-गिरि के कानन में वैसी क्रीड़ा नहीं कर रहा है, जैसी पहले करता था। दिवाकर की किरण भी कुछ प्रभात के मिस से मंद और मलिन हो रही है। एक शव के समीप एक पुरुष खड़ा है, और उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही है, और वह कह रहा है—बलवंत! ऐसी शीघ्रता क्या थी, जो तुमने ऐसा किया? वह अर्बुद-गिरि का प्रदेश तो कुछ समय में यह वृद्ध तुम्हीं को देता, और तुम उसमें चाहे जिस स्थान पर अच्छे पर्यंक पर सोते।

फिर, ऐसे क्यों पड़े हो ? वत्स ! यह तो केवल तुम्हारी[1] थी, यह तुमने क्या किया ?

इतने में एक सुंदरी विमुक्त-कुंतला—कि स्वयं राजकुमारी थी—दौड़ी हुई आयी और उस शव को देखकर ठिठक गयी, नतजानु होकर उस पुरुष का, जो कि महाराज थे और जिसे इस समय तक राजकुमारी पहचान न सकी थी—चरण धरकर बोली—महात्मन् ! क्या व्यक्ति ने, जो यहाँ पड़ा है, मुझे कुछ देने के लिये आपको दिया है ? या कुछ कहा है ?

महाराज ने चुपचाप अपने वस्त्र में से एक वस्त्र का टुकड़ा निकालकर दे दिया। उप पर लाल अक्षरों में कुछ लिखा था। उस सुंदरी ने उसे देखा और देख-कर कहा— कृपया आप ही पढ़ दीजिये।

महाराज ने उसे पढ़ा। उसमें लिखा था। "मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी निठुर हो। अस्तु; अब मैं यहीं रहूँगा; पर याद रखना; मैं तुमसे अवश्य मिलूंगा क्योंकि मैं तुम्हें नित्य देखना चाहता हूँ, और ऐसे स्थान में देखूँगा, जहाँ कभी, पलक गिरती ही नहीं।

तुम्हारा दर्शनाभिलाषी—

"रसिया"

इसी समय महाराज को सुंदरी पहचान गयी, और फिर चरण धरकर बोली —पिताजी, क्षमा करना। और, शीघ्रतापूर्वक रसिया के कर-स्थित पात्र—को लेकर अवशेष पी गयी और गिर पड़ी। केवल उसके मुख से इतना निकला "पिताजी, क्षमा करना।" महाराज देख रहे थे !

□□

शरणागत

1

प्रभात-कालीन सूर्य की किरणें अभी पूर्व के आकाश में नहीं दिखाई पड़ती हैं। ताराओं का क्षीण प्रकाश अभी अंबर में विद्यमान है। यमुना के तट पर दो-

---

1. वास्तव में वह शब्द कुक्कुट का नहीं बल्कि छद्म-वेशिनी महारानी का था, जो कि बलवंत सिंह जैसे दीन व्यक्ति से अपनी कुसुम-कुमारी के पाणिग्रहण की अभिलाषा नहीं रखती थीं। किन्तु महाराज इससे अनभिज्ञ थे।

तीन रमणियाँ खड़ी हैं, और दो—यमुना की उन्हीं क्षीण लहरियों में, जो कि चंद्र के प्रकाश से रंजित हो रही हैं—स्नान कर रही हैं। अकस्मात् पवन बड़े वेग से चलने लगा। इसी समय एक सुंदरी, जो कि बहुत ही सुकुमारी थी, उन्हीं तरंगों में निमग्न हो गयी। दूसरी, जो कि घबड़ाकर निकलना चाहती थी, किसी काठ का सहारा पाकर तट की ओर खड़ी हुई अपनी सखियों में जा मिली। पर वहाँ सुकुमारी नहीं थी। सब रोती हुई यमुना के तट पर घूमकर उसे खोजने लगीं।

अंधकार हट गया। अब सूर्य भी दिखाई देने लगे। कुछ ही देर में उन्हें, घबड़ाई हुई स्त्रियों को आश्वासन देती हुई, एक छोटी-सी नाव दिखाई दी। उन सखियों ने देखा कि वह सुकुमारी उसी नाव पर एक अंग्रेज़ और एक लेडी के साथ बैठी हुई है।

तट पर आने पर मालूम हुआ कि सिपाही-विद्रोह की गड़बड़ से भागे हुए एक संभ्रांत योरोपियन-दंपति उस नौका के आरोही हैं। उन्होंने सुकुमारी को डूबते हुए बचाया है और इसे पहुँचाने के लिये वे लोग यहाँ तक आये हैं।

सुकुमारी को देखते ही सब सखियों ने दौड़कर उसे घेर लिया और उससे लिपट-लिपटकर रोने लगीं। अंग्रेज़ और लेडी दोनों ने जाना चाहा, पर वे स्त्रियाँ कब माननेवाली थीं ? लेडी साहिबा को रुकना पड़ा। थोड़ी देर में यह खबर फैल जाने से उस गाँव के जमींदार ठाकुर किशोर सिंह भी उस स्थान पर आ गये। अब, उनके अनुरोध करने से, विल्फर्ड और एलिस को उनका आतिथ्य स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा क्योंकि सुकुमारी, किशोर सिंह की ही स्त्री थी, जिसे उन लोगों ने बचाया था।

2

चंदनपुर के जमींदार के घर में, जो यमुना तट पर बना हुआ है, पाईं-बाग के भीतर, एक रविश में चार कुर्सियाँ पड़ी हैं। एक पर किशोर सिंह और दो कुर्सियों पर विल्फर्ड और एलिस बैठे हैं, तथा चौथी कुर्सी के सहारे सुकुमारी खड़ी है। किशोर सिंह मुस्करा रहे हैं, और एलिस आश्चर्य की दृष्टि से सुकुमारी को देख रही है। विल्फर्ड उदास हैं और सुकुमारी मुख नीचा किये हुए है। सुकुमारी ने कनखियों से किशोर सिंह की ओर देखकर सिर झुका लिया।

एलिस—(किशोर सिंह से) बाबू साहब, आप उन्हें बैठने की इजाजत दें।

किशोर सिंह—मैं क्या मना करता हूँ ?

एलिस—(सुकुमारी को देखकर) फिर वह क्यों नहीं बैठतीं ?

किशोर सिंह—आप कहिये, शायद बैठ जाएँ।

विल्फर्ड—हाँ, आप क्यों खड़ी हैं ?

बेचारी सुकुमारी लज्जा से गड़ी जाती थी।

एलिस—(सुकुमारी की ओर देखकर) अगर आप न बैठेंगी, तो मुझे बहुत रंज होगा।

किशोर सिंह—यों न बैठेंगी, हाथ पकड़कर बिठाइये।

एलिस सचमुच उठी, पर सुकुमारा एक बार किशोर सिंह की ओर वक्र दृष्टि से देखकर हँसती हुई पास की बारहदरी में भागकर चली गयी, किन्तु एलिस ने पीछा न छोड़ा। वह भी वहाँ पहुँची, और उसे पकड़ा। सुकुमारी एलिस को देख गिड़-गिड़ाकर बोली—क्षमा कीजिये, हम लोग पति के सामने कुर्सी पर नहीं बैठतीं, और न कुर्सी पर बैठने का अभ्यास ही है।

एलिस चुपचाप खड़ी रह गयी, यह सोचने लगी कि—क्या सचमुच पति के सामने कुर्सी पर बैठना चाहिये! फिर उसने सोचा—यह बेचारी जानती ही नहीं कि कुर्सी पर बैठने में क्या सुख है?

3

चंदनपुर के जमींदार के यहाँ आश्रय लिये हुए योरोपियन-दंपति सब प्रकार सुख से रहने पर भी सिपाहियों का अत्याचार सुनकर शंकित रहते थे। दयालु किशोर सिंह यद्यपि उन्हें बहुत आश्वासन देते, तो भी कोमल प्रकृति की सुंदरी एलिस सदा भयभीत रहती थी।

दोनों दंपति कमरे में बैठे हुए यमुना का सुंदर जल-प्रवाह देख रहे हैं, विचित्रता यह है कि 'सिगार' न मिल सकने के कारण विल्फर्ड साहब सटक के सड़ाके लगा रहे हैं। अभ्यास न होने के कारण सटक से उन्हें बड़ी अड़चन पड़ती थी, तिस पर सिपाहियों के अत्याचार का ध्यान उन्हें और भी उद्विग्न किये हुए था; क्योंकि एलिस का भय से पीला मुख उनसे देखा न जाता था।

इतने में बाहर कोलाहल सुनाई पड़ा। एलिस के मुख से 'ओ माई गाड' (Oh my god) निकल पड़ा और भय से वह मूच्छित हो गयी। विल्फर्ड और किशोर सिंह ने एलिस को पलंग पर लिटाया, और आप 'बाहर क्या है' सो देखने के लिये चले।

विल्फर्ड ने अपनी राइफल हाथ में ले ली और साथ में जाना चाहा, पर किशोर सिंह ने उन्हें समझाकर बैठाला और आप खूंटी पर लटकती तलवार लेकर बाहर निकल गये।

किशोर सिंह बाहर आ गये, देखा तो पाँच कोस पर जो उनका सुंदरपुर ग्राम है, उसे सिपाहियों ने लूट लिया और प्रजा दुखी होकर अपने जमींदार से अपनी दुःख-गाथा सुनाने आयी है। किशोर सिंह ने सबको आश्यासन दिया, और उनके खाने-पीने का प्रबंध करने के लिये कर्मचारियों को आज्ञा देकर आप विल्फर्ड और

और एलिस को देखने के लिये भीतर चले आये।

किशोर सिंह स्वाभाविक दयालु थे और उनकी प्रजा उन्हें पिता के समान मानती थी, और उनका उस प्रांत में भी बड़ा सम्मान था। वह बहुत बड़े इलाकेदार होने के कारण छोटे-से राजा समझे जाते थे। उनका प्रेम सब पर बराबर था। किन्तु विल्फर्ड और सरला एलिस को भी वह बहुत चाहने लगे, क्योंकि प्रियातमा सुकुमारी की उन लोगों ने प्राण-रक्षा की थी।

4

किशोर सिंह भीतर आये। एलिस को देखकर कहा—डरने की कोई बात नहीं है। यह मेरी प्रजा थी, समीप के सुंदरपुर गाँव में वे सब रहते हैं। उन्हें सिपाहियों ने लूट लिया है। उनका बंदोबस्त कर दिया गया है। अब उन्हें कोई तकलीफ नहीं।

एलिस ने लम्बी साँस लेकर आँख खोल दी, और कहा—क्या वे सब गये?

सुकुमारी—घबराओ मत, हम लोगों के रहते तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।

विल्फर्ड—क्या सिपाही रियासतों को लूट रहे हैं?

किशोर सिंह—हाँ, पर अब कोई डर नहीं है, वे लूटते हुए इधर से निकल गये।

विल्फर्ड—अब हमको कुछ डर नहीं है।

किशोर सिंह—आपने क्या सोचा?

विल्फर्ड—अब ये सब अपने भाइयों को लूटते हैं, तो शीघ्र ही अपने अत्याचार का फल पावेंगे और इनका किया कुछ न होगा।

किशोर सिंह ने गंभीर होकर कहा—ठीक है।

एलिस ने कहा—मैं आज आप लोगों के संग भोजन करूंगी।

किशोर सिंह और सुकुमारी एक-दूसरे का मुख देखने लगे। फिर किशोरसिंह ने कहा—बहुत अच्छा।

5

साफ दालान में दो कंबल अलग-अलग दूरी पर बिछा दिये गये हैं। एक पर किशोर सिंह बैठे थे और दूसरे पर विल्फर्ड और एलिस; पर एलिस की दृष्टि बार-बार यही सोच रही थी कि किशोर सिंह के साथ सुकुमारी अभी नहीं बैठी।

थोड़ी देर में भोजन आया, पर खामसामा नहीं। स्वयं सुकुमारी एक थाल लिये हैं और तीन-चार औरतों के हाथ में भी खाद्य और पेय वस्तुएँ हैं। किशोर सिंह के इशारा करने पर सुकुमारी ने वह थाल एलिस के सामने रखा, और इसी

तरह विल्फर्ड और किशोर सिंह को परस दिया गया। पर किसी ने भोजन करना नहीं आरंभ किया।

एलिस ने सुकुमारी से कहा—आप क्या यहाँ भी न बैठेंगी ? क्या यहाँ भी कुर्सी है ?

सुकुमारी परसेगा कौन ?

एलिस—खानसामा।

सुकुमारी—क्यों, क्या मैं नहीं हूँ ?

किशोर सिंह—जिद न कीजिये, यह हमारे भोजन कर लेने पर भोजन करती हैं।

एलिस ने आश्चर्य और उदासी-भरी एक दृष्टि सुकुमारी पर डाली। एलिस को भोजन कैसा लगा, सो नहीं कहा जा सकता।

× × ×

भारत में शांति स्थापित हो गई है। अब विल्फर्ड और एलिस अपनी नील-की कोठी पर वापस जाने वाले हैं। चंदनपुर में उन्हें बहुत दिन रहना पड़ा। नील-कोठी वहाँ से दूर है।

दो घोड़े सजे-सजाये खड़े हैं और किशोर सिंह के आठ सशस्त्र सिपाही उनको पहुँचाने के लिये उपस्थित हैं। विल्फर्ड साहब किशोर सिंह से बात-चीत करके छुट्टी पा चुके हैं। केवल एलिस अभी तक भीतर से नहीं आयी। उन्हीं के आने की देर है।

विल्फर्ड और किशोर सिंह पाईं-बाग में टहल रहे थे। इतने में सात-आठ स्त्रियों के झुंड मकान से बाहर निकला। हैं ! यह क्या ? एलिस ने अपना गाउन नहीं पहना, उसके बदले फीरोजी रंग के रेशमी कपड़े का कामदानी लहँगा और मखमल की कंचुकी, जिसके सितारे रेशमी ओढ़नी के ऊपर से चमक रहे हैं ! हैं ! यह क्या ? स्वाभाविक अरुण अधरों में पान की लाली भी है, आँखों में काजल की रेखा भी है, चोटी भी फूलों से गूँथी जा चुकी है, और मस्तक में सुंदर सा बाल-अरुण का बिंदु भी तो है !

देखते ही किशोर सिंह खिलखिला कर हँस पड़े, और विल्फर्ड तो भौंचक्के-से रह गये।

किशोर सिंह ने एलिस से कहा—आपके लिये भी घोड़ा तैयार है—पर सुकु-मारी ने कहा—नहीं, इनके लिये पालकी मँगा दो।

□□

सिकंदर की शपथ

1

सूर्य की चमकीली किरणों के साथ, यूनानियों के बरछे की चमक से 'मिंग-लौर'-दुर्ग घिरा हुआ है। यूनानियों के दुर्ग तोड़ने वाले यंत्र दुर्ग की दीवालों से लगा दिये गये हैं, और वे अपना कार्य बड़ी शीघ्रता के साथ कर रहे हैं। दुर्ग की दीवाल का एक हिस्सा टूटा और यूनानियों की सेना उसी भग्न मार्ग से जयनाद करती हुई घुसने लगी। पर वह उसी समय पहाड़ से टकराये हुए समुद्र की तरह फिरा दी गयी, और भारतीय युवक वीरों की सेना उनका पीछा करती हुई दिखाई पड़ने लगी। सिकंदर उनके प्रचंड अस्त्राघात को रोकता पीछे हटने लगा।

अफगानिस्तान में 'अश्वक' वीरों के साथ भारतीय वीर कहाँ से आ गये? यह शंका हो सकती है, किन्तु पाठकगण! वे निमंत्रित होकर उसकी रक्षा के लिये सुदूर से आये हैं, जो कि संख्या में केवल सात हजार होने पर भी ग्रीकों की असंख्य सेना को बराबर पराजित कर रहे हैं।

सिकंदर को उस सामान्य दुर्ग के अवरोध में तीन दिन व्यतीत हो गये। विजय की संभावना नहीं है, सिकंदर उदास होकर कैंप में लौट गाया, और सोचने लगा। सोचने की बात ही है। गाजा और परसिपोलिस आदि के विजेता को अफगानिस्तान के एक छोटे-से दुर्ग के जीतने में इतना परिश्रम उठाकर भी सफलता मिलती नहीं दिखाई देती, उलटे कई बार उसे अपमानित होना पड़ा।

बैठे-बैठे सिकंदर को बड़ी देर हो गयी। अंधकार फैलकर संसार को छिपाने लगा, जैसे कोई कपटाचारी अपनी मंत्रणा को छिपाता हो। केवल कभी-कभी दो-एक उल्लू उस भीषण रणभूमि में अपने भयानक शब्द को सुना देते हैं। सिकंदर ने सीटी देकर कुछ इंगित किया, एक वीर पुरुष सामने दिखाई पड़ा। सिकंदर ने उससे कुछ गुप्त बातें कीं, और वह चला गया। अंधकार घनीभूत हो जाने पर सिकंदर भी उसी ओर उठकर चला, जिधर वह पहला सैनिक जा चुका था।

2

दुर्ग के उस भाग में, जो टूट चुका था, बहुत शीघ्रता से काम लगा हुआ था, जो बहुत शीघ्र कल की लड़ाई के लिये प्रस्तुत कर दिया गया ओर सब लोग विश्राम करने के लिये चले गये। केवल एक मनुष्य उसी स्थान पर प्रकाश डालकर कुछ देख रहा है। वह मनुष्य कभी तो खड़ा रहता है और कभी अपनी प्रकाश फैलाने वाली मशाल को लिये हुए दूसरी ओर चला जाता है। उस समय उस घोर अंधकार में उस भयावह दुर्ग की प्रकांड छाया और भी स्पष्ट हो जाती है। उसी

छाया में छिपा हुआ सिकंदर खड़ा है। उसके हाथ में धनुष और बाण है, उसके सब अस्त्र उसके पास हैं। उसका मुख यदि कोई इस समय प्रकाश में देखता, तो अवश्य कहता कि यह कोई बड़ी भयानक बात सोच रहा है, क्योंकि उसका सुंदर मुखमंडल इस समय विचित्र भावों से भरा है। अकस्मात् उसके मुख से एक प्रसन्नता का चीत्कार निकल पड़ा, जिसे उसने बहुत व्यग्र होकर छिपाया।

समीप की झाड़ी से एक दूसरा व्यक्ति निकल पड़ा, जिसने आकर सिकंदर से कहा—देर न कीजिये, क्योंकि यह वही है।

सिकंदर ने धनुष को ठीक करके एक विषमय बाण उस पर छोड़ा और उसे उसी दुर्ग पर टहलते हुए मनुष्य की ओर लक्ष्य करके छोड़ा। लक्ष्य ठीक था, वह मनुष्य लुढ़ककर नीचे आ रहा। सिकंदर और उसके साथी ने झट जाकर उसे उठा लिया, किंतु उसके चीत्कार से दुर्ग पर का एक प्रहरी झुककर देखने लगा। उसने प्रकाश डालकर पूछा—कौन है?

उत्तर मिला—मैं दुर्ग से नीचे गिर पड़ा हूँ।

प्रहरी ने कहा—घबड़ाइये मत, मैं डोरी लटकाता हूँ।

डोरी बहुत जल्द लटका दी गयी, अफगान वेशधारी सिकंदर उसके सहारे ऊपर चढ़ गया। ऊपर जाकर सिकंदर ने उस प्रहरी को भी नीचे गिरा दिया, जिसे उसके साथी ने मार डाला और उसका वेश आप लेकर उस सीढ़ी से ऊपर चढ़ गया। जाने के पहले उसने अपनी छोटी-सी सेना को भी उसी जगह बुला लिया और धीरे-धीरे उसी रस्सी की सीढ़ी से वे सब ऊपर पहुंचा दिये गये।

3

दुर्ग के प्रकोष्ठ में सरदार की सुन्दर पत्नी बैठी हुई है। मदिरा-विलोल दृष्टि से कभी दर्पण में अपना सुन्दर मुख और कभी अपने नवीन नील वसन को देख रही है। उसका मुख लालसा की मदिरा से चमक-चमक कर उसकी ही आंखों में चकाचौंध पैदा कर रहा है। अकस्मात् 'प्यारे सरदार', कहकर वह चौंक पढ़ी, पर उसकी प्रसन्नता उसी क्षण बदल गयी, जब उसने सरदार के वेश में दूसरे को देखा। सिकंदर का मानुषिक सौंदर्य कुछ कम नहीं था, अबला-हृदय को और भी दुर्बल बना देने के लिए वह पर्याप्त था। वे एक-दूसरे को निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे। पर अफगान-रमणी की शिथिलता देर तक न रही, उसने हृदय के सारे बल को एकत्र करके पूछा—तुम कौन हो?

उत्तर मिला—शाहंशाह सिकंदर

रमणी ने पूछा—यह वस्त्र किस तरह मिला?

सिकंदर ने कहा—सरदार को मार डालने से।

रमणी के मुख से चीत्कार के साथ ही निकल पड़ा—क्या सरदार मारा गया?

सिकंदर—हाँ, अब वह इस लोक में नहीं है।

रमणी ने अपना मुख दोनों हाथों से ढँक लिया, पर उसी क्षण उसके हाथ में एक चमकता हुआ छुरा दिखाई देने लगा।

सिकंदर घुटने के बल बैठ गया और बोला—सुंदरी ! एक जीव के लिये तुम्हारी दो तलवारें बहुत थीं, फिर तीसरी की क्या आवश्यकता है?

रमणी की दृढ़ता हट गयी, और न जाने क्यों उसके हाथ का छुरा छटककर गिर पड़ा, वह भी घुटनों के बल बैठ गयी।

सिकंदर ने उसका हाथ पकड़कर उठाया। अब उसने देखा कि सिकंदर अकेला नहीं है, उसके बहुत-से सैनिक दुर्ग पर दिखाई दे रहे हैं। रमणी ने अपना हृदय दृढ़ किया और संदूक खोलकर एक जवाहिरात का डब्बा लेकर सिकंदर के आगे रक्खा। सिकंदर ने उसे देखकर कहा—मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, दुर्ग पर मेरा अधिकार हो गया, इतना ही बहुत है।

दुर्ग के सिपाई यह देखकर कि शत्रु भीतर आ गया है, अस्त्र लेकर मारपीट करने पर तैयार हो गये। पर सरदार-पत्नी ने उन्हें मना किया, क्योंकि उसे बतला दिया गया था कि सिकंदर की विजयवाहिनी दुर्ग के द्वार पर खड़ी है।

सिकंदर ने कहा—तुम घवड़ाओ मत, जिस तरह से तुम्हारी इच्छा होगी, उसी प्रकार संधि के नियम बनाये जायँगे। अच्छा मैं जाता हूँ।

अब सिकंदर को थोड़ी दूर तक सरदार-पत्नी पहुँचा गयी। सिकंदर थोड़ी सेना छोड़कर आप अपने शिविर में चला गया।

4

संधि हो गयी। सरदार-पत्नी ने स्वीकार कर लिया कि दुर्ग सिकंदर के अधीन होगा। सिकंदर ने भी उसी को यहाँ की रानी बनाया और कहा—भारतीय योद्धा जो तुम्हारे यहाँ आये हैं, वे अपने देश को लौटकर चले जायँ। और उनके जाने में किसी प्रकार की बाधा न डालूँगा। सब बातें शपथपूर्वक स्वीकार कर ली गयीं।

राजपूत वीर अपने परिवार के साथ उस दुर्ग से निकल पड़े, स्वदेश की ओर चलने के लिए तैयार हुए। दुर्ग के समीप ही एक पहाड़ी पर उन्होंने अपना डेरा जमाया और भोजन करने का प्रबंध करने लगे।

भारतीय रमणियाँ जब अपने पुत्रों और पतियों के लिये भोजन प्रस्तुत कर रही थीं, तो उनमें उस अफगान-रमणी के बारे में बहुत बातें हो रही थीं। और वे सब उसे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखने लगीं, क्योंकि उसने एक पति-हत्याकारी को आत्म-समर्पण कर दिया था। भोजन के उपरांत जब सब सैनिक विराम करने लगे, तब युद्ध की बातें कहकर अपने चित्त को प्रसन्न करने लगे। थोड़ी देर नहीं

बीती थी कि एक ग्रीक अश्वारोही उनके समीप आता दिखाई पड़ा, जिसे देखकर एक राजपूत युवक उठ खड़ा हुआ और प्रतीक्षा करने लगा।

ग्रीक सैनिक उसके समीप आकर बोला—शाहंशाह सिकंदर ने तुम लोगों को दया करके अपनी सेना में भरती करने का विचार किया है। आशा है कि इस संवाद से तुम लोग बहुत प्रसन्न होगे।

युवक बोल उठा—इस दया के लिये हम लोग कृतज्ञ हैं, पर अपने भाईयों पर अत्याचार करने में ग्रीकों का साथ देने के लिये हम लोग कभी प्रस्तुत नहीं हैं।

ग्रीक—तुम्हें प्रस्तुत होना चाहिये, क्योंकि यह शाहंशाह सिकंदर की आज्ञा है।

युवक—नहीं महाशय, क्षमा कीजिए। हम लोग आशा करते हैं कि संधि के अनुसार हम लोग अपने देश को शांतिपूर्वक लौट जायेंगे, इसमें वाधा न डाली जायगी।

ग्रीक—क्या तुम लोग इस बात पर दृढ़ हो? एक बार और विचारकर उत्तर दो, क्योंकि उसी उत्तर पर तुम लोगों का जीवन-मरण निर्भर होगा।

इस पर कुछ राजपूतों ने समवेत स्वर से कहा—हाँ-हाँ, हम अपनी बात पर दृढ़ हैं, किन्तु सिकंदर, जिसने देवताओं के नाम पर शपथ ली है, अपनी शपथ को न भूलेगा।

ग्रीक—सिकंदर ऐसा मूर्ख नहीं है कि आये हुए शत्रुओं को और दृढ़ होने का अवकाश दे। अस्तु, अब तुम लोग मरने के लिये तैयार हो।

इतना कहकर वह ग्रीक अपने घोड़े को घुमाकर सीटी बजाने लगा, जिसे सुनकर अगणित ग्रीक-सेना उन थोड़े-से हिंदुओं पर टूट पड़ी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने प्राण-पण से युद्ध किया और जब तक कि उनमें एक भी बचा, बराबर लड़ता गया। क्यों न हो, जब उनकी प्यारी स्त्रियाँ उन्हें अस्तहीन देखकर तलवार देती थीं और हँसती हुई अपने प्यारे पतियों की युद्ध-क्रिया देखती थीं। रणचंडियाँ भी अकर्मण्य न रहीं, जीवन देखकर अपना धर्म रखा। ग्रीकों की तलवारों ने उनके बच्चों को न रोने दिया, क्योंकि पिशाच सैनिकों के हाथ सभी मारे गये।

अज्ञात स्थान में निराश्रय होकर उन सब वीरों ने प्राण दिये। भारतीय लोग उनका नाम भी नहीं जानते!

□□

चित्तौर-उद्धार

1

दीपमालाएँ आपस में कुछ हिल-हिलकर इंगित कर रही हैं, किंतु मौन हैं। सज्जित मंदिर में लगे हुए चित्र एकटक एक-दूसरे को देख रहे हैं, शब्द नहीं हैं। शीतल समीर आता है, किंतु धीरे-से वातायन-पथ के पार हो जाता है, दो सजीव चित्रों को देखकर वह कुछ नहीं कह सकता है। पर्यंक पर भाग्यशाली मस्तक उन्नत किये हुए चुपचाप बैठा हुआ युवक स्वर्ग-पुत्तली की ओर देख रहा है, जो कोने में निर्वात दीपशिका की तरह प्रकोष्ट को अलोकित किये हुए है। नीरवता का सुंदर दृश्य, भावविभोर होने का प्रत्यक्ष प्रणाम, स्पष्ट उस गृह में अलोकित हो रहा है।

अकस्मात् गम्भीर कंठ से युवक उद्वेग में भर बोल उठा—सुंदरी! आज से तुम मेरी धर्म-पत्नी हो, फिर मुझसे संकोच क्यों?

युवती कोकिल-स्वर से बोली—महाजकुमार! यह आपकी दया है, जो दासी को अपनाना चाहते हैं, किंतु वास्तव में दासी आपके योग्य नहीं है।

युवक—मेरी धर्मपरिणीता वधू, मालदेव की कन्या अवश्य मेरे योग्य है। यह चाटूक्ति मुझे पसंद नहीं। तुम्हारे पिता ने, यद्यपि वह मेरे चिर-शत्रु हैं, तुम्हारे ब्याह के लिये नारियल भेजा, और मैंने राजपूत धर्मानुसार उसे स्वीकार किया, फिर भी तुन्हारी-ऐसी सुंदरी को पाकर हम प्रवंचित नहीं हुए और इसी अवसर पर अपने पूर्व-पुरुषों की जन्मभूमि का भी दर्शन मिला।

'उदारहृदय राजकुमार! मुझे क्षमा कीजिये। देवता से छलना मनुष्य नहीं कर सकता। मैं इस सम्मान के योग्य नहीं कि पर्यंक पर बैठूं, किंतु चरण-प्रांत में बैठकर एक बार नारी-जावन का स्वर्ग भोग कर लेने में आपके-ऐसे देवता वाधा न देंगे।'

इतना कहकर युवती ने पर्यंक से लटकते हुए राजकुमार के चरणों को पकड़ लिया।

वीर कुमार हम्मीर अवाक् होकर देखने लगे। फिर उसका हाथ पकड़कर पास में बैठा लिया। राजकुमारी शीघ्रता से न उतरकर पलँग के नीचे बैठ गयी।

दाम्पत्य-सुख से अपरिचित कुमार की भँवें कुछ चढ़ गयीं, किंतु उसी क्षण यौवन के नवीन उल्लास ने उन्हें उतार दिया। हम्मीर ने कहा—फिर क्यों तुम इतना उत्कंठित कर रही हो? सुंदरी! कहो, बात क्या है?

राजकुमारी—मैं विधवा हूँ। सात वर्ष की अवस्था में, सुना है कि मेरा ब्याह हुआ और आठवें वर्ष विधवा हुई! यह भी सुना है कि विधवा का शरीर अपवित्र

होता है। तब, जगत्पवित्र शिशोदिया कुल के कुमार को छूने का कैसे साहस कर सकती हूँ ?

हम्मीर—हैं ! क्या तुम विधवा हो ? फिर तुम्हारा ब्याह पिता ने क्यों किया ?

राजकुमारी—केवल देवता को अपमानित करने के लिये।

हम्मीर की तलवार में स्वयं एक झनकार उत्पन्न हुई। फिर भी उन्होंने शांत होकर कहा—अपमान इससे नहीं होता, किंतु परिणीता वधू को छोड़ देने में अवश्य अपमान है।

राजकुमारी—प्रभो ! पतिता को लेकर आप क्यों कलंकित होते हैं ?

हम्मीर ने मुस्कुरा कर कहा—ऐसे निर्दोष और सच्चे रत्न को लेकर कौन कलंकित हो सकता है ?

राजकुमारी संकुचित हो गयी। हम्मीर ने हाथ पकड़कर उठाकर पलँग पर बैठाया, और कहा—आओ, तुम्हें मुझसे—समाज, संसार—कोई भी नहीं अलग कर सकता।

राजकुमारी ने वाष्परुद्ध कंठ से कहा—इस अनाथिनी को सनाथ करके आपने चिर-ऋणी बनाया, और विह्वल होकर हम्मीर के अंक में सिर रख दिया।

2

कैलवाड़ा-प्रदेश के छोटे-से दुर्ग एक प्रकोष्ठ में राजकुमार हम्मीर बैठे हुए चिंता में निमग्न हैं। सोच रहे थे—जिस दिन मुंज का सिर मैंने काटा, उसी दिन एक भारी बोझ मेरे सिर दिया गया; यह पितृव्य का दिया हुआ महाराणा-वंश का राजतिलक है, उसका पूरा निर्वाह जीवन भर करना कर्त्तव्य है। चित्तौर का उद्धार करना ही मेरा प्रधान लक्ष्य है। पर देखूँ, ईश्वर कैसे इसे पूरा करता है ? इस छोटी-सी सेना से, यथोचित धन का अभाव रहते, वह क्योंकर हो सकता है ? रानी मुझे चिताग्रस्त देखकर यही समझती है कि विवाह ही मेरे चिंतित होने का कारण है। मैं उसकी ओर देखकर मालदेव पर कोई अत्याचार करने पर संकुचित होता हूँ। ईश्वर की कृपा से एक पुत्र भी हुआ, किन्तु मुझे नित्य चिंतित देखकर रानी पिता के यहाँ चली गयी है। यद्यपि देवता-पूजन करने के लिये ही वहाँ उनका जाना हुआ है, किन्तु मेरी उदासीनता भी कारण है। भगवान एकलिंगेश्वर कैसे इस दुःसाध्य कार्य को पूर्ण करते हैं, यह वही जानें।

इसी तरह की अनेक विचार-तरंगें मानव में उठ रही थीं। संध्या की शोभा सामने की गिरि-श्रेणी पर अपनी लीला दिखा रही है, किंतु चिंतित हम्मीर को उसका आनन्द नहीं। देखते-देखते अन्धकार ने गिरिप्रदेश को ढँक लिया। हम्मीर उठे, वैसे ही द्वारपाल ने आकर कहा—महाराज विजयी हों। चित्तौर से

एक सैनिक, महारानी का भेजा हुआ, आया है।

थोड़ी ही देर में सैनिक लाया गया और अभिवादन करने के बाद उसने एक पत्र हम्मीर के हाथ में दिया। हम्मीर ने उसे लेकर सैनिक को बिदा किया, और पत्र पढ़ने लगे—

प्राणनाथ जीवनसर्वस्व के चरणों में

कोटिश: प्रणाम।

देव! आपकी कृपा ही मेरे लिये कुशल है। मुझे यहाँ आये इतने दिन हुए, किंतु एक बार भी आपने पूछा नहीं। इतनी उदासीनता क्यों? क्या, साहस में भरकर जो मुझे आपने स्वीकार किया, उसका प्रतिकार कर रहे हैं? देवता! ऐसा न चाहिये। मेरा अपराध ही क्या? मैं आपका चिंतित मुख नहीं दे सकती, इसीलिए कुछ दिनों के लिए यहाँ चली आयी हूँ, किंतु बिना उस मुख के देखे भी शांति नहीं। अब कहिये, क्या करूं? देव! जिस भूमि की दर्शनाभिलाषा ने ही आपको मुझसे ब्याह करने के लिये बाध्य किया, उसी भूमि में आने से मेरा हृदय अब कहता है कि आप ब्याह करके नहीं पश्चात्ताप कर रहे हैं, किंतु आपकी उदासीनता केवल चित्तौर-उद्धार के लिये है। मैं इसमें बाधा-स्वरूप आपको दिखाई पड़ती हूँ। मेरे ही स्नेह से आप पिता के ऊपर चढ़ाई नहीं कर सकते, और पितरों के ऋण से उद्धार नहीं पा रहे हैं। इस जन्म में तो आपसे उद्धार नहीं हो सकती और होने की इच्छा भी नहीं—कभी, किसी भी जन्म में। चित्तौर-अधिष्ठात्री देवी ने मुझे स्वप्न में जो आज्ञा दी है, मैं उसी कार्य के लिये रुकी हूँ। पिता इस समय चित्तौर में नहीं हैं, इससे यह नहीं समझिये कि मैं आपको कायर समझती हूँ, किंतु इसलिये कि युद्ध में उनके न रहने से उनकी कोई शारीरिक क्षति नहीं होगी। मेरे कारण जिसे आप बचाते हैं, वह बात बच जायेगी। सरदारों से रक्षित चित्तौर दुर्ग के वीर सैनिकों के साथ सम्मुख युद्ध में इस समय विजय प्राप्त कर सकते हैं। मुझे निश्चय है, भवानी आपकी रक्षा करेगी। और, मुझे चित्तौर से अपने साथ लिवा न जाकर यहीं सिंहासन पर बैठिये। दासी चरण-सेवा करके कृतार्थ होगी।

3

चित्तौर-दुर्ग के सिंहद्वार पर एक सहस्र राजपूत-सवार और उतने ही भील-धनुर्धर पदातिक उन्मुक्त शस्त्र लिये हुए महाराणा हम्मीर की जय का भीम-नाद कर रहे हैं।

दुर्ग-रक्षक सचेष्ट होकर बुर्जियों पर से अग्नि-वर्षा करा रहा है, किन्तु इन दृढ़ प्रतिज्ञ वीरों को हटाने में असमर्थ है। दुर्गद्वार बंद है। आक्रमणकारियों के पास दुर्गद्वार तोड़ने का कोई साधन नहीं है, तो भी वे अदम्य उत्साह से आक्रमण कर रहे हैं। हम्मीर कतिपय उत्साही वीरों के साथ अग्रसर होकर प्राचीर पर

चढ़ने का उद्योग करने लगे, किन्तु व्यर्थ, कोई फल नहीं हुआ। भीलों की बाण-वर्षा से हम्मीर का शत्रुपक्ष निर्बल होता था, पर वे सुरक्षित थे। और भीषण हत्या-कांड हो रहा है। अकस्मात् दुर्ग का सिंहद्वार सशब्द खुला।

हम्मीर की सेना ने समझा कि शत्रु मैदान में, युद्ध करने के लिये आ गये, बड़े उल्लास से आक्रमण किया गया। किंतु देखते है तो सामने एक सौ क्षत्राणियाँ हाथ में तलवार लिये हुए दुर्ग के भीतर खड़ी हैं! हम्मीर पहले तो संकुचित हुए, फिर जब देखा कि स्वयं राजकुमारी ही उन क्षत्राणियों की नेत्री हैं और उनके हाथ में भी तलवार है, तो वह आगे बढ़े। राजकुमारी ने प्रणाम करके तलवार महाराणा के हाथों में दे दी, राजपूतों ने भीम-नाद के साथ 'एकलिंग की जय' घोषित किया।

वीर हम्मीर अग्रसर नहीं हो रहे हैं। दुर्ग से रक्षक ससैन्य उसी स्थान पर आ गया, किन्तु वहाँ का दृश्य देखकर वह भी अवाक् हो गया। हम्मीर ने कहा—सेनापते! मैं इस तरह दुर्ग-अधिकार पा तुम्हें बन्दी नहीं करना चाहता, तुम ससैन्य स्वतंत्र हो। यदि इच्छा हो, तो युद्ध करो। चित्तौर-दुर्ग राणा-वंश का है। यदि हमारा होगा, तो एकलिंग-भगवान् की कृपा से उसे हम हस्तगत करेंगे ही।

दुर्ग-रक्षक ने कुछ सोचकर कहा— भगवान् की इच्छा है कि आपको आपका पैतृक दुर्ग मिले, उसे कौन रोक सकता है? संभव है कि इसमें राजपूतों की भलाई हो। इससे बन्धुओं का रक्तपात हम नहीं कराना चाहते। आपको चित्तौर का सिंहासन सुखद हो, देश की श्री-वृद्धि हो, हिन्दुओं का सूर्य मेवाढ़-गगन में एक बार फिर उदित हो। भील, राजपूत, शत्रुओं ने मिलकर महाराणा का जयनाद किया, दुंदुभि बज उठी। मंगल-गान के साथ सपत्नीक हम्मीर पैतृक सिंहासन पर आसीन हुए। अभिवादन ग्रहण कर लेने पर महाराणा ने महिषी से कहा—क्या अब भी तुम कहोगी कि तुम हमारे योग्य नहीं हो?

□□

अशोक

1

पूत-सलिला भागीरथी के तट पर चंद्रालोक में महाराज चक्रवर्ती अशोक टहल रहे हैं। थोड़ी देर पर एक युवक खड़ा है। सुधाकर की किरणों के साथ नेत्र-ताराओं को मिलाकर स्थिर दृष्टि से महाराज ने कहा—विजयकेतु, क्या यह बात

सच है कि जैन लोगों ने हमारे बौद्ध-धर्माचार्य होने का जनसाधारण में प्रवाद फैलाकर उन्हें हमारे विरुद्ध उत्तेजित किया है और पौण्ड्रवर्धन में एक बुद्धमूर्ति तोड़ी गयी है ?

विजयकेतु—महाराज, क्या आपसे भी कोई झूठ बोलने का साहस कर सकता है ?

अशोक—मनुष्य के कल्याण के लिये हमने जितना उद्योग किया, क्या वह सब व्यर्थ हुआ ? बौद्धधर्म को हमने क्यों प्रधानता दी ? इसीलिये कि शांति फैलेगी, देश में द्वेष का नाम भी न रहेगा, और उसी शांति की छाया में समाज अपने वाणिज्य, शिल्प और विद्या की उन्नति करेगा। पर नहीं, हम देख रहे हैं कि हमारी कामना पूर्ण होने में अभी अनेक बाधाएँ हैं। हमें पहले उन्हें हटाकर मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

विजयकेतु—देव ! आपकी क्या आज्ञा है ?

अशोक—विजयकेतु, भारत में एक समय वह था, जब कि इसी अशोक के नाम से लोग काँप उठते थे। क्यों ? इसीलिये कि वह बड़ा कठोर शासक था। पर वही अशोक जब से बौद्ध कहकर सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है उसके शासन को लोग कोमल कहकर भूलने लग गये हैं। अस्तु, तुमको चाहिये कि अशोक का आतंक एक बाल फिर फैला दो; और यह आज्ञा प्रचारित कर दो कि जो मनुष्य जैनों का साथी होगा, वह अपराधी होगा; और जो एक जैन का सिर काट लावेगा, वह पुरस्कृत किया जावेगा।

विजयकेतु—(काँपकर) जो महाराज की आज्ञा !

अशोक—जाओ, शीघ्र जाओ।

विजयकेतु चला गया। महाराज अभी वहीं खड़े हैं। नूपुर का कलनाद सुनाई पड़ा। अशोक ने चौंककर देखा, तो बीस-पच्चीस दासियों के साथ महारानी तिष्यरक्षिता चली आ रही हैं।

अशोक—प्रिये ! तुम यहाँ कैसे ?

तिष्यरक्षिता—प्राणनाण ! शरीर से कहीं छाया अलग रह सकती है ? बहुत देर हुई, मैंने सुना था कि आप आ रहे हैं; पर बैठे-बैठे जी घबड़ा गया कि आने में क्यों देर हो रही है। फिर दासी से ज्ञात हुआ कि आप महल के नीचे बहुत देर से टहल रहे हैं। इसीलिये मैं स्वयं आपके दर्शन के लिये चली आई। अब भीतर चलिये !

अशोक—मैं तो आ ही रहा था। अच्छा चलो।

अशोक और तिष्यरक्षिता समीप के सुन्दर प्रसाद की ओर बढ़े। दासियाँ पीछे थीं।

2

राजकीय कानन में अनेक प्रकार के वृक्ष, सुरभित सुमनों से भरे झूम रहे हैं। कोकिला भी कूक-कूक कर आम की डालों को हिलाये देती है। नव-वसंत का समागम है। मलयानिल इठलाता हुआ कुसुम-कलियों को ठुकराता जा रहा है।

इसी समय कानन-निकटस्थ शैल के झरने के पास बैठकर एक युवक जल-लहरियों की तरंग-भंगी देख रहा है। युवक बड़ सरल विलोकन से कृत्रिम जल-प्रताप को देख रहा है। उसकी मनोहर लहरियाँ जो बहुत ही जल्दी-जल्दी लीन हो स्रोत में मिलकर सरल पथ का अनुकरण करती हैं, उसे बहुत ही भली मालूम हो रही हैं। पर युवक को यह नहीं मालूम कि उसकी सरल दृष्टि और सुन्दर अवश्यव से विवश होकर एक रमणी अपने परम पवित्र पद से च्युत होना चाहती है।

देखो, उस लता-कुंज में, पत्तियों की ओट में, दो नीलमणि के समान कृष्ण-तारा चमककर किसी अदृश्य आश्चर्य का पता बता रहे हैं। नहीं-नहीं, देखो, चन्द्रमा में भी कहीं तारे रहते हैं ? वह तो किसी सुंदरी के मुख-कमल का आभास है।

युवक अपने अन्दाज में मग्न है। उसे इसका कुछ भी ध्यान नहीं है कि कोई व्याघ्र उसकी ओर अलक्षित होकर बाण चला रहा है। युवक उठा, और उसी कुंज की ओर चला। किसी प्रच्छन्न शक्ति की प्रेरणा से वह उसी लता-कुंज की ओर बढ़ा। किन्तु उसकी दृष्टि वहाँ जब भीतर पड़ी, तो वह अवाक् हो गया। उसके दोनों हाथ आप जुट गये। उसका सिर स्वयं अवनत हो गया।

रमणी स्थिर होकर खड़ी थी। उसके हृदय में उद्वग और शरीर में कंप था। धीरे-धीरे उसके होंठ हिले और कुछ मधुर शब्द निकले। पर वे शब्द स्पष्ट होकर वायुमंडल में लीन हो गये। युवक का सिर नीचे ही था। फिर युयती ने अपने को संभाला और बोली—कुनाल, तुम यहाँ कैसे ? अच्छे तो हो ?

माताजी की कृपा से—उत्तर में कुनाल ने कहा।

युवती मंद मुस्कान के साथ बोली—मैं तुम्हें देर से यहाँ छिप कर देख रही हूँ।

कुनाल—महारानी तिष्यरक्षिता को छिपकर मुझे देखने की क्या आवश्यकता है ?

तिष्यरक्षिता—(कुछ कंपित स्वर से) तुम्मारे सौंदर्य से विवश होकर।

कुनाल—(विस्मित तथा भयभीत होकर) पुत्र का सौंदर्य तो माता ही का दिया हुआ है।

तिष्यरक्षिता—नहीं कुनाल, मैं तुम्हारी प्रेम-भिखारिनी हूँ, राजरानी नहीं हूँ; और न तुम्हारी माता हूँ।

कुनाल—(कुंज से बाहर निकलकर) माताजी, मेरा प्रणाम ग्रहण कीजिए, और अपने इस पाप का शीघ्र प्रायश्चित कीजिये। जहाँ तक संभव होगा, अब आप इस पाप-मुख को कभी न देखेंगी।

इतना कहकर शीघ्रता से वह युवक राजकुमार कुनाल, अपनी विमाता की बात सोचता हुआ, उपवन के बाहर निकल गया। पर तिष्यरक्षिता किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर वहीं तब तक खड़ी रहीं, जब तक किसी दासी के भूषण-शब्द ने उसकी मोह-निद्रा को भंग नहीं किया।

3

श्रीनगर के समीपवर्ती कानन में एक कुटीर के द्वार पर कुनाल बैठा हुआ ध्यानमग्न है। उसकी सुशील पत्नी उसी कुटीर में कुछ भोजन बना रही है।

कुटीर स्वच्छ तथा उसकी भूमि परिष्कृत है। शांति की प्रबलता के कारण पवन भी उसी समय धीरे-धीरे चल रहा है।

किंतु वह शांति देर तक न रही, क्योंकि एक दौड़ता हुआ मृगशावक कुनाल की गोद में आ गिरा, जिससे उसके ध्यान में विघ्न हुआ, और वह खड़ा हो गया। कुनाल ने उस मृग-शावक को देखकर समझा कि कोई व्याघ्र भी इसके पीछे आता ही होगा। पर जब कोई उसे न देख पड़ा, तो उसने मृगशावक को अपनी स्त्री 'धर्मरक्षिता' को देकर कहा—प्रिये! क्या तुम इसको बच्चे की तरह पालोगी?

धर्मरक्षिता—प्राणनाण, हमारे ऐसे वनचारियों को ऐसे ही बच्चे चाहिएं।

कुनाल—प्रिये! तुमको हमारे साथ बहुत कष्ट है।

धर्मरक्षिता—नाथ, इस स्थान पर यदि सुख न मिला, तो मैं समझूँगी कि संसार में भी कहीं सुख नहीं है।

कुनाल—किंतु प्रिये, क्या तुम्हें वे सब राज-सुख याद नहीं आते? क्या उनकी स्मृति तुम्हें नहीं सताती? और, क्या तुम अपनी मर्म-वेदना से निकलते हुए आँसुओं को रोक नहीं लेतीं! या वे सचमुच हैं ही नहीं?

धर्मरक्षिता—प्राणधार! कुछ नहीं है। यह सब आपका भ्रम है। मेरा हृदय जितना इस शांत वन में आनंदित है, उतना कहीं भी न रहा। भला ऐसे स्वभाव-वर्धित, सरल-सीधे और सुमनवाले साथी कहाँ मिलते? ऐसी मृदुला लताएँ, जो अनायास ही चरण को चूमती हैं, कहाँ उस जनरव से भरे राजकीय नगर में मिली थीं? नाथ, और सच कहना, (मृग को चूमकर) ऐसा प्यारा शिशु भी तुम्हें आज तक कहीं मिला था? तिस पर भी आपको अपनी विमाता की कृपा से जो दुःख मिलता था, वह भी यहाँ नहीं है। फिर ऐसा सुखमय जीवन और कौन होगा?

कुनाल के नेत्र आँसुओं से भर आये, और वह उठकर टहलने लगे। धर्म-रक्षिता भी अपने कार्य में लगी। मधुर पवन भी उस भूमि में उसी प्रकार चलने लगा। कुनाल का हृदय अशांत हो उठा, और वह टहलता हुआ कुछ दूर निकल गया। जब नगर का समीपवर्ती प्रांत उसे दिखाई पड़ा, तब वह रुक गया और उसी ओर देखने लगा।

4

पाँच-छ: मनुष्य दौड़ते हुए चले आ रहे हैं। वे कुनाल के पास पहुँचना ही चाहते थे कि उनके पास बीस अश्वारोही देख पड़े। वे सब-के-सब कुनाल के समीप पहुँचे। कुनाल चकित दृष्टि से उन सबको देख रहा था।

आगे दौड़कर आने वालों ने कहा—महाराज, हम लोगों को बचाइये।

कुनाल उन लोगों को पीछे करके आप आगे डटकर खड़ा हो गया। वे अश्वा-रोही भी उस कुनाल के अपूर्व तेजोमय स्वरूप को देखकर सहमकर, उसी स्थान पर खड़े हो गये। कुनाल ने उन अश्वारोहियों से पूछा—तुम लोग इन्हें क्यों सता रहे हो? क्या इन लोगों ने ऐसा कार्य किया है, जिससे ये लोग न्यायत: दंडभागी समझे गये हैं?

एक अश्वारोही, जो उन लोगों का नायक था, बोला—हम लोग राजकीय सैनिक हैं और राजा की आज्ञा से इन विधर्मी जैनियों का वध करने के लिये आये हैं। पर आप कौन हैं, जो महाराज चक्रवर्ती देवप्रिय अशोकदेव की आज्ञा का विरोध करने पर उद्यत हैं?

कुनाल—चक्रवर्ती अशोक! वह कितना बड़ा राजा है?

नायक—मूर्ख! क्या तू अभी तक महाराज अशोक का पराक्रम नहीं जानता, जिन्होंने अपने प्रचंड भुजदंड के बल से कलिंग-विजय किया है? और, जिनकी राज्य-सीमा दक्षिण में केरल और मलयगिरि, उत्तर में सिंधुकोश-पर्वत, तथा पूर्व और पश्चिम में किरात-देश और ५टल हैं! जिनकी मैत्री के लिये यवन-नृपति लोग उद्योग करते रहते हैं, उन महाराज को तू भलीभाँति नहीं जानता?

कुनाल—परन्तु इ.से भी बड़ा कोई साम्राज्य है, जिसके लिये किसी राज्य की मैत्री की आवश्यकता नहीं है।

नायक—इस विवाद की आवश्यकता नहीं है, हम अपना काम करेंगे।

कुनाल—तो क्या तुम लोग इन अनाथ जीवों पर कुछ दया न करोगे?

इतना कहते-कहते राजकुमार को कुछ कोध आ गया, नेत्र लाल हो गये। नायक उस तेजस्वी मूर्ति को देखकर एक बार फिर सहम गया।

कुनाल ने कहा—अच्छा, यदि तुम न मानोगे, तो यहाँ के शासक से जाकर कहो कि राजकुमार कुनाल तुम्हें बुला रहे हैं।

नायक सिर झुकाकर कुछ सोचने लगा। तब उसने अपने एक साथी की ओर देखकर कहा—जाओ, इन बातों को कहकर, दूसरी आज्ञा लेकर जल्द आओ।

अश्वारोही शीघ्रता से नगर की ओर चला। शेष सब लोग उसी स्थान पर खड़े थे।

थोड़ी देर में उसी ओर से दो अश्वारोही आते हुए दिखाई पड़े। एक तो वही था, जो भेजा गया था, और दूसरा उस प्रदेश का शासक था। समीप आते ही वह घोड़े पर से उतर पड़ा और कुनाल का अभिवादन करने के लिए बढ़ा। पर कुनाल ने रोक कर कहा—बस, हो चुका, मैंने आपको इसलिये कष्ट दिया है कि इन निरीह मनुष्यों की हिंसा की जा रही है।

शासक—राजकुमार! आपके पिता की आज्ञा ही ऐसी है, और आपका यह वेश क्या है?

कुनाल—इसके पूछने की कोई आवश्यकता नहीं, पर क्या तुम इन लोगों को मेरे कहने से छोड़ सकते हो?

शासक—(दुःखित होकर) राजकुमार, हम आपकी आज्ञा कैसे टाल सकते हैं, (ठहरकर) पर एक और बड़े दुःख की बात है।

कुनाल—वह क्या?

शासक ने एक पत्र अपने पास से निकालकर कुनाल को दिखलाया। कुनाल उसे पढ़कर चुप रहा, और थोड़ी देर के बाद बोला—तो तुमको इस आज्ञा का पालन करना चाहिये।

शासक—पर, यह कैसे हो सकता है।

कुनाल—जैसे हो, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

शासक—किंतु राजकुमार, आपके इस देव-शरीर के दो नेत्र-रत्न निकालने का बल मेरे हाथों में नहीं है। हाँ, मैं अपने इस पद का त्याग कर सकता हूँ।

कुनाल—अच्छा, तो तुम मुझे इन लोगों के साथ महाराज के समीप भेज दो।

शासक ने कहा—जैसी आज्ञा।

5

पौण्ड्रवर्धन नगर में हाहाकार मचा हुआ है। नगर-निवासी प्रायः उद्विग्न हो रहे हैं। पर विशेषकर जैन लोगों ही में खलबली मची हुई है। जैन-रमणियाँ, जिन्होंने कभी घर के बाहर पैर भी नहीं रक्खा था, छोटे शिशुओं को लिए हुए भाग रही हैं। पर जायँ कहाँ? जिधर देखती हैं, उधर ही सशस्त्र उन्मत्त काल बौद्ध लोग उन्मत्तों की तरह दिखाई पड़ते हैं। देखो, वह स्त्री, जिसके केश परिश्रम से खुल गए हैं—गोद का शिशु अलग मचल कर रो रहा है, थककर एक वृक्ष के नीचे

बैठ गयी है; अरे देखो ! दुष्ट निर्दय वहाँ भी पहुँच गये, और उस स्त्री को सताने लगे।

युवती ने हाथ जोड़ कर कहा—आप लोग दुःख मत दीजिये। फिर उसने एक-एक करके सब आभूषण उतार दिये और वे दुष्ट उन सब अंलकारों को लेकर भाग गये। इधर वह स्त्री निद्रा से क्लांत होकर उसी वृक्ष के नीचे सो गयी।

उधर देखिये, वह एक रथ चला जा रहा है, और उसके पर्दे हटाकर बता रहे हैं कि उसमें स्त्री और पुरुष तीन-चार बठे हैं। पर सारथी उस ऊँची-नीची पथरीली भूमि में भी उन लोगों की ओर बिना ध्यान दिये रथ शीघ्रता से लिये जा रहा है। सूर्य की किरणें पश्चिम में पीली हो गयी हैं। चारों ओर उस पथ में शांति है। केवल उसी रथ का शब्द सुनाई पड़ता है, जो अभी उत्तर की ओर चला जा रहा है।

थोड़ी ही देर में वह रथ सरोवर के समीप पहुँचा और रथ के घोड़े हाँफते हुए थककर खड़े हो गये। अब सारथी भी कुछ न कर सका और उसको रथ के नीचे उतरना पड़ा।

रथ को रुका जानकर भीतर से एक पुरुष निकला और उसने सारथी से पूछा—क्यों, तुमने रथ क्यों रोक दिया ?

सारथी—अब घोड़े नहीं चल सकते।

पुरुष—तब तो फिर बड़ी विपत्ति का सामना करना होगा; क्योंकि पीछा करने वाले उन्मत्त सैनिक आ ही पहुंचेंगे।

सारथी—तब क्या किया जाय ? (सोचकर) अच्छा, आप लोग इस समीप की कुटी में चलिये, यहाँ कोई महात्मा हैं, वह अवश्य आप लोगों को आश्रय देंगे।

पुरुष ने कुछ सोचकर सब आरोहियों को रथ पर से उतारा, और वे सब लोग कुटी की ओर अग्रसर हुए।

कुटी के बाहर एक पत्थर पर अधेड़ मनुष्य बैठा हुआ है। उसका परिधेय वस्त्र भिक्षुओं के समान है। रथ पर के लोग उसी के सामने जाकर खड़े हुऐ। उन्हें देखकर वह महात्मा बोले—आप लोग कौन हैं और क्यों आये हैं ?

उसी पुरुष ने आगे बढ़कर, हाथ जोड़कर कहा—महात्मन्, हम लोग जैन हैं और महाराज अशोक की आज्ञा से जैन लोगों का सर्वनाश किया जा रहा है। अत: हम लोग प्राण के भय से भाग कर अन्यत्र जा रहे हैं। पर मार्ग में घोड़े थक गये, अब ये इस समय चल नहीं सकते। क्या आप थोड़ी देर तक हम लोगों को आश्रय दीजियेगा ?

महात्मा थोड़ी देर सोचकर बोले—अच्छा, आप लोग इसी कुटी में चले जाइये।

स्त्री-पुरुषों ने आश्रय पाया।

अभी उन लोगों को बैठे थोड़ी ही देर हुई है कि अकस्मात् अश्व-पद-शब्द ने सबको चकित और भयभीत कर दिया। देखते-देखते दस अश्वारोही उस कुटी के सामने पहुँच गये। उनमें से एक महात्मा की ओर लक्ष्य करके बोला—ओ भिक्षु, क्या तूने अपने यहाँ भागे हुए जैन विधर्मियों को आश्रय दिया है? समझ रख, तू हम लोगों से बहाना नहीं कर सकता, क्योंकि उनका रथ इस बात का ठीक पता दे रहा है।

महात्मा—सैनिकों, तुम उन्हें लेकर क्या करोगे? मैंने अवश्य उन दुखियों को आश्रय दिया है। क्यों व्यर्थ नर-रक्त से अपने हाथों को रंजित करते हो?

सैनिक अपने साथियों की ओर देखकर बोला—यह दुष्ट भी जैन ही है, ऊपरी बौद्ध बना हुआ है; इसे भी मारो।

'इसे भी मारो' का शब्द गूँज उठा, और देखते-देखते उस महात्मा का सिर भूमि में लोटने लगा।

इस कांड को देखते ही कुटी के स्त्री-पुरुष चिल्ला उठे। उन नर-पिशाचों ने एक को भी न छोड़ा! सबकी हत्या की।

अब सब सैनिक धन खोजने लगे। मृत स्त्री-पुरुषों के आभूषण उतारे जाने लगे। एक सैनिक, जो उस महात्मा की ओर झुका था, चिल्ला उठा। सबका ध्यान उसी की ओर आकर्षित हुआ। सब सैनिकों ने देखा, उसके हाथ में एक अँगूठी है, जिस पर लिखा है 'वीताशोक'!

6

महाराज अशोक के भाई, जिनका पता नहीं लगता था, वही 'वीताशोक' मारे गये! चारों ओर उपद्रव शांत है। पौण्ड्रवर्धन नगर प्रशांत समुद्र की तरह हो गया है।

महाराज अशोक पाटलिपुत्र के साम्राज्य-सिंहासन पर विचारपति होकर बैठ हैं। राजसभा की शोभा तो कहते नहीं बनती। सुवर्ण, रचित बेल-बूटों की कारीगरी से, जिनमें मणि-मणिक्य स्थानानुकूल बिठाये गये हैं—मौर्य-सिंहासन-मंदिर भारतवर्ष का वैभव दिखा रहा है, जिसे देखकर पारसीक सम्राट् 'दारा" के सिंहासन-मंदिर को ग्रीक लोग तुच्छ दृष्टि से देखते थे।

धर्माधिकारी, प्राड्विवाक, महामात्य, धर्म-महामात्य रज्जुक, और सेनापति, सब अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं। राजकीय तेज का सन्नाटा सबको मौन किये है।

देखते-देखते एक स्त्री और एक पुरुष उस सभा में आये। सभास्थित सब लोगों की दृष्टि को पुरुष के अवनत तथा बड़े-बड़े नेत्रों ने आकर्षित कर लिया।

किंतु सब नीरव हैं। युवक और युवती ने मस्तक झुकाकर महाराजा को अभिवादन किया।

स्वयं महाराजा ने पूछा—तुम्हारा नाम ?

उत्तर—कुनाल।

प्र०—पिता का नाम ?

उ०—महाराज चक्रवर्ती धर्माशोक।

सब लोग उत्कंठा और विस्मय से देखने लगे कि अब क्या होता है, पर महाराज का मुख कुछ भी विकृत न हुआ, प्रत्युत और भी गंभीर स्वर से प्रश्न करने लगे—

प्र०—तुमने कोई अपराध किया है ?

उ०—अपनी समझ से तो मैंने अपराध से बचने का उद्योग किया था।

प्र०—फिर तुम किस तरह अपराधी बनाये गये ?

उ०—तक्षशिला के महासामंत से पूछिये।

महाराज की आज्ञा होते ही शासक ने अभिवादन के उपरांत एक पत्र उपस्थित किया, जो अशोक के कर में पहुँचा।

महाराज ने क्षण-भर में महामात्य से फिरकर पूछा—यह आज्ञा-पत्र कौन ले गया था, उसे बुलाया जाय।

पत्रवाहक भी आया और कंपित स्वर से अभिवादन करते हुए बोला—धर्मावतार, यह पत्र मुझे महादेवी तिष्यरक्षिता के महल से मिला था, और आज्ञा हुई थी कि इसे शीघ्र तक्षशिला के शासक से पास पहुँचाओ।

महाराज ने शासक की ओर देखा। उसने हाथ जोड़कर कहा—महाराज, यही आज्ञा-पत्र लेकर गया था

महाराज ने गंभीर होकर अमात्य से कहा—तिष्यरक्षिता को बुलाओ।

महामात्य ने कुछ बोलने की चेष्टा की, किंतु महाराज के भृकुटिभंग ने उन्हें बोलने से निरस्त किया; अब वह स्वयं उठे और चले।

7

महादेवी तिष्यरक्षिता राजसभा में उपस्थित हुईं। अशोक ने गंभीर स्वर से पूछा—यह तुम्हारी लेखनी से लिखा गया है ? क्या उस दिन तुमने इसी कुकर्म के लिये राजमुद्रा छिपा ली थी ? क्या कुनाल के बड़े-बड़े सुंदर नेत्रों ने ही तुम्हें अपने निकलवाने की आज्ञा देने के लिये विवश किया था ? अवश्य तुम्हारा ही यह कुकर्म है। अस्तु, तुम्हारी-ऐसी स्त्री को पृथ्वी के ऊपर नहीं, किंतु भीतर रहना चाहिये।

सब लोग कांप उठे। कुनाल ने आगे बढ़ घुटने टेक दिये और कहा—

क्षमा।

अशोक ने गंभीर स्वर से कहा—नहीं।

तिष्यरक्षिता उन्हीं पुरुषों के साथ गयी, जो लोग उसे जीवित समाधि देनेवाले थे। महामात्य ने राजकुमार कुनाल को आसन पर बैठाया और धर्मरक्षिता महल में गयी।

महामात्य ने एक पत्र और अँगूठी महाराज को दी। यह पौण्ड्रवर्धन के शासक का पत्र तथा वीताशोक की अँगूठी थी।

पत्र-पाठ करके और मुद्रा को देखकर वही कठोर अशोक विह्वल हो गये, और अवसन्न होकर सिंहासन पर गिर पड़े।

उसी दिन से कठोर अशोक ने हत्या की आज्ञा बंद कर दी, स्थान-स्थान पर जीवहिंसा न करने की आज्ञा पत्थरों पर खुदवा दी गयी।

कुछ ही काल के बाद महाराज अशोक ने उद्विग्न चित्त को शांत करने के लिये भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध स्थानों को देखने के लिये धर्म-यात्रा की।

□□

गुलाम

1

फूल नहीं खिलते हैं, बेले की कलियाँ मुरझाई जा रही हैं। समय में नीरद ने सींचा नहीं, किसी माली की भी दृष्टि उस ओर नहीं घूमी; अकाल में बिना खिले कुसुम-कोरक म्लान होना ही चाहता है। अकस्मात् डूबते सूर्य की पीली किरणों की आभा से चमकता हुआ एक बादल का टुकड़ा स्वर्ण-वर्षा कर गया। परोपकारी पवन उन छीटों को ढकेलकर उन्हें एक कोरक पर लाद गया। भला इतना भार वह कैसे सह सकता है! सब ढुलककर धरती पर गिर पड़े। कोरक भी कुछ हरा हो गया।

यमुना के बीच धारा में एक छोटी, पर बहुत ही सुंदर तरणी, मंद पवन के सहारे धीरे-धीरे बह रही है। सामने के महल से अनेक चंद्रमुख निकलकर उसे देख रहे हैं। चार कोमल सुंदरियाँ डाँड़ें चला रही हैं, और एक बैठी हुई सितारी बजा रही है। सामने, एक भव्य पुरुष बैठा हुआ उसकी ओर निर्निमेष दृष्टि से देख रहा है।

पाठक! यह प्रसिद्ध शाहआलम दिल्ली के बादशाह हैं। जलक्रीड़ा हो रही है।

सांध्या-सूर्य की लालिमा जीनत-महल के अरुण मुख-मंडल का शोभा और भी बढ़ा रही है। प्रणयी बादशाह उस आतप-मंडित मुखारविंद की ओर सतृष्ण नयन से देख रहे हैं, जिस पर बार-बार गर्व और लज्जा का दुबारा रंग चढ़ता-उतरता है, और इसी कारण सितार का स्वर भी बहुत शीघ्र चढ़ता-उतरता है। संगीत, तार पर चढ़कर दौड़ता हुआ, व्याकुल होकर घूम रहा है; क्षण-भर भी विश्राम नहीं।

जीनत के मुखमंडल पर स्वेद-बिंदु झलकने लगे। बादशाह ने व्याकुल होकर कहा—बस करो, प्यारी जीनत ! बस करो ! बहुत अच्छा बजाया, वाह, क्या बात है ! साकी, एक प्याला शीराजी शर्बत !

'हुजूर आया',—कहता हुआ एक सुकुमारी बालक सामने आया, हाथ में पान पात्र था। उस बालक की मुख-कांति दर्शनीय थी। भरा प्याला छलकना चाहता था, इधर घुंघराली अलकें उसकी आँखों पर बरजोरी एक पर्दा डालना चाहती थीं। बालक प्याले को एक हाथ में लेकर जब केश-गुच्छ को हटाने लगा, तब जीनत और शाहआलम दोनों चकित होकर देखने लगे। अलकें अलग हुईं। बेगम ने एक ठंडी साँस ली। शाहआलम के मुख से भी एक आह निकलना ही चाहती थी, पर उसे रोककर निकल पड़ा—'बेगम को दो।'

बालक ने दोनों हाथों से पान-पात्र जीनत की ओर बढ़ाया। बेगम ने उसे लेकर पान कर लिया।

नहीं कह सकते कि उस शर्बत ने बेगम को कुछ तरी पहुँचाई या गर्मी; किंतु हृदय-स्पंदन अवश्य कुछ बढ़ गया। शाहआलम ने झुककर कहा—एक और !

बालक विचित्र गति से पीछे हटा और थोड़ी देर में दूसरा प्याला लेकर उपस्थित हुआ। पान-पात्र निश्शेष कर शाहआलम ने हाथ कुछ और फैला दिया, और, बालक की ओर इंगित करके बोले—कादिर, जरा उँगलियों तो बुला दे।

बालक अदब से सामने बैठ गया और उसकी उँगलियों को हाथ में लेकर बुलाने लगा।

मालूम होता है कि जीनत को शर्बत ने कुछ ज्यादा गर्मी पहुँचाई। वह छोटे बजरे के मेहराब में से झुककर यमुना-जल छूने लगी। कलेजे के नीचे एक मख-मली तकिया मसली जाने लगी, या न मालूम वही कामिनी के वक्षस्थल को पीड़न करने लगी।

शाहआलम की उँगलियाँ, उस कोमल बाल-रवि-कर-समान स्पर्श से, कलियों की तरह चटकने लगीं। बालक की निर्निमेष दृष्टि आकाश की ओर थी। अकस्मात् बादशाह ने कहा—मीना ! ख्वाजा-सरा से कह देना कि इस कादिर को अपनी खास तालीम में रखें, और उसके सुपुर्द कर देना।

एक डाँड़े चलानेवाली ने झुककर कहा—बहुत अच्छा हुजूर !

बेगम ने अपने सीने से तकिये को और दबा दिया; किन्तु वह कुछ न बोल सकी, दबकर रह गयी ।

2

उपर्युक्त घटना को बहुत दिन बीत गये । गुलाम कादिर अब अच्छा युवक मालूम होने लगा । उसका उन्नत स्कंध, भरी-भरी बाँहें और विशाल वक्षस्थल बड़े सुहावने हो गये । किंतु कौन कह सकता है कि वह युवक है । ईश्वरीय नियम के विरुद्ध उसका पुंसत्व छीन लिया गया है ।

कादिर, शाहआलम का प्यारा गुलाम है । उसकी तूती बोल रही है, सो भी कहाँ ; शाही नौबतखाने के भीतर ।

दीवाने-आम में अच्छी सज-धज है । आज कोई बड़ा दरबार होने वाला है । सब पदाधिकारी अपने योग्यतानुसार वस्त्राभूषण से सजकर अपने-अपने स्थान को सुशोभित करने लगे । शाहआलम भी तख्त पर बैठ गये । तुला-दान होने के बाद बादशाह ने कुछ लोगों का मनसब बढ़ाया और कुछ को इनाम दिया । किसी को हर्बे दिये गये; किसी की पदवी बढ़ायी गयी; किसी की तनख्वाह बढ़ी ।

किंतु बादशाह यह सब करके भी तृप्त नहीं दिखाई पड़ते । उनकी निगाहें किसी को खोज रहीं हैं । वे इशारा कर रही हैं कि उन्हीं से काम निकल जाय; रसना को बोलना ना पड़े; किंतु करें क्या; वह हो नहीं सकता था । बादशाह ने एक तरफ देखकर कहा—गुलाम कादिर !

कादिर अपने कमरे में कपड़े पहनकर तैयार है, केवल कमरबंद में एक जड़ाऊ दस्ते की कटार लगाना बाकी है, जिसे बादशाह ने उसे प्रसन्न होकर दिया है । कटार लगाकर एक बड़े दर्पण में मुँह देखने की लालसा से वह उस ओर बढ़ा । दर्पण के सामने खड़े होकर उसने देखा, अपरूप सौंदर्य ! किसका ? अपना ही । सचमुच कादिर की दृष्टि अपनी आंखों पर से नहीं हटती । मुग्ध होकर वह अपना रूप देख रहा है ।

उसका पुरुषोचित सुंदर मुख-मंडल तारुण्य-सूर्य के आपत से आलोकित हो रहा है । दोनों भरे हुए कपोल प्रसन्नता से बार-बार लाल हो आते हैं, आँखें हँस रही हैं । दृष्टि सुंदरतम होकर उसके सामने विकसित हो रही है ।

प्रहरी ने आकर कहा—जहाँपनाह ने दरबार में याद किया है ।

कादिर चौंक उठा और उसका रंग उतर गया । वह सोचने लगा कि उसका रूप और तारुण्य कुछ नहीं है, किसी काम का नहीं । मनुष्य की सारी संपत्ति उससे जबर्दस्ती छीन ली गयी है ।

कादिर का जीवन भार हो उठा । निरभ्र, गगन में पावसघन घिर उठे ।

उसका प्राण तलमला उठा, और वह व्याकुल होकर चाहता था कि दर्पण फोड़ दे।

क्षण-भर में सारी प्रसन्नता मिट्टी में मिल गयी। जीवन दुःसह हो उठा। दाँत आपस में घिस उठे और कटार भी कमर से बाहर निकलने लगी।

कादिर कुछ शाँत हुआ । कुछ सोचकर धीरे-धीरे दरबार की ओर चला। बादशाह के आमने पहुँचकर यथोचित अभिवादन किया।

शाह०—कादिर ! इतनी देर तक कहाँ रहा ?

कादिर—जहाँपनाह ! गुलाम की खता माफ हो।

शाह०—(हँसते हुए) खता कैसी, कादिर ?

कादिर—(जलकर) हुजूर, देर हुई।

शाह०—अच्छा, उसकी सजा दी जायगी।

कादिर—(अदब से) लेकिन हुजूर, मेरी भी कुछ अर्ज है।

बादशाह ने पूछा—क्या ?

कादिर ने कहा—मुझे यही सजा मिले कि मैं कुछ दिनों के लिये देहली से निकाल दिया जाऊँ।

शाहआलम ने कहा। सो तो बहुत बड़ी सजा है कादिर, ऐसा नहीं हो सकता। मैं तुम्हें कुछ इनाम देना चाहता हूँ, ताकि वह यादगार रहे, और तुम फिर ऐसा कुसूर न करो।

कादिर ने हाथ बाँधकर कहा—हुजर ! इनाम में मुझे छुट्टी ही मिल जाय, ताकि कुछ दिनों तक मैं अपने बूढ़े बाप की खिदमत कर सकूं।

शाहआलम—(चौंककर) उसकी खिदमत के लिये मेरी दी हुई जागीर काफी है। सहारनपुर में उसकी आराम से गुजरती है।

कादिर ने गिड़गिड़कर कहा—लेकिन जहाँपनाह, लड़का होकर मेरा भी कोई फर्ज है।

शाहआलम ने कुछ सोचकर कहा—अच्छा, तुम्हें रुखसत मिलो और याद-गार की तरह तुम्हें एक-हजारी मनसब अता किया जाता है, ताकि तुम वहाँ से लौट आने में फिर देर न करो।

उपस्थित लोग 'करामात', हुजूर का एकबाल और बुलंद हो, की धुन मचाने लगे। गुलाम कादिर अनिच्छा रहते उन लोगों का साथ देता था, और अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करने की कोशिश करता था।

3

भारत के सपूत, हिंदुओं के उज्ज्वल रत्न छत्रपति महाराज शिवाजी ने जो अध्यवसाय और परिश्रम किया, उसका परिणाम मराठों को अच्छा मिला, और

उन्होंने भी जब तक उस पूर्व-नीति को अच्छी तरह से माना, लाभ उठाया। शाह-आलम के दरबार में क्या—भारत में—आज मराठा-वीर सिंधिया ही नायक समझा जाता है। सिंधिया की विपुल-वाहिनी के बल से शाहआलम नाममात्र को दिल्ली के सिंहासन पर बैठे हैं। बिना सिंधिया के मंज़ूर किये बादशाह-सलामत रत्ती-भर हिल नहीं सकते। सिंधिया दिल्ली और उसके बादशाह के प्रधान रक्षक हैं। शाहआलम का मुगल रक्त सर्द हो चुका है।

सिंधिया आपस के झगड़े तय करने के लिए दक्खिन चला गया है। 'मंसूर' नामक कर्मचारी ही इस समय बादशाह का प्रधान सहायक है। शाहआलम का पूरा शुभचिंतक होने पर भी वह हिंदू सिंधिया की प्रधानता से भीतर-भीतर जला करता था।

जला हुआ, विद्रोह का झंडा उठाये, इसी समय, गुलाम कादिर रुहेलों के साथ सहारनपुर से आकर दिल्ली के उस पार डेरा ड़ाले पड़ा है। मंसूर उसके लिये हर तरह से तैयार है। एक बार वह भुलावे में आकर चला गया है। अबकी बार उसकी इच्छा है कि वजारत वही करे।

बूढ़े बादशाह संगमर्मर के मीनाकारी किये हुए बुर्ज में गावतकिये के सहारे लेटे हुए हैं। मंसूर सामने हाथ बाँधे खड़ा है। शाहआलम ने भरी हुई आवाज में पूछा—क्यों मंसूर! क्या गुलाम कादिर सचमुच दिल्ली पर हमला करके तख्त छीनना चाहता है? क्या उसको इसलिये हमने इस मरतबे पर पहुँचाया? क्या सबका अखिरी नतीजा यही है? बोलो, साफ कहो। रुको मत, जिसमें कि तुम बात बना सको।

मंसूर—जहाँपनाह! वह तो गुलाम है। फकत हुजूर की कदमबोसी हासिल करने के लिये आया है। और, उसकी तो यही अर्जी है कि हमारे आका शाहंशाह-हिंद एक काफिर के हाथ की पुतली न बने रहें। अगर हुक्म दें, तो क्या यह गुलाम वह काम नहीं कर सकता?

शाह०—मंसूर! इसके माने?

मंसूर—बंदःपरवर! वह दिल्ली की वजारत के लिये अर्ज करता है और गुलामी में हाजिर होना चाहता है। उसे तो सिंधिया से रंज है, हुजूर तो उसके मेहरबान आका हैं।

शाह०—(जरा तनकर) हाँ मंसूर, उसे हमने बचपन से पाला है, और इस लायक बनाया।

मंसूर—(मन में) और उसे आपने ही, खुद-गरजी से—जो काबिले-नफरत थी—दुनिया के किसी काम का न रक्खा, जिसके लिये वह जी से जला हुआ है।

शाह०—बोलो मंसूर! चुप क्यों हो? क्या वह एहसान-फरामोश है?

मंसूर—हुजूर! फिर, गुलाम खिदमत में बुलाया जावे?

शाह०—वजारत देने में मुझे कोई उज्र नहीं है। वह सँभाल सकेगा ?

मंसूर—हुजूर, अगर वह न सँभाल सकेगा, तो उसको वही झेलेगा। सिंधिया खुद उस से समझ लेगा।

शाह०—हाँ जी, सिंधिया से कह दिया जायगा कि लाचारी से उसको वजारत दी गयी। तुम थे नहीं, उसने जबर्दस्ती वह काम अपने हाथ में लिया।

मंसूर—और इससे मुसलमान रियाया भी हुजूर से खुश हो जावेगी। तो, उसे हुक्म आने का भेज दिया जाय ?

शाह०—बेहतर।

4

दिल्ली के दुर्ग पर गुलाम कादिर का पूर्ण अधिकार हो गया है। बादशाह के कर्मचारियों से सब काम छीन लिया गया है। रुहलों का किले पर पहरा है। अत्याचारी गुलाम महलों की सब चीजों को लूट रहा है। बेचारी बेगमें अपमान के डर से पिशाच रुहलों के हाथ, अपने हाथ से अपने आभूषण उतारकर दे रही हैं। पाशविक अत्याचार की मात्रा अब भी पूर्ण नहीं हुई। दीवाने-खास में सिंहासन पर बादशाह बैठें हैं। रुहलों के साथ गुलाम कादिर उसे घेरकर खड़ा है।

शाह०—गुलाम कादिर, अब बस कर ! मेरे हाल पर रहम कर, सब कुछ तूने कर लिया। अब मुझे क्यों नाहक परेशान करता है ?

गुलाम—अच्छा इसी में है कि अपना छिपा खजाना बता दो।

एक रुहेला—हाँ, हाँ, हम लोगों के लिये भी तो कुछ चाहिये।

शाह०—कादिर ! मेरे पास कुछ नहीं है। क्यों मुझे तकलीफ देता है ?

कादिर—मालूम होता है, सीधी उँगली से घी नहीं निकलेगा।

शाह०—मैंने तुझे इस लायक इसलिये बनाया कि तू मेरी इस तरह बेइज्जती करे ?

कादिर—तुम्हारे-ऐसों के लिये इतनी सजा काफी नहीं है। नहीं देखते हो कि मेरे दिल में बदले की आग जल रही है, मुझे तुमने किस काम का रक्खा ? हाय ! मेरी सारी कार्रवाई फजूल है, मेरा सब तुमने लूट लिया है। बदला कहती है कि तुम्हारा गोश्त मैं अपने दाँतो से नोच डालूँ।

शाह०—बस कादिर ! मैं अपनी खता कबूल करता हूँ। उसे माफ कर ! या तो अपने हाथों से मुझे कत्ल कर डाल ! मगर इतनी बेइज्जती न कर !

गुलाम—अच्छा, वह तो किया ही जायगा ! मगर खजाना कहाँ है ?

शाह०—कादिर ! मेरे पास कुछ नहीं है !

गुलाम—अच्छा, तो उतर आएँ तख्त से, देर न करें !

शाह०—कादिर ! मैं इसी पर बैठा हूँ, जिस पर बैठकर तुझे हुक्म दिया करता था। आ, इसी जगह खंजर से मेरा काम तमाम कर दे।

'वही होगा' कहता हुआ नर-पिशाच कादिर तख्त की ओर बढ़ा। बूढे बादशाह को तख्त से घसीटकर नीचे ले आया ओर उन्हें पटककर छाती पर चढ़ बैठा। खंजर की नोक कलेजे पर रखकर कहने लगा, अब भी अपना खजाना बताओ, तो जान सलामत बच जायगी।

शाहआलाम गिड़गिड़ाकर कहने लगे कि ऐसी जिंदगी की जरूरत नहीं है। अब तू अपना खंजर कलेजे के पार कर !

कादिर—लेकिन इससे क्या होगा ! अगर तुम मर जाओगे, तो मेरे कलेजे की आग किसे झुलसायेमी; इससे बेहतर है कि मुझसे जैसी चीज छीन ली गयी है, उसी तरह की कोई चीज तुम्हारी भी ली जाय। हाँ, इन्हीं आँखों से मेरी खूबसूरती देखकर तुमने मुझे दुनिया के किसी काम का न रक्खा। लो, मैं तुम्हारी आँखें निकालता हूँ, जिससे मेरा कलेजा कुछ ठंडा होगा।

इतना कहकर कादिर ने कटार से शाहआलम की दोनों आँखें निकाल लीं। रोशनी की जगह उन गड्ढों से रक्त के फुहारे निकलने लगे। निकली हुई आँखों को कादिर की आँखें प्रसन्नता से देखने लगीं।

□□

जहाँनारा

1

यमुना के किनारे वाले शाही महल में एक भयानक सन्नाटा छाया हुआ है, केवल बार-बार तोपों की गड़गड़ाहट और अस्त्रों की झनकार सुनाई दे रही है। वृद्ध शाहजहाँ मसनद के सहारे लेटा हुआ है, और एक दासी कुछ दवा का पात्र लिए हुए खड़ी है। शाहजहाँ अन्यमनस्क होकर कुछ सोच रहा है, तोपों की आवाज से कभी-कभी चौंक पड़ता है। अकस्मात् उसके मुख से निकल पड़ा—नहीं-नहीं, क्या वह ऐसा करेगा, क्या हमको तख्त-ताऊस से निराश हो जाना चाहिए ?

हाँ, अवश्य निराश हो जाना चहिये।

शाहजहाँ ने सिर उठाकर कहा—कौन ? जहाँनारा ? क्या यह तुम सच कहती हो ?

जहाँनारा—(समीप आकर) हाँ, जहाँपनाह ! यह ठीक है; क्योंकि आपका अकर्मण्य पुत्र 'दारा' भाग गया, और नमक-हराम 'दिलेर खाँ' क्रूर औरंगजेब से मिल गया, और किला उसके अधिकार में हो गया।

शाहजहाँ—लेकिन जहाँनारा ! क्या औरंगजेब क्रूर है ? क्या वह अपने बूढ़े बाप की कुछ इज्जत न करेगा ? क्या वह मेरे जीते ही तख्त-ताऊस पर बैठेगा ?

जहाँनारा—(जिसकी आँखों में अभिमान का अश्रुजल भरा था) जहाँपनाह ! आपके इसी पुत्रवात्सल्य ने आपकी यह अवस्था की। औरंगजेब एक नारकीय पिशाच है; उसका किया क्या नहीं हो सकता, एक भले कार्य को छोड़कर।

शाहजहाँ—नहीं जहाँनारा ! ऐसा मत कहो।

जहाँनारा—हाँ जहाँपनाह ! मैं ऐसा ही कहती हूँ।

शाहजहाँ—ऐसा ? तो क्या जहाँनारा ! इस बदन में मुगल-रक्त नहीं है ? क्या तू मेरी कुछ भी मदद कर सकती है ?

जहाँनारा—जहाँपनाह की जो आज्ञा हो।

शाहजहाँ—तो मेरी तलवार मेरे हाथ में दे। जब तक वह मेरे हाथ में रहेगी, कोई भी तख्त-ताऊस मुझसे न छुड़ा सकेगा।

जहाँनारा आवेश के साथ—'हाँ जहाँपनाह ! ऐसा ही होगा'—कहती हुई वृद्ध शाहजहाँ की तलवार उसके हाथ में देकर खड़ी हो गयी। शाहजहाँ उठा और लड़खड़ाकर गिरने लगा, शाहजादी जहाँनारा ने बादशाह को पकड़ लिया, और तख्त-ताऊस के कमरे की ओर ले चली।

2

तख्त-ताऊस पर वृद्ध शाहजहाँ बैठा है, और नकाब डाले जहाँनारा पास ही बैठी हुई है, और कुछ सरदार—जो उस समय वहाँ थे—खड़े हैं; नकीब भी खड़ी है। शाहजहाँ के इशारा करते ही उसने अपने चिरभ्यस्त शब्द कहने के लिए मुँह खोला। अभी पहला ही शब्द उसके मुँह से निकला था कि उसका सिर छटककर दूर जा रहा ! सब चकित होकर देखने लगे।

जिरहबाँतर से लदा हुआ औरंगजेब अपनी तलवार को रूमाल से पोंछता हुआ सामने खड़ा हो गया, और सलाम करके बोला—हुजूर की तबीयत नासाज सुनकर मुझसे न रहा गया, इसलिए हाज़िर हुआ।

शाहजहाँ—(काँपकर) लेकिन बेटा ! इतनी खूँरेजी की क्या जरूरत थी ? अभी-अभी वह देखो, बुड्ढ़े नकीब की लाश लोट रही है। उफ ! मुझसे यह नहीं देखा जाता ! (काँपकर) क्या बेटा, मुझे भी···(इतना कहते-कहते बेहोश होकर तख्त से झुक गया)।

औरंगजेब—(कड़ककर अपने साथियों से) हटाओ उस नापाक लाश को।

जहाँनारा से अब ना रहा गया, और दौड़कर सुगंधित जल लेकर वृद्ध पिता के मुख पर छिड़कने लगी।

औरंगजेब—(उधर देखकर) हैं! यह कौन है, जो मेरे बूढ़े बाप को पकड़े हुए है? (शाहजहाँ के मुसाहिबों से) तुम सब बड़े नामाकूल हो; देखते नहीं, हमारे प्यारे बाप की क्या हालत है, और उन्हें अभी भी पलंग पर नहीं लिटाया। (औरंगजेब के साथ-साथ सब तख्त की ओर बढ़े)।

जहाँनारा उन्हें यों बढ़ते देखकर फुरती से कटार निकालकर और हाथ में शाही मुहर किया हुआ कागज निकालकर खड़ी हो गयी और बोली—देखो, इस परवाने के मुताबिक मैं तुम लोगों को हुक्म देती हूँ कि अपनी-अपनी जगह पर खड़े रहो, जब तक मैं दूसरा हुक्म न दूँ।

सब उसी कागज की ओर देखने लगे। उसमें लिखा था—इस शख्स का सब लोग हुक्म मानो और मेरी तरह इज्ज़त करो।

सब उसकी अभ्यर्थना के लिये झुक गये, स्वयं औरंगजेब भी झुक गया, और कई क्षण तक सब निस्तब्ध थे।

अकस्मात् औरंगजेब तनकर खड़ा हो गया और कड़ककर बोला—गिरफ्तार कर लो इस जादूगरनी को। यह सब झूठा फिसाद है, हम सिवा शाहंशाह के और किसी को नहीं मानेंगे।

सब लोग उस औरत की ओर बढे। जब उसने यह देखा, तब फौरन अपना नकाब उलट दिया। सब लोगों ने सिर झुका दिया, और पीछे हट गये। औरंगजेब ने एक बार फिर सिर नीचे कर लिया, और कुछ बड़बड़ा कर जोर से बोला—कौन, जहाँनारा, तुम यहाँ कैसे?

जहाँनारा—औरंगजेब! तुम यहाँ कैसे?

औरंगजेब—(पलटकर अपने लड़के की तरफ देखकर) बेटा! मालूम होता है कि बादशाह-बेगम का कुछ दिमाग बिगड़ गया है, नहीं तो इस बेशर्मी के साथ इस जगह पर न आतीं। तुम्हें इनकी हिफाजत करनी चाहिये।

जहाँनारा—और औरंगजेब के दिमाग को क्या हुआ है, जो वह अपने बाप के साथ बेअदबी से पेश आया···

अभी इतना उसके मुंह से निकला ही था कि शाहजादे ने फुरती से उसके हाथ से कटार निकाल लिया और कहा—मैं अदब के साथ कहता हूँ कि आप महल में चलें, नहीं तो···

जहाँनारा से यह देखकर न रहा गया। रमणी-सुलभ वीर्य और अस्त्र, क्रंदन और अश्रु का प्रयोग उसने किया और गिड़-गिड़ाकर औरंगजेब से बोली—क्यों औरंगजेब! तुमको कुछ भी दया नहीं है?

औरंगजेब ने कहा—दया क्यों नहीं है बादशाह-बेगम ! दारा जैसे तुम्हारा भाई था, वैसा ही मैं भी तो भाई ही था, फिर तरफदारी क्यों ?

जहाँनारा—वह तो बाप का तख्त नहीं लिया चाहता था, उनके हुक्म से सल्तनत का काम चलाता था।

औरंगजेब—तो क्या मैं वह काम नहीं कर सकता ? अच्छा, बहस की जरूरत नहीं है। बेगम को चाहिये कि वह महल में जायँ।

जहाँनारा कातर दृष्टि से वृद्ध मूर्च्छित पिता को देखती हुई शाहजादे की बताई राह से जाने लगी।

3

यमुना के किनारे एक महल में शाहजहाँ पलँग पर पड़ा है, और जहाँनारा उसके सिरहाने बैठी हुई है।

जहाँनारा से जब औरंगजेब ने पूछा कि वह कहाँ रहना चाहती है, तब उसने केवल अपने वृद्ध और हतभागे पिता के साथ रहना स्वीकार किया, और अब वह साधारण दासी के वेश में अपना जीवन अभागे पिता की सेवा में व्यतीत करती है।

वह भड़कदार शाही पेशवाज अब उसके बदन पर नहीं दिखायी पड़ती, केवल सादे वस्त्र ही उसके प्रशांत मुख की शोभा बढ़ाते हैं। चारों ओर उस शाही महल में एक शांति दिखाई पड़ती है। जहाँनारा ने, जो कुछ उसके पास थे, सब सामान गरीबों को बाँट दिये; और अपने निज के बहुमूल्य अलंकार भी उसने पहनना छोड़ दिया। अब वह एक तपस्विनी ऋषिकन्या-सी हो गयीं ! बात-बात पर दासियों पर वह झिड़की उसमें नहीं रही। केवल आवश्यक वस्तुओं से अधिक उसके रहने के स्थान में और कुछ नहीं है।

वृद्ध शाहजहाँ ने लेटे-लेटे आँख खोलकर कहा—बेटी, अब दवा की कोई जरूरत नहीं है, यादे-खुदा ही दवा है। अब तुम इसके लिये मत कोशिश करना।

जहाँनारा ने रोकर कहा—पिता, जब तक शरीर है, तब तक उसकी रक्षा करनी ही चाहिये।

शाहजहाँ कुछ न बोलकर चुपचाप पड़े रहे। थोड़ी देर तक जहाँनारा बैठी रही; फिर उठी और दवा की शीशियाँ यमुना के जल में फेंक दीं।

थोड़ी देर तक वहीं बैठी-बैठी वह यमुना का मंद प्रवाह देखती रही। सोचती थी कि यमुना का प्रवाह वैसा ही है, मुगल साम्राज्य भी तो वैसा ही है; वह शाहजहाँ भी तो जीवित है, लेकिन तख्त-ताऊस पर तो वह नहीं बैठते।

इसी सोच-विचार में वह तब तक बैठी थी, जब तक चंद्रमा की किरणें उसके मुख पर नहीं पड़ीं।

4

शाहजादी जहाँनारा तपस्विनी हो गयी है। उसके हृदय में वह स्वाभाविक तेज अब नहीं है, किन्तु एक स्वर्गीय तेज से वह कांतिमयी थी। उसकी उदारता पहले से भी बढ़ गयी। दीन और दुखी के साथ उसकी ऐसी सहानुभूति थी कि लोग 'मूर्तिमती करुणा' मानते थे। उसकी इस चाल से पाषाण-हृदय औरंगजेब भी विचलित हुआ। उसकी स्वतंत्रता जो छीन ली गयी थी, उसे फिर मिली। पर अब स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिये अवकाश ही कहाँ था ? पिता की सेवा और दुखियों के प्रति सहानुभूति करने से उसे समय ही नहीं था। जिसकी सेवा के लिये सैकड़ों दासियाँ हाथ बाँधकर खड़ी रहती थीं, वह स्वयं दासी की तरह अपने पिता की सेवा करती हुई अपना जीवन व्यतीत करने लगी। वृद्ध शाहजहाँ के इंगित करने पर उसे उठाकर बैठाती और सहारा देकर कभी-कभी यमुना के तट तक उसे ले जाती और उसका मनोरंजन करती हुई छाया-सी बनी रहती।

वृद्ध शाहजहाँ ने इहलोक की लाला पूरी की। अब जहाँनारा को संसार में कोई काम नहीं है। केवल इधर-उधर उसी महल में घूमना भी अच्छा नहीं मालूम होता। उसकी पूर्व स्मृति और भी उसे सताने लगी। धीरे-धीरे वह बहुत क्षीण हो गयी। बीमार पड़ी। पर, दवा कभी न पी। धीरे-धीरे उसकी बीमारी बहुत बढ़ी और उसकी दशा बहुत खराब हो गयी, तब औरंगजेब ने सुना। अब उससे भी सह्य न हो सका। वह जहाँनारा को देखने के लिये गया।

एक पुराने पलँग पर, जीर्णा बिछौने पर, जहाँनारा पड़ी थी और केवल एक धीमी साँस चल रही थी। औरंगजेब ने देखा कि वह जहाँनारा है, जिसके लिये भारतवर्ष की कोई वस्तु अलभ्य नहीं थी, जिसके बीमार पड़ने पर शाहजहाँ भी व्यग्र हो जाता था और सैकड़ों हकीम उसे आरोग्य करने के लिये प्रस्तुत रहते थे। वह इस तरह एक कोने में पड़ी है !

पाषाण भी पिघला, औरंगजेब की आँखें आँसू से भर आयीं और वह घुटने के बल बैठ गया। समीप मुँह ले जाकर बोला—बहिन, कुछ हमारे लिये हुक्म है ?

जहाँनारा ने अपनी आँखें खोल दीं और एक पुरजा उसके हाथ में दिया, जिसे झुककर औरंगजेब ने लिया। फिर पूछा—बहिन, क्या तुम हमें माफ करोगी ?

जहाँनारा ने खुली हुई आँखों को आकाश की ओर उठा दिया। उस समय उनमें से एक स्वर्गीय ज्योति निकल रही थी और वह वैसे ही देखती रह गयी। औरंगजेब उठा और उसने आँसू पोछते हुए पुरजे को पढ़ा। उसमें लिखा था—

बगैर सब्जः न पोश्द कसे मजार मरा।
कि कब्रपोश गरीबाँ हमीं गयाह बसस्त ।। □□

मदन-मृणालिनी

विजया-दशमी का त्योहार समीप है, बालक लोग नित्य रामलीला होने से आनंद में मग्न हैं।

हाथ में धनुष और तीर लिये हुए एक छोटा-सा बालक रामचंद्र बनने की तैयारी में लगा हुआ है। चौदह वर्ष का बालक बहुत ही सरल और सुन्दर है।

खेलते-खेलते बालक को भोजन की याद आई। फिर कहाँ का राम बनना और कहाँ की रामलीला। चट धनुष फेंककर दौड़ता हुआ माता के पास जा पहुँचा और उस ममता-मोहमयी माता के गले से लिपटकर—माँ! खाने को दे, माँ? खाने को दे—कहता हुआ जननी के चित्त को आनंदित करने लगा।

जननी बालक का मचलना देखकर प्रसन्न हो रही थी और थोड़ी देर तक बैठी रहकर और भी मचलना देखा चाहती थी। उसके यहाँ एक पड़ोसिन बैठी थी, अतएव वह एकाएक उठकर बालक को भोजन देने में असमर्थ थी। सहज ही असंतुष्ट हो जानेवाली पड़ोस की स्त्रियों का सहज क्रोधमय स्वभाव किसी से छिपा न होगा। यदि वह तत्काल उठकर चली जाती, तो पड़ोसिन क्रुद्ध होती। अतः वह उठकर बालक को भोजन देने में आना-कानी करने लगी। बालक का मचलना और भी बढ़ चला। धीरे-धीरे वह क्रोधित हो गया, दौड़कर अपनी कमान उठा लाया; तीर चढ़ाकर पड़ोसिन को लक्ष्य किया और कहा—तू यहाँ से जा, नहीं तो मैं मारता हूँ।

दोनों स्त्रियाँ केवल हँसकर उसको मना करती रहीं। अकस्मात् वह तीर बालक के हाथ से छूट पड़ा और पड़ोसिन की गर्दन में कुछ धँस गया! अब क्या था, वह अर्जुन और अश्वत्थामा का पाशुपतास्त्र हो गया। बालक की माँ बहुत घबरा गयी, उसने अपने हाथ से तीर निकाला, उसके रक्त को धोया, बहुत कुछ ढाढ़स दिया। किन्तु घायल स्त्री का चिल्लाना-कराहना सहज में थमने वाला नहीं था।

बालक की माँ विधवा थी, कोई उसका रक्षक न था। जब उसका पति जीता था, तब तक उसका संसार अच्छी तरह चलता था; अब जो कुछ पूँजी बच रही थी, उसी में वह अपना समय बिताती थी। ज्यों-ज्यों करके उसने चिर-संरक्षित धन में से पचीस रुपये उस घायल स्त्री को दिये।

वह स्त्री किसी से यह बात न कहने का वादा करके अपने घर गयी। परंतु बालक का पता नहीं, वह डर के मारे घर से निकल किसी ओर भाग गया।

माता ने समझा कि पुत्र कहीं डर से छिपा होगा, शाम तक आ जायगा। धीरे-धीरे संध्या-पर-संध्या, सप्ताह-पर-सप्ताह, मास-पर-मास, बीतने लगे; परंतु

बालक का कहीं पता नहीं। शोक से माता का हृदय जर्जर हो गया, वह चारपाई पर लग गयी। चारपाई ने भी उसका ऐसा अनुराग देख कर उसे अपना लिया, और फिर वह उस पर से न उठ सकी। बालक को अब कौन पूछनेवाला है !

× × ×

कलकत्ता-महानगरी के विशाल भवनों तथा राजमार्गों को आश्चर्य से देखता हुआ एक बालक एक सुसज्जित भवन के सामने खड़ा है। महीनों कष्ट झेलता, राह चलता, थकता हुआ बालक यहाँ पहुँचा है।

बालक थोड़ी देर तक यही सोचता था कि अब मैं क्या करूँ, किससे अपने कष्ट की कथा कहूँ। इतने में वहाँ धोती-कमीज पहने हुए एक सभ्य बंगाली महाशय का आगमन हुआ।

उस बालक की चौड़ी हड्डी, सुडौल बदन और सुन्दर चेहरा देखकर बंगाली महाशय रुक गये और उसे एक विदेशी समझकर पूछने लगे—

तुम्हारा मकान कहाँ है ?

ब···में।

तुम यहाँ कैसे आये ?

भागकर।

नौकरी करोगे ?

हाँ।

अच्छा, हमारे साथ चलो।

बालक ने सोचा कि सिवा काम के और क्या करना है, तो फिर इनके साथ ही उचित है। कहा—अच्छा, चलिये।

बंगाली महाशय उस बालक को घुमाते-फिराते एक मकान के द्वार पर पहुँचे। दरबार ने उठकर सलाम किया। वह बालक-सहित एक कमरे में पहुँचे, जहाँ एक नवयुवक बैठा हुआ कुछ लिख रहा था, सामने बहुत से कागज इधर-उधर बिखरे पड़े थे।

युवक ने बालक को देखकर पूछा—बाबूजी, यह बालक कौन है ?

यह नौकरी करेगा, तुमको एक आदमी की जरूरत थी ही, सो इसको हम लिवा लाये हैं, अपने साथ रक्खो—बाबूजी यह कहकर घर के दूसरे भाग में चले गये थे।

युवक के कहने पर बालक भी अचकचाता हुआ बैठ गया। उनमें इस तरह बातें होने लगीं—

युवक—क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है ?

बालक—(कुछ सोचकर) मदन।

युवक—नाम तो बड़ा अच्छा है। अच्छा, कहो, तुम क्या खाओगे ? रसोई बनाना जानते हो।

बालक—रसोई बनाना तो नहीं जानते। हाँ, कच्ची-पक्की जैसी हो, बनाकर खा लेते हैं, किन्तु···

अच्छा, संकोच करने की कोई जरूरत नहीं है—इतना कहकर युवक ने पुकारा—कोई है ?

एक नौकर दौड़कर आया—हुजूर, क्या हुक्म है ?

युवक ने कहा—इनको भोजन करने के लिए ले जाओ।

भोजन के उपरांत बालक युवक के पास आया। युवक ने एक घर दिखाकर कहा कि उस सामने की कोठरी में सोओ और उसे अपने रहने का स्थान समझो।

युवक की आज्ञा के अनुसार बालक उस कोठरी में गया, देखा तो एक साधारण-सी चौकी पड़ी है; एक घड़े में जल, लोटा और गिलास भी रक्खा हुआ है। वह चुपचाप चौकी पर लेट गया।

लेटने पर उसे बहुत-सी बातें याद आने लगीं, एक-एक करके उसे भावना के जाल में फँसाने लगीं। बाल्यावस्था के साथी, उनके साथ खेल-कूद, राम-रावण की लड़ाई, फिर उस विजय-दशमी के दिन की घटना, पड़ोसिन के अंग में तीर का धँस जाना, माता की व्याकुलता, और मार्ग के कष्ट को सोचते-सोचते उस भयातुर बालक की विचित्र दशा हो गयी !

मनुष्य की मिमियाई निकालने वाली द्वीप-निवासिनी जातियों की भयानक कहानियाँ, जिन्हें उसने बचपन में माता की गोद में पड़े-पड़े सुना था, और उसे भी डराने लगीं। अकस्मात् उसके मस्तिष्क को उद्वेग से भर देनेवाली यह बात भी समा गयी कि—ये लोग तो मुझे नौकर बनाने के लिए अपने यहाँ लाये थे, फिर इतने आराम से क्यों रक्खा है ? हो-न-हो, वही टापूवाली बात है। बस, फिर कहाँ की नींद और कहाँ का सुख, करवटें बदलने लगा ! मन में यही सोचता था कि यहाँ से किसी तरह भाग चलो।

परंतु निद्रा भी कैसी प्यारी वस्तु है ! घोर दुःख के समय भी मनुष्य को यही सुख देती है। सब बातों से व्याकुल होने पर भी वह कुछ देर के लिये सो गया।

× × ×

मदन उसी घर में रहने लगा। अब उसे उतनी घबराहट नहीं मालूम होती। अब वह निर्भय-सा हो गया है। किन्तु अभी तक यह बात कभी-कभी उसे उधेड़-बुन में लगा देती है कि ये लोग मुझसे इतना अच्छा बर्ताव क्यों करते हैं और क्यों इतना सुख देते हैं। पर इन सब बातों को वह उस समय भूल जाता है, जब 'मृणालिनी' उसकी रसोई बनवाने लगती है—देखो, रोटी जलती है, उसे उलट दो, दाल भी चला दो—इत्यादि बातें जब मृणालिनी के कोमल कंठ से वीणा की

झंकार के समान सुनाई देती है, तब वह अपना दुःख—माता का सोच—सब भूल जाता है।

मदन है तो अबोध, किन्तु संयुक्त प्रांतवासी होने के कारण स्पृश्यास्पृश्य का उसे बहुत ही ध्यान रहता है। वह दूसरे का बनाया भोजन नहीं करता। अतएव मृणालिनी आकर उसे बताती है और भोजन के समय हवा भी करती है।

मृणालिनी गृहस्वामी की कन्या है। वह देवबाला-सी जान पड़ती है। बड़ी-बड़ी आँखें, उज्ज्वल कपोल, मनोहर अंगभंगी, गुल्फविलंबित केश-कलाप उसे और भी सुन्दरी बनने में सहायता दे रहे हैं। अवस्था तेरह वर्ष की है; किन्तु वह बहुत गंभीर है।

नित्य साथ होने से दोनों में अपूर्व भाव का उदय हुआ है। बालक का मुख जब आग की आंच से लाल तथा आँखें धुएँ के कारण आँसुओं से भर जाती हैं, तब बालिका आँखों में आँसू भर कर, रोष-पूर्वक पंखी फेंककर कहती है—लो जी, इससे काम लो, क्यों व्यर्थ परिश्रम करते हो? इतने दिन तुम्हें रसोई बनाते हुए, मगर बनाना न आया!

तब मदन आँच लगने के सारे दुःख को भूल जाता है—तब उसकी तृष्णा और बढ़ जाती है; भोजन रहने पर भी भूख सताती है। और, सताया जाकर भी वह हँसने लगता है। मन-ही-मन सोचता, मृणालिनी! तुम बंग-महिला क्यों हुई?

मदन के मन में यह बात क्यों उत्पन्न हुई? दोनों सुन्दर थे, दोनों ही किशोर थे, दोनों संसार में अनभिज्ञ थे, दोनों के हृदय में रक्त था—उच्छ्वास था—आवेग था—विकास था, दोनों के हृदय-सिंधु में किसी अपूर्व चंद्र का मधुर-उज्ज्वल प्रकाश पड़ता था, दोनों के हृदय-कानन में नंदन-पारिजात खिला था!

× × ×

जिस परिवार में बालक मदन पलता था, उसके मालिक हैं अमरनाथ बनर्जी। आपके नवयुवक पुत्र का नाम है किशोरनाथ बनर्जी, कन्या का नाम मृणालिनी और गृहणी का नाम हीरामणि है। बम्बई और कलकत्ता, दोनों स्थानों में, आपकी दुकानें थीं, जिनमें बाहरी चीजों का क्रय-विक्रय होता था; विशेष काम मोती के बनिज का था। आपका आफिस सीलोन में था; वहाँ से मोती की खरीद होती थी। आपकी कुछ जमीन भी वहाँ थी। उससे आपकी बड़ी आय थी। आप प्रायः अपनी बम्बई की दूकान में और आपका परिवार कलकत्ते में रहता था। धन अपार था, किसी चीज की कमी न थी। तो भी आप एक प्रकार से चिंतत थे!

संसार में कौन चिंताग्रस्त नहीं है? पशु-पक्षी, कीट-पतंग, चेतन और अचेतन, सभी को किसी प्रकार की चिंता है। जो योगी हैं, जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है, संसार जिनके वास्ते असार है, उन्होंने भी स्वीकार किया है। यदि वे

आत्मचिंतन न करें, तो उन्हें योगी कौन कहेगा ?

किन्तु बनर्जी महाशय की चिन्ता का कारण क्या है ? सो पति-पत्नी की इस बातचीत से ही विदित हो जायगा—

अमरनाथ—किशोर तो क्वाँरा ही रहा चाहता है। अभी तक उसकी शादी कहीं पक्की नहीं हुई।

हीरामणि—सीलोन में आपके व्यापार करने तथा रहने से समाज आपको दूसरी ही दृष्टि से देख रहा है।

अमरनाथ—ऐसे समाज की मुझे कुछ परवाह नहीं है। मैं तो केवल लड़की और लड़के का ब्याह अपनी जाति में करना चाहता था। क्या टापुओं में जाकर लोग पहले बनिज नहीं करते थे ? मैंने कोई अन्य धर्म तो ग्रहण नहीं किया, फिर यह व्यर्थ का आडंबर क्यों है ? और, यदि, कोई खान-पान का दोष दे, तो क्या यहाँ पर तिलक कर पूजा करनेवाले लोगों से होटल बचा हुआ है ?

हीरामणि—फिर क्या कीजियेगा ? समाज तो इस समय केवल उन्हीं बगला-भगतों को परम धार्मिक समझता है !

अमरनाथ—तो फिर अब मैं ऐसे समाज को दूर ही से हाथ जोड़ता हूँ।

हीरामणि—तो क्या ये लड़की-लड़के क्वांरे ही रहेंगे ?

अमरनाथ—नहीं, अब हमारी यह इच्छा है कि तुम सबको लेकर उसी जगह चलें। यहाँ कई वर्ष रहते भी हुआ किन्तु कार्य सिद्ध होने की कुछ भी आशा नहीं है, तो फिर अपना व्यापार क्यों नष्ट होने दें ? इसलिये, अब तुम सबको वहीं चलना होगा। न होगा तो ब्राह्म हो जायँगे, किन्तु यह उपेक्षा अब सही नहीं जाती।

× × ×

मदन, मृणालिनी के संगम से बहुत ही प्रसन्न है। सरला मृणालिनी भी प्रफुल्लित है। किशोरनाथ भी उसे बहुत ही प्यार करता है, प्राय: उसी को साथ लेकर हवा खाने के लिये जाता है। दोनों में बहुत ही सौहार्द है। मदन भी बाहर किशोरनाथ के साथ और घर आने पर मृणालिनी की प्रेममयी वाणी से आप्यायित रहता है।

मदन का समय सुख से बीतने लगा। किन्तु बनर्जी महाशय के सपरिवार बाहर जाने की बातों ने एक बार उसके हृदय को उद्वेगपूर्ण बना दिया। वह सोचने लगा कि मेरा क्या परिणाम होगा, क्या मुझे भी चलने के लिए आज्ञा देंगे ? और, यदि ये चलने के लिए कहेंगे, तो मैं क्या करूंगा ? इनके साथ जाना ठीक होगा या नहीं ?

इन सब बातों को वह सोचता ही था कि इतने में किशोरनाथ ने अकस्मात् आकर उसे चौंका दिया। उसने खड़े होकर पूछा—कहिये, आप लोग किस सोच-

विचार में पड़े हुए हैं ? कहाँ जाने का विचार है ?

क्यों, क्या तुम न चलोगे ?

कहाँ ?

जहाँ हम लोग जायँ।

वही तो पूछता हूँ कि आप लोग कहाँ जायेंगे ?

सीलोन।

तो मुझसे भी आप वहाँ चलने के लिये कहते हैं ?

इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है ?

(यज्ञोपवीत दिखाकर) इसकी ओर भी तो ध्यान कीजिये !

तो क्या समुद्र-यात्रा तुम नहीं कर सकते ?

सुना है कि वहाँ जाने से धर्म नष्ट हो जाता है !

क्यों ? जिस तरह तुम यहाँ भोजन बनाते हो, उसी तरह वहां भी बनाना।

जहाज पर भी चढ़ना होगा !

उसमें हर्ज ही क्या है ? लोग गंगासागर और जगन्नाथजी जाते समय जहाज पर नहीं चढ़ते ?

मदन अब निरुत्तर हुआ; किन्तु उत्तर सोचने लगा। इतने ही में उधर से मृणालिनी आती हुई दिखायी पड़ी। मृणालिनी को देखते ही उसके विचाररूपी मोतियों को प्रेम-हंस ने चुग लिया और उससे उसकी बुद्धि और भी भ्रमपूर्ण जान पड़ने लगी।

मृणालिनी ने पूछा—क्यों मदन, तुम बाबा के साथ न चलोगे ?

जिस तरह वीणा की झंकार से मस्त होकर मृग स्थिर हो जाता है, अथवा मनोहर वंशी की तान से झूमने लगता है, वैसे ही मृणालिनी के मधुर स्वर में मुग्ध मदन ने कह दिया—क्यों न चलूंगा।

× × ×

सारा संसार घड़ी-घड़ी-भर पर, पल-पल-भर पर, नवीन-सा प्रतीत होता है और इससे उस विश्वयंत्र को बनानेवाले स्वतन्त्र की बड़ी भारी निपुणता का पता लगता है; क्योंकि नवीनता की यदि रचना न होती, तो मानव-समाज को यह संसार और ही तरह का भासित होता। फिर उसे किसी वस्तु की चाह न होती, इतनी तरह से व्यावहारिक पदार्थों की कुछ भी आवश्यकता न होती। समाज, राज्य और धर्म के विशेष परिवर्तन-रूपी पट में इसकी मनोहर-मूर्ति और भी सलोनी देख पड़ती है। मनुष्य बहुप्रेमी क्यों हो जाता है ? मानवों की प्रवृत्ति क्यों दिन-रात बदला करती है। नगर-निवासियों को पहाड़ी घाटियाँ सौंदर्यमयी प्रतीत होती हैं ? विदेश-पर्यटन में क्यों मनोरंजन होता है ? मनुष्य क्यों उत्साहित होता

है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर में केवल यही कहा जा सकता है कि नवीनता की प्रेरणा !

नवीनता वास्तव में ऐसी ही वस्तु है कि जिससे मदन को भारत से सीलोन तक पहुँच जाना कुछ कष्टकर न हुआ।

विशाल सागर के वक्षस्थल पर दानव-राज की तरह वह जहाज अपनी चाल और उसकी शक्ति दिखा रहा है। उसे देखकर मदन को द्रौपदी और पांडवों को लादे हुए घटोत्कच का ध्यान आता था।

उत्ताल तरंगों की कल्लोल-माला अपना अनुपम दृश्य दिखा रही है। चारों ओर जल-ही-जल है, चंद्रमा अपने पिता की गोद में क्रीड़ा करता हुआ आनंद दे रहा है। अनंत सागर में अनंत आकाश-मंडल के असंख्य नक्षत्र अपने प्रतिबिंब दिखा रहे हैं।

मदन तीन-चार बरस में युवक हो गया है। उसकी भावुकता बढ़ गयी थी। वह समुद्र का एक सुंदर दृश्य देख रहा था। अकस्मात् एक प्रकाश दिखाई देने लगा। वह उसी को देखने लगा।

जब मनोहर अरुण का प्रकाश नील जल को भी आरक्तिम बनाने की चेष्टा करने लगा। चंचल तरंगों की लहरियाँ सूर्य की किरणों से क्रीड़ा करने लगीं। मदन उस अनंत समुद्र को देखकर डरा नहीं किंतु अपने प्रेममय हृदय का एक जोड़ा देखकर और भी प्रसन्न हुआ वह निर्भीक हृदय से उन लोगों के साथ सीलोन पहुंचा।

× × ×

अमरनाथ के विशाल भवन में रहने से मदन को बड़ी ही प्रसन्नता है। मृणालिनी और मदन उसी प्रकार से मिलते-जुलते हैं, जैसे कलकत्ते में मिलते-जुलते थे। लवण-महासमुद्र की महिमा दोनों ही को मनोहर जान पड़ती है। प्रशांत महासागर के तट की संध्या दोनों के नेत्रों को ध्यान में लगा देती है। डूबते हुए सूर्यदेव देवतुल्य हृदयों को संसार की गति दिखलाते हैं, अपने राग की आभा उन प्रभातमय हृदयों पर डालते हैं, दोनों ही सागर-तट पर खड़े सिंधु की तरंग भंगियों को देखते हैं; फिर भी दोनों ही दोनों की मनोहर अंग-भंगियों में भूले हुए हैं।

महासमुद्र के तट पर बहुत समय तक खड़े होकर मृणालिनी और मदन उस अनंत का सौंदर्य देखते थे। अकस्मात् बैंड का सुरीला राग सुनाई दिया, जो कि सिंधु-गर्जन को भी भेद कर निकलता था।

मदन, मृणालिनी—दोनों एकाग्रचित्त हो उस ओजस्विनी कविवाणी को जातीय संगीत में सुनने लगे। किंतु वहाँ कुछ दिखाई न दिया। चकित होकर वे सुन रहे थे। प्रबल वायु भी उत्ताल तरंगों को हिलाकर उनको डराता हुआ उसी

की प्रतिध्वनि करता था। मंत्र-मुग्ध के समान सिंधु भी अपनी तरंगों के घात-प्रतिघात पर चिढ़कर उन्हीं शब्दों को दुहराता है। समुद्र को स्वीकार करते देख कर अनंत आकाश भी उसी की प्रतिध्वनि करता है।

धीरे-धीरे विशाल सागर के हृदय को फाड़ता हुआ एक जंगी जहाज दिखाई पड़ा। मदन और मृणालिनी, दोनों ही, स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखते रहे। ज़हाज अपनी जगह पर ठहरा और इधर पोर्ट-संरक्षक ने उस पर सैनिकों के उतरने के लिये यथोचित प्रबन्ध किया।

समुद्र की गंभीरता, संध्या की निस्तब्धता और बैंड के सुरीले राग ने दोनों के हृदयों को सम्मोहित कर लिया, और वे इन्हीं सब बातों की चर्चा करने लग गये।

मदन ने कहा—मृणालिनी, यह बाजा कैसा सुरीला है !

मृणालिनी का ध्यान टूटा। सहसा उसके मुख से निकला—तुम्हारे कल-कंठ से अधिक नहीं है।

इसी तरह दिन बीतने लगे। मदन को कुछ काम नहीं करना पड़ता था। जब कभी उसका जी चाहता, तब वह महासागर के तट पर जाकर प्रकृति की सुषमा को निरखता और उसी में आनंदित होता था। वह प्राय: गोता लगाकर मोती निकालने वालों की ओर देखा करता और मन-ही-मन उनकी प्रशंसा किया करता था।

मदन का मालिक भी उसको कभी कोई काम करने के लिये आज्ञा नहीं देता था। वह उसे बैठा देखकर मृणालिनी के साथ घूमने के लिए जाने की आज्ञा देता था। उसका स्वभाव ही ऐसा सरल था कि सभी सहवासी उससे प्रसन्न रहते थे, वह भी उनसे खूब हिल-मिलकर रहता था।

× × ×

संसार भी बड़ा प्रपंचमय यंत्र है। वह अपनी मनोहरता पर आप ही मुग्ध रहता है।

एक एकांत कमरे में बैठे हुए मृणालिनी और मदन ताश खेल रहे हैं; दोनों जी-जान से अपने-अपने जीतने की कोशिश कर रहे हैं।

इतने में ही सहसा अमरनाथ बाबू उस कोठरी में आये। उनके मुख-मंडल पर क्रोध झलकता था। वह आते ही बोला—'क्यों रे दुष्ट ! तू बालिका को फुसला रहा है ?

मदन तो सुनकर सन्नाटे में रह गया। उसने नम्रता के साथ होकर पूछा—क्यों पिता, मैंने क्या किया है ?

अमरनाथ—अभी पूछता ही है ! तू इस लड़की को बहका कर अपने साथ लेकर दूसरी जगह भागना चाहता है ?

मदन—बाबूजी, यह आप क्या कह रहे हैं ? मुझ पर आप इतना अविश्वास कर रहे हैं ? किसी दुष्ट ने आपसे झूठी बात कही है।

अमरनाथ—अच्छा, तुम यहां से चलो और अब से तुम दूसरी कोठरी में रहा करो। मृणालिनी को और तुमको अगर हम एक जगह देख पावेंगे तो समझ रक्खो—समुद्र के गर्भ में ही तुमको स्थान मिलेगा।

मदन, अमरनाथ बाबू के पीछे चला। मृणालिनी मुरझा गयी, मदन के ऊपर अपवाद लगाना उसके सुकुमार हृदय से सहा नहीं गया। वह नव-कुसुमित पद-दलित आश्रय-विहीन माधवी-लता के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी और लोट-लोटकर रोने लगी।

मृणालिनी ने दरवाजा भीतर से बन्द कर लिया और वहीं लोटती हुई आँसुओं से हृदय की जलन को बुझाने लगी।

कई घंटे के बाद जब उसकी माँ ने जाकर किवाड़ खुलवाये, उस समय उसकी रेशमी साड़ी का आँचल भींगा हुआ, उसका मुख सूखा हुआ और आँखें लाल-लाल हो आयी थीं। वास्तव में वह मदन के लिये रोई थी। इसी से उसकी यह दशा हो गयी। सचमुच संसार बड़ा प्रपंचमय है।

× × ×

दूसरे घर में रहने से मदन बहुत घबड़ाने लगा। वह अपना मन बहलाने के लिए कभी-कभी समुद्र तट पर बैठकर गद्‌गद हो सूर्य-भगवान का पश्चिम दिशा से मिलना देखा करता था; और जब तक वह अस्त न हो जाते थे, तब तक बराबर टकटकी लगाये देखता था। वह अपने चित्त में अनेक कल्पना की लहरें उठाकर समुद्र और अपने हृदय की तुलना भी किया करता था।

मदन का अब इस संसार में कोई नहीं है। माता भारत में जीती है या मर गयी—यह भी बेचारे को नही मालूम ! संसार की मनोहरता, आशा की भूमि, मदन के जीवन-स्रोत का जल, मदन के हृदय-कानन का अपूर्व परिजात, मदन के हृदय-सरोवर की मनोहर मृणालिनी भी अब उससे अलग कर दी गई है। जननी, जन्मभूमि, प्रिय, कोई भी तो मदन के पास नहीं है ? इसी से उसका हृदय आलोड़ित होने लगा, और वह अनाथ बालक ईर्ष्या से भरकर अपने अपमान की ओर ध्यान देने लगा। उसको भली-भाँति विश्वास हो गया कि इस परिवार के साथ रहना ठीक नहीं है। जब इन्होंने मेरा तिरस्कार किया, तो अब इन्हीं के आश्रित होकर क्यों रहूँ ?

यह सोचकर उसने अपने चित्त में कुछ निश्चय किया और कपड़े पहनकर समुद्र की ओर घूमने के लिए चल पड़ा। राह में अपनी उधेड़-बुन में चला जाता था कि किसी ने पीठ पर हाथ रक्खा। मदन ने पीछे देखकर कहा—आह, आप हैं किशोर बाबू ?

किशोरनाथ ने हँसकर कहा—कहाँ बगदादी-ऊँट की तरह भागे जाते हो ?

कहीं तो नहीं, यहीं समुद्र की ओर जा रहा हूँ ।

समुद्र की ओर क्यों ?

शरण माँगने के लिए ।

यह बात मदन ने डबडबाई हुई आँखों से किशोर की ओर देखकर कही ।

किशोर ने रुमाल से मदन के आँसू पोंछते-पोंछते कहा—मदन, हम जानते हैं कि उस दिन बाबूजी ने जो तिरस्कार किया था, उससे तुमको बहुत दुःख है । मगर सोचो तो, इसमें दोष किसका है ? यदि तुम उस रोज मृणालिनी को बहकाने का उद्योग न करते, तो बाबूजी तुम पर क्यों अप्रसन्न होते ?

अब तो मदन से नहीं रहा गया । उसने क्रोध से कहा—कौन दुष्ट उस देवबाला पर झूठा अपवाद लगाता है ? और मैंने उसे बहकाया है ? इस बात का कौन साक्षी है ? किशोर बाबू ! आप लोग मालिक हैं, जो चाहें सो कहिये । आपने पालन किया है, इसलिए, यदि आप आज्ञा दें तो मदन समुद्र में भी कूदने के लिए तैयार है, मगर अपवाद और अपमान से बचाये रहिये ।

कहते-कहते मदन का मुख क्रोध से लाल हो आया, आँखों में आँसू भर आये, उसके आकार से उस समय दृढ़ प्रतिज्ञा झलकती थी ।

किशोर ने कहा—इस बारे में विशेष हम कुछ नहीं जानते, केवल माँ के मुख से सुना था कि जमादार ने बाबूजी से तुम्हारी निंदा की है और इसी वजह से वह तुम पर बिगड़े हैं ।

मदन ने कहा—आप लोग अपनी बाबूगीरी में भूले रहते हैं और ये बेईमान आपका सब माल खाते हैं । मैंने उस जमादार को मोती निकालने वालों के हाथ मोती बेचते देखा; मैंने पूछा—क्यों, तुमने मोती कहाँ पाया ? तब उसने गिड़गिड़ाकर, पैर पकड़कर, मुझसे कहा—बाबूजी से न कहियेगा । मैंने उसे डाँटकर फिर ऐसा काम न करने के लिए कहकर छोड़ दिया, आप लोगों से नहीं कहा । इसी कारण वह ऐसी चाल चलता है और आप लोगों ने भी बिना सोचे-समझे उसकी बात पर विश्वास कर लिया ।

यों कहते-कहते मदन उठ खड़ा हो गया । किशोर ने उसका हाथ पकड़कर बैठाया और आप भी बैठकर कहने लगा—मदन, घबड़ाओ मत, थोड़ी देर बैठकर हमारी बात सुनो । हम उसको दण्ड देंगे और तुम्हारा अपवाद भी मिटावेंगे । मगर हम एक बात जो कहते हैं, उसे ध्यान देकर सुनो । मृणालिनी अब बालिका नहीं है, और तुम भी बालक नहीं हो । तुम्हारे-उसके जैसे भाव हैं, सो भी हमसे छिपे नहीं हैं । फिर ऐसी जगह पर हम तो यही चाहते हैं कि तुम्हारा और मृणालिनी का ब्याह हो जाय ।

× × ×

मदन ब्याह का नाम सुनकर चौंक पड़ा, और मन से सोचने लगा कि यह कैसी बात ? कहाँ हम युक्तप्रांत-निवासी अन्यजातीय, और कहाँ ये बंगाली ब्राह्मण, फिर ब्याह किस तरह हो सकता है। हो-न-हो, ये मुझे भुलावा देते हैं। क्या मैं इनके साथ अपना धर्म नष्ट करूँगा ? क्या इसी कारण ये लोग मुझे इतना सुख देते हैं और खूब खुलकर मृणालिनी के साथ घूमने-फिरने और रहने देते थे ? मृणालिनी को मैं जी से चाहता हूँ, और जहाँ तक देखता हूँ, मृणालिनी भी मुझसे कपट-प्रेम नहीं करती। किंतु यह ब्याह नहीं हो सकता क्योंकि इसमें धर्म और अधर्म दोनों का डर है। धर्म का निर्णय करने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैंने ऐसा ब्याह होते न देखा है और न सुना है, फिर कैसे यह ब्याह करूं ?

इन्हीं बातों को सोचते-सोचते बहुत देर हो गयी। जब मदन को यह सुन पड़ा कि 'अच्छा, सोचकर हमसे कहना', तब वह चौंक पड़ा और देखा तो किशोर-नाथ जा रहा है।

मदन ने किशोरनाथ के जाने पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया और फिर अपने विचारों के सागर में मग्न हो गया।

फिर मृणालिनी का ध्यान आया, हृदय धड़कने लगा। मदन की चिंता-शक्ति का वेग रुक गया और उसके मन में यही समाया कि ऐसे धर्म को मैं दूर ही से हाथ जोड़ता हूँ! मृणालिनी—प्रेम-प्रतिभा मृणालिनी—को मैं नहीं छोड़ सकता !

मदन इसी मंतव्य को स्थिर कर, समुद्र की ओर मुख कर, उसकी गंभीरता निहारने लगा।

वहाँ पर कुछ धनी लोग पैसा फेंककर उसे समुद्र से ले आने का तमाशा देख रहे थे। मदन ने सोचा कि प्रेमियों का जीवन 'प्रेम' है और सज्जनों का अमोघ धन 'धर्म' है। ये लोग अपने प्रेम-जीवन की परवाह न कर धर्म-धन को बटोरते हैं और फिर इनके पास जीवन और धन दोनों चीजें दिखाई पड़ती हैं। तो क्या मनुष्य इनका अनुकरण नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है। प्रेम ऐसी तुच्छ वस्तु नहीं है कि धर्म को हटाकर उस स्थान पर आप बैठे। प्रेम महान है, प्रेम उदार है। प्रेमियों को भी वह उदार और महान् बनाता है। प्रेम का मुख्य अर्थ है 'आत्म-त्याग'। तो क्या मृणालिनी से ब्याह कर लेना ही प्रेम में गिना जायगा ? नहीं-नहीं, वह घोर स्वार्थ है। मृणालिनी को मैं जन्म-भर प्रेम से अपने हृदय-मंदिर में बिठाकर पूजूँगा, उसकी सरल प्रतिमा को पंक में न लपेटूंगा। परन्तु ये लोग जैसा बर्ताव करते हैं, उससे संभव है कि मेरे विचार पलट जाएँ। इसलिए अब इन लोगों से दूर रहना ही उचित है।

मदन इन्हीं बातों को सोचता हुआ लौट आया, और जो अपना मासिक वेतन

जमा किया था वह—तथा कुछ कपड़े आदि आवश्यक सामान—लेकर वहाँ से चला गया। जाते समय उसने एक पत्र लिखकर वहीं छोड़ दिया।

जब बहुत देर तक लोगों ने मदन को नहीं देखा, तब चिंतित हुए। खोज करने से उनको मदन का पत्र मिला, जिसे किशोरनाथ ने पढ़ा और पढ़कर उसका मर्म पिता को समझा दिया।

पत्र का भाव समझते ही उनकी सब आशा निर्मुल हो गयी। उन्होंने कहा—किशोर, देखो, हमने सोचा था कि मृणालिनी किसी कुलीन हिन्दू को समर्पित हो, परन्तु वह नहीं हुआ। इतना व्यय और परिश्रम, जो मदन के लिए किया गया, सब व्यर्थ हुआ। अब वह कभी मृणालिनी से ब्याह नहीं करेगा, जैसा कि उसके पत्र से विदित होता है।

आपके उस व्यवहार ने उसे और भी भड़का दिया। अब वह कभी ब्याह न करेगा।

मृणालिनी का क्या होगा ?

जो उसके भाग्य में है !

क्या जाते समय मदन ने मृणालिनी से भेंट नहीं की ?

पूछने से मालूम होगा।

इतना कहकर किशोर मृणालिनी के पास गया। मदन उससे भी नहीं मिला था। किशोर ने आकर पिता से सब हाल कह दिया।

अमरनाथ बहुत ही शोकग्रस्त हुए। बस, उसी दिन उनकी चिंता बढ़ने लगी। क्रमश: वह नित्य ही मद्य-सेवन करने लगे। वह तो प्राय: अपनी चिन्ता दूर करने के लिए मद्य-पान करते थे, किन्तु उसका फल उलटा हुआ—उनकी दशा और भी बुरी हो चली, यहाँ तक कि वह सब समय पान करने लगे, काम-काज देखना-भालना छोड़ दिया।

नवयुवक 'किशोर' बहुत चिंतित हुआ, किंतु वह धैर्य के साथ सांसारिक कष्ट सहने लगा।

मदन के चले जाने से मृणालिनी को बड़ा कष्ट हुआ। उसे यह बात और भी खटकती थी कि मदन जाते समय उससे क्यों नहीं मिला। वह यह नहीं समझती थी कि मदन यदि जाते समय उससे मिलता, तो जा नहीं सकता था।

मृणालिनी बहुत विरक्त हो गयी। संसार उसे सूना दिखाई देने लगा। किंतु वह क्या करे ? उसे अपनी मानसिक व्यथा सहनी ही पड़ी।

× × ×

मदन ने अपने एक मित्र के यहाँ जाकर डेरा डाला। वह भी मोती का व्यापार करता था। बहुत सोचने-विचारने के उपरान्त उसने भी मोती का ही व्यापार करना निश्चित किया।

मदन नित्य संध्या के समय, मोती बाज़ार में जा, मछुए लोग जो अपने मेहनताने में मिली हुई मोतियों की सीपियाँ बेचते थे—उनको खरीदने लगा; क्योंकि इसमें थोड़ी पूँजी से अच्छी तरह काम चल सकता था। ईश्वर की कृपा से उनको नित्य विशेष लाभ होने लगा।

संसार में मनुष्य की अवस्था सदा बदलती रहती है। वही मदन, जो तिरस्कार पाकर दासत्व छोड़ने पर लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया था, अब एक प्रसिद्ध व्यापारी बन गया।

मदन इस समय सम्पन्न हो गया। उसके यहाँ अच्छे-अच्छे लोग मिलने-जुलने आने लगे। उसने नदी के किनारे एक बहुत सुन्दर बँगला बनवा लिया है, उसके चारों ओर सुंदर बगीचा भी है। व्यापारी लोग उत्सव के अवसरों पर उसको निमन्त्रण देते हैं; वह भी अपने यहाँ कभी-कभी उन लोगों को निमन्त्रित करता है। संसार की दृष्टि में वह बहुत सुखी था, यहाँ तक कि बहुत लोग उससे डाह करने लगे। सचमुच संसार बड़ा आडंबर-प्रिय था !

× × ×

मदन सब प्रकार से शारीरिक सुख भोग करता था; पर उसके चित्त-पट पर किसी रमणी की मलिन छाया निरन्तर अंकित रहती थी; जो उसे कभी-कभी बहुत कष्ट पहुँचाती थी। प्राय: वह उसे विस्मृति के जल से धो डालना चाहता था। यद्यपि वह चित्र किसी साधारण कारीगर का अंकित किया हुआ नहीं था कि एकदम लुप्त हो जाय, तथापि वह बराबर उसे मिटा डालने की ही चेष्टा करता था।

अकस्मात् एक दिन, जब सूर्य की किरणें सुवर्ण-सी सु-वर्ण आभा धारण किए हुए थीं, नदी का जल मौज में बह रहा था, उस समय मदन किनारे खड़ा हुआ स्थिर भाव से नदी की शोभा निहार रहा था। उसको वहाँ कई-एक सुसज्जित जलयान देख पड़े। उसका चित्त, न जाने क्यों उत्कंठित हुआ। अनुसंधान करने पर पता लगा कि वहाँ वार्षिक जल-विहार का उत्सव होता है, उसी में लोग जा रहे हैं।

मदन के चित्त में भी उत्सव देखने की आकांक्षा हुई। वह भी अपनी नाव पर चढ़कर उसी ओर चला। कल्लोलिनी की कल्लोलों में हिलती हुई वह छोटी-सी सुसज्जित तरी चल दी।

मदन उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ नावों का जमाव था। सैकड़ों बजरे और नौकाएँ अपने नीले-पीले, हरे-लाल निशान उड़ाती हुई इधर-उधर घूम रही हैं। उन पर बैठे हुए मित्र लोग आपस में आमोद-प्रमोद कर रहे हैं। कामिनियाँ अपने मणिमय अलंकारों की प्रभा से उस उत्सव को आलोकमय किए हुए हैं।

मदन भी अपनी नाव पर बैठा हुआ एकटक इस उत्सव को देख रहा है। उसकी

आँखें जैसे किसी को खोज रही हैं। धीरे-धीरे संध्या हो गयी। क्रमशः एक, दो, तीन तारे दिखाई दिये। साथ ही, पूर्व की तरफ, ऊपर को उठते हुए गुब्बारे की तरह चंद्रबिंब दिखाई पड़ा। लोगों के नेत्रों में आनन्द का उल्लास छा गया। इधर दीपक जल गये। मधुर संगीत, शून्य की निस्तब्धता में, और भी गूँजने लगा। रात के साथ ही आमोद-प्रमोद की मात्रा बढ़ी।

परन्तु मदन के हृदय में सन्नाटा छाया हुआ है। उत्सव के बाहर वह अपनी नौका को धीरे-धीरे चला रहा है। अकस्मात कोलाहल सुनाई पड़ा, वह चौंककर उधर देखने लगा। उसी समय कोई चार-पाँच हाथ दूर एक काली-सी चीज दिखाई दी। अस्त हो रहे चन्द्रमा का प्रकाश पड़ने से कुछ वस्त्र भी दिखाई देने लगा। वह बिना कुछ सोचे-समझे ही जल में कूद पड़ा और उसी वस्तु के साथ बह चला।

उषा की आभा पूर्व में दिखाई पड़ रही है। चन्द्रमा की मलिन ज्योति तारागण को भी मलिन कर रही है।

तरंगों से शीतल दक्षिण-पवन धीरे-धीरे संसार को निद्रा से जगा रहा है। पक्षी भी कभी-कभी बोल उठते हैं।

निर्जन नदी-तट में एक नाव बँधी है, और बाहर एक सुकुमारी सुन्दरी का शरीर अचेत अवस्था में पड़ा हुआ है। एक युवक सामने बैठा हुआ उसे होश में लाने का उद्योग कर रहा है। दक्षिण-पवन भी उसे इस शुभ काम में बहुत सहायता दे रहा है।

सूर्य की पहली किरण का स्पर्श पाते ही सुन्दरी के नेत्र-कमल धीरे-धीरे विकसित होने लगे। युवक ने ईश्वर को धन्यवाद दिया और झुककर उस कामिनी से पूछा—मृणालिनी, अब कैसी हो ?

मृणालिनी ने नेत्र खोलकर देखा। उसके मुख-मण्डल पर हर्ष के चिह्न दिखाई पड़े। उसने कहा—प्यारे मदन, अब अच्छी हूँ !

प्रणय का भी वेग कैसा प्रबल है ! यह किसी महासागर की प्रचण्ड आँधी से कम प्रबलता नहीं रखता। इसके झोंके में मनुष्य की जीवन-नौका असीम तरंगों से घिर कर प्रायः कूल को नहीं पाती। अलौकिक आलोकमय अंधकार में प्रणयी अपनी प्रणय-तरी पर आरोपण कर उसी आनन्द के महासागर में घूमना पसन्द करता है, कूल की ओर जाने की इच्छा भी नहीं करता।

इस समय मदन और मृणालिनी दोनों की आँखों से आँसुओं की धारा धीरे-धीरे बह रही है। चंचलता का नाम भी नहीं है। कुछ बल आने पर दोनों उस नाव में जा बैठे।

मदन ने मल्लाहों को पास के गाँव से दूध या और कुछ भोजन की वस्तु लाने

के लिए भेजा। फिर दोनों ने बिछुड़ने के उपरांत की सब कथा परस्पर कह सुनाई।

मृणालिनी कहने लगी—भैया किशोरनाथ से मैं तुम्हारा सब हाल सुना करती थी। पर वह कहा करते थे कि तुमसे मिलने में उनको संकोच होता है। इसका कारण उन्होंने कुछ नहीं बतलाया। मैं भी हृदय पर पत्थर रखकर तुम्हारे प्रणय को आज तक स्मरण कर रही हूँ।

मदन ने बात टालकर पूछा—मृणालिनी, तुम जल में कैसे गिरीं ?

मृणालिनी ने कहा—मुझे बहुत उदास देख भैया ने कहा, चलो तुम्हें एक तमाशा दिखलावें, सो मैं भी आज यहाँ मेला देखने आयी। कुछ कोलाहल सुनकर मैं नाव पर खड़ी हो देखने लगी। दो नाववालों में झगड़ा हो रहा था। उन्हीं के झगड़े में हाथापाई में नाव हिल गई और मैं गिर पड़ी। फिर क्या हुआ, सो मैं कुछ नहीं जानती।

इतने में दूर से एक नाव आती हुई दिखाई पड़ी, उस पर किशोरनाथ था। उसने मृणालिनी को देखकर बहुत हर्ष प्रकट किया, और सब लोग मिलकर बहुत आनन्दित हुए।

बहुत कुछ बातचीत होने के उपरांत मृणालिनी और किशोर दोनों ने मदन के घर चलना स्वीकार किया। नावें नदी-तट पर स्थित मदन के घर की ओर बढ़ीं। उस समय मदन को एक दूसरी ही चिंता थी।

भोजन के उपरांत किशोरनाथ ने कहा—मदन, हम अब भी तुमको छोटा भाई ही समझते हैं; पर तुम शायद हमसे कुछ रुष्ट हो गये हो।

मदन ने कहा—भैया, कुछ नहीं। इस दास से जो कुछ ढिठाई हुई हो, उसे क्षमा करना, मैं तो आपका वही मदन हूँ।

इसी तरह की बहुत-सी बातें होती रहीं, और फिर दूसरे दिन किशोरनाथ मृणालिनी को साथ लेकर अपने घर गया।

× × ×

अमरनाथ बाबू की अवस्था बड़ी शोचनीय है। वह एक प्रकार से मद्य के नशे में चूर रहते हैं, काम-काज देखना सब छोड़ दिया है। अकेला किशोरनाथ काम-काज सँभालने के लिए तत्पर हुआ, पर उसके व्यापार की दशा अत्यन्त शोचनीय होती गयी, और उसके पिता का स्वास्थ्य भी बिगड़ चला। क्रमशः उसके चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा।

संसार की कैसी विलक्षण गति है ! जो बाबू अमरनाथ एक समय सारे सीलोन में प्रसिद्ध व्यापारी गिने जाते थे, और व्यापारी लोग जिनसे सलाह लेने के लिए तरसते थे, वही अमरनाथ इस समय कैसी अवस्था में हैं ! कोई उनसे मिलने भी नहीं आता !

किशोरनाथ एक दिन अपने आफिस में बैठा कार्य देख रहा था। अकस्मात् मृणालिनी भी उसी स्थान में आ गयी और एक कुर्सी खींचकर बैठ गयी। उसने किशोर से कहा—क्यों भैया, पिताजी की कैसी अवस्था है? काम-काज की भी दशा अच्छी नहीं है, तुम भी चिंता से व्याकुल रहते हो, यह क्या है?

किशोरनाथ—बहन, कुछ न पूछो, पिताजी की अवस्था तो तुम देख ही रही हो। काम-काज की अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय हो रही है। पचास लाख रुपये के लगभग बाजार का देना है; और आफिस का रुपया सब बाजार में फँस गया है, जो कि काम देखे-भाले बिना पिताजी की अस्वस्थता के कारण दब-सा गया है। इसी सोच में बैठा हुआ हूँ कि ईश्वर क्या करेंगे!

मृणालिनी भयातुर हो गयी। उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। किशोर उसे समझाने लगा; फिर बोला—केवल एक ईमानदार कर्मचारी अगर काम-काज की देख-भाल किया करता, तो यह अवस्था न होती। आज यदि मदन होता, तो हम लोगों की यह दशा न होती।

मदन का नाम सुनते ही मृणालिनी कुछ विवर्ण हो गयी और उसकी आँखों में आँसू भर आये। इतने में दरबान ने आकर कहा—सरकार, एक रजिस्ट्री चिट्ठी मृणालिनी देवी के नाम से आयी है, डाकिया बाहर खड़ा है।

किशोर ने कहा—बुला लाओ।

किशोर ने वह रजिस्ट्री लेकर खोली। उसमें एक पत्र और एक स्टाम्प का कागज था। देखकर किशोर ने मृणालिनी के आगे फेंक दिया। मृणालिनी ने फिर वह पत्र किशोर के हाथ में देकर पढ़ने के लिए कहा। किशोर पढ़ने लगा—

"मृणालिनी!

आज मैं तुमको पत्र लिख रहा हूँ। आशा है कि तुम इसे ध्यान देकर पढ़ोगी। मैं एक अनजाने स्थान का रहनेवाला कंगाल के भेष में तुमसे मिला और तुम्हारे परिवार में पालित हुआ। तुम्हारे पिता ने मुझे आश्रय दिया, और मैं सुख से तुम्हारा मुख देखकर दिन बिताने लगा। पर दैव को वह भी ठीक न जँचा! अच्छा, जैसी उसकी इच्छा! पर मैं तुम्हारे परिवार को सदा स्नेह की दृष्टि से देखता हूँ। बाबू अमरनाथ के कहने-सुनने का मुझे कुछ ध्यान भी नहीं है, मैं उसे आशीर्वाद समझता हूँ। मेरे चित्त में उसका तनिक भी ध्यान नहीं है, पर केवल पश्चात्ताप यह है कि मैं उनसे बिना कहे-सुने चला आया। अच्छा, इसके लिए उनसे क्षमा माँग लेना और भाई किशोरनाथ से भी मेरा यथोचित अभिवादन कह देना।

अब कुछ आवश्यक बातें मैं लिखता हूँ, उन्हें ध्यान से पढ़ो। जहाँ तक संभव है, उनके करने में तुम आगा-पीछा न करोगी—यह मुझे विश्वास है। मुझे तुम्हारे परिवार की दशा अच्छी तरह विदित है, मैं उसे लिखकर तुम्हारा दुःख नहीं

बढ़ाना चाहता। सुनो, यह एक 'विल' है जिसमें मैंने अपनी सब सीलोन की सम्पत्ति तुम्हारे नाम लिख दी है। वह तुम्हारी ही है, उसे लेने में तुमको कुछ संकोच न करना चाहिये। वह सब तुम्हारे ही रुपए का लाभ है। जो धन मैं वेतन में पाता था, वही मूल कारण है। अस्तु, यह मूलधन, लाभ और ब्याज-सहित, तुमको लौटा दिया जाता है। इसे अवश्य स्वीकार करना, और स्वीकार करो या न करो, अब सिवा तुम्हारे इसका स्वामी कौन है? क्योंकि मैं भारतवर्ष से जिस रूप में आया था, उसी रूप में लौटा जा रहा हूँ। मैं इस पत्र को लिखकर तब भेजता हूँ, जब घर से निकलकर जहाज कर रवाना हो चुका हूँ। अब तुमसे भेंट भी नहीं हो सकती। तुम यदि आओ भी, तो उस समय मैं जहाज पर होऊँगा। तुमसे मेरी केवल यही प्रार्थना है कि 'तुम मुझे भूल जाना'। —मदन"

यह पत्र पढ़ते ही मृणालिनी की और किशोरनाथ की अवस्था दूसरी ही हो गयी। मृणालिनी ने कातर स्वर से कहा—भैया, क्या समुद्र-तट तक चल सकते हो?

किशोरनाथ ने खड़े होकर कहा—अवश्य!

बस, तुरंत ही एक गाड़ी पर सवार होकर दोनों समुद्र-तट की ओर चले। ज्यों ही वे पहुँचे, त्यों ही जहाज तट छोड़ चुका था। उस समय व्याकुल होकर मृणालिनी की आँखें किसी को खोज रही थीं। किन्तु अधिक खोज नहीं करनी पड़ी।

किशोर और मृणालिनी दोनों ने देखा कि गेरुए रंग का कपड़ा पहिने हुए एक व्यक्ति दोनों हाथ जोड़े हुए जहाज पर खड़ा है, और जहाज शीघ्रता के साथ समुद्र के बीच में चला जा रहा है!

मृणालिनी ने देखा कि बीच में अगाध समुद्र है!

□□

प्रतिध्वनि

प्रसाद

मधुप अभी किसलय-शय्या पर, मकरन्द-मदिरा पान किये सो गये थे। सुन्दरी के मुख-मण्डल पर प्रस्वेद बिन्दु के समान फूलों के ओस अभी सूखने न पाये थे। अरुण की स्वर्ण-किरणों ने उन्हें गरमी न पहुँचायी थी। फूल कुछ खिल चुके थे! परन्तु थे अर्ध-विकसित। ऐसे सौरभपूर्ण सुमन सवेरे ही जाकर उपवन से चुन लिये थे। पूर्णपुट का उन्हें पवित्र वेष्ठन देकर अंचल में छिपाये हुए सरला देव-मन्दिर में पहुँची। घण्टा अपने दम्भ का घोर नाद कर रहा था। चन्दन और केसर की चहल-पहल हो रही थी। अगुरु-धूप-गन्ध से तोरण और प्राचीर परि-पूर्ण था। स्थान-स्थान पर स्वर्ण-श्रृंगार और रजत के नैवेद्य-पात्र, बड़ी-बड़ी आरतियाँ, फूल-चंगेर सजाये हुए धरे थे। देव-प्रतिमा रत्न-आभूषणों से लदी हुई थी।

सरला ने भीड़ में घुसकर उसका दर्शन किया और देखा कि वहाँ मल्लिका की माला, परिजात के हार, मालती की मालिका और भी अनेक प्रकार के सौर-भित सुमन देव-प्रतिमा के पदतल में विकीर्ण हैं। शतदल लोट रहे हैं और कला की अभिव्यक्तिपूर्ण देव-प्रतिमा के ओष्ठाधार में रत्न की ज्योति के साथ बिजली-सी मुसक्यान-रेखा खेल रही थी, जैसे उन फूलों का उपहास कर रही हो। सरला को यही विदित हुआ कि फूलों की यहाँ गिनती नहीं, पूछ नहीं। सरला अपने पाणि-पल्लव में पर्णपुट लिये कोने में खड़ी हो गयी।

भक्तवृन्द अपने नैवेद्य, उपहार देवता को अर्पण करते थे, रत्न-खण्ड, स्वर्ण-मुद्राएँ देवता के चरणों में गिरती थीं। पुजारी भक्तों को फल-फूलों का प्रसाद देते थे। वे प्रसन्न होकर जाते थे। सरला से न रहा गया। उसने अपने अर्ध-विकसित फूलों का पर्ट-पुट खोला भी नहीं। बड़ी लज्जा से, जिसमें कोई देखे नहीं, ज्यों-का त्यों, फेंक दिया; परन्तु वह गिरा ठीक देवता के चरणों पर। पुजारी ने उसकी आँख बचा कर रख लिया। सरला फिर कोने में जाकर खड़ी हो गयी। देर तक दर्शकों का आना, दर्शन करना, घण्टे का बजाना, फूलों का रौंद, चन्दन-केसर की कीच और रत्न-स्वर्ण की क्रीड़ा होती रही। सरला चुपचाप खड़ी देखती रही।

शयन आरती का समय हुआ। दर्शक बाहर हो गये। रत्न-जटित स्वर्ण-

आरती लेकर पुजारी ने आरती आरम्भ करने के पहले देव-प्रतिमा के पास के फूल हटाये। रत्न-आभूषण उतारे, उपहार के स्वर्ण-रत्न बटोरे। मूर्ति नग्न और विरल-शृंगार थी। अकस्मात् पुजारी का ध्यान उस पर्ण-पुट की ओर गया। उसने खोल कर उन थोड़े-से अर्ध-विकसित कुसुमों को, जो अवहेला से सूखा ही चाहते थे, भगवान् के नग्न शरीर पर यथावकाश सजा दिया। कई जन्म का अतृप्त शिल्पी ही जैसे पुजारी होकर आया है। मूर्ति की पूर्णता का उद्योग कर रहा है। शिल्पी की शेष कला की पूर्ति हो गयी। पुजारी विशेष भावापन्न होकर आरती करने लगा। सरला को देख कर भी किसी ने न देखा, न पूछा कि 'तुम इस समय मन्दिर में क्यों हो?'

आरती हो रही थी, बाहर का घण्टा बज रहा था। सरला मन में सोच रही थी, मैं दो-चार फूल-पत्ते ही लेकर आयी। परन्तु चढ़ाने का, अर्पण करने का हृदय में गौरव था। दान की सो भी किसे! भगवान् को! मन में उत्साह था। परन्तु हाय! 'प्रसाद' की आशा ने, शुभ कामना के बदले की लिप्सा ने मुझे छोटा बना कर अभी तक रोक रक्खा। सब दर्शक चले गये, मैं खड़ी हूँ, किस लिए। अपने उन्हीं अर्पण किये हुए दो-चार फूल लौटा लेने के लिए, "तो चलूँ।"

अकस्मात् आरती बन्द हुई। सरला ने जाने के लिए आशा का सत्सर्ग करके एक बार देव-प्रतिमा की ओर देखा कि उसके फूल भगवान् के अंग पर सुशोभित हैं। वह ठिठक गयी। पुजारी ने सहसा घूम कर देखा और कहा,—"अरे तुम! अभी यहीं हो, तुम्हें प्रसाद नहीं मिला, लो।" जान में या अनजान में, पुजारी ने भगवान् की एकावली सरला के नत गले में डाल दी! प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी।

□□

गूदड़ साईं

"साईं! ओ साईं!!" एक लड़के ने पुकारा। साईं घूम पड़ा। उसने देखा कि एक 8 वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है।

आज कई दिन पर उस मुहल्ले में साईं दिखाई पड़ा है। साईं वैरागी था,—माया नहीं, मोह नहीं। परन्तु कुछ दिनों से उसकी आदत पड़ गयी थी कि दोपहर को मोहन के घर जाना, अपने दो-तीन गन्दे गूदड़ यत्न से रख कर उन्हीं पर बैठ जाता और मोहन से बातें करता। जब कभी मोहन उसे गरीब और भिखमंगा जानकर माँ से अभिमान करके पिता की नजर बचा कर कुछ साग-रोटी लाकर

दे देता, तब उस साईं के मुख पर पवित्र मैत्री के भावों का साम्राज्य हो जाता। गूदड़ साईं उस समय 10 बरस के बालक के समान अभिमान, सराहना और उलाहना के आदान-प्रदान के बाद उसे बड़े चाव से खा लेता; मोहन की दी हुई एक रोटी उसकी अक्षय-तृप्ति का कारण होती।

एक दिन मोहन के पिता ने देख लिया। वह बहुत बिगड़े। वह थे कट्टर आर्यसमाजी, 'ढोंगी फकीरों पर उनकी साधारण और स्वाभाविक चिढ़ थी।' मोहन को डाँटा कि वह इन लोगों के साथ बातें न किया करे। साईं हँस पड़ा, चला गया।

उसके बाद आज कई दिन पर साईं आया और वह जान-बूझकर उस बालक के मकान की ओर नहीं गया; परन्तु पढ़ कर लौटते हुए मोहन ने उसे देख कर पुकारा और वह लौट भी आया।

"मोहन!"

'तुम आजकल आते नहीं?"

"तुम्हारे बाबा बिगड़ते थे।"

"नहीं, तुम रोटी ले जाया करो।"

"भूख नहीं लगती।"

"अच्छा, कल जरूर आना; भूलना मत!"

"इतने में एक दूसरा लड़का साईं का गूदड़ खींचकर भागा। गूदड़ लेने के लिए साईं उस लड़के के पीछे दौड़ा। मोहन खड़ा देखता रहा, साईं आँखों से ओझल हो गया।

चौराहे तक दौचते-दौड़ते साईं को ठोकर लगी, वह गिर पड़ा। सिर से खून बहने लगा। खिझाने के लिए जो लड़का उसका गूदड़ लेकर भागा था, वह डर से ठिठका रहा। दूसरी ओर से मोहन के पिता ने उसे पकड़ लिया, दूसरे हाथ से साईं को पकड़ कर उठाया। नटखट लड़के के सर पर चपत पड़ने लगी; साईं उठकर खड़ा हो गया।

"मत मारो, मत मारो, चोट आती होगी!" साईं ने कहा—और लड़के को छुड़ाने लगा! मोहन के पिता ने साईं से पूछा—"तब चीथड़े के लिए दौड़ते क्यों थे?"

सिर फटने पर भी जिसको रुलाई नहीं आयी थी, वह साईं लड़के को रोते देखकर रोने लगा। उसने कहा—"बाबा मेरे पास, दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान् को प्रसन्न करता!"

"तो क्या तुम इसीलिए गूदड़ रखते हो?"

"इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान् और मैं उनसे लड़ कर छीन लेता हूँ; रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए, उनके मनोविनोद के लिए। सोने

का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं !" इतना कहकर बालक का मुँह पोंछते हुए मित्र के समान गलबाँही डाले हुए साईं चला गया।

मोहन के पिता आश्चर्य से बोले—"गूदड़ साईं ! तुम निरे गूदड़ नहीं; गुदड़ी के लाल हो ! !"

□□

गुदड़ी में लाल

दीर्घ निश्वासों का क्रीड़ा-स्थल, गर्म-गर्म आँसुओं का फूटा हुआ पात्र ! कराल काल की सारंगी, एक बुढ़िया की जीर्ण कंकाल, जिसमें अभिमान के लय में करुणा की रागिनी बजा करती है।

अभागिनी बुढ़िया, एक भले घर की बहू-बेटी थी। उसे देखकर दयालु वयोवृद्ध, हे भगवान् ! कहके चुप हो जाते थे। दुष्ट कहते थे कि अमीरी में बड़ा सुख लूटा है। नवयुवक देश-भक्त कहते थे, देश दरिद्र है; खोखला है। अभागे देश में जन्मग्रहण करने का फल भोगती है। आगामी भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास रखकर हृदय के रक्त पर सन्तोष करे। जिसे देश का भगवान् ही नहीं; उसे विपत्ति क्या ! सुख क्या !

परन्तु बुढ़िया सबसे यही कहा करती थी—"मैं नौकरी करूँगी। कोई मेरी नौकरी लगा दो।" देता कौन ? जो एक घड़ा जल भी नहीं भर सकती, जो स्वयं उठ कर सीधा खड़ी नहीं हो सकती थी, उससे कौन काम कराये ? किसी की सहायता लेना पसन्द नहीं, किसी की भिक्षा का अन्न उसके मुख में पैठता ही न था। लाचार होकर बाबू रामनाथ ने उसे अपनी दुकान में रख लिया। बुढ़िया की बेटी थी, वह दो पैसे कमाती थी। अपना पेट पालती थी, परन्तु बुढ़िया का विश्वास था कि कन्या का धन खाने से उस जन्म में बिल्ली, गिरगिट और भी क्या-क्या होता है। अपना-अपना विश्वास ही है, परन्तु धार्मिक हो या नहीं; बुढ़िया को अपने आत्माभिमान का पूर्ण विश्वास था। वह अटल रही। सर्दी के दिनों में अपने ठिठुरे हुए हाथ से वह अपने लिए पानी भर के रखती। अपनी बेटी से सम्भवतः उतना ही काम कराती, जितना अमीरी के दिनों में कभी-कभी उसे अपने घर बुलाने पर कराती।

बाबू रामनाथ उसे मासिक वृत्ति देते थे। और भी तीन-चार पैसे उसे चबेनी के, जैसे और नौकरों को मिलते थे, मिला करते थे। कई बरस बुढ़िया के बड़ी

प्रसन्नता से कटे। उसे न तो दुःख था और न सुख। दूकान में झाड़ू लगाकर उसकी बिखरी हुई चीजों को बटोरे रहना और, बैठे-बैठे थोड़ा-घना जो काम हो, करना बुढ़िया का दैनिक कार्य था। उससे कोई नहीं पूछता था कि तुमने कितना काम किया। दुकान के और कोई नौकर यदि दुष्टतावश उसे छेड़ते भी थे, तो उन्हें रामनाथ डाँट देता था।

वसन्त, वर्षा, शरद और शिशिर की सन्ध्या में जब विश्व की वेदना, जगत् की थकावट, धूसर चादर में मुँह लपेट कर क्षितिज के नीरव प्रान्त में सोने जाती थी; बुढ़िया अपनी कोठरी में लेट रहती। अपनी कमाई के पैसे से पेट भर कर, कठोर पृथ्वी की कोमल रोमावली के समान हरी-हरी दूब पर भी लेट रहना किसी-किसी के सुखों की संख्या है, वह सबको प्राप्त नहीं। बुढ़िया धन्य हो जाती थी, उसे सन्तोष होता।

एक दिन उस दुर्बल बुढ़िया को बनिये की दुकान में लाल मिरचें फटकनी पड़ा। बुढ़िया ने किसी-किसी कष्ट से उसे सँवारा। परन्तु उसकी तीव्रता वह सहन न कर सकी। उसे मूर्छा आ गयी। रामनाथ ने देखा, और देखा अपने कठोर ताँबे के पैसे की ओर। उसके हृदय ने धिक्कारा, परन्तु अन्तरात्मा ने ललकारा। उस बनिया रामनाथ को साहस हो गया। उसने सोचा, क्या इस बुढ़िया को 'पिन्सिन' नहीं दे सकता ? क्या उनके पास इतना अभाव है ? अवश्य दे सकता है। उसने मन में निश्चय किया। "तुम बहुत थक गयी हो, अब तुमसे काम नहीं हो सकता।" बुढ़िया के देवता कूच कर गये। उसने कहा—"नहीं-नहीं, अभी तो मैं अच्छी तरह काम कर लेती हूँ।" "नहीं, अब तुम काम करना बन्द कर दो, मैं तुमको घर बैठे दिया करूँगा।"

"नहीं बेटा ! अभी तुम्हारा काम मैं अच्छा-भला कियाकरूँगी।" बुढ़िया के गले में काँटे पड़ गये थे। किसी सुख की इच्छा से नहीं, पेन्शन के लोभ से भी नहीं। उसके मन में धक्का लगा। वह सोचने लगी—"मैं बिना किसी काम के किये इसका पैसा कैसे लूँगी ? क्या यह भीख नहीं ?" आत्माभिमान झनझना उठा। हृदय-तन्त्री के तार कड़े होकर चढ़ गये। रामनाथ ने मधुरता से कहा—"तुम घबराओ मत, तुमको कोई कष्ट न होगा।"

बुढ़िया चली आयी। उसकी आँखों में आंसू न थे। आज वह सूखे काठ-सी हो गयी। घर जाकर बैठी, कोठरी में अपना सामान एक ओर सुधारने लगी। बेटी ने कहा—"माँ, यह क्या करती हो ?"

माँ ने कहा—"चलने की तैयारी।"

रामनाथ अपने मन में अपनी प्रशंसा कर रहा था, अपने को धन्य समझता था। उसने समझ लिया कि आज हमने एक अच्छा काम करने का संकल्प किया है। भगवान् इससे अवश्य प्रसन्न होंगे।

बुढ़िया अपनी कोठरी में बैठी-बैठी विचारती थी, "जीवन भर के सञ्चित इस अभिमान-धन को एक मुट्ठी अन्न की भिक्षा पर बेच देना होगा। असह्य ! भगवान् क्या मेरा इतना सुख भी नहीं देख सकते ! उन्हें सुनना होगा।" वह प्रार्थना करने लगी।

"इस अनन्त ज्वालामयी सृष्टि के कर्ता ! क्या तुम्ही करुणा-निधान हो ? क्या इसी डर से तुम्हारा अस्तित्व माना जाता है ? अभाव, आशा, असन्तोष और आर्त्तनादों के आचार्य ! क्या तुम्हीं दीनानाथ हो ! तुम्हीं ने वेदना का विषम जाल फैलाया है। तुम्हीं ने निष्ठुर दुःखों के सहने के लिए मानव-हृदय-सा कोमल पदार्थ चुना है और उसे विचारने के लिए, स्मरण करने के लिए दिया है अनुभवशील मस्तिष्क ? कैसी कठोर कल्पना है, निष्ठुर ! तुम्हारी कठोर करुणा की जय हो ! मैं चिर पराजित हूँ।"

सहसा बुढ़िया के शीर्ण पर कान्ति आ गयी। उसने देखा, एक स्वर्गीय ज्योति उसे बुला रही है। वह हँसी, फिर शिथिल होकर लेट रही।

रामनाथ ने दूसरे ही दिन सुना कि बुढ़िया चली गयी। वेदना-क्लेशहीन-अक्षयलोक में उसे स्थान मिल गया। उस महीने की पेन्शन ने उसका दाह-कर्म करा दिया। फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोला, "अमीरी की बाढ़ में न जाने कितनी वस्तु कहाँ से आकर एकत्र हो जाती हैं, बहुतों के पास उस बाढ़ के घट जाने पर केवल कुर्सी, कोच और टूटे गहने रह जाते हैं। परन्तु बुढ़िया के पास रह गया था सच्चा स्वाभिमान गुदड़ी का लाल।"

□□

अघोरी का मोह

"आज तो भैया, मूंग की बरफी खाने को जी नहीं चाहता, यह साग तो बड़ा ही चटकीला है। मैं तो....

"नहीं-नहीं जगन्नाथ, उसे दो बरफी तो जरूर ही दे दो।"

"न-न-न। क्या करते हो, मैं गंगा जी में फेंक दूंगा।"

"लो, तब मैं तुम्हीं को उलटे देता हूँ।" ललित ने कह कर किशोर की गर्दन पकड़ ली। दीनता से भोली और प्रेम-भरी आंखों से चन्द्रमा ज्योति में किशोर ने ललित की ओर देखा। ललित ने दो बरफी उसके खुले मुख में डाल दीं। उसने भरे हुए मुख से कहा,—"भया, अगर ज्यादा खाकर मैं बीमार हो गया।" ललित ने उसके बर्फ के समान गालों पर चपत लगाकर कहा—"तो मैं सुधाविन्दु का

नाम गरलधारा रख दूँगा। उसके एक बूँद में सत्रह बरफी पचाने की ताकत है। निर्भय होकर भोजन और भजन करना चाहिए।"

शरद की नदी अपने करारों में दबकर चली जा रही है। छोटा-सा बजरा भी उसी में अपनी इच्छा से बहता हुआ जा रहा है, कोई रोक-टोक नहीं है। चाँदनी निरख रही थी, नाव की सैर करने के लिए ललित अपने अतिथि किशोर के साथ चला आया है। दोनों में पवित्र सौहार्द्र है। जाह्नवी की धवलता आ दोनों की स्वच्छ हँसी में चन्द्रिका के साथ मिल कर एक कुतूहलपूर्ण जगत् को देखने के लिए आवाहन कर रही है। धनी संतान ललित अपने वैभव में भी किशोर के साथ दीनता अनुभव करने में बड़ा उत्सुक है। वह सानन्द अपनी दुर्बलताओं को, अपने अभाव को, अपनी करुणा को, उस किशोर बालक से व्यक्त कर रहा है। इसमें उसे सुख भी है, क्योंकि, वह एक न समझनेवाले हिरन के समान बड़ी-बड़ी भोली आँखों से देखते हुए केवल सुन लेने वाले व्यक्ति से अपनी समस्त कथा कह कर अपना बोझ हलका कर लेता है। और उसका दुःख कोई समझने वाला व्यक्ति न सुन सका, जिससे उसे लज्जित होना पड़ता, यह उसे बड़ा सुयोग मिला है।

ललित को कौन दुःख है ? उसकी आत्मा क्यों इतनी गम्भीर है ? यह कोई नहीं जानता। क्योंकि उसे सब वस्तु की पूर्णता है, जितनी संसार मैं साधारणतः चाहिए; फिर भी उसकी नील नीरद-माला-सी गम्भीर मुखाकृति में कभी-कभी उदासीनता बिजली की तरह चमक जाती है।

ललित और किशोर बात करते-करते हँसते-हँसते अब थक गये हैं। विनोद के बाद अवसाद का आगमन हुआ। पान चबाते-चबाते ललित ने कहा—"चलो जी, अब घर की ओर।"

माँझियों ने डाँड़ लगाना आरम्भ किया। किशोर ने कहा—"भैया, कल दिन में इधर देखने की बड़ी इच्छा है। बोलो, कल आओगे ?" ललित चुप था। किशोर ने कान में चिल्ला कर कहा—"भैया! कल आओगे न ?" ललित ने चुप्पी साध ली। किशोर ने फिर कहा—"बोलो भैया, नहीं तो मैं तुम्हारा पैर दबाने लगूँगा।"

ललित पैर छूने से घबरा कर बोला—"अच्छा, तुम कहो कि हमको किसी दिन अपनी सुखी रोटी खिलाओगे ? ...."

किशोर ने कहा—"मैं तुमको खीरमोहन, दिलखुश...." ललित ने कहा—"न-न-न.... मैं तुम्हारे हाथ से सुखी रोटी खाऊँगा—बोलो, स्वीकार है ? नहीं तो मैं कल नहीं आऊँगा।"

किशोर ने धीरे से स्वीकार कर लिया। ललित ने चन्द्रमा की ओर देखकर आँख बन्द कर लिया। बरौनियों की जाली से इन्दु की किरणें घुसकर फिर कोर में से मोती बन-बन कर निकल भागने लगीं। यह कैसी लीला थी !

2

25 वर्ष के बाद

कोई उसे अघोरी कहते हैं, कोई योगी। मुर्दा खाते हुए उसे किसी ने नहीं देखा है, किन्तु खोपड़ियों से खेलते हुए, उसके जोड़ की लिपियों को पढ़ते हुए, फिर हँसते हुए, कई व्यक्तियों ने देखा है। गाँव की स्त्रियाँ जब नहाने आती हैं, तब कुछ रोटी, दूध, बचा हुआ चावल लेती आती हैं। पंचवट के बीच में झोंपड़ी में रख जाती हैं। कोई उससे यह भी नहीं पूछता कि वह खाता है या नहीं। किसी स्त्री के पूछने पर—"बाबा, आज कुछ खाओगे", अघोरी बालकों की-सी सफेद आँखों से देख कर बोल उठता—"माँ।" युवतियाँ लजा जातीं। वृद्धाएँ करुणा से गद्-गद हो जातीं और बालिकाएँ खिल-खिला कर हँस पड़तीं, तब अघोरी गंगा के किनारे उतर कर चला जाता और तीर पर से गंगा के साथ दौड़ लगाते हुए कोसों चला जाता, तब लोग उसे पागल कहते थे। किन्तु कभी-कभी सन्ध्या को सन्तरे के रंग से जब जाह्नवी का जल रंग जाता है और पूरे नगर की अट्टालिकाओं का प्रतिबिम्ब छाया-चित्र का दृश्य बनाने लगता, तब भाव-विभोर होकर कल्पनाशील भावुक की तरह वही पागल निर्निमेष दृष्टि से प्रकृति के अदृश्य हाथों से बनाये हुए कोमल कारीगरी के कमनीय कुसुम को—नन्हें-से फूल को—बिना तोड़े हुए उन्हीं घासों में हिला कर छोड़ देता और स्नेह से उसी ओर देखने लगता, जैसे वह उस फूल से कोई सन्देश सुन रहा हो।

* * *

शीत-काल है। मध्याह्न है। सवेरे सेअच्छा कुहरा पड़ चुका है। नौ बजने के बाद सूर्य का उदय हुआ है छोटा-सा बजरा अपनी मस्तानी चाल से जाह्नवी के शीतल जल में सन्तरण कर रहा है। बजरे की छत पर तकिये के सहारे कई बच्चे और स्त्री-पुरुष बैठे हुए जल-विहार कर रहे हैं।

कमला ने कहा—"भोजन कर लीजिए, समय हो गया है" किशोर ने कहा—"बच्चों को खिला दो, अभी और दूर चलने पर हम खाएँगे।" बजरा जल से कल्लोल करता हुआ चला जा रहा है। किशोर शीतकाल के सूर्य की किरणों से चमकती हुई जल-लहरियों को उदासीन अथवा स्थिर दृष्टि से देखता हुआ न जाने कब की और कहां की बातें सोच रहा है। लहरें क्यों उठती है और विलीन होती हैं, बुदबुद और जल-राशि का क्या संबन्ध है? मानव-जीवन बुदबुद है कि तरंग? बुदबुद है, तो विलीन होकर क्यों प्रकट होता है? मलिन अंश फेन कुछ जलबिन्दु से मिलकर बुदबुद का अस्तित्व क्यों बना देता है? क्या वासना और शरीर का भी यही सम्बन्ध है? वासना की शक्ति? कहाँ-कहाँ किस रूप में अपनी इच्छा चरितार्थ करती हुई जीवन को अमृत-गरल का संगम बनाती हुई अनन्त काल तक

दौड़ लगायेगी ? कभी अवसान होगा, कभी अनन्त जल-राशि में विलीन होकर वह अपनी अखण्ड समाधि लेगी ?....हैं, क्या सोचने लगा ? व्यर्थ की चिन्ता। उहँ।"

नवल ने कहा—"बाबा, ऊपर देखो। उस वृक्ष की जड़ें कैसी अद्‌भुत फैली हुई हैं !"

किशोर ने चौंक कर देखा। वह जीर्ण वृक्ष, कुछ अनोखा था। और भी कई वृक्ष ऊपर के करारे को उसी तरह घेरे हुए हैं, यहाँ अघोरी की पंचवटी है। किशोर ने कहा—"नाव रोक दे। हम यहीं ऊपर चलकर ठहरेंगे। वहीं जलपान करेंगे।" थोड़ी देर में बच्चों के साथ किशोर और कमला पंचवटी के करारे पर चढ़ने लगे।

* * *

सब लोग खा-पी चुके। अब विश्राम करके नाव की ओर पलटने की तैयारी है। मलिन अंग, किन्तु पवित्रता की चमक, मुख पर रुक्षकेश, कौपीनधारी एक व्यक्ति आकर उन लोगों के सामने खड़ा हो गया।

"मुझे कुछ खाने को दो।" दूर खड़ा हुआ गाँव का एक बालक उसे माँगते देखकर चकित हो गया। वह बोला, "बाबूजी, यह पंचवटी के अघोरी हैं।"

किशोर ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर कमला से कहा—कुछ बचा हो, तो इसे दे दो।"

कमला ने देखा, तो कुछ परांवठे बचे थे। उसने निकाल कर दे दिया।

किशोर ने पूछा—"और कुछ नहीं है ?"—उसने कहा—"नहीं।"

अघोरी उस सूखे परांवठे को लेकर हँसने लगा। बोला—"हमको और कुछ न चाहिए।" फिर एक खेलते हुए बच्चे को गोद में उठा कर चूमने लगा। किशोर को बुरा लगा। उसने कहा—"उसे छोड़ दो, तुम चले जाओ।"

अघोरी ने हताश दृष्टि से एक बार किशोर की ओर देखा और बच्चे को रख दिया। उसकी आँखें भरी थीं, किशोर को कुतूहल हुआ। उसने कुछ पूछना चाहा, किन्तु वह अघोरी धीरे-धीरे चला गया। किशोर कुछ अव्यवस्थित हो गये वह शीघ्र नाव पर सब को लेकर चले आये।

नाव नगर की ओर चली। किन्तु किशोर का हृदय भारी हो गया था। वह बहुत विचारते थे, कोई बात स्मरण करना चाहते थे, किन्तु वह ध्यान नहीं आती थी—उनके हृदय में कोई भूली हुई बात चिकोट काटती थी, किन्तु वह विवश थे। उन्हें स्मरण नहीं होता था। मातृ-स्नेह से भरी हुई कमला ने सोचा कि हमारे बच्चों को देखकर अघोरी को मोह हो गया।

□□

पाप की पराजय

1

घने हरे कानन के हृदय में पहाड़ी नदी झिर-झिर करती वह रही है। गाँव से दूर, बन्दूक लिये हुए शिकारी के वेश में, घनश्याम दूर बैठा है। एक निरीह शशक मारकर प्रसन्नता से पतली-पतली लकड़ियों में उसका जलना देखता हुआ प्रकृति की कमनीयता के साथ वह बड़ा अन्याय कर रहा है। किन्तु उसे दायित्व-विहीन विचारपति की तरह बेपरवाही है। जंगली जीवन का आज उसे बड़ा अभिमान है। अपनी सफलता पर आप ही मुग्ध होकर मानव-समाज की शैशवावस्था की पुनरावृत्ति करता हुआ निर्दय घनश्याम उस अधजले जन्तु से उदर भरने लगा। तृप्त होने पर वन की सुधि आई। चकित होकर देखने लगा कि यह कैसा रमणीय देश है। थोड़ी देर में तंद्रा ने उसे दबा दिया। वह कोमल वृत्ति विलीन हो गयी। स्वप्न ने उसे फिर उद्वेलित किया। निर्मल जल-धारा से धुले हुए पतों का घना कानन, स्थान-स्थान पर कुसुमित कुंज, आन्तरिक और स्वाभाविक आलोक में उन कुञ्जों की कोमल छाया, हृदय-स्पर्शकारी शीतल पवन का संचार, अस्फुट आलेख्य के समान उसके सामने स्फुरित होने लगे।

घनश्याम को सुदूर से मधुर झंकार-सी सुनाई पड़ने लगी। उसने अपने को व्याकुल पाया। देखा तो एक अद्‌भुत दृश्य! इन्द्रनील की पुतली फूलों से सजी हुई झरने के उस पार पहाड़ी से उतर कर बैठी है। उसके सहल-कुञ्चित केश से वन्य कुरुवक कलियाँ कूद-कूद कर जल-लहरियों से क्रीड़ा कर रही हैं। घनश्याम को वह वनदेवी-सी प्रतीत हुई। यद्यपि उसका रंग कंचन के समान नहीं, फिर भी गठन साँचे में ढला हुआ है। आकर्ण विस्तृत क्षेत्र नहीं, तो भी उनमें एक स्वाभाविक राग है। यह कवि की कल्पना-सी कोई स्वर्गीया आकृति नहीं, प्रत्युत एक भिल्लिनी है। तब भी इसमें सौन्दर्य नहीं है, यह कोई साहस के साथ नहीं कह सकता। घनश्याम ने तद्रा से चौंककर उस सहज सौन्दर्य को देखा और विषम समस्या में पड़कर यह सोचने लगा—"क्या सौन्दर्य उपासना की ही वस्तु है, उपभोग की नहीं ?" इस प्रश्न को हल करने के लिए उसने हंटिंग कोट के पाकेट का सहारा लिया। क्लान्तिहारिणी का पान करने पर उसकी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ गया। उसकी तन्द्रा का यह काल्पनिक स्वर्ग धीरे-धीरे विलास-मन्दिर में परिणत होने लगा। घनश्याम ने देखा कि अद्‌भुत रूप, यौवन की चरम-सीमा और स्वास्थ्य का मनोहर संस्करण रंग बदलकर पाप ही सामने आया।

पाप का यह रूप, जब वह वासना को फाँस कर अपनी ओर मिला चुकता है,

बड़ा कोमल अथच कठोर एवं भयानक होता है और तब पाप का मुख कितना सुन्दर होता है ! सुन्दर ही नहीं, आकर्षक भी, वह भी कितना प्रलोभन-पूर्ण और कितना शक्तिशाली, जो अनुभव में नहीं आ सकता। उसमें विजय का दर्प भरा रहता है। वह अपने एक मृदु मुस्कान से सुदृढ़ विवेक की अलहेलना करता है। घनश्याम ने धोखा खाया और क्षण भर में वह सरल सुषमा विलुप्त होकर उद्दीपन का अभिनय करने लगी। यौवन ने भी उस समय काम से मित्रता कर ली। पाप की सेना और उसका आक्रमण प्रबल हो चला। विचलित होते ही घनश्यास को पराजित होना पड़ा। वह आवेश में बाँहें फैला कर झरने को पार करने लगा।

नील की पुतली ने उस ओर देखा भी नहीं। युवक की मांसल पीन भुजायें उसे आलिंगन किया ही चाहती थीं कि ऊपर पहाड़ी पर से शब्द सुनाई पड़ा— "क्यों नीला, कब तक यहीं बैठी रहेगी ? मुझे देर हो रही है। चल, घर चलें।

घनश्याम ने सिर उठा कर देखा तो ज्योतिर्मयी दिव्य मूर्ति रमणी सुलभ पवित्रता का ज्वलन्त प्रमाण, केवल यौवन से ही नहीं, बल्कि कला की दृष्टि से भी, दृष्टिगत हुई। किन्तु आत्म-गौरव का दुर्ग किसी की सहज पाप-वासना को वहाँ फटकने नहीं देता था। शिकारी घनश्याम लज्जित तो हुआ ही, पर वह भय-भीत भी था। पुण्य-प्रतिमा के सामने पाप की पराजय हुई। नीला ने घबराकर कहा—"रानी जी, आती हूँ। जरा मैं थक गयी थी।" रानी और नीला दोनों चली गयीं। अबकी बार घनश्याम ने फिर सोचने का प्रयास किया—"क्या सौन्दर्य उपभोग के लिए नहीं, केवल उपासना के लिए है ?" खिन्न होकर वह घर लौटा। किन्तु बार-बार वह घटना याद आती रही। घनश्याम कई बार उस झरने पर क्षमा माँगने गया। किन्तु वहाँ उसे कोई न मिला।

2

जो कठोर सत्य है, जो प्रत्यक्ष है, जिसकी प्रचण्ड लपट अभी नदी में प्रति-भाषित हो रही है, जिसकी गर्मी इस शीतल रात्रि में भी अंक में अनुभूत ही रही है, उसे असत्य या उसे कल्पना कह कर उड़ा देने के लिए घनश्यास का मन हठ कर रहा है।

थोड़ी देर पहले जब (नदी पर से मुक्त आकाश में एक टुकड़ा बादल का उठ आया था) चिता लग चुकी थी, घनश्याम आग लगाने को उपस्थित था। उसकी स्त्री चिता पर अतीत निद्रा में निमग्न थी। निठुर हिन्दू-शास्त्र की कठोर आज्ञा से जब वह विद्रोह करने लगा था, उसी समय घनश्याम को सान्त्वना हुई, उसने अचानक मूर्खता से अग्नि लगा दी। उसे ध्यान हुआ कि बादल बरस कर निर्दय चिता को बुझा देंगे, उसे जलने न देंगे। किन्तु व्यर्थ ? चिता ठंडी होकर और भी

ठहर-ठहर कर सुलगने लगी, क्षण भर में जल कर राख न होने पायी।

घनश्याम ने हृदय में सोचा कि यदि हम मुसलमान या ईसाई होते तो? आह! फूलों से मिली हुई मुलायम मिट्टी में इसे सुला देते, सुन्दर समाधि बनाते, आजीवन प्रति सन्ध्या को दीप जलाते, फूल चढ़ाते, कविता पढ़ते, रोते, आँसू बहाते, किसी तरह दिन बीत जाते। किन्तु यहां कुछ भी नहीं। हत्यारा समाज! कठोर धर्म! कुत्सित व्यवस्था! इनसे क्या आशा? चिता जलने लगी।

3

श्मशान से लौटते समय घनश्याम ने साथियों को छोड़कर जंगल की ओर पैर बढ़ाया। जहाँ प्रायः शिकार खेलने जाया करता, वहीं जाकर बैठ गया। आज वह बहुत दिनों पर इधर आया है। कुछ ही दूरी पर देखा कि साखू के वृक्ष की छाया में एक सुकुमार शरीर पड़ा है। सिरहाने तकिया का काम हाथ दे रहा है। घनश्याम ने अभी कड़ी चोट खायी है। करुण-कमल का उसके आर्द्र मानस में विकास हो गया था। उसने समीप जाकर देखा कि वह रमणी और कोई नहीं है, वही रानी है, जिसे उसने बहुत दिन हुए एक अनोखे ढंग में देखा था। घनश्याम की आहट पाते ही रानी उठ बैठी। घनश्याम ने पूछा—"आप कौन हैं? क्यों यहाँ पड़ी हैं?"

रानी—"मैं केतकी-बन की रानी हूँ।"

"तब ऐसे क्यों?"

"समय की प्रतीक्षा में पड़ी हूँ।"

"कैसा समय?"

"आप से क्या काम? क्या शिकार खेलने आये हैं?"

"नहीं देवी! आज स्वयं शिकार हो गया हूँ।"

"तब तो आप शीघ्र ही शहर की ओर पलटेंगे। क्या किसी भिल्लनी के नयन-बाण लगे हैं? किन्तु नहीं, मैं भूल कर रही हूँ। उन बेचारियों को क्षुधा-ज्वाला ने जला रक्खा है। ओह, वह गढ़े में धँसी हुई आँखें अब किसी को आकर्षित करने का सामर्थ्य नहीं रखतीं! हे भगवान, मैं किसलिए पहाड़ी से उतर कर आयी हूँ।"

"देवी! आपका अभिप्राय क्या है, मैं समझ न सका। क्या ऊपर आकाल है, दुर्भिक्ष है?"

"नहीं-नहीं, ईश्वर का प्रकोप है, पवित्रता का अभिशाप है, करुणा की बीभत्स मूर्ति का दर्शन है।"

"तब आपकी क्या इच्छा है?"

"मैं वहाँ की रानी हूँ। मेरे वस्त्र-आभूमण-भण्डार में जो कुछ था, सब बेच

कर तीन महीने किसी प्रकार उन्हें खिला सकी, अब मेरे पास केवल इस वस्त्र को छोड़कर और कुछ नहीं रहा कि विक्रय करके एक भी क्षुधित पेट की ज्वाला बुझाती, इसलिए···।"

"क्या ?"

"शहर चलूँगी। सुना है कि वहाँ रूप का भी दाम मिलता है। यदि कुछ मिल सके···"

"तब ?"

"तो इसे भी बेच दूँगी। अनाथ बालकों को इससे कुछ तो सहायता पहुँच सकेगी। क्यों, क्या मेरा रूप बिकने के योग्य नहीं है ?"

युवक घनश्याम इसका उत्तर देने में असमर्थ था। कुछ दिन पहले वह अपना सर्वस्व देकर भी ऐसा रूप क्रय करने को प्रस्तुत हो जाता। आज वह अपनी स्त्री के वियोग में बड़ा ही सीधा, धार्मिक, निरीह एवं परोपकारी हो गया था। आर्त्त मुमुक्षु की तरह उसे न जाने किस वस्तु की खोज थी।

घनश्याम ने कहा—"मैं क्या उत्तर दूँ ?"

"क्यों ? क्या दाम न लगेगा ? हाँ तुम भी आज किस वेश में हो ? क्या सोचते हो ? बोलते क्यों नहीं ?"

"मेरी स्त्री का शरीरान्त हो गया।"

"तब तो अच्छा हुआ, तुम नगर के धनी हो। तुम्हें तो रूप की आवश्यकता होती होगी। क्या इसे क्रय करोगे ?"

घनश्याम ने हाथ जोड़कर सिर नीचा कर लिया। तब उस रानी ने कहा—"उस दिन तो एक भिल्लनी के रूप पर मरते थे। क्यों, आज क्या हुआ ?"

"देवी, मेरा साहस नहीं है—वह पाप का वेग था।"

"छिः पाप के लिए साहस था और पुण्य के लिए नहीं ?"

घनश्याम रो पड़ा और बोला—"क्षमा कीजिएगा। पुण्य किस प्रकार सम्पादित होता है, मुझे नहीं मालूम। किन्तु इसे पुण्य कहने में···।"

"संकोच होता है। क्यों ?"

इसी समय दो-तीन बालक, चार-पांच स्त्रियाँ और छः-सात भील अनाहार-क्लिष्ट, शीर्ण कलेवर पवन से हिलते-डुलते रानी के सामने आकर खड़े हो गये।

रानी ने कहा—"क्यों अब पाप की परिभाषा करोगे ?"

घनश्याम ने काँप कर कहा—"नहीं, प्रायश्चित करूँगा, उस दिन के पाप का प्रायश्चित।"

युवक घनश्याम वेग से उठ खड़ा हुआ, बोला—"बहिन तुमने मेरे जीवन को अवलम्ब दिया है। मैं निरुद्देश्य हो रहा था, कर्त्तव्य नहीं सूझ पड़ता था। आपको रूप-विक्रय न करना पड़ेगा। देवी ! मैं सन्ध्या तक आ जाऊँगा।"

"सन्ध्या तक ?"

"और भी पहले।"

बालक रोने लगे—"रानी माँ, अब नहीं रहा जाता।" घनश्याम से भी नहीं रहा गया, वह भागा।

घनश्याम की पापभूमि, देखते-देखते गाड़ी और छकड़ों से भर गयी, बाजार लग गया, रानी के प्रबन्ध में घनश्याम ने वहीं पर अकाल-पीड़ितों की सेवा आरम्भ कर दी।

जो घटना उसे बार-बार स्मरण होती थी, उसी का यह प्रायश्चित्त था। घनश्याम ने उसी भिल्लनी को प्रधान प्रबन्ध करनेवाली देख कर आश्चर्य किया। उसे न जाने क्यों हर्ष और उत्साह दोनों हुए।

□□

सहयोग

मनोरमा, एक भूल से सचेत होकर जब तक उसे सुधारने में लगती है, तब तक उसकी दूसरी भूल उसे अपनी मनुष्यता पर ही सन्देह दिलाने लगती है। प्रतिदिन प्रतिक्षण भूल की अविच्छिन्न शृंखला मानव-जीवन को जकड़े हुए है, यह उसने कभी हृदयंगम नहीं किया। भ्रम को उसने शत्रु के रूप में देखा। वह उससे प्रति-पद शंकित और संदिग्ध रहने लगी। उसकी स्वाभाविक सरलता, जो बनावटी भ्रम उत्पन्न कर दिया करती थी, और उसके अस्तित्व में सुन्दरता पालिश कर दिया करती थी, अब उससे बिछुड़ने लगी। वह एक बनावटी रूप और आवभगत को अपना आभरण-समझने लगी।

मोहन, एक हृदय-हीन युवक उसे दिल्ली से ब्याह लाया था। उसकी स्वाभाविकता पर अपने आतंक से क्रूर शासन करके उसे आत्मचिंताशून्य पति-गत-प्राण बनाने की उत्कट अभिलाषा से हृदयहीन कल से चलती-फिरती हुई पुतली बना डाला और वह इसी में अपनी विजय और पौरुष की पराकाष्ठा समझने लगा था।

*   *   *

धीरे-धीरे अब मनोरमा में अपना निज का कुछ नहीं रहा। वह उसे एक प्रकार से भूल-सी गयी थी। दिल्ली के समीप का यमुना-तट का वह गाँव, जिसमें वह पली थी, बढ़ी थी, अब उसे कुछ विस्मृत-सा हो चला था। वह ब्याह करने के बाद द्विरागमन के अवसर पर जब से अपनी ससुराल आयी थी, वह एक अद्‌भुत दृश्य था। मनुष्य-समाज में पुरुषों के लिए वह कोई बड़ी बात न थी, किन्तु जब

उन्हें घर छोड़कर कभी किसी काम में परदेश जाना पड़ता है, तभी उनको उस कथा के अधम अंश का आभास सूचित होता है। वह सेवा और स्नेहवृत्तिवाली स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। जहाँ अपना कोई नहीं है, जिससे कभी की जान-पहचान नहीं, जिस स्थान पर केवल बधू-दर्शन का कुतूहल मात्र उसकी अभ्यर्थना करने-वाला है, वहाँ वह रोते और सिसकते किसी साहस से आयी और किसी को अपने रूप से, किसी को विनय से, किसी को स्नेह से उसने वश में करना आरम्भ किया। उसे सफलता भी मिली। जिस तरह एक महाउद्योगी किसी भारी अनुसन्धान के लिए अपने घर से अलग होकर अपने सहारे अपना साधन बनाता है, वा कथा-सरित्सागर के साहसिक लोग बैताल या विद्याधरत्त्व की सिद्धि के असम्भवनीय साहस का परिचय देते हैं, वह इन प्रतिदिन साहसकारिणी मनुष्य-जाति की किशोरियों के सामने क्या हैं, जिनकी बुद्धि और अवस्था कुछ भी इसके अनुकूल नहीं है।

हिन्दू शास्त्रानुसार शूद्र स्त्री मनोरमा ने आश्चर्यपूर्वक ससुराल में द्वितीय जन्म ग्रहण कर लिया। उसे द्विजन्मा कहने में कोई बाधा नहीं है।

1

मेला देख कर मोहन लौटा। उसकी अनुराग-लता, उसकी प्रगल्भा प्रेयसी ने उसका साथ नहीं दिया। सम्भवत: वह किसी विशेष आकर्षक पुरुष के साथ सह-योग करके चली गयी। मेला फीका हो गया। नदी के पुल पर एक पत्थर पर वह बैठ गया। अँधेरी रात धीरे-धीरे गम्भीर होती जा रही थी। कोलाहल, जनरव और रसीली तानें विरल हो चलीं। ज्यों-ज्यों एकान्त होने लगा, मोहन की आतुरता बढ़ने लगी। नदी-तट की शरद-रजनी में एकान्त, किसी की अपेक्षा करने लगा। उसका हृदय चञ्चल हो चला। मोहन ने सोचा, इस समय क्या करें? विनोदी हृदय उत्सुक हुआ। वह चाहे जो हो, किसी संगति को इस समय आवश्यक समझने लगा। प्यार न करने पर भी मनोरमा का ही ध्यान आया। समस्या हल होते देख कर वह घर की ओर चल पड़ा।

2

मनोरमा का त्योहार अभी बाकी था। नगर भर में एक नीरव अवसाद हो गया था; किन्तु मनोरमा के हृदय में कोलाहल हो रहा था। ऐसे त्योहार के दिन भी वह मोहन को न खिला सकी थी। लैम्प के मन्द प्रकाश में खिड़की के जंगले के पास वह बैठी रही। विचारने को कुछ भी उसके पास न था। केवल स्वामी की आशा में दास के समान वह उत्कंठित बैठी थी। दरवाजा खटका, वह उठी, चतुरा दासी से भी अच्छी तरह उसने स्वामी की अभ्यर्थना, सेवा, आदर और सत्कार

करने में अपने को लगा दिया। मोहन चुपचाप अपने ग्रासों के साथ वाग्युद्ध और दन्तघर्षण करने लगा। मनोरमा ने भूलकर भी यह न पूछा कि तुम इतनी देर कहाँ थे ? क्यों नहीं आये ? न वह रूठी, न वह ऐंठी, गुरुमान की कौन कहे, लघुमान का छींटा नहीं। मोहन को यह और असह्य हो गया। उसने समझा कि हम इस योग्य भी नहीं रहे कि कोई हमसे यह पूछे—"तुम कहाँ इतनी देर मरते थे ?" पत्नी का अपमान उसे और यन्त्रणा देने लगा। वह भोजन करते-करते अकस्मात् रुक गया। मनोरमा ने पूछा—"क्या दूध ले आऊँ, अब और कुछ नहीं लीजिएगा ?"

साधारण प्रश्न था। किन्तु मोहन को प्रतीत हुआ कि यह तो अतिथि की-सी अभ्यर्थना है, गृहस्थ की अपने घर की-सी नहीं। वह चट बोल उठा—"नहीं, आज दूधन लूँगा।" किन्तु मनोरमा तो तब तक दूध का कटोरा लेकर सामने आ गई, बोली—"थोड़ा-सा लीजिए, अभी गरम है।"

मोहन बार-बार सोचता था कि कोई ऐसी बात निकले जिसमें मुझे कुछ करना पड़े और मनोरमा मानिनी बने, मैं उसे मनाऊँ; किन्तु मनोरमा में वह मिट्टी ही नहीं रही। मनोरमा तो कल की पुतली हो गयी थी। मोहन ने—'दूध अभी गरम है', इसी में से देर होने का व्यंग निकाल लिया और कहा—"हाँ, आज मेला देखने चला गया था, इसी में देर हुई।"

किन्तु वहाँ कैफियत तो कोई लेता न था, देने के लिए प्रस्तुत अवश्य था। मनोरमा ने कहा—"नहीं, अभी देर तो नहीं हुई। आध घण्टा हुआ होगा कि दूध उतारा गया है।"

मोहन हताश हो गया। चुपचाप पलँग पर जा लेटा। मनोरमा ने उधर ध्यान भी नहीं दिया। वह चतुरता से गृहस्थी की सारी वस्तुओं को समेटने लगी। थोड़ी देर में इससे निबटकर वह अपनी भूल समझ गयी। चट पान लगाने बैठ गयी। मोहन ने यह देखकर कहा—"नहीं, मैं पान इस समय खाऊंगा।"

मनोरमा ने भयभीत स्वर से कहा—"बिखरी हुई चीजें इकट्ठी न कर लेती, बिल्ली-चूहे उसे खराब कर देते। थोड़ी देर हुई है, क्षमा कीजिए। दो पान तो अवश्य खा लीजिए।"

बाध्य होकर मोहन को दो पान खाना पड़ा। अब मनोरमा पैर दबाने बैठी। वैष्या से तिरस्कृत मोहन घबरा उठा। वह इस सेवा से कब छुट्टी पावे ? इस सहयोग से क्या बस चले। उसने विचारा कि मनोरमा को मैंने ही तो ऐसा बनाना चाहा था। अब वह ऐसी हुई, तो मुझे अब विरक्ति क्यों है ? इसके चरित्र का यह अंश क्यों नहीं रुचता—किसी ने उसके कान में धीरे से कहा—"तुम तो अपनी स्त्री को अपनी दासी बनाना चाहते थे, जो वास्तव में तुम्हारी अन्तरात्मा को ईप्सित नहीं था। तुम्हारी कुप्रवृत्तियों की वह उत्तेजना थी कि वह तुम्हारी

चिर-संगिनी न होकर दासी के समान आज्ञाकारिणी मात्र रहे। वही हुआ। अब क्यों झंखते हो!"

अकस्मात् मोहन उठ बैठा। मोहन और मनोरमा एक-दूसरे के पैर पकड़े हुए थे।

□□

पत्थर की पुकार

1

नवल और विमल दोनों बात करते हुए टहल रहे थे। विमल ने कहा—

"साहित्य-सेवा भी एक व्यसन है।"

"नहीं मित्र! यह तो विश्व भर की एक मौन सेवा-समिति का सदस्य होना है।"

"अच्छा तो फिर बताओ, तुमको क्या भला लगता है? कैसा साहित्य रुचता है?"

"अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"

नवल की गम्भीर हँसी कुछ तरल हो गयी। उन्होंने कहा—"इससे विशेष और हम भारतीयों के पास धरा क्या है! स्तुत्य अतीत की घोषणा और वर्तमान की करुणा, इसी का गान हमें आता है। बस, यह भी एक भाँग-गाँजे की तरह नशा है।" विमल का हृदय स्तब्ध हो गया। चिर प्रसन्न-वदन मित्र को अपनी भावना पर इतना कठोर आघात करते हुए कभी भी उसने नहीं देखा था। वह कुछ विरक्त हो गया। मित्र ने कहा—"कहाँ चलोगे?" उसने कहा—"चलो, मैं थोड़ा घूम कर गंगा-तट पर मिलूँगा।" नवल भी एक ओर चला गया।

2

चिन्ता में मग्न विमल एक ओर चला। नगर के एक सूने मुहल्ले की ओर जा निकला। एक टूटी चारपाई अपने फूटे झिलँगे में लिपटी पड़ी है। उसी के बगल में दीन कुटी फूस से ढँकी हुई, अपना दरिद्र मुख भिक्षा के लिए खोले हुए बैठी है। दो-एक ढाँकी और हथोड़े, पानी की प्याली, कूची, दो काले शिलाखण्ड परिचारक की तरह उस दीन कुटी को घेरे पड़े हैं। किसी को न देख कर एक शिलाखण्ड पर

न जाने किसके कहने से विमल बैठ गया। यह चुपचाप था। विदित हुआ कि दूसरा पत्थर कुछ धीरे-धीरे कह रहा है। वह सुनने लगा—

"मैं अपने सुखद शैल में संलग्न था। शिल्पी! तुने मुझे क्यों ला पटका? यहाँ तो मानव की हिंसा का गर्जन मेरे कठोर वक्षःस्थल का भेदन कर रहा है। मैं तेरे प्रलोभन में पड़ कर यहाँ चला आया था, कुछ तेरे बाहुबल से नहीं, क्योंकि मेरी प्रबल कामना थी कि मैं एक सुन्दर मूर्ति में परिणत हो जाऊँ। उसके लिए अपने वक्षःस्थल को क्षत-विक्षत कराने को प्रस्तुत था। तेरी टाँकी से हृदय चिराने में प्रसन्न था कि कभी मेरी इस सहनशीलता का पुरस्कार, सराहना के रूप में मिलेगा और मेरी मौन मूर्ति अनन्तकाल तक उस सराहना को चुपचाप गर्व से स्वीकार करती रहेगी। किन्तु निष्ठुर! तूने अपने द्वार पर मुझे फूटे हुए ठीकरे की तरह ला पटका। अब मैं यहीं पर पड़ा-पड़ा कब तक अपने भविष्य की गणना करूँगा?"

पत्थर की करुणामयी पुकार से विमल को क्रोध का संचार हुआ। और वास्तव में इस पुकार में अतीत और करुणा दोनों का मिश्रण था, जो कि उसके चित्त का सरल विनोद था। विमल भावप्रवण होकर रोष से गर्जन करता हुआ पत्थर की ओर से अनुरोध करने को शिल्पी के दरिद्र कुटीर में घुस पड़ा।

"क्यों जी, तुमने इस पत्थर को कितने दिनों से यहाँ ला रक्खा है? भला वह भी अपने मन में क्या समझता होगा? सुस्त होकर पड़े हो, उसकी कोई सुंदर मूर्ति क्यों न बना डाली?" विमल ने रुक्ष स्वर से कहा।

पुरानी गुदड़ी में ढँकी हुई जीर्ण-शीर्ण मूर्ति खाँसी से कँपकर बोली—"बाबू-जी! आपने तो मुझे कोई आज्ञा नहीं दी थी।"

"अजी तुम बना लिये होते, फिर कोई-न-कोई तो इसे ले लेता। भला देखो तो यह पत्थर कितने दिनों से पड़ा तुम्हारे नाम को रो रहा है।"—विमल ने कहा। शिल्पी ने कफ निकाल कर गला साफ करते हुए कहा—"आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने कोमल श्रवणेन्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं, और उसकी पुकार में दत्त-चित्त हो जाते हैं। करुणा से पुलकित होते है, किन्तु क्या कभी दुःखी हृदय के नीरव क्रन्दन को भी अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रियों को सुनने देते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं, किन्तु वास्तविक रूप है?"

विमल के अतीत और करुणा-सम्बन्धी समस्त सद्भाव कठोर कर्मण्यता का आवाहन करने के लिए उसी से विद्रोह करने लगे। यह स्तब्ध होकर उसी मलिन भूमि पर बैठ गया।

□□

उस पार का योगी

सामने सन्ध्या-धूसरित जल की एक चादर बिछी है। उसके बाद बालू की बेला है, उसमें अठखेलियाँ करके लहरों ने सीढ़ी बना दी है। कौतुक यह है कि उस पर भी हरी-हरी दूब जम गई है। उस बालू की सीढ़ी की ऊपरी तह पर जाने कब से एक शिला पड़ी है। कई वर्षाओं ने उसे अपने पेट में पचाना चाहा, पर वह कठोर शिला गल न सकी, फिर भी निकल ही आती थी। नन्दलाल उसे अपने शैशव से ही देखता था। छोटी-सी नदी, जो उसके गाँव से सटकर बहती थी, उसी के किनारे वह अपनी सितारी लेकर पश्चिम की धूसर आभा में नित्य जाकर बैठ जाता। जिस रात को चाँदनी निकल आती, उसमें देर तक और अंधेरी रात के प्रदोष में जब तक अन्धकार नहीं हो जाता था, बैठकर सितारी बजाता अपनी टपरियों में चला जाता था।

नन्दलाल अँधेरे में डरता न था। किन्तु चन्द्रिका में देर तक किसी अस्पष्ट छाया को देख सकता था। इसलिए, आज भी उसी शिला पर वह मूर्ति बैठी है। गैरिक वसन की आभा सान्ध्य-सूर्य से रंजित नभ से होड़ कर रही है। दो-चार लटें इधर-उधर मांसल अंश पर पवन के साथ खेल रही हैं। नदी के किनारे प्रायः पवन का बसेरा रहता है, इसी से यह सुविधा है। जब से शैशव-सहचरी नलिनी से नन्दलाल का वियोग हुआ है, वह अपनी सितारी से ही मन बहलाता है, सो भी एकान्त में; क्योंकि नलिनी से भी वह किसी के सामने मिलने पर सुख नहीं पाता था। किन्तु हाय रे सुख! उत्तेजनामय आनन्द को अनुभव करने के लिए एक साक्षी भी चाहिए। बिना किसी दूसरे को अपना सुख दिखाए हृदय भली-भाँति से गर्व का अनुभव नहीं कर पाता। चन्द्र-किरण, नदी-तरंग, मलय-हिल्लोल, कुसुम-सुरभि और रसाल-वृक्ष के साथ ही नन्दलाल को यह भी विश्वास था कि उस पार का योगी भी कभी-कभी उस सितारी की मीड़ से मरोड़ खाता है। लटें उसके कपोल पर ताल देने लगती हैं।

चाँदनी निखरी थी। आज अपनी सितारी के साथ नन्दलाल भी गाने लगा था। वह प्रणय-संगीत था—भावुकता और काल्पनिक प्रेम का संभार बड़े वेग से उच्छ्वसित हुआ। अन्तःकरण से दबी हुई तरलवृत्ति, जो विस्मृत स्वप्न के समान हलका प्रकाश देती थी, आज न जाने क्यों गैरिक निर्झर की तरह उबल पड़ी। जो वस्तु आज तक मैत्री का सुख-चिन्ह थी—जो सरल हृदय का उपहार थी—जो उदारता की कृतज्ञता थी—उसने ज्वाला, लालसापूर्ण प्रेम का रूप धारण किया। संगीत चलने लगा।

"अरे कौन है···मुझे बचाओ···आह···", पवन ने उपयुक्त दूत की तरह

यह सन्देश नन्दलाल के कानों तक पहुंचाया। वह व्याकुल होकर सितारी छोड़ कर दौड़ा। नदी में फाँद पड़ा। उसके कानों में नलिनी का-सा स्वर सुनाई पड़ा। नदी छोटी थी--खरस्रोता थी। नन्दलाल हाथ मारता हुआ लहरों को चीर रहा था। उसके बाहु-पाश में एक सुकुमार शरीर आ गया।

चन्द्रकिरणों और लहरियों को बात-चीत करने का एक आधार मिला। लहरी कहने लगी--"अभागे! तू इस दुखिया नलिनी को बचाने क्यों आया, इसने तो आज अपने समस्त दु:खों का अन्त कर दिया था।"

किरण--"क्यों जी, तुम लोगों ने नन्दलाल को बहुत दिनों तक बीच में बहा कर हल्ला-गुल्ला मचाकर, बचाया था।"

लहरी—"और तुम्हीं तो प्रकाश डालकर उसे सचेत कराती रही हो।"

किरण--"आज तक उस बेचारे को अंधेरे में रक्खा था। केवल आलोक की कल्पना करके वह अपने आलेख्य पट को उद्भासित कर लेता था। उस पार का योगी सुदूरवर्ती परदेशी की रम्य स्मृति को शान्त तपोवन का दृश्य था।"

लहरी—"पगली! सुख-स्वप्न के सदृश्य और आशा में आनन्द के समान मैं बीच में पड़ी-पड़ी उसके सरल नेह का बहुत दिनों तक संचय करती रही—आन्तरिक आकर्षणपूर्ण सम्मिलन होने पर भी, वासना-रहित निष्काम सौन्दर्यमय व्यवधान बन कर मैं दोनों के बीच बहती थी; किन्तु नन्दलाल इतने में सन्तुष्ट न हो सका। उछल-कूद कर हाथ चलाकर मुझे भी गँदला कर दिया। उसे बहने, डूबने और उतराने का आवेश बढ़ गया था।"

किरण—"हूँ, तब डूबें बहें।"

पवन चुपचाप इन बातों को सुनकर नदी के बहाव की ओर सर्राटा मार कर सन्देशा कहने को भगा। किन्तु वे बहुत दूर निकल गये थे। सितारी मूर्च्छना में पड़ी रही।

□□

करुणा की विजय

1

सन्ध्या की दीनता गोधूली के साथ दरिद्र मोहन की रिक्त थाली में धूल भर रही है। नगरोपकण्ठ में एक कुएँ के समीप बैठा हुआ अपनी छोटी बहन को वह समझा रहा है। फटे हुए कुरते की कोर से उसके अश्रू पोंछने में वह सफल नहीं

हो रहा था, क्योंकि कपड़े के सूत से अश्रु विशेष थे। थोड़ा-सा चना, जो उसके पात्र में बेचने का बचा था, उसी को रामकली माँगती थी। तीन वर्ष की रामकली को तेरह वर्ष का मोहन सँभालने में असमर्थ था।

ढाई पैसे का वह बेच चुका है। अभी दो-तीन पैसे का चना जो जल और मिर्चे में उबाला हुआ था, और बचा है। मोहन चाहता था कि चार पैसे उसके रोकड़ में और बचे रहें, डेढ़-दो पैसे का कुछ लेकर अपना और रामकली का पेट भर लेगा। चार पैसे से सबेरे चने उबालकर फिर अपनी दूकान लगा लेगा। किन्तु विधाता को यह नहीं स्वीकार था। जब से उसके माता-पिता मरे, साल भर से वह इसी तरह अपना जीवन निर्वाह करता था। किसी सम्बन्धी या सज्जन की दृष्टि उसकी ओर न पड़ी। मोहन अभिमानी था। वह धुन का भी पक्का था। किन्तु आज वह विचलित हुआ। रामकली की कौन कहे, वह भी भूख की ज्वाला सहन न कर सका। अपने अदृष्ट के सामने हार मान कर रामकली को उसने खिलाया। बचा हुआ जो था, उसने मोहन के पेट की गरमी और बढ़ा दी। ढाई पैसे का और भी कुछ लाकर अपनी भूख मिटायी। दोनों कुएँ की जगत पर सो गये।

2

दरिद्रता और करुणा से झगड़ा चल पड़ा। दरिद्रता बोली—"देखो जी, मेरा कैसा प्रभाव है।" करुणा ने कहा—"मेरा सर्वत्र राज्य है। तुम्हारा विद्रोह सफल न होगा।" दरिद्रता ने कहा —"गिरती हुई बालू की दीवार कहकर नहीं गिरती। तुम्हारा काल्पनिक क्षेत्र नीहार की वर्षा से तक सिंचा रहेगा ?" अभिमान अभी तक चुप बैठा रहा, किन्तु उससे नहीं रहा गया। कहा—"मैं भी किसी दल में घुस कर देखूँगा कि कौन जीतता है।" दोनों ने पूछा कि तुम किसका साथ दोगे ? अभिमान ने कहा—"जिधर की जीत देखूँगा।"

करुणा ने विश्रान्त बालकों को सुख देने का विचार किया। मलय हिल्लोल की थपकी देकर सुला देना चाहा। दरिद्रता ने दिन भर की जमी हुई गर्द कदम्ब के पत्तों पर से खिसका दी। बालकों के सरल मुख ने धूल पड़ने से कुछ विकृत रूप धारण किया। दरिद्रता ने स्वप्न में भयानक रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया। मोहन का शरीर काँपने लगा। दूर से देखती हुई करुणा भी कंप उठी। अकस्मात् मोहन उठा और झोंक से बोला—"भीख न माँगूंगा, मरूँगा।"

एक क्रन्दन और धमाका। रामकली को कुएँ ने अपनी शीतल गोद में ले लिया। डाल पर से दरिद्रता के अट्टहास की तरह उल्लू बोल उठा। उसी समय बँगले पर मेंहदी की टट्टी से घिरे हुए चबूतरे पर आसमानी पंखे के नीचे मसहरी में से नगर-पिता दण्डनायक चिल्ला उठे—"पंखा खींचो।"

* * *

प्रसन्न-वदन न्यायाधीश ने एक स्थिर दृष्टि से देखते हुए अपराधी मोहन से कहा—"बालक, तुमने अपराध स्वीकार करते हुए कि रामकली अपनी बहिन की हत्या तुम्हीं ने की है, मृत्यु-दण्ड चाहा है। किन्तु न्याय अपराध का कारण ढूँढ़ता है। सिर काटती है तलवार, किन्तु वही सिर काटने के अपराध में नहीं तोड़ी जाती है। निर्दोष बालक, तुम्हारा कुछ भी अभी कर्त्तव्य नहीं है। तुमने यदि यह हत्या की भी हो, तो तुम केवल हत्यारी के अस्त्र थे। नगर के व्यवस्थापक पर इसका दायित्व है कि तीन वर्ष की रामकली तुम्हारे हाथ में क्यों दी गयी! यदि कोई उत्तराधिकारी-विहीन धनी मर जाता, तो व्यवस्थापक नगर-पिता उसके धन को अपने कोष में रखवा लेते। यदि निर्बोध उत्तराधिकारी रहता, तो उसकी सम्पत्ति सुरक्षित करने की वह व्यवस्था करते। किन्तु असहाय, निर्धन और अभिमानी तथा निर्बोध बालक के हाथ में शिशु का भार रख देना राष्ट्र के शुभ उद्देश्य की गुप्त रीति से और शिशु की प्रकट हत्या करना है। तुम इसके अपराधी नहीं हो। तुम मुक्त हो।"

करुणा रोते हुए हँस पड़ी। अपनी विजय की वर्षा मोहन के अभिमान के अश्रू बन कर करने लगी।

□□

खँडहर की लिपि

जब बसन्त की पहली लहर अपना पीला रंग सीमा की खेतों पर चढ़ा लायी, काली कोयल ने उसे बरजना आरम्भ किया और भौंरे गुनगुना कर काना-फूँसी करने लगे, उसी समय एक समाधि के पास लगे हुए गुलाब ने मुँह खोलने का उपक्रम किया। किन्तु किसी युवक के चंचल हाथ ने उसका हौसला भी तोड़ दिया। दक्षिण पवन ने उससे कुछ झटक लेना चाहा, बिचारे की पंखुड़ियाँ झड़ गयीं। युवक ने इधर-उधर देखा। एक उदासी और अभिलाषामयी शून्यता ने उसकी प्रत्याशी दृष्टि को कुछ उत्तर न दिया। वसन्त-पवन का एक भारी झोंका 'हा-हा' करता उसकी हँसी उड़ाता चला गया!

सटी हुई टेकरी की टूटी-फूटी सीढ़ी पर युवक चढ़ने लगा। पचास सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वह बगल की पुरानी दालान में विश्राम लेने के लिए ठहर गया। ऊपर जो जीर्ण मन्दिर था, उसका ध्वंसावशेष देखने को वह बार-बार जाता था। उस भग्न स्तूप से युवक को आमन्त्रित करती हुई 'आओ आओ' की अपरिस्फुट

पुकार बुलाया करती। जाने कब के अतीत ने उसे स्मरण कर रक्खा है। मण्डप के भग्न कोण में एक पत्थर के ऊपर न जाने कौन-सी लिपि थी, जो किसी कोरदार पत्थर में लिखी गयी थी। वह नागरी तो कदापि नहीं थी। युवक ने आज फिर उसी ओर देखते-देखते उसे पढ़ना चाहा। बहुत देर तक घूमता-घूमता वह थक गया था, इससे उसे निद्रा आने लगी। वह स्वप्न देखने लगा।

कमलों का कमनीय विकास झील की शोभा को द्विगुणित कर रहा है। उसके आमोद के साथ वीणा की झनकार, झील के स्पर्श के शीतल और सुरभित पवन में भर रही थी। सुदूर प्रतीचि में एक सहस्रदल स्वर्ण-कमल अपनी शेष स्वर्ण-किरण की भी मृणाल पर व्योम-निधि में खिल रहा है। वह लज्जित होना चाहता है। वीणा के तारों पर उसकी अन्तिम आभा की चमक पड़ रही है। एक आनन्द-पूर्ण विषाद से युवक अपनी चंचल अँगुलियों को नचा रहा है। एक दासी स्वर्ण-पात्र में केसर, अगुरु, चन्दन-मिश्रित अंगराग और नवमल्लिका की माला, कई ताम्बूल लिये हुए आयी, प्रणाम करके उसने कहा—"महाश्रेष्ठि धनमित्र की कन्या ने श्रीमान् के लिए उपहार भेजकर प्रार्थना की है कि आज के उद्यान गोष्ठ में आप अवश्य पधारने की कृपा करें। आनन्द विहार के समीप उपवन में आपकी प्रतीक्षा करती हुई कामिनी देवी बहुत देर तक रहेंगी।"

युवक ने विरक्त होकर कहा—"अभी कई दिन हुए हैं, मैं सिंहल से आ रहा हूँ, मेरा पोत समुद्र में डूब गया है। मैं ही किसी तरह बचा हूँ। अपनी स्वामिनी से कह देना कि मेरी अभी ऐसी अवस्था नहीं है कि मैं उपवन के आनन्द का उपयोग कर सकूँ।"

"तो प्रभु, क्या मैं यही उत्तर दे दूँ ?" दासी ने कहा।

"हाँ, और यह भी कह देना कि—तुम सरीखी अविश्वासिनी स्त्रियों से मैं और भी दूर भागना चाहता हूँ, जो प्रलय के समुद्र की प्रचण्ड आँधी में एक जर्जर पोत से भी दुर्बल और उस डुबा देनेवाली लहर से भी भयानक है।" युवक ने अपनी वीणा सँवारते हुए कहा।

"वे उस उपवन में कभी की जा चुकी हैं, और हमसे यह भी कहा है कि यदि वे गोष्ठ में न आना चाहें, तो स्तूप की सीढ़ी के विश्राम-मण्डप में मुझसे एक बार अवश्य मिल लें, मैं निर्दोष हूँ।" दासी ने सविनय कहा।

युवा ने रोष-भरी दृष्टि से देखा। दासी प्रणाम करके चली गयी। सामने का एक कमल सन्ध्या के प्रभाव से कुम्हला रहा था। युवक को प्रतीत हुआ कि वह धन-मित्र की कन्या का मुख है। उससे मकरन्द नहीं, अश्रु गिर रहे हैं। 'मैं निर्दोष हूँ', यही भौंरे भी गूँजकर कह रहे हैं।

युवक ने स्वप्न में चौंक कर कहा—"मैं आऊँगा।" आँख न खोलने पर भी उसने उस जीर्ण दालान की लिपि पढ़ ली—"निष्ठुर! अन्त को तुम नहीं

आये।" युवक सचेत होकर उठने को था कि वह कई सौ बरस की पुरानी छत धम से गिरी।

वायुमण्डल में—"आओ-आओ" का शब्द गूँजने लगा।

□□

कलावती की शिक्षा

श्यामसुन्दर ने विरक्त होकर कहा—"कला! यह मुझे नहीं अच्छा लगता।" कलावती ने लैम्प की बत्ती कम करते हुए सिर झुका कर तिरछी चितवन से देखते हुए कहा—"फिर मुझे भी सोने के समय यह रोशनी अच्छी नहीं लगती।"

श्यामसुन्दर ने कहा—"तुम्हारा पलँग तो इस रोशनी से बचा है। तुम जाकर सो रहो।" "और तुम रात भर यों ही जागते रहोगे।" अब की धीरे से कलावती ने हाथ से पुस्तक भी खींच ली। श्यामसुन्दर को इस स्नेह में भी क्रोध आ गया। तिनक गये—"तुम पढ़ने का सुख नहीं जानती, इसलिए तुमको समझाना ही मूर्खता है।" कलावती ने प्रगलभ होकर कहा—"मूर्ख बन कर थोड़ा समझा दो।"

श्यामसुन्दर भड़क उठे, उनकी शिक्षिता उपन्यास की नायिका उसी अध्याय में अपने प्रणयी के सामने आयी थी—वह आगे बातचीत करती; उसी समय ऐसा व्याघात। 'स्त्रीणामाद्य प्रणय-वचनं' कालिदास ने भी इसे नहीं छोड़ा था। कैसा अमूल्य पदार्थ! अशिक्षिता कलावती ने वहीं रस भंग किया। बिगड़कर बोले—"वह तुम इस जन्म में नहीं समझोगी।"

कलावती ने और भी हँस कर कहा—"देखो, उस जन्म में भी ऐसा बहाना न करना।"

पुष्पाधार में धरे हुए नरगिस के गुच्छे ने अपनी एक टक देखती हुई आँखों से चुपचाप यह दृश्य देखा और वह कालिदास के तात्पर्य को बिगाड़ते हुए श्यामसुन्दर की धृष्टता न सहन कर सका, और शेष 'विभ्रमोहि प्रियेषु' का पाठक हिल कर करने लगा।

* * *

श्यामसुन्दर ने लैम्प की बती चढ़ायी, फिर अध्ययन आरम्भ हुआ। कलावती अब की अपने पलँग पर जा बैठी। डब्बा खोल कर पान लगाया, दो खीली लेकर फिर श्यामसुन्दर के पास आयी। श्याम ने कहा—"रख दो।" खीलीवाला हाथ मुँह की ओर बढ़ा, कुछ मुख भी बढ़ा, पान उसमें चला गया। कलावती फिर लौटी

और एक चीनी की पुतली लेकर उसे पढ़ाने बैठी—"देखो, मैं तुम्हें दो-चार बातें सिखाती हूँ, उन्हें अच्छी तरह रट लेना। लज्जा कभी न करना, यह पुरुषों की चालाकी है, जो उन्होंने इसे स्त्रियों के हिस्से कर दिया है। यह दूसरे शब्दों में एक प्रकार का भ्रम है, इसलिए तुम भी ऐसा रूप धारण करना कि पुरुष, जो बाहर से अनुकम्पा करते हुए तुमसे भीतर-भीतर घृणा करते हैं, वह भी तुमसे भयभीत रहें, तुम्हारे पास आने का साहस न करें। और कृतज्ञ होना दासत्व है। चतुरों ने अपना कार्य-साधन करने का अस्त्र इसे बनाया है। इसीलिए इसकी ऐसी प्रशंसा की है कि लोग इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। किन्तु है यह दासत्व। यह शरीर का नहीं, किन्तु अन्तरात्मा का दासत्व है। इस कारण कभी-कभी लोग बुरी बातों का भी समर्थन करते हैं। प्रगल्भता, जो आज-कल बड़ी बाढ़ पर है, बड़ी अच्छी वस्तु है। उसके बल से मूर्ख भी पण्डित समझे जाते हैं। उसका अच्छा अभ्यास करना, जिसमें तुमको कोई मूर्ख न कह सके, कहने का साहस ही न हो। पुतली ! तुमने रूप का परिवर्तन भी छोड़ दिया है, यह और भी बुरा है। सोने के कोर की साड़ी तुम्हारे मस्तक को अभी भी ढँके हैं, तनिक इसे खिसका दो। बालों को लहरा दो। लोग लगें पैर चूमने, प्यारी पुतली ! समझी न ?"

श्यामसुन्दर की उपन्यास की नायिका भी अपने नायक के गले लग गयी थी, प्रसन्नता से उसका मुख-मण्डल चमकने लगा। वह अपना आनन्द छिपा नहीं सकता था। पुतली की शिक्षा उसने सुनी कि नहीं, हम नहीं कह सकते, किन्तु वह हँसने लगा। कलावती को क्या सूझा, लो वह तो सचमुच उसके गले लगी हुई थी। अध्याय समाप्त हुआ। पुतली को अपना पाठ याद रहा कि नहीं, लैम्प के धीमे प्रकाश में कुछ समझ न पड़ा।

□□

चक्रवर्ती का स्तम्भ

"बाबा यह कैसे बना ? इसको किसने बनाया ? इस पर क्या लिखा है ?" सरला ने कई सवाल किये। बूढ़ा धर्मरक्षित, भेड़ों के झुण्ड को चरते हुए देख रहा था। हरी टेकरी झारल के किनारे सन्ध्या के आपत की चादर ओढ़ कर नया रंग बदल रही थी। भेड़ों की मण्डली उस पर धीरे-धीरे चरती हुई उतरने-चढ़ने में कई रेखा बना रही थी।

अब की ध्यान आकर्षित करने के लिए सरला ने धर्मरक्षित का हाथ खींच कर उस स्तम्भ को दिखलाया। धर्मरक्षित ने निश्वास लेकर कहा—"बेटी, महाराज

चक्रवर्ती अशोक ने इसे कब बनाया था। इस पर शील और धर्म की आज्ञा खुदी है। चक्रवर्ती देवप्रिय ने यह नहीं विचार किया कि ये आज्ञाएँ बक-बक मानी जाएँगी। धर्मोन्मत्त लोगों ने इस स्थान को ध्वस्त कर डाला। अब विहार में डर से कोई-कोई भिक्षुक भी कभी दिखाई पड़ता है।"

वृद्ध यह कहकर उद्विग्न होकर कृष्ण सन्ध्या का आगमन देखने लगा। सरला उसी के बगल में बैठ गयी। स्तम्भ के ऊपर बैठा हुआ आज्ञा का रक्षक सिंह धीरे-धीरे अन्धकार में विलीन हो गया।

थोड़ी देर में एक धर्मशील कुटुम्ब उसी स्थान पर आया। जीर्ण स्तूप पर देखते-देखते दीपावली हो गयी। गन्ध-कुसुम में वह स्तूप अर्चित हुआ। अगुरु की गन्ध, कुसुम-सौरभ तथा दीपमाला से वह जीर्ण स्थान एक बार आलोकपूर्ण हो गया। सरला का मन उस दृश्य से पुलकित हो उठा। वह बार-बार वृद्ध को दिखाने लगी, धार्मिक वृद्धि की आँखों में उस भक्तिमयी अर्चना से जल-बिन्दु दिखाई देने लगे। उपासकों में मिलकर धर्मरक्षित और सरला ने भी भरे हुए हृदय से उस स्तूप को भगवान् के उद्देश्य से नमस्कार किया।

* * *

टापों के शब्द वहाँ से सुनाई पड़ रहे हैं। समस्त भक्ति के स्थान पर भय ने अधिकार कर लिया। सब चकित होकर देखने लगे। उल्काधारी आश्वारोही और हाथों में नंगी तलवार! आकाश के तारों ने भी भय से मुँह छिपा लिया। मेघ-मण्डली रो-रो कर मना करने लगी, किन्तु निष्ठुर सैनिकों ने कुछ न सुना। तोड़-ताड़, लूट-पाट करके सब पुजारियों को, 'बुतपरस्तों' को बाँध कर उनके धर्म-विरोध का दण्ड देने के लिए ले चले। सरला भी उन्हीं में थी।

धर्मरक्षित ने कहा-- "सैनिको, तुम्हारा भी कोई धर्म है?"

एक ने कहा — "सर्वोत्तम इस्लाम धर्म।"

धर्मरक्षित—"क्या उसमें दया की आज्ञा नहीं है?" उत्तर न मिला।

एक दूसरा—"है क्यों नहीं? दया करना हमारे धर्म में भी है। पैगम्बर का हुक्म है, तुम बूढ़े हो, तुम पर दया की जा सकती है। छोड़ दो जी, उसको।" बूढ़ा छोड़ दिया गया।

धर्म०—"मुझे चाहे बाँध लो, किन्तु इन सबों को छोड़ दो। वह भी सम्राट् था, जिसने इस स्तम्भ नर जीवों के प्रति दया करने की आज्ञा खुदवा दी है। क्या तुम भी देश विजय करके सम्राट् हुआ चाहते हो? तब दया क्यों नहीं करते?"

एक बोल उठा—"क्या पागल बूढ़े से बक-बक कर रहे हो? कोई ऐसी फिक्र करो कि यह किसी बुत की परस्तिश का ऊँचा मीनार तोड़ा जाय।"

सरला ने कहा—"बाबा, हमको यह सब लिये जा रहे हैं।"

धर्म०—"बेटी, असहाय हूँ, वृद्ध बाँहों में बल भी नहीं है, भगवान् की करुणा

का स्मरण कर। उन्होंने स्वयं कहा है कि—"संयोगः विप्रयोगन्ताः।"

निष्ठुर लोग हिंसा के लिए परिक्रमण करने लगे। किन्तु पत्थरों में चिल्लाने की शक्ति नहीं है कि उसे सुन कर वे क्रूर आत्माएँ तुष्ट हों। उन्हें नीरव रोने में भी असमर्थ देख कर मेघ बरसने लगे। चपला चमकने लगी। भीषण गर्जन होने लगा। छिपने के लिए वे निष्ठुर भी स्थान खोजने लगे। अकस्मात् एक भीषण गर्जन और तीव्र आलोक, साथ ही धमका हुआ।

चक्रवर्ती का स्तम्भ अपने सामने यह दृश्य न देख सका। अशनिपात से खण्ड-खण्ड होकर गिर पड़ा। कोई किसी का बन्दी न रहा।

□□

दुखिया

पहाड़ी देहात, जंगल के किनारे के गाँव और बरसात का समय! वह भी उषाकाल! बड़ा ही मनोरम दृश्य था। रात की वर्षा से आम के वृक्ष तराबोर थे। अभी पत्तों से पानी ढुलक रहा था। प्रभात के स्पष्ट होने पर भी धुँधले प्रकाश में सड़क के किनारे आम्रवृक्ष के नीचे बालिका कुछ देख रही थी। 'टप' से शब्द हुआ, बालिका उछल पड़ी, गिरा हुआ आम उठाकर अञ्चल में रख लिया। (जो पाकेट की तरह खोंस कर बना हुआ था।)

दक्षिण पवन ने अनजान में फल से लदी हुई डालियों से अठखेलियाँ कीं। उसका सञ्चित धन अस्त-व्यस्त हो गया। दो-चार गिर पड़े। बालिका उषा की किरणों के समान ही खिल पड़ी। उसका अञ्चल भर उठा। फिर भी आशा में खड़ी रही। व्यर्थ प्रयास जान कर लौटी, और अपनी झोंपड़ी की ओर चल पड़ी। फूस की झोंपड़ी में बैठा हुआ उसका अन्धा बूढ़ा बाप अपनी फूटी हुई चिलम सुलगा रहा था। दुखिया ने आते ही आँचल से सात आमों में से पाँच निकाल कर बाप के हाथ में रख दिये। और स्वयं बरतन माँजने के लिए 'डबरे' की ओर चल पड़ी।

बरतनों का विवरण सुनिए, एक फूटी बटुली, एक लोंहदी और लोटा, यही उस दीन परिवार का उपकरण था। डबरे के किनारे छोटी-सी शिला पर अपने फटे हुए वस्त्र सँभाले हुए बैठ कर दुखिया ने बरतन मलना आरम्भ किया।

2

अपने पीसे हुए बाजरे के आटे की रोटी पका कर दुखिया ने बूढ़े बाप को खिलाया और स्वयं बचा हुआ खा-पीकर पास ही के महुए के वृक्ष की फैली जड़ों

पर सिर रख कर लेट रही। कुछ गुनगुनाने लगी। दुपहरी ढल गयी। अब दुखिया उठी और खुरपी-जाला लेकर घास छोलने चली। जमींदार के घोड़े के लिए घास वह रोज दे आती थी, कठिन परिश्रम से उसने अपने काम भर घास कर लिया, फिर उसे डबरे में रख कर धोने लगी।

सूर्य की सुनहली किरणें बरसाती आकाश पर नवीन चित्रकार की तरह कई प्रकार के रंग लगाना सीखने लगीं। अमराई और ताड़-वृक्षों की छाया उस शाद्वल जल में पड़ कर प्राकृतिक चित्र का सृजन करने लगी। दुखिया को विलम्ब हुआ, किन्तु अभी उसकी घास धो नहीं गयी, उसे जैसे इसकी कुछ परवाह न थी। इसी समय घोड़े की टापों के शब्द ने उसकी एकाग्रता को भंग किया।

जमींदार कुमार संध्या को हवा खाने के लिए निकले थे। वेगवान 'बालोतरा' जाति का कुम्मेद पचकल्यान आज गरम हो गया था। मोहनसिंह से बेकाबू होकर वह बगटूट भाग रहा था। संयोग! जहाँ पर दुखिया बैठी थी, उसी के समीप ठोकर लेकर घोड़ा गिरा। मोहनसिंह भी बुरी तरह घायल होकर गिरे। दुखिया ने मोहनसिंह की सहायता की। डबरे से जल लाकर घावों को धोने लगी। मोहन ने पट्टी बाँधी, घोड़ा भी उठ कर शान्त खड़ा हुआ। दुखिया जो उसे टहलाने लगी थी। मोहन ने कृतज्ञता की दृष्टि से दुखिया को देखा, वह एक सुशिक्षित युवक था। उसने दरिद्र दुखिया को उसकी सहायता के बदले ही रुपया देना चाहा। दुखिया ने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबूजी, हम तो आप ही के गुलाम हैं। इसी घोड़े को घास देने से हमारी रोटी चलती है।"

अब मोहन ने दुखिया को पहिचाना। उसने पूछा—

"क्या तुम रामगुलाम की लड़की हो?"

"हाँ, बाबूजी।"

"वह बहुत दिनों से दिखता नहीं!"

"बाबूजी, उनकी आँखों से दिखाई नहीं पड़ता।"

"अहा, हमारे लड़कपन में वह हमारे घोड़े को, जब हम उस पर बैठते थे, पकड़ कर टहलाता था। वह कहाँ है?"

"अपनी मड़ई में।"

"चलो, हम वहाँ तक चलेंगे।"

किशोरी दुखिया को कौन जाने क्यों संकोच हुआ, उसने कहा—

"बाबूजी, घास पहुँचाने में देर हुई है। सरकार बिगड़ेंगे।"

"कुछ चिन्ता नहीं; तुम चलो।"

लाचार होकर दुखिया घास का बोझा सिर पर रखे हुए झोंपड़ी की ओर चल पड़ी। घोड़े पर मोहन पीछे-पीछे था।

3

"रामगुलाम, तुम अच्छे तो हो ?"

"राज ! सरकार ! जुग-जुग जीओ बाबू !" बूढ़े ने बिना देखे अपनी टूटी चारपाई से उठते हुए दोनों हाथ अपने सिर तक ले जाकर कहा।

"रामगुलाम, तुमने पहचान लिया ?"

"न कैसे पहचानें, सरकार ! यह देह पली है।" उसने कहा।

"तुमको कुछ पेन्शन मिली है कि नहीं ?"

"आप ही का दिया खाते हैं, बाबूजी ! अभी लड़की हमारी जगह पर घास देती है।"

भावुक नवयुवक ने फिर प्रश्न किया, "क्यों रामगुलाम, जब इसका विवाह हो जायगा, तब कौन घास देगा ?"

रामगुलाम के आनन्दाश्रु दुःख की नदी होकर बहने लगे। बड़े कष्ट से उसने कहा—"क्या हम सदा जीते रहेंगे ?"

अब मोहन से नहीं रहा गया, वहीं दो रुपये उस बुढ्डे को देकर चलते बने। जाते-जाते कहा—"फिर कभी।"

दुखिया को भी घास लेकर वहीं जाना था। वह पीछे चली।

जमींदार की पशुशाला थी। हाथी, ऊँट, घोड़ा, बुलबुल, भैंसा, गाय, बकरे, बैल, लाल, किसी की कमी नहीं थी। एक दुष्ट नजीब खाँ इन सबों का निरीक्षक था। दुखिया को देर से आते देखकर उसे अवसर मिला। बड़ी नीचता से उसने कहा—"मारे जवानी के तेरा मिजाज ही नहीं मिलता ! कल से तेरी नौकरी बंद कर दी जायगी। इतनी देर ?"

दुखिया कुछ नहीं बोलती, किन्तु उसको अपने बूढ़े बाप की याद आ गयी। उसने सोचा, किसी तरह नौकरी बचानी चाहिए, परन्तु कह बैठी—

"छोटे सरकार घोड़े पर से गिर पड़ रहे। उन्हें मड़ई तक पहुंचाने में देर···।"

"चुप हरामजादी ! तभी तो तेरा मिजाज और बिगड़ा है। अभी बड़े सरकार के पास चलते हैं।"

वह उठा और चला। दुखिया ने घास का बोझा पटका और रोती हुई झोंपड़ी की ओर चलती हुई। राह चलते-चलते उसे डबरे का सायंकालीन दृश्य स्मरण होने लगा। वह उसी में भूल कर अपने घर पहुँच गई।

□□

प्रतिमा

जब अनेक प्रार्थना करने पर, यहाँ तक कि अपनी समस्त उपासना और भक्ति का प्रतिदान माँगने पर भी 'कुञ्जबिहारी' की प्रतिमा न पिघली, कोमल प्राणों पर दया न आयी, आँसुओं के अर्घ्य देने पर भी न पसीजी, और कुञ्जनाथ किसी प्रकार देवता को प्रसन्न न कर सके, भयानक शिकारी ने सरला के प्राण ले ही लिये, किन्तु पाषाणी प्रतिमा अचल रही, तब भी उसका राग-भोग उसी प्रकार चलता रहा; शंख, घण्टा और दीपमाला का आयोजन यथा-नियम होता रहा। केवल कुञ्जनाथ तब से मन्दिर की फुलवारी में पत्थर पर बैठ कर हाथ जोड़ कर चला आता। "कुञ्जबिहारी" के समक्ष जाने का साहस नहीं होता। न जाने मूर्ति में उसे विश्वास ही कम हो गया था कि अपनी श्रद्धा की, विश्वास की दुर्बलता उसे संकुचित कर देती।

आज चाँदनी निखर रही थी। चन्द्र के मनोहर मुख पर रीझ कर सुर-बालाएँ तारक-कुसुम की वर्षा कर रही थीं। स्निग्ध मलयानिल प्रत्येक कुसुम-स्वतक को चूमकर मन्दिर की अनेक मालाओं को हिला देता था। कुञ्ज पत्थर पर बैठा हुआ सब देख रहा था। मनोहर मदनमोहन मूर्ति की सेवा करने को चित्त उत्तेजित हो उठा। कुञ्जनाथ ने सेवा, पुजारी के हाथ से ले ली। बड़ी श्रद्धा से पूजा करने लगा। चाँदी की आरती लेकर जब देव-विग्रह के सामने युवक कुञ्जनाथ खड़ा हुआ, अकस्मात् मानसिक वृत्ति पलटी और सरला का मुख स्मरण हो आया। कुञ्जबिहारी की प्रतिमा के मुख-मण्डल पर उसने अपनी दृष्टि जमायी।

"मैं अनन्त काल तक तरंगों का आघात, वर्षा, पवन, धूप, धूल से तथा मनुष्यों के अपमान श्लाघा से बचने के लिए गिरि-गर्भ में छिपा पड़ा रहा, मूर्ति मेरी थी या मैं स्वयं मूर्ति था, यह सम्बन्ध व्यक्त नहीं था। निष्ठुर लौह-अस्त्र से जब काटकर मैं अलग किया गया, तब किसी प्राणी ने अपनी समस्त सहृदयता मुझे अर्पण की, उसकी चेतावनी मेरे पाषाण में मिली, आत्मानुभव की तीव्र वेदना यह सब मुझे मिलते रहे मुझमें विभ्रम था, विलास था, शक्ति थी। अब तो पुजारी भी वेतन पाता है और मैं भी उसी के अवशिष्ट से अपना निर्वाह···"

और भी क्या मूर्ति कह रही थी, किन्तु शंख और घण्टा भयानक स्वर से बज उठे। स्वामी को देख कर पुजारी लोगों ने धातु-पात्रों को और भी वेग से बजाना आरम्भ कर दिया। कुञ्जनाथ ने आरती रख दी। दूर से कोई गाता हुआ जा रहा था :

"सच कह दूं ऐ बिरहमन गर तू बुरा न माने।
तेरे सनमकदे के बुत हो गये पुराने।"

कुञ्जनाथ ने स्थिर दृष्टि से देखा, मूर्ति में वह सौन्दर्य नहीं, वह भक्ति स्फुरित करनेवाली कान्ति नहीं। वह ललित भाव-लहरी का आविर्भाव-तिरोभाव मुख-मण्डल से जाने कहाँ चला गया है। धैर्य छोड़कर कुञ्जनाथ चला आया। प्रणाम भी नहीं कर सका।

2

"कहाँ जाती है ?"

"माँ, आज शिवजी की पूजा नहीं की।"

"बेटी, तुझे कल रात से ज्वर था, फिर इस समय जाकर क्या नदी में स्नान करेगी ?"

"हाँ, मैं बिना पूजा किये जल न पियूँगी।"

"रजनी, तू बड़ी हठीली होती जा रही है। धर्म की ऐसी कड़ी आज्ञा नहीं है कि वह स्वास्थ्य को नष्ट करके पालन की जाय।"

"माँ, मेरे गले से जल न उतरेगा। एक बार वहाँ तक जाऊँगी।"

"तू क्यों इतनी तपस्या कर रही है ?"

"तू क्यों पड़ी-पड़ी रोया करती है ?"

"तेरे लिए।"

"और मैं भी पूजा करती हूँ तेरे लिए कि तेरा रोना छूट जाय"—इतना कह-कर कलसी लेकर रजनी चल पड़ी।

* * *

वट-वृक्ष के नीचे उसी की जड़ में पत्थर का छोटा-सा जीर्ण-मन्दिर है। उसी में शिवमूर्ति है, वट की जटा से लटकता हुआ मिट्टी का बर्तन अपने छिद्र से जल-बिन्दु गिराकर जाह्नवी और जटा की कल्पना को सार्थक कर रहा है। वैशाख के कोमल विल्वदल उस श्यामल मूर्ति पर लिपटे हैं। गोधूली का समय, शीतल-वाहिनी सरिता में स्नान करके रजनी ने दीपक जला कर आँचल की ओट में छिपा कर उसी मूर्ति के सामने लाकर धर दिया। भक्तिभाव से हाथ जोड़ कर बैठ गयी और करुणा, प्रेम तथा भक्ति से भगवान् को प्रसन्न करने लगी। सन्ध्या की मलिनता दीपक के प्रकाश में सचमुच वह पत्थर की मूर्ति मांसल हो गयी। प्रतिमा में सजीवता आ गयी। दीपक की लौ जब पवन से हिलती थी, तब विदित होता था कि प्रतिमा प्रसन्न होकर झूमने लगी है। एकान्त में भक्त भगवान् को प्रसन्न करने लगा। अन्तरात्मा के मिलन से उस जड़ प्रतिमा को आर्द्र बना डाला। रजनी ने विधवा माता की विकलता की पुष्पाञ्जलि बनाकर देवता के चरणों में डाल दी। बेले का फूल और विल्वदल सान्ध्य-पवन से हिल कर प्रतिमा से खिसक कर गिर पड़ा। रजनी ने कामना पूर्ण होने का संकेत पाया। प्रणाम करके कलसी उठाकर गाँव की झोंपड़ी की ओर अग्रसर हुई।

3

"मनुष्य इतना पतित कभी न होता, यदि समाज उसे न बना देता। मैं अब इस कंकाल समाज से कोई सम्बन्ध न रक्खूँगा। जिसके साथ स्नेह करो, वही कपट रखता है। जिसे अपना समझो, वही कतरनी लिए रहता है। ओह, हम विद्वेष करके इतने क्रूर बना दिये गये हैं, हमें लोगों ने बुरा बना दिया है। अपने स्वार्थ के लिए, हम कदापि इतने दुष्ट नहीं हो सकते थे। हमारी शुद्ध आत्मा में किसने विष मिला दिया है, कलुषित कर दिया है, किसने कपट, चातुरी, प्रवंचना सिखायी है? इसी पैशाचिक समाज ने, इसे छोड़ना होगा। किसी से सम्बन्ध ही न रहेगा, तो फिर विद्वेष का मूल ही न रह जायगा। चलो, आज से इसे तिलांजलि दे दो। बस···" युवक कुञ्जनाथ आम्रकानन के कोने पर से सन्ध्या के आकाश को देखते हुए कह रहा था। लता की आड़ से निकलती हुई रजनी ने कहा—"हैं! हैं! किसे छोड़ते हो?"

कुञ्जनाथ ने घूमकर देखा कि उनकी स्वर्गीय स्त्री की भगिनी रजनी कलसी लिए आ रही है। कुन्जनाथ की भावना प्रबल हो उठी। आज बहुत दिनों पर रजनी दिखाई पड़ी है। दरिद्रा सास को कुञ्जनाथ बड़ी अनादर की दृष्टि से देखते थे। उससे कभी मिलना भी अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे। जब से सरला का देहान्त हुआ, तब से और भी। दरिद्र-कन्या से विवाह करके उन्हें समाज में सिर नीचा करना पड़ा था। इस पाप का फल रजनी की माँ को विना दिए, बिना प्रतिशोध लिए कुञ्जनाथ को चैन नहीं। रजनी जब बालिका थी, कई बार बहन के पास बैठ कर कुञ्जनाथ से सरल विनोद कर चुकी थी। आज उसके मन में उस बालिका-सुलभ चांचल्य का उदय हो गया। वह बोल उठी—"कुन्ज बाबू! किसे छोड़ना चाहते हो?"

कुञ्ज, धनी जमींदार-सन्तान था। उससे प्रगल्भ व्यवहार करना साधारण काम नहीं था। कोई दूसरा समय होता, तो कुञ्जनाथ बिगड़ उठता, पर दो दिन से उसके हृदय में बड़ी करुणा है, अत: क्रोध को अवकाश नहीं। हंस कर पूछा—"कहाँ से आती हो, रजनी?"

रजनी ने कहा—"शिव-पूजन करके आ रही हूँ।"

कुञ्ज ने पूछा—"तुम्हारे शिवजी कहाँ हैं?"

रजनी—"यहीं नदी के किनारे।"

कुञ्ज—"मैं भी देखूँगा।"

रजनी—"चलिए।"

दोनों नदी की ओर चले। युवक ने देखा भग्न-मन्दिर का नग्न देवता—न तो वस्त्र है, न अलंकार, न चाँदी के पात्र हैं, न जवाहरात की चमक। केवल श्यामल

मूर्ति पर हरे-हरे विल्वदल और छोटा-सा दीपक का प्रकाश। कुञ्जनाथ को भक्ति का उद्रेक हुआ। देवमूर्ति के सामने उसने झुककर प्रणाम किया।

क्षण भर में आश्चर्य से कुञ्ज ने देखा कि स्वर्गीय सरला की प्रतिमा रजनी, हाथ जोड़े है, और वह शिव-प्रतिमा कुञ्जबिहारी हो गयी है।

□□

प्रलय

हिमावृत चोटियों की श्रेणी, अनन्त आकाश के नीचे क्षुब्ध समुद्र! उपत्यका की कन्दरा में, प्राकृतिक उद्यान में खड़े हुए युवक ने युवती से कहा—"प्रिये!"

"प्रियतम! क्या होने वाला है?"

"देखो क्या होता है; कुछ चिन्ता नहीं—आसव तो है न?"

"क्यों प्रिय! इतना बड़ा खेल क्या यों ही नष्ट हो जायगा?"

"यदि नष्ट न हो, खेल ज्यों-का-त्यों बना रहे, तब तो वह बेकार हो जायगा।"

"तब हृदय में अमर होने की कल्पना क्यों थी?"

"सुख-भोग-प्रलोभन के कारण।"

"क्या सृष्टि की चेष्टा मिथ्या थी?"

"मिथ्या थी या सत्य, नहीं कहा जा सकता—पर सर्ग प्रलय के लिए होता है, यह निस्सन्देह कहा जायगा, क्योंकि प्रलय भी एक सृष्टि है।"

"अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए बड़ा उद्योग था"—युवती ने निश्वास लेकर कहा।

"यह तो मैं भी मानूंगा कि अपने अस्तित्व के लिए स्वयं आपको व्यय कर दिया।"—युवक ने व्यंग्य से कहा।

युवती करुणार्द्र हो गयी। युवक ने मन बदलने के लिए कहा—"प्रिये! आसव ले आओ।"

युवती स्फटिक-पात्र में आसव ले आयी। युवक पीने लगा।

"सदा रक्षा करने पर भी यह उत्पात?" युवती ने दीन होकर जिज्ञासा की।

"तुम्हारे उपासकों ने भी कम अपव्यय नहीं किया।" युवक ने सस्मित कहा।

"ओह, प्रियतम! अब कहाँ चलें?" युवती ने मान करके कहा।

कठोर होकर युवक ने कहा—"अब कहाँ, यहीं से यह लीला देखेंगे।"

सूर्य का अलात-चक्र के समान शून्य में भ्रमण, और उसके विस्तार का अग्नि-स्फुलिंग-वर्षा करते हुए आश्चर्य-संकोच ! हिम-टीलों का नवीन महानदों के रूप में पलटना, भयानक ताप से शेष प्राणियों का पलटना ! महाकापालिक के चिताग्नि-साधन का वीभत्स दृश्य ! ! प्रचण्ड आलोक का अन्धकार ! ! !

युवक मणि-पीठ पर सुखासीन होकर आसव पान कर रहा है। युवती त्रस्त नेत्रों से इस भीषण व्यापार को देखते हुए भी नहीं देख रही है। जवाकुसुम सदृश और जगत् का तत्काल तरल पारद-समान रंग बदलना, भयानक होने पर भी युवक को स्पृहणीय था। वह सस्मित बोला—"प्रिये ! कैसा दृश्य है !"

"इसी का ध्यान करके कुछ लोगों ने आध्यात्मिकता का प्रचार किया था।" युवती ने कहा।

"बड़ी बुद्धिमत्ता थी !" हँस कर युवक ने कहा। वह हँसी ग्रहगण की टक्कर के शब्द से भी कुछ ऊँची थी।

"क्यों ?"

"मरण के कठोर सत्य से बचने का बहाना या आड़।"

"प्रिय ! ऐसा न कहो।"

"मोह के आकस्मिक अवलम्ब ऐसे ही होते हैं।" युवक ने पात्र भरते हुए कहा।

"इसे मैं नहीं मानूँगी।" दृढ़ होकर युवती बोली।

सामने की जल-राशि आलोड़ित होने लगी। असंख्य जलस्तम्भ शून्य नापने को ऊँचे चढ़ने लगे। कण-जाल से कुहासा फैला। भयानक ताप पर शीतलता हाथ फेरने लगी। युवती ने और भी साहस से कहा—"क्या आध्यात्मिकता मोह है ?"

"चैतनिक पदार्थों का ज्वार-भाटा है। परमाणुओं से ग्रथित प्राकृत नियन्त्रण-शैली का एक बिन्दु ! अपना अस्तित्व बचाये रखने की आशा में मनोहर कल्पना कर लेता है। विदेह होकर विश्वात्मभाव की प्रत्याशा, इसी क्षुद्र अवयव में अन्तर्निहित अन्तःकरण यन्त्र का चमत्कार साहस है, जो स्वयं नश्वर उपादनों को साधन बनाकर अविनाशी होने का स्वप्न देखता है। देखो, इसी सारे जगत के लय की लीला में तुम्हें इतना मोह हो गया ?"

प्रभंजन का प्रबल आक्रमण आरम्भ हुआ। महार्णव की आकाशमापक स्तंभ लहरियाँ भग्न होकर भीषण गर्जन करने लगीं। कन्दरा के उद्यान का अक्षयवट लहरा उठा। प्रकाण्ड शाल-वृक्ष तृण की तरह उस भयंकर फूत्कार से शून्य में उड़ने लगे। दौड़ते हुए वारिद-वृन्द के समान विशाल शैल-शृंग आवर्त में पड़कर चक्र-भ्रमण करने लगे। उद्गीर्ण ज्वालामुखियों के लावे जल-राशि को जलाने लगे। मेघाच्छादित, निस्तेज, स्पृश्य, चन्द्रबिंब के समान सूर्यमण्डल महाकापालिक

के पिये हुए पान-पात्र की तरह लुढ़कने लगा। भयंकर कम्प और घोर वृष्टि में ज्वालामुखी बिजली के समान विलीन होने लगे।

युवक ने अट्टहास करते हुए कहा—"ऐसी बरसात काहे को मिलेगी ! एक पात्र और।"

युवती सहम कर पात्र भरती हुई बोली—"मुझे अपने गले से लगा लो, बड़ा भय लगता है।"

युवक ने कहा—"तुम्हारा त्रस्त करुण अर्ध कटाक्ष विश्व-भर की मनोहर छोटी-सी आख्यायिका का सुख देख रहा है। हाँ एक—"

"जाओ, तुम बड़े कठोर हो—"

"हमारी प्राचीनता और विश्व की रमणीयता ने तुम्हें सर्ग और प्रलय की अनादि लीला देखने के लिए उत्साहित किया था। अब उसका ताण्डव नृत्य देखो। तुम्हें भी अपनी कोमल कठोरता का बड़ा अभिमान था—"

"अभिमान ही होता, तो प्रयास करके तुमसे क्यों मिलती ? जाने दो, तुम मेरे सर्वस्व हो। तुमसे अब यह माँगती हूँ कि अब कुछ न माँगूँ, चाहे इसके बदले मेरी समस्त कामना ले लो।" युवती ने गले में हाथ डाल कर कहा।

* * *

भयानक शीत, दूसरे क्षण असह्य ताप, वायु के प्रचण्ड झोंकों में एक के बाद दूसरे की अद्भुत परम्परा, घोर गर्जन, ऊपर कुहासा और वृष्टि, नीचे महार्णव के रूप में अनन्त द्रवराशि, पवन उन्चासों गतियों से समग्र पंचमहाभूतों को आलोड़ित कर उन्हें तरल परमाणुओं के रूप में परिवर्तित करने के लिए तुला हुआ है। अनन्त परमाणुमय शून्य में एक वट-वृक्ष केवल एक नुकीले श्रृंग के सहारे स्थित है। प्रभंजन के प्रचण्ड आघातों से सब अदृश्य है। एक डाल पर वही युवक और युवती ! युवक के मुख-मण्डल के प्रकाश से ही आलोक है। युवती मूर्च्छितप्राय है। वदन-मण्डल मात्र अस्पष्ट दिखाई दे रहा है। युवती सचेत होकर बोली—

"प्रियतम !"

"क्या प्रिये ?"

"नाथ ! अब मैं तुमको पाऊँगी।"

"क्या अभी तक नहीं पाया था ?"

"मैं अभी तक तुम्हें पहचान भी नहीं सकी थी। तुम क्या हो, आज बता दोगे ?"

"क्या अपने को जान लिया था; तुम्हारा क्या उद्देश्य था ?"

"अब कुछ-कुछ जान रही हूँ; जैसे मेरा अस्तित्व स्वप्न था; आध्यात्मिकता का मोह था; जो तुमसे भिन्न, स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना कर ली थी, वह अस्तित्व नहीं, विकृति थी। उद्देश्य की तो प्राप्ति हुआ ही चाहती है।"

युवती का मुख-मण्डल अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र रह गया था—युवक एक रमणीय तेज-पुंज था।

"तब और जानने की आवश्यकता नहीं, अब मिलना चाहती हो ?"

"हूँ" अस्फुट शब्द का अन्तिम भाग प्रणव के समान गूंजने लगा !

"आओ, यह प्रलय-रूपी तुम्हारा मिलन आनन्दमय हो। आओ।"

अखण्ड शान्ति ! आलोक ! ! आनन्द ! ! !

□□

आकाश-दीप

आकाश-दीप

"बंदी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कंबल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बंदी आपस में टकराने लगे। पहले बंदी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असंभावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से उसको गले से लगा लिया। सहला उस बन्दी ने कहा—"यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?"—अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है—तुम्हारा नाम ?"

"चंपा।"

तारक-खचित नील अम्बर और समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आंदोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर, फिर लुढ़कते हुए,

बंदी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथ-प्रदर्शक ने चिल्लाकर कहा—"आँधी !"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बन्दी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गये। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिल-खिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

2

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बंदी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—"बुधगुप्त ! तुमको मुक्त किसने किया ?"

कृपाण दिखाकर बुधगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊंगा।"

"किसके लिए ? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक ! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम ? जलदस्यु बुधगुप्त ? कदापि नहीं।"—चौंक कर नायक ने कहा और वह अपना कृपाण टटोलने लगा ! चंपा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वह स्वामी होगा।"—इतना कहकर बुधगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चंपा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुधगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चंपा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये। परन्तु बुधगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुधगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कातर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुधगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात नहीं करूँगा।" बुधगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चंपा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुधगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिंदु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुधगुप्त ने पूछा "हम लोग कहाँ होंगे ?"

"बालीद्वीप से बहुत दूर, सम्भवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे ?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँट लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुधगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव टकराने का भय है।"

3

"तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया ?"

"वणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जाह्नवी के तट पर। चंपा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ—अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बना दी गई।"—चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बन कर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी ?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को

जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता!

उसी समय नायक ने कहा—"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

बेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुधगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चम्पा-द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

4

पाँच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र की उज्ज्वल विजय पर अंतरिक्ष में शरदलक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्चसौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप धर कर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय; किन्तु वैसा होना असंभव था। उसने आशाभरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत श्रृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैल-मालायें बन रही थीं—और वे मायाविनी छलनायें—अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों का वंशी-झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कंडील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था! यह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा—"जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमण्डल-से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती; बुधगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा ने अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में

गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा—"बुधगुप्त !"

"बावली हो क्या ? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है ?"

"क्षीरनिधिशायी अनंत की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो ? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है ?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो, बुधगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते ?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पा रानी !"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक ! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे—इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी अलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुधगुप्त ! उस विजन अनंत में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थक कर पालों में शरीर लपेट कर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे ? वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

"तो चम्पा ! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं-नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश-दीप पर व्यंग कर रहे हो। नाविक ! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भगीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती—'भगवान् ! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।' और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—'साध्वी ! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने संकटों में मेरी रक्षा की है।' वह गद्गद हो जाती। मेरी माँ ? आह नाविक ! यह उसी की पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण, जल-दस्यु ! हट जाओ।"—सहसा चम्पा का मुख क्रोध से

भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या, चम्पा ? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रही।"—कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

5

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल ! इतनी शीतलता ! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी ? नहीं ! तो जैसे वेला में चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनंत जल में डूबकर बुझ जाऊँ ?"—चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में चौथाई—आधा, फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फेर लिया। देखा, तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुधगुप्त ने झुक कर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैल-खंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा तो ?"

"अच्छा होता, बुधगुप्त ! जल में बन्दी होना कठोर प्रचीरों से तो अच्छा है।"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो ! बुधगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो…। कहो, चम्पा ! वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे।"—महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश

गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली में विस्तृत जल-देश में, नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों में भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुधगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का। किन्तु परिरंभ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुधगुप्त! आज मैं अपने प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबो देता हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"—चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कंपित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं, बुधगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु। तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तुम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा, चम्पा! यहीं उस पहाड़ी पर। संभव है कि मेरे जीवन की धुंधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय!"

6

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। वह बहुत दूर तक सिंधु-जल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिक नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारुढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ द्वीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुधगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—"यह क्या है जया ? इतनी बालाएँ कहाँ से बटोर लाईं ?"

"आज रानी का ब्याह है न ?"—कहकर जया ने हँस दिया।

"बुधगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसने झकझोर कर चम्पा ने पूछा —"क्या यह सच है ?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो यह सच भी हो सकता है, चम्पा ! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती में दबाये हूँ।"

"चुप रहो, महानाविक ! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा ?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चम्पा ! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र ले मरे !"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती। बुधगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते !"

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुधगुप्त और चम्पा एकांत में एक-दूसरे के सामने वैठे थे।

बुधगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—चम्पा, हम लोग जन्मभूमि—भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा ! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्तमणि की तरह द्रवित हुआ।

"चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़-तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और एकान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका।

"चलोगी चम्पा ? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में ? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुधगुप्त की आज्ञा सिंधु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा ! चलो।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पलभर के लिए मेरे दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—"बुधगुप्त! मेरे लिए सब मिट्टी है; सब जल तरल है; सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे, छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँ—इसमें सन्देह है। आह! उन लहरों में मेरा विनाश हो जाय।"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी इस दीप-स्तम्भ पर से आलोक जला कर अपने पिता की समाधि का इस जल से अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

7

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल-व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों में आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, दीपनिवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

□□

ममता

रोहतास-दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गम्भीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिये, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था, परन्तु वह

विधवा थी—हिंदु-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है—तब उसकी विडंबना का कहाँ अन्त था ?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिए क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गये। ऐसा प्राय: होता, पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिंता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आये। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिये हुए खड़े थे; कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूम कर देखा। मंत्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गये।

ममता ने पूछा—"यह क्या है, पिताजी ?"

"तेरे लिए बेटी ! उपहार है।"—कहकर चूड़ामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

"इतना स्वर्ण ! यह कहाँ से आया ?"

"चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिए है !"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिताजी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिए। पिताजी ! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामंत-वंश का अन्त समीप है, बेटी ! किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है; उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिए बेटी !"

"हे भगवान् ! तब के लिए ! विपद के लिए ! इतना आयोजन ! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस ! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी ? क्या कोई हिंदू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ? यह असंभव है। फेर दीजिए पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अन्धा बना रही है।"

"मूर्ख है"—कहकर चूड़ामणि चले गये।

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण-मंत्री चूड़ामणि का हृदय धक्-धक् करने लगा। वह अपने को रोक न सका। उसने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है।"

बात बढ़ गई। तलवारें खिचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी और

कोष सब छली शेरशाह के हाथ पड़े; निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्ग भर में फैल गये, पर ममता न मिली।

2

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँडहर था। भग्न चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी।

जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते…"

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मन्द प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बन्द करना चाहा। परन्तु उस व्यक्ति ने कहा—"माता! मुझे आश्रय चाहिए।"

"तुम कौन हो?"—स्त्री ने पूछा।

"मैं मुगल हूँ। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से?"—स्त्री ने अपने होंठ काट लिये।

"हाँ, माता?"

"परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब, तुम्हारे मुख पर भी है! सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं है। जाओ, कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ—इतना!"—कहते-कहते वह व्यक्ति धम-से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई! उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—"ये सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करने वाले आततायी!" घृणा से उसका मन विरक्त हो हो गया।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा—"माता! तो फिर मैं चला जाऊँ?"

स्त्री विचार कर रही थी—'मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना—का पालन करना चाहिए। परंतु यहाँ…नहीं-नही, ये सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं…कर्त्तव्य करना है। तब?"

मुगल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।"

"छल ! नहीं, तब नहीं—स्त्री ! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा ? जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन में कहा— यहाँ कौन दुर्ग है ! यही झोंपड़ी न; जो चाहे ले-ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा।" वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—"जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण-कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ ?" मुगल ने चन्द्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुखमंडल देखा, उसने मन-ही-मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर, थके पथिक ने झोंपड़ी में विश्राम किया।

प्रभात में खँडहर की संधि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रांत में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोंपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—"मिरजा ! मैं यहाँ हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रांत गूँज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—"वह स्त्री कहाँ है ? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिए अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन-भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—"मिरजा ! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में यहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।"—इसके बाद वे चले गये।

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गये। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोंपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण-कंकाल खाँसी से गूंज रहा था। ममता की सेवा के लिए गाँव की दो-तीन स्त्रियाँ उसे घेर कर बैठी थीं; क्योंकि वह अजीवन सबसे सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा. एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोंपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिये। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शाहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे ? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई !"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुककर कहा—"मैं नहीं जानती कि

वह शाहंशाह था, या साधारण मुगल पर एक दिन इसी झोंपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था! भगवान् ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल, मैं अपने चिर-विश्राम-गृह में जाती हूँ!"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पक्षी अनन्त में उड़ गये।

वहाँ एक अष्टकोण मन्दिर बना; और उस पर शिलालेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगनचुंबी मन्दिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

□□

स्वर्ग के खँडहर में

वन्य कुसुमों की झालरें सुख शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे-छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढँकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प रचना-पूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देनेवाली सुगन्ध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान-स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे-छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगन्धित मदिरा, भाँति-भाँति के सुस्वादु फल-फूल वाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम। चाँदनी का निभृत रंगमंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधु-मक्खियों की भन्नाहट, रह-रहकर पक्षियों की हृदय में चुभने वाली तान, मणिदीपों पर लटकती हुई मुकुलित मालायें। तिस पर सौंदर्य के छँटे हुए जोड़ों—रूपवान बालक और बालिकाओं का हृदयहारी हास-विलास! संगीत की अबाध गति में छोटी-छोटी नावों पर उनका जल-विलास! किसकी आँखें यह देखकर भी नशे में न हो जायँगी—हृदय पागल, इंद्रियाँ विकल न हो रहेंगी! यही तो स्वर्ग है!

झरने के तट पर बैठे हुए एक बालक ने बालिका से कहा—"मैं भूल-भूल जाता हूँ मीना, हाँ मीना, मैं तुम्हें मीना के नाम से कब तक पुकारूँ!"

"और मैं तुम को गुल कहकर क्यों बुलाऊँ!"

"क्यों मीना, यहाँ भी तो हम लोगों को सुख ही है। है न? अहा, क्या ही सुन्दर स्थान है! हम लोग जैसे एक स्पप्न देख रहे हैं! कहीं दूसरी जगह न भेजे जायँ, तो क्या ही अच्छा हो!"

"नहीं गुल, मुझे पूर्व-स्मृति विकल कर देती है। कई बरस बीत गये—वह माता के समान दुलार, उस उपासिका की स्नेहमयी करुणा-भरी दृष्टि आँखों में कभी-कभी चुटकी काट लेती है। मुझे तो अच्छा नहीं लगता; बंदी होकर रहना तो स्वर्ग में भी···अच्छा, तुम्हें यहाँ रहना नहीं खलता ?"

"नहीं मीना, सबके बाद जब मैं तुम्हें अपने पास ही पाता हूँ, तब और किसी आकांक्षा का स्मरण ही नहीं रह जाता। मैं समझता हूँ कि···"

"तुम गलत समझते हो···"

मीना अभी पूरा कहने न पाई थी कि तितलियों के झुंड के पीछे, उन्हीं के रंग के कौषेय वसन पहने हुए, बालक और बालिकाओं की दौड़ती हुई टोली ने आकर मीना और गुल को घेर लिया।

"जल-विहार के लिए रंगीन मछलियों का खेल खेला जाय।"

एक साथ ही तालियाँ बज उठीं। मीना और गुल को ढकेलते हुए सब उसी कलनादी स्रोत में कूद पड़े। पुलिन की हरी झाड़ियों में से वंशी बजने लगी। मीना और गुल की जोड़ी आगे-आगे और पीछे-पीछे सब बालक-बालिकाओं की टोली तैरने लगी। तीर पर की झुकी डालों के अन्तराल में लुक-छिपकर निकलना, उन कोमल पाणि-पल्लवों से क्षुद्र वीचियों का कटना, सचमुच उसी स्वर्ग में प्राप्त था।

तैरते-तैरते मीना ने कहा—"गुल, यदि मैं बह जाऊँ और डूबने लगूँ ?"

"मैं नाव बन जाऊँग, मीना ?"

"और जो मैं यहाँ से सचमुच चली जाऊँ ?"

"ऐसा न कहो; फिर मैं क्या करूँगा ?"

"क्यों, क्या तुम मेरे साथ न चलोगे ?"

इतने में एक दूसरी सुंदरी, जो कुछ पास थी, बोली—"कहाँ चलोगे गुल ? मैं भी चलूँगी, उसी कुंज में। अरे देखो, वह कैसा हरा-भरा अन्धकार है !" गुल उसी ओर लक्ष्य करके संतरण करने लगा। बहार उसके साथ तैरने लगी। वे दोनों त्वरित गति से तैर रहे थे, मीना उनका साथ न दे सकी, वह हताश होकर और भी पिछड़ने के लिए धीरे-धीरे तैरने लगी।

बहार और गुल जल से टकराती हुई डालों को पकड़कर विश्राम करने लगे। किसी को समीप में न देखकर बहार ने गुल से कहा—"चलो, हम लोग इसी कुंज में छिप जायं।"

वे दोनों उसी झुरमुट में विलीन हो गये।

मीना ने एक दूसरी सुंदरी ने पूछा—"गुल किधर गया, तुमने देखा ?"

मीना जानकर भी अनजान बन गई। वह दूसरे किनारे की ओर लौटती हुई बोली—"मैं नहीं जानती।"

इतने में एक विशेष संकेत से बजती हुई सीटी सुनाई पड़ी। सब तैरना छोड़कर बाहर निकले। हरा वस्त्र पहने हुए, एक गंभीर मनुष्य के साथ, एक युवक दिखाई पड़ा। युवक की आँखें नशे में रँगीली हो रही थीं; पैर लड़खड़ा रहे थे। सबने उस प्रौढ़ को देखते ही सिर झुका लिया। वे बोल उठे—"महापुरुष, क्या कोई हमारा अतिथि आया है ?"

"हाँ, यह युवक स्वर्ग देखने की इच्छा रखता है"—हरे वस्त्र वाले प्रौढ़ ने कहा।

सबने सिर झुका लिया। फिर एक बार निर्निमेष दृष्टि से मीना की ओर देखा। वह पहाड़ी दुर्ग का भयानक शेख था। सचमुच उसे एक आत्म-विस्मृति हो चली। उसने देखा, उसकी कल्पना सत्य में परिणत हो रही है।

"मीना—आह ! कितना सरल और निर्दोष सौंदर्य है। मेरे स्वर्ग की सारी माधुरी उसकी भीगी हुई एक लट के बल खाने में बँधी हुई छटपटा रही है।"—उसने पुकारा—"मीना !"

मीना पास आकर खड़ी हो गई, और सब उस युवक को घेर कर एक ओर चल पड़े। केवल मीना शेख के पास रह गई।

शेख ने कहा—"मीना, तुम मेरे स्वर्ग की रत्न हो।"

मीना काँप रही थी। शेख ने उसका ललाट चूम लिया, और कहा—"देखो, तुम किसी भी अतिथि की सेवा करने न जाना। तुम केवल उस द्राक्षा मंडप में बैठकर कभी-कभी गा लिया करो। बैठो मुझे भी वह अपना गीत सुना दो।"

मीना गाने लगी। उस गीत का तात्पर्य था—"मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। हे मेरे अपरिचित कुंज ! क्षण-भर मुझे विश्राम करने दोगे ? वह मेरा क्रंदन है—मैं सच कहती हूँ, यह मेरा रोना है, गाना नहीं। मुझे दम तो लेने दो। आने दो बसंत का वह प्रभात—जब संसार गुलाबी रंग में नहाकर अपने यौवन में थिरकने लगेगा और तब मैं तुम्हें अपनी एक तान सुनाकर केवल एक तान इस रजनी विश्राम का मूल्य चुका कर चली जाऊँगी। तब तक अपनी किसी सूखी हुई टूटी डाल पर ही अंधकार बिता लेने दो। मैं एक पथ भूली हुई बुलबुल हूँ !"

शेख भूल गया कि मैं ईश्वरीय संदेह-वाहक हूँ, आचार्य, और महापुरुष हूँ। वह एक क्षण के लिए अपने को भूल गया। उसे विश्वास हो गया कि बुलबुल तो नहीं हूँ, पर कोई भूली हुई वस्तु हूँ, यह सोचते-सोचते पागल होकर एक ओर चला गया।

हरियाली से लदा हुआ ढालुवाँ तट था, बीच बहता हुआ वही कलनादी स्रोत यहाँ कुछ गंभीर हो गया था। उस रमणीय प्रदेश के छोटे-से आकाश में मदिरा से भरी हुई घटा छा रही थी। लड़खड़ाते, हाथ-से-हाथ मिलायें, बहार और गुल ऊपर चढ़ रहे थे। गुल अपने आपे में नहीं है, बहार फिर भी सावधान है; वह

सहारा देकर उसे ऊपर ले आ रही है।

एक शिला-खंड पर बैठे हुए गुल ने कहा—प्यास लगी है।

बहार पास के विश्राम-गृह में गई, पान-पात्र भर लाई। गुल पीकर मस्त हो रहा था। बोला—"बहार, तुम बड़े वेग से मुझे खींच रही हो; सँभाल सकोगी? देखो, मैं गिरा?"

गुल बहार की गोद में सिर रखकर आँखें बंद किये पड़ा रहा। उसने बहार के यौवन की सुगंध से घबराकर आँखें खोल दीं। उसके गले में हाथ डालकर बोला—"ले चलो, मुझे कहाँ ले चलती हो?"

बहार उस स्वर्ग की अप्सरा थी। विलासिनी बहार एक तीव्र मदिरा प्याली थी, मकरंद-भरी वायु का झकोर आकर उसमें लहर उठा देता है। वह रूप का उर्मिल सरोवर गुल उन्मत्त था। बहार ने हँसकर पूछा—"यह स्वर्ग छोड़कर कहाँ चलोगे?"

"कहीं दूसरी जगह जहाँ हम हों और तुम।"

"क्यों, यहाँ कोई बाधा है?"

सरल गुल ने कहा—"बाधा! यदि कोई हो? कौन जाने!"

"कौन? मीना?"

"जिसे समझ लो।"

"तो तुम सबकी उपेक्षा करके मुझे—केवल मुझे ही-नहीं..."

"ऐसा न कहो"—बहार के मुंह पर हाथ रखते हुए गुल ने कहा।

ठीक इसी समय नवागत युवक ने वहाँ आकर उन्हें सचेत कर दिया। बहार ने उठकर उसका स्वागत किया। गुल ने अपनी लाल-लाल आँखों से उसको देखा। वह उठ न सका, केवल मद-भरी अँगड़ाई ले रहा था। बहार ने युवक से आज्ञा लेकर प्रस्थान किया। युवक गुल के समीप आकर बैठ गया, और उसे गम्भीर दृष्टि से देखने लगा।

गुल ने अभ्यास के अनुसार कहा—"स्वागत, अतिथि!"

"तुम देवकुमार! आह! तुमको कितना खोजा मैंने!"

"देवकुमार? कौन देवकुमार? हाँ, हाँ, स्मरण होता है, पर वह विषैली पृथ्वी की बात क्यों स्मरण दिलाते हो? तुम मर्त्यलोक के प्राणी! भूल जाओ उस निराशा और अभावों की सृष्टि को; देखो आनन्द-निकेतन स्वर्ग का सौन्दर्य!"

"देवकुमार! तुमको भूल गया, तुम भीमपाल के वंशधर हो? तुम यहाँ बन्दी हो? मूर्ख हो तुम; जिसे तुमने स्वर्ग समझ रक्खा है, वह तुम्हारे आत्मविस्तार की सीमा है। मैं केवल तुम्हारे ही लिए आया हूँ।"

"तो तुमने भूल की। मैं यहाँ बड़े सुख से हूँ। बहार को बुलाऊँ, कुछ खाओ-

पीओ'''कंगाल ! स्वर्ग में भी आकर व्यर्थ समय नष्ट करना ! संगीत सुनोगे ?"

युवक हताश हो गया।

गुल ने मन में कहा—"मैं क्या करूँ ? सब मुझसे रूठ जाते हैं। कहीं सहृदयता नहीं, मुझसे सब अपने मन की कराना चाहते हैं, जैसे मेरे मन नहीं है, हृदय है ! प्रेम-आकर्षण ! यह स्वर्गीय प्रेम में भी जलन ! बहार तिनककर चली गई; मीना ? यह पहले ही हट रही थी; तो फिर क्या जलन ही स्वर्ग है ?"

गुल को उस युवक के हताश होने पर दया आ गई। यह भी स्मरण हुआ कि वह अतिथि है। उसने कहा—"कहिये, आपकी क्या सेवा करूँ ? मीना का गान सुनियेगा ? वह स्वर्ग की रानी है !"

युवक ने कहा—"चलो।"

द्राक्षा-मंडप में दोनों पहुँचे। मीना वहाँ बैठी हुई थी। गुल ने कहा—"अतिथि को अपना गान सुनाओ।"

एक निःश्वास लेकर वही बुलबुल का संगीत सुनाने लगी। युवक की आँखें सजल हो गईं, उसने कहा—"सचमुच तुम स्वर्ग की देवी हो !"

"नहीं अतिथि, मैं उस पृथ्वी की प्राणी हूँ—जहाँ कष्टों की पाठशाला है, जहाँ का दुःख इस स्वर्ग-सुख से भी मनोरम था, जिसका अब कोई समाचार नहीं मिलता"—मीना ने कहा।

"तुम उसकी एक करुण-कथा सुनना चाहो, तो मैं तुम्हें सुनाऊँ !"—युवक ने कहा।

"सुनाइये"— मीना ने कहा।

2

युवक कहने लगा—

"वाह्लीक, गांधार, कपिसा और उद्यान, मुसलमानों के भयानक आंतक में काँप रहे थे। गांधार के अंतिम आर्य-नरपति भीमपाल के साथ ही, शाहीवंश का सौभाग्य अस्त हो गया। फिर भी उनके बचे हुए वंशधर उद्यान के मंगली दुर्ग में, सुवास्तु की घाटियों में, पर्वत-माला, हिम और जंगलों के आवरण में अपने दिन काट रहे थे। वे स्वतंत्र थे।

"देवपाल एक साहसी राजकुमार था। वह कभी-कभी पूर्व गौरव का स्वप्न देखता हुआ, सिंधु-तट तक घूमा करता। एक दिन अभिसार-प्रदेश का सिंधु-तट वासना के फूलवाले प्रभात में सौरभ की लहरों में झोंके खा रहा था। कुमारी लज्जा स्नान कर रही थी। उसका कलसा तीर पर पड़ा था। देवपाल भी कई बार पहले की तरह आज फिर साहस भरे नेत्रों से उसे देख रहा था। उसकी चंचलता इतने से ही न रुकी, वह बोल उठा—

"उषा के इस शांत आलोक में किसी मधुर कामना से यह भिखारी हृदय हँस रहा था। और मानस-नंदिनी ; तुम इठलाती हुई बह चली हो। वाह रे तुम्हारा इतराना ! इसलिए तो जब कोई स्नान करके तुम्हारी लहर की तरह तरल और आर्द्र वस्त्र ओढ़कर, तुम्हारे पथरीले पुलिन में फिसलता हुआ ऊपर चढ़ने लगता है, तब तुम्हारी लहरों में आँसुओं की झालरें लटकने लगती हैं। परन्तु मुझ पर दया नहीं; यह भी कोई बात है !

"तो फिर मैं क्या करूँ ? उस क्षण की, उस कण की, सिंधु से, बादलों से, अंतरिक्ष और हिमालय से टहलकर लौट आने की प्रतिक्षा करूँ ? और इतना भी न कहोगी कि कब तक ? बलिहारी !'

"कुमारी लज्जा भीरु थी। वह हृदय के स्पंदनों से अभिभूत हो रही थी। क्षुद्र बीचियों के सदृश काँपने लगी। वह अपना कलसा भी न भर सकी और चल पड़ी। हृदय में गुदगुदी के धक्के लग रहे थे। उसके भी यौवन-काल के स्वर्गीय दिवस थे—फिसल पड़ी। धृष्ट युवक ने उसे सँभाल कर अंक में ले लिया।

"कुछ दिन स्वर्गीय स्वप्न चला। जलते हुए प्रभात के मकान तारा देवी ने वह स्वप्न भंग कर दिया। तारा अधिक रूपशालिनी, कश्मीर की रूप-माधुरी थी। देवपाल को कश्मीर से सहायता की भी आशा थी। हतभागिनी लज्जा ने कुमार सुदान की तपोभूमि में अशोक-निर्मित विहार में शरण ली। वह उपासिका, भिक्षुणी, जो कहो, बन गई।

"गौतम की गम्भीर प्रतिमा के चरण-तल में बैठकर उसने निश्चय किया, सब दु:ख है, सब क्षणिक है, सब अनित्य है।"

"सुवास्तु का पुण्य-सलिल उस व्यथित हृदय की मलिनता को धोने लगा। वह एक प्रकार से रोग-मुक्त हो रही थी।"

"एक सुनसान रात्रि थी, स्थविर धर्म-भिक्षु थे नहीं। सहसा कपाट पर आघात होने लगा और 'खोलो ! खोलो !' का शब्द सुनाई पड़ा। विहार में अकेली लज्जा ही थी। साहस करके बोली —

"कौन है ?"

"पथिक हूँ, आश्रय चाहिये"—उत्तर मिला।

"तुषारावृत अँधेरा पथ था। हिम गिर रहा था। तारों का पता नहीं, भयानक शील और निर्जन निशीथ। भला ऐसे समय में कौन पथ पर चलेगा ? वातायन का परदा हटाने पर भी उपासिका लज्जा झाँककर न देख सकी कि कौन है। उसने अपनी कुभावनाओं से डरकर पूछा—"आप लोग कौन हैं ?"

"आहा, तुम उपासिका हो ! तुम्हारे हृदय तो अधिक दया होनी चाहिये। भगवान् की प्रतिमा की छाया में दो अनाथों को आश्रय मिलने का पुण्य दें।"

लज्जा ने अर्गला खोल दी। उसने आश्चर्य से देखा, एक पुरुष अपने बड़े

लबादे में आठ-नौ बरस के बालक और बालिका को लिये भीतर गिर पड़ा। तीनों मुमूर्ष हो रहे थे। भूख और शीत में तीनों विकल थे। लज्जा ने कपाट करते हुए अग्नि धधकाकर उसमें कुछ गंध-द्रव्य डाल दिया। एक बार द्वार खुलने पर जो शीतल पवन का झोंका घुस आया था, वह निर्बल हो चला।

"अतिथि-सत्कार हो जाने पर लज्जा ने उसका परिचय पूछा। आगंतुक ने कहा—'मंगली-दुर्ग के अधिपति देवपाल का मैं भृत्य हूँ। जगद्दाहक चंगेज़ खाँ ने समस्त गांधार प्रदेश को जलाकर, लूट-पाटकर उजाड़ दिया और कल ही इस उद्यान के मंगली दुर्ग पर भी उन लोगों का अधिकार हो गया। देवपाल बंदी हुए, उनकी पत्नी तारादेवी ने आत्महत्या की। दुर्गपति ने पहले से ही कहा था कि इस को अशोक-विहार में ले जाना, वहाँ की एक उपासिका लज्जा इसके प्राण बचा ले तो कोई आश्चर्य नहीं।

"यह सुनते ही लज्जा की धमनियों में रक्त का तीव्र संचार होने लगा। शीताधिक्य में भी उसे स्वेद आने लगा। उसने बात बदलने के लिए बालिका की ओर देखा। आगंतुक ने कहा—'यह मेरी बालिका है, इसकी माता नहीं है।' लज्जा ने देखा, बालिका का शुभ्र शरीर मलिन वस्त्रों में दमक रहा था। नासिकामूल से कानों के समीप तक भ्रू-युगल की प्रभाव-शालिनी रेखा और उसकी छाया में दो उनींदे कमल संसार से अपने को छिपा लेना चाहते थे। उसका विरागी सौंदर्य, शरद के शुभ्र घन के आवरण में पूर्णिमा के चंद्र-सा आप ही लज्जित था। चेष्टा करके भी लज्जा अपनी मानसिक स्थिति को चंचल होने से न सँभाल सकी। वह—'अच्छा, आप लोग सो रहिये, थके होंगे,—कहती हुई दूसरे प्रकोष्ठ में चली गई।

"लज्जा ने वातायन खोलकर देखा, आकाश स्वच्छ हो रहा था, पार्वत्य प्रदेश के निस्तब्ध गगन में तारों की झिलमिलाहट थी। उन प्रकाश की लहरों में अशोक-निर्मित स्तूप की चूड़ा पर लगा हुआ स्वर्ण का धर्मचक्र जसे हिल रहा था।

दूसरे दिन जब धर्म-भिक्षु आये, तो उन्होंने इन आगंतुकों आश्चर्य से देखा, और जब पूरे समाचार सुने, तो और भी उबल पड़े। उन्होंने कहा—'राज-कुटुंब को यहाँ रखकर क्या इस विहार और स्तूप को भी तुम ध्वस्त करना चाहती हो? लज्जा, तुमने यह किस प्रलोभन से किया? चंगेज खाँ बौद्ध हैं, संघ का विरोध क्यों करे?'

"स्थविर! किसी को आश्रय देना क्या गौतम के धर्म के विरुद्ध है? मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि देवपाल ने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया, फिर भी मुझ पर उसका विश्वास था, क्यों था, मैं स्वयं नहीं जान सकी। इसे चाहे मेरी दुर्बलता ही समझ लें, परंतु मैं अपने प्रति विश्वास का किसी को भी दुरुपयोग नहीं करने देना चाहती। देवपाल को मैं अधिक-से-अधिक प्यार करती थी, और भी अब बिलकुल

निश्शेष समझ-कर उस प्रणय का तिरस्कार कर सकूँगी, इसमें संदेह है।"—लज्जा ने कहा।

"तो तुम संघ के सिद्धांत से च्युत हो रही हो, इसलिए तुम्हें भी विहार का त्याग करना पड़ेगा।"—धर्म-भिक्षु ने कहा।

लज्जा व्यथित हो उठी थी। बालक के मुख पर देवपाल की स्पष्ट छाया उसे बार-बार उत्तेजित करती, और वह बालिका तो उसे छोड़ना ही न चाहती थी।

उसने साहस करके कहा—'तब यही अच्छा होगा कि मैं भिक्षुणी होने का ढोंग छोड़कर अनाथों के सुख-दुःख में सम्मिलित होऊँ।'

उसी रात को वह दोनों बालक-बालिका और विक्रमभृत्य को लेकर, निस्सहाय अवस्था में चल पड़ी। छद्मवेश में यह दल यात्रा कर रहा था। इसे भिक्षा का अवलंब था। वाह्लीक के गिरिव्रज नगर के भग्न पांथ-निवास के टूटे कोने में इन लोगों को आश्रय लेना पड़ा। दिन आहार नहीं छुट सका, दोनों बालकों के संतोष के लिए कुछ बचा था, उसी को खिलाकर सुला दिये गये। लज्जा और विक्रम, अनाहार से भ्रियमाण अचेत हो गये।

"दूसरे दिन आँखें खुलते ही उन्होंने देखा, तो वह राजकुमार और बालिका, दोनों ही नहीं! उन दोनों की खोज में ये लोग भी भिन्न-भिन्न दिशा को चल पड़े। एक दिन पता चला कि केकय पहाड़ी दुर्ग के समीप कहीं स्वर्ग है, वहाँ रूपवान बालकों और बालिकाओं की अत्यंन्त आवश्यकता रहती है···

"और भी सुनोगी पृथवी की दुःख गाथा? क्या करोगी सुनकर, तुम यह जानकर क्या करोगी कि उस उपासिका या विक्रम का फिर क्या हुआ?"

अब मीना से न रहा गया। उसने युवक के गले से लिपटकर कहा—"तो····तुम्हीं वह उपासिका हो? आहा, सच कह दो।"

गुल की आँखों में अभी नशे का उतार था। उसने अँगड़ाई लेकर एक जँभाई ली और कहा—"बड़े आश्चर्य की बात है। क्यों मीना, अब क्या किया जाय?"

अकस्मात् स्वर्ग के भयानक रक्षियों ने आकर उस युवक को बंदी कर लिया मीना रोने लगी, गुल चुपचाप खड़ा था, बहार खड़ी हँस रही थी।

सहसा पीछे से आते हुए प्रहरियों के प्रधान ने ललकारा—"मीना और गुल को भी।"

अब उस युवक ने घूमकर देखा; घनी दाढ़ी-मूँछोंवाले प्रधान की आँखों से आँखें मिलीं।

युवक चिल्ला उठा—"देवपाल!"

"कौन! लज्जा? अरे!"

"हाँ, तो देवपाल, इस अपने पुत्र गुल को भी बंदी करो, विधर्मी का कर्त्तव्य यही आज्ञा देता है।"—लज्जा ने कहा।

"ओह !"—कहता हुआ देवपाल सिर पकड़कर बैठ गया। क्षण भर में वह उन्मत्त हो उठा और दौड़कर गुल के गले से लिपट गया।

सावधान होने पर देवपाल ने लज्जा को बंदी करनेवाले प्रहरी से कहा—"उसे छोड़ दो।"

प्रहरी ने बहार की ओर देखा। उसक गुढ़ संकेत समझकर वह बोल उठा—"मुक्त करने का अधिकार केवल शेख़ को है।"

देवपाल का क्रोध सीमा का अतिक्रम कर चुका था, उसने खड्ग चला दिया। प्रहरी गिरा। उधर बहार 'हत्या ! हत्या !' चिल्लाती हुई भागी।

3

संसार की विभूति जिस समय चरणों में लोटने लगती है, वही समय पहाड़ी दुर्ग के सिंहासन का था। शेख क्षमता की ऐश्वर्य-मंडित मूर्ति था। लज्जा, मीना, गुल और देवपाल बंदी वेश में खड़ थे। भयानक प्रहरी दूर-दूर खड़े, पवन की भी गति जांच रहे थे। जितना भीषण प्रभाव संभव है, वह शेख के उस सभागृह में था। शेख ने पूछा—"देवपाल, तुझे इस धर्म पर विश्वास है कि नहीं ?"

"नहीं।"—देवपाल ने उत्तर दिया।

"तब तुमने हमको धोखा दिया ?"

"नहीं, चंगेज के बंदी-गृह से छुड़ाने में जब समर-खंड में तुम्हारे अनुचरों ने मेरी सहायता की और मैं तुम्हारे उत्कोच या मूल से क्रीत हुआ, तब मुझे तुम्हारी आज्ञा पूरी करने की स्वभावत: इच्छा हुई। अपने शत्रु चंगेज का ईश्वरीय कोप, चंगेजी क नशा करने की एक विकट लालसा मन में खेलने लगी, और मैंने उसकी हत्या की भी। मैं धर्म मानकर कुछ करने गया था, यह समझना भ्रम है।"

"यहाँ तक तो मेरी आज्ञा के अनुसार ही हुआ, परंतु उस अलाउद्दीन की हत्या क्यों की ?"—दाँत पीसकर शेख ने कहा।

"यह मेरा उससे प्रतिशोध था !" अविचल भाव से देवपाल ने कहा।

"तुम जानते हो कि इस पहाड़ के शेख केवल स्वर्ग के ही अधिपति नहीं, प्रत्युत हत्या के दूत भी हैं !" क्रोध से शेख ने कहा।

"इसके जानने की मुझे उत्कंठा नहीं है, शेख ! प्राणी-धर्म में मेरा अखंड विश्वास है। अपनी रक्षा करने के लिए, अपने प्रतिशोध के लिए, जो स्वाभाविक जीवन-तत्त्व के सिद्धान्त की अवहेलना करके चुप बैठता है, उसे मृतक, कायर, सजीवता-विहीन, हड्डी-मांस के टुकड़े के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं समझता। मनुष्य परिस्थितियों का अंध-भक्त है. इसलिए, मुझे जो करना था, वह मैंने किया, अब तुम अपना कर्त्तव्य कर सकते हो।"—देवपाल का स्वर दृढ़ था।

भयानक शेख अपनी पूर्ण उत्तेजना से चिल्ला उठा। उसने कहा—"और, तू

कौन है स्त्री ? तेरा इतना साहस ! मुझे ठगना !"

लज्जा अपना बाह्य आवरण फेंकती हुई बोली—"हाँ शेख, अब आवश्यकता नहीं कि मैं छिपाऊँ, मैं देवपाल की प्रणयिनी हूँ ?"

"तो तुम इन सबको ले जाने या बहकाने आई थी, क्यों ?"

"आवश्यकता से प्ररित होकर जैसे अत्यंत कुत्सित मनुष्य धर्माचार्य बनने का ढोंग कर रहा है, ठीक उसी प्रकार मैं स्त्री होकर भी पुरुष बनी । यह दूसरी बात है कि संसार की सबसे पवित्र वस्तु धर्म की आड़ में आकांक्षा खेलती है । तुम्हारे पास साधन हैं, मेरे पास नहीं, अन्यथा मेरी आवश्यकता किसी से कम न थी ।"—लज्जा हाँफ रही थी।

शेख ने देखा, वह दृप्त सौन्दर्य ! यौवन के ढलने में भी एक तीव्र प्रवाह था—जैसे चाँदनी रात से पहाड़ से झरना गिर रहा हो ! एक क्षण के लिए उसकी समस्त उत्तेजना पालतू पशु के समान सौम्य हो गई । उसने कहा—"तुम ठीक मेरे स्वर्ग की रानी होने के योग्य हो । यदि मेरे मत में तुम्हारा विश्वास हो, तो मैं तुम्हें मुक्त कर सकता हूँ । बोलो !"

"स्वर्ग ! इस पृथ्वी को स्वर्ग की आवश्यकता क्या है, शेख ? ना, ना, इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा । पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा । इसकी स्वाभाविकता साधारण स्थिति में ही रह सकती है । पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानव-जाति के लिए जीने दो, अपनी आकांक्षा के कल्पित स्वर्ग के लिए, क्षुद्र स्वार्थ के लिए इस महती को, इस धरणी को नरक न बनाओ, जिसमें देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय, शेख ।"—लज्जा ने कहा ।

शेख पत्थर-भरे बादलों के समान कड़कड़ा उठा । उसने कहा—"ले जाओ, इन दोनों को बन्दी करो । मैं फिर विचार करूँगा; और गुल, तुम लोगों का यह पहला अपराध है, क्षमा करता हूँ, सुनती हो मीना, जाओ अपने कुंज में भागो । इन दोनों को भूल जाओ ।"

बहार ने एक दिन गुल से कहा—"चलो, द्राक्षा-मंडप में संगीत का आनन्द लिया जाय ।" दोनों स्वर्गीय मदिरा में झूम रहे थे । मीना वहाँ अकेली बैठी उदासी में गा रही थी—

"वही स्वर्ग तो नरक है, जहाँ प्रयजन से विच्छेद है । वही रात प्रलय की है, जिसकी कालिमा में विरह का संयोग है । वह यौवन निष्फल है, जिसका हृदयवान् उपासक नहीं । वह मदिरा हलाहल है, पाप है, जो उन मधुर अधरों की उच्छिष्ट नहीं । वह प्रणय विषाक्त छुरी है, जिसमें कपट है । इसलिये हे जीवन, तू स्वप्न न देख, विस्मृति की निद्रा में सो जा ! सुषुप्ति यदि आनंद नहीं, तो दुःखों का अभाव तो है । इस जागरण से—इस आकांक्षा और अभाव के जागरण से—वह निर्द्वंद्व

सोना कहीं अच्छा है मेरे जीवन !"

बहार का साहस न हुआ कि वह मंडप में पैर धरे, पर गुल, वह तो जैसे मूक था ! एक भूल, अपराध और मनोवेदना के निर्जन कानन में भटक रहा था, यद्यपि उसके चरण निश्चल थे। इतने में हलचल मच गई। चारों ओर दौड़-धूप होने लगी। मालूम हुआ, स्वर्ग पर तातार के खान की चढ़ाई है।

बरसों घिरे रहने से स्वर्ग की विभूति निश्शेष हो गई थी। स्वर्गीय जीव अनाहार से तड़प रहे थे। तब भी मीना को आहार मिलता। आज शेख सामने बैठा था। उसकी प्याली में मदिरा की कुछ अन्तिम बूँदें थीं। जलन की तीव्र पीड़ा से व्याकुल और आहत बहार उधर तड़प रही थी। आज बंदी भी मुक्त कर दिये गये थे। स्वर्ग के विस्तृत प्रांगण में बंदियों के दम तोड़ने की कातर ध्वनि गूँज रही थी। शेख ने एक बार उन्हें हँस कर देखा, फिर मीना की ओर देखकर उसने कहा —"मीना ? आज अन्तिम दिन है ! इस प्याली में अन्तिम घूँटें हैं, मुझे अपने हाथ से पिला दोगी ?"

"बंदी हूँ शेख ! चाहे जो कहो।"

शेख एक दीर्घ निश्वास लेकर उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी तलवार सँभाली। इतने में द्वार टूट पड़ा, तातारी घुसते हुए दिखलाई पड़े, शेख के पास-दुर्बल हाथों से तलवार गिर पड़ी।

द्राक्षा के रूखे कुँज में देवपाल, लज्जा और गुल के शव के पास मीना चुपचाप बैठी थी। उसकी आँखों में न आँसू थे, न ओठों पर क्रंदन। वह सजीव अनुकंपा, निष्ठुर हो रही थी।

तातारों के सेनापति ने आकर देखा, उस दावाग्नि के अंधड़ में तृण-कुसुम सुरक्षित है। वह अपनी प्रतिहिंसा से अंधा हो रहा था। कड़ककर उसने पूछा— "तू शेख की बेटी है ?"

मीना ने जैसे मूर्च्छा से आँखें खोलीं। उसने विश्वास-भरी वाणी से कहा— "पिता, मैं तुम्हारी लीला हूँ !"

सेनापति विक्रम को उस प्रान्त का शासन मिला; पर मीना उन्हीं स्वर्ग के खँडहरों में उन्मुक्त घूमा करती। जब सेनापति बहुत स्मरण दिलाता, तो वह कह देती—"मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूँ। मुझे किसी टूटी डाल पर अंधकार बिता लेने दो ! इस रजनी-विश्राम का मूल्य अंतिम तान सुनाकर जाऊंगी।"

मालूम नहीं, उसकी अंतिम तान किसी ने सुनी या नहीं।

□□

सुनहला साँप

"यह तुम्हारा दुस्साहस है, चंद्रदेव !"

"मैं सत्य कहता हूँ, देवकुमार ।"

"तुम्हारे सत्य की पहचान बहुत दुर्बल है, क्योंकि उसके प्रकट होने का साधन असत् है । समझता हूँ कि तुम प्रवचन देते समय बहुत ही भावात्मक हो जाते हो। किसी के जीवन का रहस्य, उसका विश्वास समझ लेना हमारी-तुम्हारी बुद्धिरूपी 'एक्सरेज' की पारदर्शिता के परे है ।"—कहता हुआ देवकुमार हँस पड़ा; उसकी हँसी में विज्ञता की अवज्ञा थी ।

चंद्रदेव ने बात बदलने के लिए कहा—"इस पर मैं फिर वाद-विवाद करूँगा । अभी तो वह देखो, झरना आ गया—हम लोग जिसे देखने के लिए आठ मील से आये हैं ।"

"सत्य और झूठ का पुतला मनुष्य अपने ही सत्य की छाया नहीं छू सकता, क्योंकि वह सदैव अंधकार में रहता है । चंद्रदेव, मेरा तो विश्वास है कि तुम अपने को भी नहीं समझ पाते ।"—देवकुमार ने कहा ।

चंद्रदेव बैठ गया। वह एकटक उस गिरते हुए प्रपात को देख रहा था। । मसूरी पहाड़ का यह झरना बहुत प्रसिद्ध है । एक गहरे गढ्ढे में गिरकर, यह नाला बनता हुआ, ठुकराये हुए जीवन के समान भागा जाता है ।

चद्रदेव एक ताल्लुकेदार का युवक पुत्र था। अपने मित्र देवकुमार के साथ मसूरी के ग्रीष्म-निवास में सुख और स्वास्थ्य की खोज में आया था । इस पहाड़ पर कब बादल छा जायेंगे, कब एक झोंका बरसाता हुआ निकल जायगा, इसका कोई निश्चय नहीं। चंद्रदेव का नौकर पान-भोजन का सामान लेकर पहुँचा। दोनों मित्र एक अखरोट-वृक्ष के नीचे बैठकर खाने लगे । चंद्रदेव थोड़ी मदिरा भी पीता था, स्वास्थ्य के लिए ।

देवकुमार ने कहा—"यदि हम लोगों को बीच ही में भीगना न हो, तो अब चल देना चाहिये ।"

पीते हुए चंद्रदेव ने कहा—"तुम बड़े डरपोक हो। तनिक भी साहसिक जीवन का आनंद लेने का उत्साह तुममें नहीं । सावधान होकर चलना, समय से कमरे में जाकर बंद हो जाना और अत्यंत रोगी के समान सदैव पथ्य का अनुचर बने रहना हो, तो मनुष्य घर ही बैठा रहे !"

देवकुमार हँस पड़ा। कुछ समय बीतने पर दोनों उठ खड़े हुए। अनुचर भी पीछे चला । बूंदें पड़ने लगी थीं । सबने अपनी-अपनी बरसाती सँभाली ।

परंतु उस वर्षा में कहीं विश्राम करना आवश्यक प्रतीत हुआ, क्योंकि उससे

बचा लेना बरसाती के बूते का काम न था। तीनों छाया की खोज में चले। एक पहाड़ी चट्टान की गुफा मिली, छोटी-सी। ये तीनों उसमें घुस पड़े।

भवों पर से पानी पोंछते हुए चंद्रदेव ने देखा, एक श्याम किंतु उज्ज्वल मुख अपने यौवन का आभा में दमक रहा है। वह एक पहाड़ी स्त्री थी। चंद्रदेव कला-विज्ञ होने का ढोंग करके उस युवती की सुडौल गढ़न देखने लगा। वह कुछ लज्जित हुई। प्रगल्भ चंद्रदेव ने पूछा--"तुम यहाँ क्या करने आई हो?"

"बाबूजी, मैं दूसरे पहाड़ी गाँव की रहनेवाली हूँ, अपनी जीविका के लिए आई हूँ।"

"तुम्हारी क्या जीविका है?"

"साँप पकड़ती हूँ।"

चंद्रदेव चौंक उठा। उसने कहा—"तो क्या तुम यहाँ भी साँप पकड़ रही हो? इधर तो बहुत कम साँप होते हैं।"

"हाँ, कभी खोजने से मिल जाते हैं। यहाँ एक सुनहला साँप मैंने अभी देखा है। उसे···"—कहते-कहते युवती ने एक ढोंके की ओर संकेत किया।

चंद्रदेव ने देखा, दो-तीव्र ज्योति!

पानी का झोंका निकल गया था। चंद्रदेव ने कहा—"चलो देवकुमार, हम चलें। रामू, तू भी तो साँप पकड़ता है न? देवकुमार! यह बड़ी सफाई से बिना किसी मंत्र-जड़ी के साँप पकड़ लेता है!" देवकुमार ने सिर हिला दिया।

रामू ने कहा—'हाँ सरकार, पकड़ूँ इसे?"

"नहीं-नही, उसे पकड़ने दे! हाँ, उसे होटल में लिवा लाना, हम लोग देखेंगे। क्यों देव! मनोरंजन रहेगा न?" कहते हुए चंद्रदेव और देवकुमार चल पड़े।

किसी क्षुद्र हृदय के पास, उसके दुर्भाग्य से दैवी संपत्ति या विद्या, बल, धन और सौन्दर्य उसके सौभाग्य का अभिनय करते हुए प्रायः देखे जाते हैं, तब उन विभूतियों का दुरुपयोग अत्यन्त अरुचिकर दृश्य उपस्थित कर देता है। चंद्रदेव का होटल-निवास भी वैसा ही था। राशि-राशि विडंबनाएँ उसके चारों ओर घिरकर उसकी हँसी उड़ातीं, पर उनमें चंद्रदेव को तो जीवन की सफलता ही दिखलायी देती।

उसके कमरे में कई मित्र एकत्र थे। 'नेरा' महुअर बजाकर अपना खेल दिखला रही थी। सबके बाद उसने दिखलाया, अपना पकड़ा हुआ वही सुन्दर सुनहला साँप।

रामू एकटक नेरा की ओर देख रहा था। चंद्रदेव ने कहा—"रामू, वह शीशे का बक्स तो ले आ!"

रामू ने तुरन्त उसे उपस्थित किया।

चंद्रदेव ने हँसकर कहा—नेरा ! तुम्हारे सुंदर साँप के लिए यह बक्स है।"

नेरा प्रसन्न होकर अपने नवीन आश्रित को उसमें रखने लगी, परन्तु वह उस सुंदर घर में जाना नहीं चाहता था। रामू ने उसे बाध्य किया। साँप बक्स में जा रहा। नेरा ने उसे आँखों से धन्यवाद दिया।

चंद्रदेव के मित्रों ने कहा—"तुम्हारा अनुचर भी तो कम खेलाड़ी नहीं है !"

चंद्रदेव ने गर्व से रामू की ओर देखा। परन्तु, नेरा की मधुरिमा रामू की आँखों की राह उसके हृदय में भर रही थी। वह एकटक उसे देख रहा था।

देवकुमार हँस पड़ा। खेल समाप्त हुआ। नेरा को बहुत-सा पुरस्कार मिला।

तीन दिन बाद, होटल के पास ही, चीड़ वृक्ष के नीचे चंद्रदेव चुपचाप खड़ा था—वह बड़े गौर से देख रहा था—एक स्त्री और एक पुरुष को घुल-घुलाकर बातें करते। उसे क्रोध आया; परंतु न जाने क्यों, कुछ बोल न सका। देवकुमार ने पीठ पर हाथ धरकर पूछा—"क्या है ?"

चंद्रदेव ने संकेत से उस ओर दिखा दिया। एक झुरमुट में नेरा खड़ी है और रामू कुछ अनुनय कर रहा है ! देवकुमार ने यह देखकर चंद्रदेव का हाथ पकड़ कर खींचते हुए कहा—"चलो।"

दोनों आकर अपने कमरे में बैठे।

देवकुमार ने कहा—"अब कहो, इसी रामू के हृदय की परख तो तुम उस दिन बता रहे थे। इसी तरह संभव है, अपने को भी न पहचानते हो !"

चंद्रदेव 'बाल' देखकर आया था, अपने कमरे में सोने जा रहा था, रात अधिक हो चुकी थी। उसे कुछ फिस-फिस का शब्द सुनाई पड़ा। उसे नेरा का ध्यान आ गया। वह होंठ काटकर अपने पलंग पर जा पड़ा। मात्रा कुछ अधिक था। आतिशदान के कार्निस पर धरे हुच शीशे का बक्स और बोतल चमक उठे। पर उसे क्रोध ही अधिक आया, बिजली बुझा दी।

कुछ अधिक समय बीतने पर किसी चिल्लाहट से चंद्रदेव की नींद खुली। रामू का-सा शब्द था। उसने स्विच दबाया, आलोक में चंद्रदेव ने आश्चर्य से देखा कि रामू के हाथ में वही सुनहला साँप हथकड़ी-सा जकड़ गया है ! चंद्रदेव ने कहा—"क्यों रे बदमाश ! तू यहाँ क्या करता था ? अरे, इसका तो प्राण संकट में है, नेरा होती तो !"

चंद्रदेव घबड़ा गया था। इतने में नेरा ने कमरे में प्रवेश किया। इतनी रात को यहाँ ? चंद्रदेव क्रोध से चुप रहा। नेरा ने साँप से रामू का हाथ छुड़ाया और फिर उसे बक्स में बंद किया। तब चंद्रदेव ने रामू से पूछा—"क्यों बे, यहाँ क्या कर रहा था ?" रामू काँपने लगा।

"बोल, जल्दी बोल ! नहीं तो तेरी खाल उधेड़ता हूँ।"

रामू फिर भी चुप था।

चंद्रदेव का चेहरा अत्यन्त भीषण हो रहा था। वह कभी नेरा की ओर देखता और कभी रामू की ओर। उसने पिस्तौल उठाई, नेरा रामू के सामने आ गई। उसने कहा—"बाबूजी, यह मेरे लिए शराब लेने आया था, जो उस बोतल में धरी है।"

चंद्रदेव ने देखा, मदिरा उस बोतल में अपनी लाल हँसी में मग्न थी। चंद्रदेव ने पिस्तौल धर दिया। और बोतल और बक्स उठाकर देते हुए मुँह फेरकर कहा —"तुम दोनों इसे लेकर अभी चले जाओ, और रामू, अब तुम कभी मुझे अपना मुँह मत दिखाना।"

दोनों धीरे-धीरे बाहर हो गये। रामू अपने मालिक का मन पहचानता था।

दूसरे दिन देवकुमार और चंद्रदेव पहाड़ से उतरे। रामू उनके साथ न था।

ठीक ग्यारह महीने पर फिर उसी होटल में चंद्रदेव पहुँचा था। तीसरा पहर था, रंगीन बादल थे, पहाड़ी संध्या अपना रंग जमा रही थी, पवन तीव्र था। चंद्रदेव ने शीशे का पल्ला बन्द करना चाहा। उन्होंने देखा, रामू सिर पर पिटारा धरे चला जा रहा है और पीछे-पीछे अपनी मन्द गति से नेरा। नेरा ने भी ऊपर की ओर देखा, वह मुस्कराकर सलाम करती हुई रामू के पीछे चली गई। चंद्रदेव ने धड़ से पल्ला बन्द करते हुए सोचा—"सच तो, क्या मैं अपने को भी पहिचान सका?"

□□

हिमालय का पथिक

"गिरि-पथ में हिम-वर्षा हो रही है, इस समय तुम कैसे यहाँ पहुँचे? किस प्रबल आकर्षण से तुम खिंच आये?" खिड़की खोलकर एक व्यक्ति ने पूछा। अमल-धवल चन्द्रिका तुषार से घनीभूत हो रही थी। जहाँ तक दृष्टि जाती है, गगन-चुम्बी शैल-शिखर, जिन पर बर्फ का मोटा लिहाफ पड़ा था, ठिठुरकर सो रहे थे। ऐसे ही समय पथिक उस कुटीर के द्वार पर खड़ा था। वह बोला— "पहले भीतर आने दो, प्राण बचें!"

बर्फ जम गई थी, द्वार परिश्रम से खुला। पथिक ने भीतर जाकर उसे बन्द कर लिया। आग के पास पहुँचा, और उष्णता का अनुभव करने लगा। ऊपर से और दो कंबल डाल दिये गये। कुछ काल बीतने पर पथिक होश में आया। देखा,

शैल-भर में एक छोटा-सा गृह धुँधली प्रभा से आलोकित है। एक वृद्ध है और उसकी कन्या। बालिका—युवती हो चली है।

वृद्ध बोला—"कुछ भोजन करोगे ?"

पथिक—"हाँ, भूख तो लगी है।"

वृद्ध ने बालिका की ओर देखकर कहा—"किन्नरी, कुछ ले आओ।"

किन्नरी उठी और कुछ खाने को ले आई। पथिक दत्तचित्त होकर उसे खाने लगा।

किन्नरी चुपचाप आग के पास बैठी देख रही थी। युवक-पथिक को देखने में उसे कुछ संकोच न था। पथिक भोजन कर लेने के बाद घूमा, और देखा। किन्नरी सचमुच हिमालय की किन्नरी है। ऊनी लंबा कुरता पहने है, खुले हुए बाल एक कपड़े से कसे हैं, जो सिर के चारों ओर टोप के समान बँधा है। कानों में दो बड़े-बड़े फीरोजे लटकते हैं। सौन्दर्य है, जैसे हिमानीमंडित उपत्यका में वसंत की फूली हुई वल्लरी पर मध्याह्न का आतप अपनी सुखद कांति बरसा रहा हो। हृदय को चिकना कर देने वाला रूखा यौवन प्रत्येक अंग में लालिमा की लहर उत्पन्न कर रहा है। पथिक देखकर भी अनिच्छा से सिर झुकाकर सोचने लगा।

वृद्ध ने पूछा—"कहो, तुम्हारा आगमन कैसे हुआ ?"

पथिक—"निरुद्देश्य घूम रहा हूँ, कभी राजमार्ग, कभी खड्ढ, कभी सिंधुतट और कभी गिरि-पथ देखता-फिरता हूँ। आँखों की तृष्णा मुझे बुझती नहीं दिखाई देती। यह सब क्यों देखना चाहता हूँ, कह नहीं सकता।"

"तब भी भ्रमण कर रहे हो !"

पथिक—"हाँ, अबकी इच्छा है कि हिमालय में ही विचरण करूँ। इसी के सामने दूर तक चला जाऊँ !"

वृद्ध—"तुम्हारे पिता-माता हैं ?"

पथिक—"नहीं।"

किन्नरी "तभी तुम घूमते हो ! मुझे तो पिताजी थोड़ी दूर भी नहीं जाने देते।"—वह हँसने लगी।

वृद्ध ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर कपा—"बड़ी पगली है !"

किन्नरी खिलखिला उठी।

पथिक—"अपरिचित देशों में एक रात रमना और फिर चल देना। मन के समान चंचल हो रहा हूँ, जैसे पैरों के नीचे चिनगारी हो !"

किन्नरी—"हम लोग तो कहीं जाते नहीं; सबसे अपरिचित हैं, कोई नहीं जानता। न कोई यहाँ आता है। हिमालय की निर्जर शिखर-श्रेणी और बर्फ की झड़ी, कस्तूरी मृग और बर्फ के चूहे, ये ही मेरे स्वजन हैं।"

वृद्ध—"क्यों री किन्नरी ! मैं कौन हूँ ?"

"किन्नरी—तुम्हारा तो कोई नया परिचय नहीं है; वही मेरे पुराने बाबा बने हो !"

वृद्ध सोचने लगा।

पथिक हँसने लगा। किन्नरी अप्रतिभ हो गई। वृद्ध गंभीर होकर कंबल ओढ़ने लगा।

पथिक को उस कुटी में रहते कई दिन हो गये। न जाने किस बंधन ने उसे यात्रा से वंचित कर दिया है। पर्यटन युवक आलसी बनकर चुपचाप खुली धूप में, बहुधा देवदारु की लंबी छाया में बैठा हिमालयखंड की निर्जन कमनीयता की ओर एकटक देखा करता है। जब कभी अचानक आकर किन्नरी उसका कंधा पकड़कर हिला देती है, तो उसके तुषारतुल्य हृदय में बिजली-सी दौड़ जाती है। किन्नरी हँसने लगती है—जैसे बर्फ गल जाने पर लता के फूल निखर आते हैं।

एक दिन पथिक ने कहा—"कल मैं जाऊँगा।"

किन्नरी ने पूछा—"किधर ?"

पथिक ने हिम-गिरि की ऊँची चोटी दिखलाते हुए कहा—"उधर, जहाँ कोई न गया हो !"

किन्नरी ने पूछा—"वहाँ जाकर क्या करोगे ?"

"देखकर लौट आऊँगा।"

"अभी से क्यों नहीं जाना रोकते, जब लौट ही आना है ?"

"देखकर आऊगा; तुम लोगों से मिलते हुए देश को लौट जाऊँगा। वहाँ जाकर यहाँ का सब समाचार सुनाऊँगा।"

"वहाँ क्या तुम्हारा कोई परिचित है ?"

"यहाँ पर कौन था ?"

"चले जाने में तुमको कुछ कष्ट नहीं होगा ?"

"कुछ नहीं; हाँ एक बार जिनका स्मरण होगा, उनके लिए जी कचोटेगा। परंतु ऐसे कितने ही हैं !"

"कितने होंगे ?"

"बहुत-से, जिनके यहाँ दो घड़ी से लेकर दो-चार दिन तक आश्रय ले चुका हूँ। उन दयालुओं की कृतज्ञता से विमुख नहीं होता।"

"मेरी इच्छा होती है कि उस शिखर तक मैं भी तुम्हारे साथ चलकर देखूँ। बाबा से पूछ लूँ।"

"ना-ना, ऐसा मत करना।" पथिक ने देखा, बर्फ की चट्टान पर श्यामल दूर्वा उगने लगी है। मतवाले हाथी के पैर में फूली हुई लता लिपटकर साँकल बनना चाहती है। वह उठकर फूल बिनने लगा। एक माला बनाई। फिर किन्नरी के सिर का बंधन खोलकर वहीं माला अटका दी। किन्नरी के मुख पर कोई भाव

न था। वह चुपचाप थी। किसी ने पुकारा—"किन्नरी !"

दोनों ने घूमकर देखा, बृद्ध का मुँह लाल था। उसने पूछा—"पथिक ! तुमने देवता का निर्माल्य दूषित करना चाहा—तुम्हारा दंड क्या है ?"

पथिक ने गंभीर स्वर से कहा—"निर्वासन।"

"और भी कुछ ?"

"इससे विशेष तुम्हें अधिकार नहीं; क्योंकि तुम देवता नहीं, जो पाप की वास्तविकता समझ लो !"

"हूँ !"

"और, मैंने देवता के निर्माल्य को और भी पवित्र बनाया है। उसे प्रेम के गंधजल से सुरभित कर दिया है। उसे तुम देवता को अर्पण कर सकते हो।"—इतना कहकर पथिक उठा, और गिरिपथ से जाने लगा।

वृद्ध ने पुकार कर कहा—"तुम कहाँ जाओगे ? वह सामने भयानक शिखर है !"

पथिक ने लौटकर खड्ढ में उतरना चाहा। किन्नरी पुकारती हुई दौड़ी—"हाँ-हाँ, मत उतरना, नहीं तो प्राण न बचेंगे !"

पथिक एक क्षण के लिए रुक गया। किन्नरी ने वृद्ध से घूमकर पूछा—"बाबा, क्या यह देवता नहीं है ?"

वृद्ध कुछ कह न सका। किन्नरी और आगे बढ़ी। उसी क्षण एक लाल धुँधली आँधी के सदृश बादल दिखलाई पड़ा। किन्नरी और पथिक गिरि-पथ से चढ़ रहे थे। वे अब दो श्याम-बिंदु की तरह वृद्ध की आँखों में दिखाई देते थे। वह रक्तमलिन मेघ समीप आ रहा था। वृद्ध कुटीर की ओर पुकारता हुआ चला—"दोनों लौट आओ; खूनी बर्फ आ रही है !" परंतु जब पुकारना था, तब वह चुप रहा। अब वे सुन नहीं सकते थे।

दूसरे ही क्षण खूनी बर्फ, वृद्ध और उन दिनों के बीच में थी।

□□

भिखारिन

जाह्नवी अपने बालू के कंबल में ठिठ्ठरकर सो रही थी। शीत कुहासा बनकर प्रत्यक्ष हो रहा था। दो-चार लाल धारायें प्राची के क्षितिज में बहना चाहती

थीं। धार्मिक लोग स्नान करने के लिए आने लगे थे।

निर्मल की माँ स्नान कर रही थी, और वह पंडे के पास बैठा हुआ बड़े कुतूहल से धर्म-भीरु लोगों की स्नान-क्रिया देखकर मुस्करा रहा था। उसकी माँ स्नान करके ऊपर आई। अपनी चादर ओढ़ते हुए स्नेह से उसने निर्मल से पूछा—"क्या तू स्नान न करेगा ?"

निर्मल ने कहा—"नहीं माँ, मैं तो धूप निकलने पर घर पर ही स्नान करूँगा।"

पंडाजी ने हँसते हुए कहा—"माता, अबके लड़के पुण्य-धर्म क्या जानें ? यह सब तो जब तक आप लोग हैं, तभी तक है।"

निर्मल का मुँह लाल हो गया। फिर भी वह चुप रहा। उसकी माँ संकल्प लेकर कुछ दान करने लगी। सहसा जैसे उजाला हो गया—एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गई—"कुछ हमको दे दो, रानी माँ !"

निर्मल ने देखा, एक चौदह बरस की भिखारिन भीख माँग रही है। पंडाजी भल्लाये, बीच ही में संकल्प अधूरा छोड़कर बोल उठे—"चल हट !"

निर्मल ने कहा—"माँ ! कुछ इसे भी दे दो।"

माता ने उधर देखा भी नहीं, परन्तु निर्मल ने उस ज़ीर्ण मलिन वसन में एक दरिद्र हृदय की हँसी को रोते हुए देखा। उस बालिका की आँखों में एक अधूरी कहानी थी। रूखी लटों में सादी उलझन थी, और बरौनियों के अग्रभाग में संकल्प के जलबिन्दु लटक रहे थे, करुणा का दान जैसे होने ही वाला था।

धर्म-परायण निर्मल की माँ स्नान करके निर्मल के साथ चली। भिखारिन को अभी आशा थी, वह भी उन लोगों के साथ चली।

निर्मल एक भावुक युवक था। उसने पूछा—"तुम भीख क्यों माँगती हो ?"

भिखारिन की पोटली के चावल फटे कपड़े के छिद्र से गिर रहे थे। उन्हें सँभालते हुए उसने कहा—"बाबूजी, पेट के लिए।"

निर्मल ने कहा—"नौकरी क्यों नही करती ? माँ, इसे अपने यहाँ रख क्यों नहीं लेती हो ? धनिया तो प्राय: आती भी नहीं।"

माता ने गम्भीरता से कहा—"रख लो ! कौन जाति है, कैसी है, जाना न सुना; बस रख लो।"

निर्मल ने कहा—"माँ, दरिद्रों की तो एक ही जाति होती है।"

माँ झल्ला उठी, और भिखारिन लौट चली। निर्मल ने देखा, जैसे उमड़ी हुई मेघमाला बिना बरसे हुए लौट गई। उसका जी कचोट उठा। विवश था, माता के साथ चला गया।

"सुने री निर्धन के धन राम ! सुने री—"

भैरवी के स्वर, पवन में आंदोलन कर रहे थे। धूप गंगा के वक्ष पर उजली होकर नाच रही थी। भिखारिन पत्थर की सीढ़ियों पर सूर्य की ओर मुँह किये गुनगुना रही थी। निर्मल आज अपनी भाभी के संग स्नान करने के लिए आया है। गोद में अपने चार भतीजे को लिये वह भी सीढ़ियों से उतरा। भाभी ने पूछा—"निर्मल ! आज क्या तुम भी पुण्य-संचय करोगे ?"

"क्यों भाभी ! जब तुम इस छोटे से बच्चे को इस सरदी में नहला देना धर्म समझती हो, तो मैं ही क्यों वंचित रह जाऊँ ?"

सहसा निर्मल चौंक उठा। उसने देखा, बगल में वही भिखारिन बैठी गुनगुना रही है। निर्मल को देखते ही उसने कहा—बाबूजी, तुम्हारा बच्चा फले-फूले, बहू का सोहाग बना रहे ! आज तो मुझे कुछ मिले।"

निर्मल अप्रतिभ हो गया। उसकी भाभी हँसती हुई बोली—"दुर पगली !"

भिखारिन सहम गई। उसके दाँतों का भोलापन गंभीरता के परदे में छिप गया। वह चुप हो गई।

निर्मल ने स्नान किया। सब ऊपर चलने के लिए प्रस्तुत थे। सहसा बादल हट गये, उन्हीं अमल-धवल दाँतों की श्रेणी ने फिर याचना की—"बावुजी, कुछ मिलेगा ?"

"अरे, अभी बाबूजी का ब्याह नहीं हुआ। जब होगा, तब तुझे न्योता देकर बुलावेंगे। तब तक संतोष करके बैठी रह।" भाभी ने हँसकर कहा।

"तुम लोग बड़ी निष्ठुर हो, भाभी ! उस दिन माँ से कहा कि इसे नौकर रख लो, तो वह इसकी जाति पूछने लगी; और आज तुम भी हँसी ही कर रही हो! "

निर्मल की बात काटते हुए भिखारिन ने कहा—"बहूजी, तुम्हें देखकर मैं तो यही जानती हूँ कि ब्याह हो गया है। मुझे कुछ न देने के लिए बहाना कर रही हो !"

"मर पगली ! बड़ी ढीठ है !" भाभी ने कहा।

"भाभी ! उस पर क्रोध न करो। वह क्या जाने, उसकी दृष्टि में सब अमीर और सुखी लोग विवाहित हैं। जाने दो, घर चलें !"

"अच्छा चलो, आज माँ से कहकर इसे तुम्हारे लिए टहलनी रखवा दूँगी।"—कहकर भाभी हँस पड़ी।

युवक-हृदय उत्तेजित हो उठा। बोला—"यह क्या भाभी ! मैं तो इससे ब्याह करने के लिए भी प्रस्तुत हो जाऊँगा ! तुम व्यंग क्यों कर रही हो ?"

भाभी अप्रतिभ हो गई। परंतु भिखारिन अपने स्वाभाविक भोलेपन से बोली—"दो दिन माँगने पर भी तुम लोगों से एक पैसा तो देते नहीं बना, फिर क्यों

गाली देते हो, बाबू ? ब्याह करके निभाना तो बड़ी दूर की बात है !"—भिखारिन भारी मुँह किये लौट चली।

बालक रामू अपनी चालाकी में लगा था ! माँ की जेब से छोटी दुअन्नी अपनी छोटी उँगलियों से उसने निकाल ली और भिखारिन की ओर फेंककर बोला—"लेती जाओ, ओ भिखारिन !"

निर्मल और भाभी को रामू की इस दया पर कुछ प्रसन्नता हुई, पर वे प्रकट न कर सके; क्योंकि भिखारिन ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ती हुई गुनगुनाती चली जा रही थी—

"सुने री निर्धन के धन राम !"

□□

प्रतिध्वनि

मनुष्य की चिता जल जाती है, और बुझ भी जाती है परंतु उसकी छाती की जलन, द्वेष की ज्वाला, संभव है, उसके बाद भी धक्-धक् करती हुई जला करे।

तारा जिस दिन विधवा हुई, जिस समय सब लोग रो-पीट रहे थे, उसकी ननद ने, भाई के मरने पर भी, रोदन के साथ व्यंग स्वर में कहा—"अरे मैया रे, किसका पाप किसे खा गया रे !"—अभी आसन्न वैधव्य ठेलकर, अपने कानों को ऊँचा करके, तारा ने वह तीक्ष्ण व्यंग रोदन के कोलाहल में भी सुन लिया था।

तारा संपन्न थी, इसलिए वैधव्य उसे दूर ही से डराकर चला जाता। उसका पूर्ण अनुभव वह कभी न कर सकी। हाँ, ननद रामा अपनी दरिद्रता के दिन अपनी कन्या श्यामा के साथ किसी तरह काटने लगी। दहेज मिलने की निराशा से कोई ब्याह करने के लिए प्रस्तुत न होता। श्यामा चौदह बरस की हो चली। बहुत चेष्टा करके भी रामा उसका ब्याह न कर सकी। वह चल बसी।

श्यामा निस्सहाय अकेली हो गई। पर जीवन के जितने दिन हैं, वे कारावासी के समान काटने ही होंगे। वह अकेली ही गंगा-तट पर अपनी बारी से सटे हुए कच्चे झोंपड़े में रहने लगी।

मन्नी नाम की एक बुढ़िया, जिसे 'दादी' कहती थी, रात को उसके पास सो

रहती, और न जाने कहाँ से, कैसे उसके खाने-पीने का कुछ प्रबंध कर ही देती। धीरे-धीरे दरिद्रता के सब अवशिष्ट चिह्न बिक कर श्यामा के पेट में चले गये।

पर, उसकी आम की बारी अभी नीलाम होने के लिए हरी-भरी थी !

कोमल आतप गंगा के शीतल शरीर में अभी ऊष्मा उत्पन्न करने में असमर्थ था। नवीन किसलय उससे चमक उठे थे। वसंत की किरणों की चोट से कोयल कुहुक उठी। आम की कैरियों के गुच्छे हिलने लगे। उस आम की बारी में माधव-ऋतु का डेरा था और श्यामा के कमनीय कलेवर में यौवन था।

श्यामा अपने कच्चे घर के द्वार पर खड़ी हुई मेघ-संक्रांति का पर्व-स्नान करने वालों को कगार के नीचे देख रही थी। समीप होने पर भी वह मनुष्यों की भीड़ उसे चींटियाँ रेंगती हुई जैसी दिखायी पड़ती थी। मन्नी ने आते ही उसका हाथ पकड़कर कहा—"चलो बेटी, हम लोग भी स्नान कर आवें।"

उसने कहा—"नहीं दादी, आज अंग-अंग टूट रहा है, जैसे ज्वर आने को है।"

मन्नी चली गई।

तारा स्नान करके दासी के साथ कगारे के ऊपर चढ़ने लगी। श्यामा की बारी के पास से ही पथ था। किसी को वहाँ न देखकर तारा ने संतुष्ट होकर साँस ली। कैरियों से गदराई हुई डाली से उसका सिर लग गया। डाली राह में झुकी पड़ती थी। तारा ने देखा, कोई नहीं है; हाथ बढ़ाकर कुछ कैरियाँ तोड़ लीं।

सहसा किसी ने कहा—"और तोड़ लो मामी, कल तो यह नीलाम ही होगा !"

तारा की अग्नि-बाण-सी आँखें किसी को जला देने के लिए खोजने लगीं। फिर उसके हृदय में वही बहुत दिन की बात प्रतिध्वनित होने लगी—"किसका पाप किसको खा गया, रे !"—तारा चौंक उठी। उसने सोचा, रामा की कन्या व्यंग कर रही है—भीख लेने के लिए कह रही है। तारा होंठ चबाती हुई चली गई।

एक सौ पाँच—एक,

एक सौ पाँच—दो,

एक सौ पाँच रुपये—तीन !

बोली हो गई। अमीन ने पूछा—"नीलाम का चौथाई रुपया कौन जमा करता है ?"

एक गठीले युवक ने कहा—"चौथाई नहीं, कुल रुपये लीजिये।" तारा के नाम की रसीद बना रुपया सामने रख दिया गया।

श्यामा एक आम के वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठी थी। उसे और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था, केवल डुग्गियों के साथ एक-दो-तीन की प्रतिध्वनि कानों में गूँज रही थी। एक समझदार मनुष्य ने कहा—"चलो, अच्छा ही हुआ, तारा ने अनाथ लड़की के बैठने का ठिकाना तो बना रहने दिया; नहीं तो गंगा किनारे का घर और तीन बीघे की बारी, एक सौ पाँच रुपये में! तारा ने बहुत अच्छा किया।"

बुढ़िया मन्नी ने कहा—"भगवान् जाने, ठिकाना कहाँ होगा!"

श्यामा चुपचाप सुनती रही। संध्या हो गई। जिनका उसी अमराई में नीड़ था, उन पक्षियों का झुंड कलरव करता हुआ घर लौटने लगा। पर श्यामा न हिली; उसे भूल गया कि उसके भी घर है।

बुढ़िया के साथ अमीन साहब आकर खड़े हो गये। अमीन एक सुंदर कहे जाने योग्य युवक थे, और उनका यह सहज विश्वास था कि कोई भी स्त्री हो, मुझे एक बार अवश्य देखेगी। श्यामा के सौंदर्य को तो दारिद्रय ने ढक लिया था; पर उसका यौवन छिपाने के योग्य न था। कुमार यौवन अपनी क्रीड़ा में विह्वल था। अमीन ने कहा—"मन्नी! पूछो, मैं रुपया दे दूं—अभी एक महीने की अवधि है, रुपया दे देने से नीलाम रुक जायगा!"

श्यामा ने एक बार तीखी आँखों से अमीन की ओर देखा। वह पुष्ट कलेवर अमीन, उस अनाथ बालिका की दृष्टि न सह सका, धीरे से चला गया। मन्नी ने देखा, बरसात की-सी गीली चिता श्यामा की आँखों में जल रही है। मन्नी का साहस न हुआ कि उससे घर चलने के लिए कहे। उसने सोचा, ठहरकर आऊँगी तो इसे घर लिवा जाऊँगी। परंतु जब वह लौटकर आई, तो रजनी के अंधकार में बहुत खोजने पर भी श्यामा को न पा सकी।

तारा का उत्तराधिकारी हुआ—उसके भाई का पुत्र प्रकाश। अकस्मात् सम्मत्ति मिल जाने से जैसा प्राय: हुआ करता है, वही हुआ—प्रकाश अपने-आपे में न रह सका। वह उस देहात में प्रथम श्रेणी का विलासी बन बैठा। उसने तारा के पहले घर से कोस-भर दूर श्यामा की बारी को भली-भाँति सजाया; उसका कच्चा घर तोड़कर बंगला बन गया। अमराई में सड़कें और क्यारियाँ दौड़ने लगीं। यहीं प्रकाश बाबू की बैठक जमी। अब इसे उसके नौकर 'छावनी' कहते थे।

आषाढ़ का महीना था। सवेरे ही बड़ी उमस थी। पुरवाई से घनमंडल स्थिर हो रहा था। वर्षा होने की पूरी संभावना थी। पक्षियों के झुंड आकाश में अस्त-व्यस्त घूम रहे थे। एक पगली गंगा के तट के ऊपर की ओर चढ़ रही थी। वह अपने प्रत्येक पाद-विक्षेप पर एक-दो-तीन अस्फुट स्वर से कह देती, फिर आकाश की ओर देखने लगती थी। अमराई के खुले फाटक से वह घुस आई, और पास के वृक्षों के नीचे घूमती हुई "एक-दो-तीन" करके गिनने लगी।

लहरीले पवन का एक झोंका आया; तिरछी बूंदों की एक बाढ़ पड़ गई।

दो-चार आम भी चू पड़े। पगली घबरा गई। तीन से अधिक वह गिनना ही नहीं जानती थी। इधर बूंदों को गिने कि आमों को! बड़ी गड़बड़ी हुई। पर वह मेघ का टुकड़ा बरसता हुआ निकल गया। पगली एक बार स्वस्थ हो गई।

महोखा एक डाल से बोलने लगा। डुग्गी के समान उसका ''डूप-डूप-डूप'' शब्द पगली को पहचाना हुआ-सा मालूम पड़ा। वह फिर गिनने लगी—एक-दो-तीन? उसके चुप हो जाने पर पगली ने डालों की ओर देखा और प्रसन्न होकर बोली—एक-दो-तीन! इस बार उसकी गिनती में बड़ा उल्लास था, विस्मय था और हर्ष भी। उसने एक ही डाल में पके हुए तीन आमों को वृंत्तों-सहित तोड़ लिया, और उन्हें झुकाते हुए गिनने लगी। पगली इस बार सचमुच बालिका बन गई, जैसे खिलौने के साथ खेलने लगी।

माली आ गया। उसने गाली दी, मारने के लिए हाथ उठाया। पगली अपना खेल छोड़कर चुपचाप उसकी ओर एकटक देखने लगी। वह उसका हाथ पकड़कर प्रकाश बाबू के पास ले चला।

प्रकाश यक्ष्मा से पीड़ित होकर इन दिनों यहाँ निरंतर रहने लगा था। वह खाँसता जाता था। और तकिये के सहारे बैठा हुआ पीकदान में रक्त और कफ थूकता जाता था। कंकाल-सा शरीर पीला पड़ गया था। मुख में केवल नाक और बड़ी-बड़ी आँखें अपना अस्तित्व चिल्लाकर कह रही थीं। पगली को पकड़कर माली उसके सामने ले आया।

विलासी प्रकाश ने देखा पागल यौवन अभी उस पगली के पीछे लगा था। कामुक प्रकाश को आज अपने रोग पर क्रोध हुआ, और पूर्ण मात्रा में हुआ। पर क्रोध धक्का खाकर पगली की ओर चला आया। प्रकाश ने आम देखकर ही समझ लिया और फूहड़ गालियों की बौछार से उसकी अभ्यर्थना की।

पगली ने कहा—''यह किस पाप का फल है? तू जानता है, इसे कौन खायगा? बोल! कौन मरेगा? बोल! एक-दो तीन''—

''चोरी को पागलपन में छिपाया चाहती है! अभी तो तुझे बीसों चाहने वाले मिलेंगे! चोरी क्यों करती है?''—प्रकाश ने कहा।

एक बार पगली का पागलपन, लाल वस्त्र पहनकर उसकी आँखों में नाच उठा। उसने आम तोड़-तोड़ कर प्रकाश के क्षय-जर्जर हृदय पर खींचकर मारते हुए गिना—एक-दो-तीन! प्रकाश तकिये पर चित्त लेटकर हिचकियाँ लेने लगा और पगली हँसते हुए गिनने लगी—एक दो-तीन। उनकी प्रतिध्वनि अमराई में गूँज उठी।

□□

कला

उसके पिता ने बड़े दुलार से उसका नाम रक्खा था—'कला'। नवीन इंदु-कला-सी वह आलोकमयी और आँखों की प्यास बुझानेवाली थी। विद्यालय में सबकी दृष्टि उस सरल-बालिका की ओर घूम जाती थी; परन्तु रूपनाथ और रसदेव उसके विशेष भक्त थे। कला भी कभी-कभी उन्हीं दोनों से बोलती थी, अन्यथा वह एक सुंदर नीरवता ही बनी रहती।

तीनों एक-दूसरे से प्रेम करते थे, फिर भी उनमें डाह थी। वे एक-दूसरे को अधिकाधिक अपनी ओर आकर्षित देखना चाहते थे। छात्रावास में और बालकों से उनका सौहार्द नहीं। दूसरे बालक और बालिकायें आपस में इन तीनों की चर्चा करतीं।

कोई कहता—"कला तो इधर आँख उठाकर देखती भी नहीं।"

दूसरा कहता—"रूपनाथ सुन्दर तो है, किंतु बड़ा कठोर।"

तीसरा कहता—"रसदेव पागल है। उसके भीतर न जाने कितनी हलचल है। उसकी आँखों में निश्छल अनुराग है; पर कला को जैसे सबसे अधिक प्यार करता है।"

उन तीनों को इधर ध्यान देने का अवकाश नहीं। वे छात्रावास की फुलवारी में, अपनी धुन में मस्त विचरते थे। सामने गुलाब के फूल पर एक नीली तितली बैठी थी। कला उधर देखकर गुनगुना रही थी। उसकी सजन स्वर-लहरी अव-गुंठित हो रही थी। पतले-पतले अधरों से बना हुआ छोटे-से मुंह का अवगुंठन उसे ढँकने में असमर्थ था। रूप एकटक देख रहा था और रस नीले आकाश में आँखें गड़ाकर उस गुंजार की मधुर श्रुति में काँप रहा था।

रूप ने कहा—"आह, कला! जब तुम गुनगुनाने लगती हो, तब तुम्हारे अधरों में कितनी लहरें खेलती हैं। भवें जैसे अभिव्यक्ति के मंच पर चढ़ती-उतरती कितनी अमिट रेखायें हृदय पर बना देती हैं।" रूप की बातें सुनकर कला ने गुनगुनाना बन्द कर दिया। रस ने व्याघात समझ कर भ्रू-भंग-सहित उसकी ओर देखा।

कला ने कहा—"अब मैं घर जाऊँगी, मेरी शिक्षा समाप्त हो चुकी।"

दोनों लुट गये। रूप ने कहा—"मैं तुम्हारा चित्र बनाकर उसकी पूजा करूँगा।"

रस ने कहा—"भला तुम्हें कभी भूल सकता हूँ।"

कला चली गई। एक दिन वसंत के गुलाब खिले थे, सुरभि से छात्रावास का उद्यान भर रहा था। रूपनाथ और रसदेव बैठे हुए कला की बातें कर रहे थे।

रूपनाथ ने कहा—"उसका रूप कितना सुन्दर है !"

रसदेव ने कहा —"और उसके हृदय के सौंदर्य का तो तुम्हें ध्यान ही नहीं।"

"हृदय का सौंदर्य ही तो आकृति ग्रहण करता है, तभी मनोहरता रूप में आती है।"

"परन्तु कभी-कभी हृदय की अवस्था आकृति से नहीं खुलती, आंखें धोखा खाती हैं।"

"मैं रूप से हृदय की गहराई नाप लूँगा। रसदेव, तुम जानते हो कि मैं रेखा-विज्ञान में कुशल हूँ। मैं चित्र बनाकर उसे जब चाहूँगा, प्रत्यक्ष कर लूँगा। उसका वियोग मेरे लिए कुछ भी नहीं है।"

"आह ! रूपनाथ ! तुम्हारी आकांक्षा साधन-सापेक्ष है। भीतर की वस्तु को बाहर लाकर संसार की दूषित वायु से उसे नष्ट होने के लिए।…"

"चुप रहो, तुम मन-ही-मन गुनगुना या करो। कुछ है भी तुम्हारे हृदय में ? कुछ खोल कर कह या दिखला सकते हो ?"…कहकर रूपनाथ उठकर जाने लगा।

क्षुब्ध होकर उसका कंधा पीछे से पकड़ते हुए रसदेव ने कहा—"तो मैं उसकी उपासना करने में असमर्थ हूँ ?"

रूपनाथ अवहेलना में देखता हुआ मुसकराता चला गया।

काल के विशृंखल पवन ने उन तीनों को जगत् के अंचल पर बिखेर दिया, पर वे सदैव एक-दूसरे को स्मरण करते रहे। रूपनाथ एक चतुर चित्रकार बन गया। केवल कला का चित्र बनाने के लिए अपने अभ्यास को उसने और भी प्रखर कर लिया। वह अपनी प्रेम-छवि की पूजा के नित्य नये उपकरण जुटाता। वह पवन के थपेड़े से मुंह फेरे हुए फूलों का शृङ्गार, चित्रपटी के जंगलों को देता। उसकी तूलिका से जड़ होकर भीतरी आंदोलनों से बाह्य दृश्य अनेक सुन्दर आकृतियों की विकृतियों में स्थायी बना दिये जाते। उसकी बड़ी ख्याति थी। फिर भी उसका गर्वस्फीत सिर अपनी चित्रशाला में आकर न जाने क्यों नीचे झुक जाता। वह अपने अभाव को जानता था, पर किसी से कहता न था। वह आज भी कला का अपने मनोनुकूल चित्र नहीं बना पाया।

रसदेव का जीवन नीरव निकुंजों में बीत रहा था। वह चुपचाप रहता। नदी-तट पर बैठे हुए उस पार की परियाली देखते-देखते अन्धकार का परदा खींच लेना, यही उसकी दिनचर्या थी, और नक्षत्र-माला-सुशोभित गगन के नीचे अवाक् निस्पंद पड़े हुए, सकुतूहल आँखों से जिज्ञासा करती रात्रिचर्या।

कुछ संगीतों की असंगति और कुछ अस्पष्ट छाया उसके हृदय की निधि थी, पर लोग उसे निकम्मा, पागल और आलसी कहते। एकाएक रजनी में सरिता कलोल करती हुई बही जा रही थी। रसदेव ने कल्पना के नेत्रों से देखा, अकस्मात्

नदी का जल स्थिर हो गया और अपने मरकत-मृणाल पर एक सहस्रदल मणि-पद्म जल-तल के ऊपर आकर नैशपवन में झूमने लगा। लहरों में स्वर के उपकरण से मूर्ति बनी, फिर नूपुरों की झनकार होने लगी। धीर मंथर गति से तरल आस्तरण पर पैर रखते हुए एक छवि आकर उस कमल पर बैठ गई।

रसदेव बड़बड़ा उठा। वह काली रजनीवाले दुष्ट दिनों की दुःख-गाथा और आज की वैभवशालिनी निशा की सुख-कथा मिलाकर कुछ कहने लगा। वह छवि सुनती-सुनती मुसकराने लगी, फिर चली गई। नूपुरों की मधुर-मधुर ध्वनि अपने संगीत का आधार उसे देती गई। विश्व का रूप रसमय हो गया। आकृतियों का आवरण हट गया। रसदेव की आँखें पारदर्शी हो गईं। आज रसदेव के हृदय की अव्यक्त ध्वनि सार्थक हो गई। वह कोमल पदावली गाने लगा।

नगर में आज बड़ी धूम-धाम है। जिसे देखो, रंगशाला की ओर दौड़ा जा रहा है। रंगशाला के विशिष्ट मंच पर संपन्न चित्रकार रूपनाथ, ठाटबाट से बैठा है। धनी, शिक्षित और अधिकारी लोग अपने आसनों पर जमे हैं! वीणा और मृदंग की मधुरध्वनि के साथ अभिनेत्री ने यवनिका उठते ही पदार्पण किया। नूपुर की झनकारों की लहर ठहर-ठहर कर उठने लगी। उँगली और कलाई, कटि और बाहुमूल स्वर की मरोर से बल खा रहे थे। लोगों ने कहा—"देखने की वस्तु आज ही दिखलाई पड़ी। जीवन का सबसे बड़ा लाभ आज ही मिला।"

कितने सहृदय अपने उछलते हुए हृदय को हाथों से दबाये थे। शालीनता उनके लिए विपत्ति बन गई थी।

चित्रकार का अन्धभक्त धनकुबेर भी पास ही बैठा था। उसने कहा—"रूपनाथ, इसका एक सुन्दर चित्र बनाकर तुम मुझे दे सकोगे?"

चित्रकार ने देखा, एक अतुलनीन छविराशि! तूलिका इसके समीप पहुँच सकेगी? वह आँखों में अंकित करने लगा। सहसा अभिनेत्री के अधर खुल पड़े। नृत्य-श्वास-श्लथ-प्रश्वास क्षण भर के लिए रुके, बाँसुरी बज उठी। वागेश्वरी के स्वरों के कम्पन की लहरें ज्योति-सी बिखरने लगीं। चित्रकार पुकार उठा—"कला!"

परन्तु यह क्या, उसने देखा, कला सजीव चित्र थी। उसकी पूर्णता स्वर-कम्पन के ज्योति-मण्डल में ओतप्रोत थी। उसने पागलों की तरह चिल्लाकर कहा—"मैं असफल हूँ। मैं इस भाव को रूप नहीं दे सकूँगा।" वह उठकर चला गया।

कंगाल रसदेव भी पीछे के मंच पर अपने एक साथी के साथ बैठा था। उसने कहा—"रसदेव, यह तो तुम्हारी बनाई हुई, 'स्मृति' नाम की कविता गा रही है; तुम्हारी रसमयी भावुकता ही इस स्वर्गीय संगीत का केंद्र है, आत्मा है। जैसे वर्णमाला पहनकर आलोक-शिखा नृत्य कर रही है।"

संगीत में उस समय विश्राम था। अभिनेत्री ने वीणा और मृदंग को संकेत से रोककर मूक अभिनय आरंभ कर दिया था। अपने झलमले अंचल को माया-जाल के समान फैलाकर स्मृति की प्रत्यक्ष अनुभूति बन रही थी। कवि की मधुर वाणी उसे सुनाई पड़ी। कवि रसदेव ने अपने साथी से हँसते हुए कहा—"इसकी अंतिम और मुख्य पदावली यह भूल गई, उसका अर्थ है—मेरी भूल ही तेरा रहस्य है, इसीलिए कितनी ही कल्पनाओं में तुझे खोजता हूँ, देखता हूँ, हे मेरे चिर सुंदर!"

वह स्मृति में जैसे जग पड़ी उसने सतृष्ण दृष्टि से उस कहनेवाले को खोजा और अपने बधाई के फूल—विजयमाला—उस दूर खड़े कंगाल कवि के चरणों में श्रद्धांजलि के सदृश बिखेरने चाहे।

रसदेव ने गर्वस्फीत सर झुका दिया।

□□

देवदासी

'......'

1-3-25

प्रिय रमेश!

परदेश में किसी अपने के घर लौट आने का अनुरोध बड़ी सांत्वना देता है, परन्तु अब तुम्हारा मुझे बुलाना एक अभिनय-सा है। हां, मैं कटूक्ति करता हूँ, जानते हो क्यों? मैं झगड़ना चाहता हूँ, क्योंकि संसार में अब मेरा कोई नहीं है, मैं उपेक्षित हूँ। सहसा अपने का-सा स्वर सुनकर मन में क्षोभ होता है। अब मेरा घर लौटकर आना अनिश्चित है। मैंने '.....' के हिंदी-प्रचार-कार्यालय में नौकरी कर ली है। तुम तो जानते ही हो कि मेरे लिए प्रयाग और '......' बराबर हैं। अब अशोक विदेश में भूखा न रहेगा। मैं पुस्तक बेचता हूँ।

यह तुम्हारा लिखना ठीक है कि एक आने का टिकट लगाकर पत्र भेजना मुझे अखरता है। पर तुम्हारे गाल यदि मेरे समीप होते, तो उन पर पाँचों नहीं तो मेरी तीन उँगलियाँ अपना चिह्न अवश्य ही बना देतीं; तुम्हारा इतना साहस—मुझे लिखते हो कि बेयरिंग पत्र भेज दिया करो! ये सब गुण मुझमें होते, तो

मैं भी तुम्हारी तरह प्रेस में प्रूफरीडर का काम करता होता। सावधान, अब कभी ऐसा लिखोगे, तो मैं उत्तर भी न दूँगा।

लल्लू को मेरी ओर से प्यार कर लेना। उससे कह देना कि पेट से बचा सकूँगा, तो एक रेलगाड़ी भेज दूँगा।

यद्यपि अपनी यात्रा का समाचार बराबर लिखकर मैं तुम्हारा मनोरंजन न कर सकूँगा, तो भी सुन लो। '......' में एक बड़ा पर्व है, वहाँ '......' का देव-मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। तुम तो जानते होगे कि दक्षिण में कैसे-कैसे दर्शनीय देवालय हैं, उनमें भी यह प्रधान है। मैं वहाँ कार्यालय की पुस्तकें बेचने के लिए जा रहा हूँ।

तुम्हारा,
अशोक

पुनश्च—

मुझे विश्वास है कि मेरा पता जानने के लिए कोई उत्सुक न होगा। फिर भी सावधान! किसी पर प्रकट न करना।

2

'........'
10-2-25

प्रिय रमेश!

रहा नहीं गया! लो सुनो—मंदिर देखकर हृदय प्रसन्न हो गया, ऊँचा गोपुरम्, सुदृढ़ प्राचीर, चौड़ी परिक्रमाएँ और विशाल सभा-मंडप भारतीय स्थापत्य-कला के चूड़ान्त निदर्शन है। यह देव-मंदिर हृदय पर गंभीर प्रभाव डालता है। हम जानते हैं कि तुम्हारे मन में यहाँ के पंडों के लिए प्रश्न होगा, फिर भी वे उत्तरीय भारत से बुरे नहीं हैं। पूजा और आरती के समय एक प्रभावशाली वातावरण हृदय को भारावनत कर देता है।

मैं कभी-कभी एकटक देखता हूँ—उन मंदिरों को ही नहीं, किंतु उस प्राचीन भारतीय संस्कृति को, जो सर्वोच्च शक्ति को अपनी महत्ता, सौंदर्य और ऐश्वर्य के द्वारा व्यक्त करना जानती थी। तुमसे कहूँगा, यदि कभी रुपये जुटा सको, तो एक बार दक्षिण के मंदिरों को अवश्य देखना, देव-दर्शन की कला यहाँ देखने में आती है। एक बात और है, मैं अभी बहुत दिनों तक यहाँ रहूँगा। मैं यहाँ की भाषा भली-भाँति बोल लेता हूँ। मुझे परिक्रमा के भीतर ही एक कोठरी संयोग से मिल गई है। पास में ही एक कुआँ भी है। मुझे प्रसाद भी मंदिर से ही मिला है। मैं बड़े चैन से हूँ। यहाँ पुस्तकें बेच भी लेता हूँ। सुंदर चित्रों के कारण पुस्तकों की अच्छी बिक्री हो जाती है। गोपुरम् के पास ही मैं दूकान फैला देता हूँ और

महिलाएँ मुझसे पुस्तकों का विवरण पूछती हैं। मुझे समझाने में बड़ा आनन्द आता है। पास ही बड़े सुंदर-सुंदर दृश्य हैं—नदी, पहाड़ और जंगल—सभी तो हैं। मैं कभी-कभी घूमने भी चला जाता हूँ। परंतु उत्तरीय भारत के समान यहाँ के देव-विग्रहों के समीप हम लोग नहीं जा सकते। दूर से ही दीपालोक में उस अचल मूर्ति की झाँकी हो जाती है। यहाँ मंदिरों में संगीत और नृत्य का भी आनंद रहता है। बड़ी चहल-पहल है। आजकल यात्रियों के कारण और भी सुंदर-सुंदर प्रदर्शन होते हैं।

तुम जानते हो कि मैं अपना पत्र इतना सविस्तार क्यों लिख रहा हूँ!—तुम्हारे कृपण और संकुचित हृदय में उत्कंठा बढ़ाने के लिए! मुझे इतना ही सुख सही।

तुम्हारा,
अशोक

3

'......'

17-3-25

प्रिय रमेश!

समय की उलाहना देने की प्राचीन प्रथा को मैं अच्छा नहीं समझता। इसलिए जब वह शुष्क मांसपेशी अलग दिखानेवाला, चौड़ी हड्डियों का अपना शरीर लठिया के बल पर टेकता हुआ, चिदंबरम् नाम का पंडा मेरे समीप बैठकर अपनी भाषा में उपदेश देने लगता है, तो मैं घबरा जाता हूँ। वह समय का एक दुर्दृश्य चित्र खिंचकर, अभाव और आपदाओं का उल्लेख करके विभीषिका उत्पन्न करता है। मैं उनसे मुक्त हूँ; भोजन मात्र के लिए अर्जन करके संतुष्ट घूमता हूँ—सोता हूँ। मुझे समय की क्या चिंता है। पर मैं यह जानता हूँ कि वही मेरा सहायक है—मित्र है, इतनी आत्मीयता दिखलाता है कि मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अहा, एक बात तो लिखना मैं भूल ही गया था! उसे अवश्य लिखूँगा क्योंकि तुम्हारे सुने बिना सुख अधूरा रहेगा। मेरे सुख को मैं ही जानूँ, तब उस में धरा ही क्या है, जब तुम्हें उसकी डाह न हो! तो सुनो—

सभा-मंडप के शिल्प-रचनापूर्ण स्तंभ से टिकी हुई एक उज्ज्वल श्यामवर्ण की बालिका को अपनी पतली बाहुलता के सहारे घुटने को छाती से लगाये प्रायः बैठी हुई देखता हूँ। स्वर्ण-मल्लिका की माला उसके जूड़े से लगी रहती है। प्रायः वह कुसुमा-भरण-भूषिता रहती है। उसे देखने का मुझे चस्का लग गया है। वह मुझसे हिन्दी सीखना चाहती है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि उसे पढ़ाना आरंभ कर दूँ? उनका नाम है पद्मा। चिदंबरम् और पद्मा में खूब पटती है, वह हरिनी की

तरह झिझकती भी है। पर न जाने क्यों मेरे पास आ बैठती है, मेरी पुस्तकें उलट-पलट देती है। मेरी बातें सुनते-सुनते वह ऐसी हो जाती है, जैसे कोई आलाप ले रही हो और मैं प्राय: आधी बात कहते-कहते रुक जाता हूँ। इसका अनुभव मुझे तब होता है, जब मेरे दृष्टि-पथ से वह हट जाती है। उसे देखकर मेरे हृदय में कविता करने की इच्छा होती है, यह क्यों ? मेरे हृदय का सोता हुआ सौंदर्य जाग उठता है। तुम मुझे नीच समझोगे और कहोगे कि अभागे अशोक के हृदय की स्पर्द्धा तो देखो ! पर मैं सच कहता हूँ, उसे देखने पर मैं अनंत ऐश्वर्यशाली हो जाता हूँ।

हाँ, वह मंदिर में नाचती और गाती है। और भी बहुत-सी हैं, पर मैं कहूँगा, वैसी एक भी नहीं। लोग उसे देवदासी पद्मा कहते हैं, वे अधम हैं, वह देवबाला पद्मा है !

वही,
अशोक

4

'.........'

28-3-25

प्रिय रमेश !

तुम्हारा उलाहना निस्सार है मैं इस समय केवल पद्मा को समझ सकता हूँ। फिर अपने या तुम्हारे कुशल-मंगल की चर्चा क्यों करूँ ? तुम उसका रूप-सौंदर्य पूछते हो, मैं उसका विवरण देने में असमर्थ हूँ। हृदय में उपमाएँ नाचकर चली जाती हैं, ठहरने नहीं पातीं कि मैं लिपि-बद्ध करूँ। वह एक ज्योति है, जो अपनी महत्ता और आलोक में अपना अवयव छिपाये रखती है। केवल तरल, नील, शुभ्र और करुण आँखें मेरी आँखों से मिल जाती हैं, मेरी आँखों में श्यामा कादंबिनी की शीतलता छा जाती है। और संसार के अत्याचारों से निराश इस झंझरीदार कलेजे के वातायन से वह स्निग्ध मलयानिल के झोंके की तरह घुस आती है। एक दिन की घटना लिखे बिना नहीं रहा जाता—

मैं अपनी पुस्तकों की दुकान फैलाये बैठा था। गोपुरम् के समीप ही वह कहीं से झपटी हुई चली आती थी। दूसरी ओर से एक युवक उसके सामने आ खड़ा हुआ। वह युवक, मंदिर का कृपा-भाजन एक धनी दर्शनार्थी था; यह बात उसके कानों के चमकते हुए हीरे के 'टप' से प्रकट थी। वह बेरोक-टोक मंदिर में चाहे जहाँ आता-जाता है। मंदिर में प्राय: लोगों को उससे कुछ मिलता है; सब उसका सम्मान करते हैं। उसे सामने देखकर पद्मा को खड़ी होना पड़ा। उसने बड़ी नीच

मुखाकृति से कुछ बातें कहीं, किंतु पद्मा कुछ न बोली। फिर उसने स्पष्ट शब्दों में रात्रि को अपने मिलने का स्थान निर्देश किया। पद्मा ने कहा—"मैं नहीं आ सकूँगी।" वह लाल-पीला होकर बकने लगा। मेरे मन में क्रोध का धक्का लगा, मैं उठकर उसके पास चला आया। वह मुझे देखकर हटा तो, पर कहता गया कि —"अच्छा, देख लूँगा !"

उस नील-कमल से मकरंद-बिंदु टपक रहे थे। मेरी इच्छा हुई कि वह मोती बटोर लूँ। पहली बार मैंने उन कपोलों पर हाथ लगाकर उन्हें लेना चाहा। आह, उन्होंने वर्षा कर दी ! मैंने पूछा—"उससे तुम इतनी भयभीत क्यों हो ?"

"मंदिर में दर्शन करनेवालों का मनोरंजन करना मेरा कर्त्तव्य है; मैं देवदासी हूँ !"—उसने कहा।

"यह तो बड़ा अत्याचार है। तुम क्यों यहाँ रहकर अपने को अपमानित करती हो ?"—मैंने कहा।

"कहाँ जाऊँ, मैं देवता के लिए उत्सर्ग कर दी गई हूँ।"—उसने कहा।

"नहीं-नहीं, देवता तो क्या, राक्षस भी मानव-स्वभाव की बलि नहीं लेता—वह तो रक्त-मांस से ही संतुष्ट हो जाता है। तुम अपनी आत्मा और अन्त:करण की बलि क्यों करती हो ?"—मैंने कहा।

"ऐसा न कहो, पाप होगा; देवता रुष्ट होंगे।"—उसने कहा।

"पापों को देवता खोजें, मनुष्य के पास कुछ पुण्य भी है, पद्मा ! तुम उसे क्यों नहीं खोजती हो ? पापों का न करना ही पुण्य नहीं। तुम अपनी आत्मा की अधिकारिणी हो, अपने हृदय की तथा शरीर की संपूर्ण स्वामिनी हो, मत डरो। मैं कहता हूँ कि इससे देवता प्रसन्न होंगे; आशीर्वाद की वर्षा होगी।"—मैंने एक साँस में कहकर देखा कि उसके मस्तक में उज्ज्वलता आ गई है, वह एक स्फूर्ति का अनुभव करने लगी है। उसने कहा—"अच्छा तो फिर मिलूँगी।"

वह चली गई। मैंने देखा कि बूढ़ा चिदंबरम् मेरे पीछे खड़ा मुसकरा रहा है। मुझे क्रोध भी आया पर कुछ न बोलकर मैंने पुस्तक बटोरना आरंभ किया।

तुम कुछ अपनी सम्मति दोगे ? —अशोक

5

'.........'

1-4-25

रमेश !

कल संगीत हो रहा था। मंदिर आलोक-माला से सुसज्जित था। नृत्य करती हुई पद्मा गा रही थी "नाम-समेतं वृत-संकेतं वादयते मृदु-वेणुं।..." ओह !

संगीत-मदिरा की लहरें थीं। मैं उनमें ऊभ-चूभ होने लगा। उसकी कुसुम-आभरण से भूषित अंगलता के संचालन से वायुमंडल सौरभ से भर जाता था। वह विवश थी, जैसे कुसुमिता लता तीव्र पवन के झोंके से रोगों के स्वर का स्पंदन उसके अभिनय में था। लोग उसे विस्मय-विमुग्ध देखते थे। पर न जाने क्यों, मेरे मन में उद्वेग हुआ, मैं जाकर अपनी कोठी में पड़ रहा,। आज कार्यालय से लौट आने के लिए पत्र आया था। उसी को विचारता हुआ कब तक आँखें बन्द किये पड़ा रहा, मुझे विदित नहीं, सहसा सायँ-सायँ, फुस-फुस का शब्द सुनाई पड़ा; मैं ध्यान लगाकर सुनने लगा।

ध्यान देने पर मैं जान गया कि दो व्यक्ति बातें कर रहे थे—चिदंबरम् और रामस्वामी नाम का वही धनी युवक। मैं मनोयोग से सुनने लगा।

चिदंबरम्—तुमने आज तक उसकी इच्छा के विरुद्ध बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, अब जब वह नहीं चाहती, तो तुम उसे क्यों सताते हो?

रामस्वामी—सुनो चिदंबरम्, सुंदरियों की कमी नहीं; पर न जाने क्यों मेरा हृदय उसे छोड़कर दूसरी ओर नहीं जाता। वह इतनी निरीह है कि उसे मसलने में आनंद आता है! एक बार उससे कह दो, मेरी बातें सुन ले, फिर जो चाहे करे।

चिदंबरम् चला गया और उसकी बातें बंद हुईं। और सच कहता हूँ, मंदिर से मेरा मन प्रतिकूल होने लगा। पैरों के शब्द हुए, वही जैसे रोती हुई बोली—"रामस्वामी, मुझ पर दया न करोगे?" ओह कितनी वेदना थी उसके शब्दो में। परंतु रामस्वामी के हृदय में तीव्र ज्वाला जल रही भी। उसके वाक्यों में लू-जैसी झुलस थी। उसने कहा—पद्मा! यदि तुम मेरे हृदय की ज्वाला समझ सकती, तो तुम ऐसा न कहती। मेरे हृदय की तुम अधिष्ठात्री हो, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। चलो, मैं देवता का कोप सहने के लिए प्रस्तुत हूँ, मैं तुम्हें लेकर कहीं चल चलूँगा।

"देवता का निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है, पहले इसका तो प्रायश्चित्त करो। मुझे केवल देवता के चरणों में मुरझाये हुए फूल के समान गिर जाने दो। रामस्वामी, ऐसा स्मरण होता है कि मैं भी तुम्हें चाहने लगी थी। उस समय मेरे मन में यह विश्वास था कि देवता यदि पत्थर के न होंगे, तो समझेंगे कि यह मेरे मांसल यौवन और रक्तपूर्ण हृदय की साधारण आवश्यकता है। मुझे क्षमा कर देंगे। परंतु मैं यदि वैसा पुण्य परिणय कर सकती! आह! तुम इस तपस्वी की कुटी समान हृदय में इतना सौंदर्य लेकर क्यों अतिथि हुए! रामस्वामी, तुम मेरे दुःखों के मेघ में वज्रपात थे।"

पद्मा रो रही थी। सन्नाटा हो गया। सहसा जाते-जाते रामस्वामी ने कहा —"मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता!" रमेश! मैं भी पद्मा के बिना नहीं रह

सकता; मैंने भी कार्यालय में त्याग-पत्र भेज दिया है। भूखों मरूँगा, पर उपाय क्या है?

—अभागा अशोक

6

'......'

रमेश 2-4-25

मैं बड़ा विचलित हो रहा हूँ। एक कराल छाया मेरे जीवन पर पड़ रही है। अदृष्ट मुझे अज्ञात पथ पर खींच रहा है, परतु तुमको लिखे बिना नहीं रह सकता।

मधुमास में जंगली फूलों की भीनी-भीनी महक सरिता के कूल की शैलमाला को आलिंगन दे रही थी। मक्खियों की भन्नाहट का कलनाद गुंजरित हो रहा था। नवीन पल्लवों के कोमल स्पर्श से वनस्थली पुलकित थी। मैं जंगली जर्द चमेली के अकृत्रिम कुंज के अंतराल में बैठा, नीचे बहती हुई नदी के साथ बसंत की धूप का खेल देख रहा था। हृदय में आशा थी। आह! वह अपने तुहिन-जाल से रत्नाकर के सब रत्नों को, आकाश से सब मुक्ताओं को निकाल, खींचकर मेरे चरणों में उछल देती थी। प्रभात की पीली किरणों से हेमगिरि को घसीट ले आती थी; और ले आती थी पद्मा की मौन प्रणय-स्वीकृति। मैं भी आज वन-यात्रा के उत्सव में देवता के भोग-विग्रह के साथ इस वनस्थली में आया था। बहुत-से नागरिक भी आये थे। देव-विग्रह विशाल वट-वृक्ष के नीचे स्थित हुआ और यात्री-दल इधर-उधर नदी-तट के नीचे शैलमाला, कुंजों, गह्वरों और घाटियों की हरियाली में छिप गया। लोग आमोद-प्रमोद, पान-भोजन में लग गये। हरियाली के भीतर से कहीं पिकलू, कहीं क्लारेनेट और देवदासियों के कोकिल-कंठ का सुंदर स्वर निकलने लगा। वह कानन नंदन हो रहा था और मैं उसमें विचरनेवाला एक देवता। क्यों? मेरा विश्वास था कि देवबाला पद्मा यहाँ है। वह भी देव-गृह के आगे-आगे नृत्य-गान करती हुई आई थी।

मैं सोचने लगा—"आह! वह समय भी आयेगा, जब मैं पद्मा के साथ एकान्त में इस कानन में विचारूँगा। वह पवित्र—वह मेरे जीवन का महत्तम योग कब आयेगा?" आशा ने कहा—'उसे आया समझो'। मैं मस्त होकर वंशी बजाने लगा। आज मेरी बाँस की बाँसुरी में बड़ा उन्माद था। वंशी नहीं, मेरा हृदय बज रहा था। चिदंबरम्—आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। वह भी मुग्ध था। उसने कभी मेरी वाँसुरी नहीं सुनी थी। जब मैंने अपनी आसावरी बंद की, वह बोल उठा—"अशोक, तुम एक कुशल कलावंत हो।' कहना न होगा कि वह देवदासियों

का संगीत-शिक्षक भी था। वह चला गया और थोड़ी ही देर में पद्मा को साथ लिये आया। उसके हाथों में भोजन का सामान भी था। पद्मा को उसने उत्तेजित कर दिया था। वह आते ही बोली—'मुझे भी सुनाओ।' जैसे मैं स्वप्न देखने लगा। पद्मा और मुझसे अनुनय करे! मैंने कहा 'बैठ जाओ।' और जब वह कुसुम-कंकण मंडित करों पर कपोल धरकर मल्लिका की छाया में आ बैठी, तो मैं बजाने लगा। रमेश, मैंने वंशी नहीं बजाई! सच कहता हूँ, मैं अपनी वेदना श्वासों से निकाल रहा था। इतनी करुण, इतनी स्निग्ध, मैं तानें ले-लेकर उसमें स्वयं पागल हो जाता था। मेरी आँखों में मदविकार था, मुझे उस समय अपनी पलकें बोझ मालूम होती थीं।

बाँसुरी रखने पर भी उसकी प्रतिध्वनि का सोहाग वन-लक्ष्मी के चारों ओर घूम रहा था। पद्मा ने कहा—'सुन्दर! तुम सचमुच अशोक हो!' वन-लक्ष्मी पद्मा अचल थी। मुझे एक कविता सूझी! मैंने कहा—पद्मा! मैं कठोर पृथ्वी का अशोक, तुम तरल जल की पद्मा! भला अशोक के राग-रक्त के नव-पल्लवों में पद्मा का विकास कैसे होगा?

बहुत दिनों पर पद्मा हँस पड़ी। उसने कहा—'अशोक, तुम लोगों की वचन-चातुरी सीखूँगी। कुछ खा लो।' वह देती गई, मैं खाता गया। जब हम स्वस्थ होकर बैठे तो देखा, चिदंबरम् चला गया है, पद्मा नीचे सिर किये अपने नखों को खुरच रही है। हम लोग सबसे ऊँचे कगारे पर थे। नदी की ओर ढालुवाँ पहाड़ी कगार था! मेरे सामने संसार एक हरियाली थी। सहसा रामास्वामी ने आकर कहा—'पद्मा, आज मुझे मालूम हुआ कि तुम उत्तरी दरिद्र पर मरती हो।' पद्मा ने छलछलाई आँखों से उसकी ओर देखकर कहा—'रामास्वामी! तुम्हारे अत्याचारों का कहीं अंत है?'

'सो नहीं हो सकता। उठो, अभी मेरे साथ चलो।'

'ओह,! नहीं, तुम क्या मेरी हत्या करोगे?' मुझे भय लगता है!

'मैं कुछ नहीं करूँगा। चलो, मैं इसके साथ तुम्हें नहीं देख सकता।' कहकर उसने पद्मा का हाथ पकड़कर घसीटा। वह कातर दृष्टि से मुझे देखने लगी। उस दृष्टि में जीवन भर के लिये किये गये अत्याचारों का विवरण था। उन्मत्त पिशाच-सदृश बल से मैंने रामास्वामी को धक्का दिया। और मैंने हतबुद्धि होकर देखा, वह तीन सौ फीट नीचे चूर होता हुआ नदी के खरस्रोत में जा गिरा, यद्यपि मेरी वैसी इच्छा न थी। पद्मा ने आकर मेरी ओर भयपूर्ण नेत्रों से देखा और अवाक्! उसी समय चिदंबरम् ने मेरा हाथ पकड़ लिया। पद्मा से कहा—'तुम देवदासियों में जाकर मिलो। सावधान! एक शब्द भी मुँह से न निकले। मैं अशोक को लेकर नगर की ओर जाता हूँ।' वह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये मुझे घसीटता ले चला। मैं नहीं जानता कि मैं कैसे घर पहुँचा। मैं कोठरी में अचेत पड़ा रहा। रात

भर वैसे ही रहा। प्रभात होते ही तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। मैंने क्या किया! रमेश! तुम कुछ लिखो, मैं क्या करूँ!

—अधम अशोक

7

'......'

प्रिय रमेश! 8-4-25

तुम्हारा यह लिखना कि 'सावधान बनो! पत्र में ऐसी बातें अब न लिखना।' व्यर्थ है। मुझे भय नहीं, जीवन की चिंता नहीं।

नगर-भर में केवल यही जनश्रुति फैली है कि 'रामास्वामी उस दिन से कहीं चला गया है और वह पद्मा के प्रेम से हताश हो गया था।' मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हूँ। चिदंबरम् मुझे दो मुट्ठी भात खिलाता है। मैं मंदिर के विशाल प्रांगण में कहीं-न-कहीं बैठा रहता हूँ। चिदंबरम् जैसे मेरे उस जन्म का पिता है। परन्तु पद्मा, अहा! उस दिन से मैंने उसे गाते और नाचते नहीं देखा। वह प्रायः सभा-मंडल के स्तंभ में टिकी हुई, दोनों हाथों में अपने एक घुटने को छाती से लगाये अर्द्ध स्वप्नावस्था में बैठी रहती है। उसका मुख विवर्ण, शरीर क्षीण, पलक, अपांग और उसके श्वास में यांत्रिक स्पंदन है। नये यात्री कभी-कभी उसे देखकर भ्रम करते होंगे कि वह भी कोई प्रतिमा है। और मैं सोचता हूँ कि मैं हत्यारा हूँ। स्नेह से स्नान कर लेता हूँ, घृणा से मुँह ढँक लेता हूँ। उस घटना के बाद से हम तीनों में कभी इसकी चर्चा नहीं हुई। क्या सचमुच पद्मा रामास्वामी को चाहती थी? मेरे प्यार ने भी उसका अपकार ही किया, और मैं? ओह! वह स्वप्न कैसा सुंदर था!

रमेश! मैं? देवता की ओर देख भी नहीं सकता। सोचता हूँ कि मैं पागल हो जाऊँगा। फिर मन में आता है कि पद्मा भी बावली हो जायगी। परन्तु मैं पागल न हो सकूँगा; क्योंकि पद्मा से कभी अपना प्रणय नहीं प्रकट कर सका। उससे एक बार कह देने की कामना है—पद्मा, मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। तुम मेरे लिए सुहागिनी के कुंकुम-बिंदु के समान पवित्र, इस मंदिर के देवता की तरह भक्ति की प्रतिमा और मेरे दोनों लोक की निगूढ़तम आकांक्षा हो।

पर वैसा होने का नहीं। मैं पूछता हूँ कि पद्मा और चिदंबरम् ने मुझे फाँसी क्यों नहीं दिलायी?

रमेश! अशोक विदा लेता है। पत्थर के मन्दिर का एक भिखारी है। अब वैसा नहीं कि तुम्हें पत्र लिखूँ और किसी से माँगूँगा भी नहीं। अधम, नीच अशोक लल्लू को किस मुँह से आशीर्वाद दे? —हतभाग्य अशोक

□□

समुद्र-संतरण

क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है। शांत प्रदेश में शोभा की लहरियाँ उठ रही हैं। गोधूली का करुण प्रतिबिंब, बेला की बालुकामयी भूमि पर दिगंत की तीक्षा का आवाहन कर रहा है।

नारिकेल के निभृत कुंजों में समुद्र का समीर अपना नीड़ खोज रहा था। सूर्य लज्जा या क्रोध से नहीं, अनुराग से लाल, किरणों से शून्य, अनन्त रसनिधि में डूबना चाहता है। लहरियाँ हट जाती हैं। अभी डूबने का समय नहीं है, खेल चल रहा है।

सुदर्शन प्रकृति के उस महा अभिनय को चुपचाप देख रहा है। इस दृश्य में सौंदर्य का करुण संगीत था। कला का कोमल चित्र नील-धवल लहरों में बनता-बिगड़ता था। सुदर्शन ने अनुभव किया कि लहरों से सौर-जगत् झोंके खा रहा है। वह उसे नित्य देखने आता; परंतु राजकुमार के वेष में नहीं। उसके वैभव के उपकरण दूर रहते। वह अकेला साधारण मनुष्य के समान इसे देखता, निरीह छात्र के सदृश इस गुरु दृश्य से कुछ अध्ययन करता। सौरभ के समान चेतन परमाणुओं से उसका मस्तक भर उठता। वह अपने राजमन्दिर को लौट जाता।

सुदर्शन बैठा था किसी की प्रतीक्षा में। उसे न देखते हुए, मछली फँसाने का जाल लिये, एक धीवर-कुमारी समुद्र-तट के कगारों पर चढ़ रही थी, जैसे पंख फैलाये तितली। नील भ्रमरी-सी उसकी दृष्टि एक क्षण के लिए कहीं नहीं ठहरती थी। श्याम-सलोनी गोधूलि सी वह सुंदर सिकता में अपने पद-चिह्न छोड़ती हुई चली जा रही थी।

राजकुमार की दृष्टि उधर फिरी। सायंकाल का समुद्र-तट उसकी आँखों में दृश्य के उस पार की वस्तुओं का रेखा-चित्र खींच रहा था। जैसे; वह जिसको नहीं जानता था, उसको कुछ-कुछ समझने लगा हो, और वही समझ, वही चेतना एक रूप रखकर सामने आ गई हो। उसने पुकारा—"सुंदरी!"

जाती हुई सुन्दरी धीवर-बाला लौट आई। उसके अधरों में मुसकान, आँखों में क्रीड़ा और कपोलों पर यौवन की आभा खेल रही थी, जैसे नील मेघ-खंड के भीतर स्वर्ण-किरण अरुण का उदय।

धीवर-बाला आकर खड़ी हो गई। बोली "मुझे किसने पुकारा?"

"मैंने।"

"क्या कहकर पुकारा?"

"सुन्दरी!"

"क्यों, मुझमें क्या सौन्दर्य है? और है भी कुछ, तो क्या तुमसे विशेष?"

"हाँ, मैं आज तक किसी को सुन्दरी कहकर नहीं पुकार सका था, क्योंकि यह सौन्दर्य-विवेचना मुझ में अब तक नहीं थी।"

"आज अकस्मात् यह सौंदर्य-विवेक तुम्हारे हृदय में कहाँ से आया ?"

"तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य-तृष्णा जाग गई।"

"परन्तु भाषा में जिसे सौन्दर्य कहते हैं, वह तो तुममें पूर्ण है।"

"मैं यह नहीं मानता, क्योंकि फिर सब मुझी को चाहते, सब मेरे पीछे बावले बने घूमते। यह तो नहीं हुआ। मैं राजकुमार हूँ; मेरे वैभव का प्रभाव चाहे सौन्दर्य का सृजन कर देना हो, पर मैं उसका स्वागत नहीं करता। उस प्रेम-निमन्त्रण में वास्तविकता कुछ नहीं।"

"हाँ, तो तुम राजकुमार हो! इसी से तुम्हारा सौन्दर्य सापेक्ष है।"

"तुम कौन हो ?"

"धीवर-बालिका।"

"क्या करती हो ?"

"मछली फँसाती हूँ।"—कहकर उसने जाल को लहरा दिया।

"जब इस अनन्त एकांत में लहरियों के मिस प्रकृति अपनी हँसी का चित्र दत्त-चित्त होकर बना रही, तब तुम उसके अंचल में ऐसा निष्ठुर काम करती हो ?"

"निष्ठुर है तो, पर मैं विवश हूँ। हमारे द्वीप के राजकुमार का परिणय होने-वाला है। उसी उत्सव के लिए सुनहली मछलियाँ फँसाती हूँ। ऐसी ही आज्ञा है।"

"परन्तु वह ब्याह तो होगा नहीं।"

"तुम कौन हो ?"

"मैं भी राजकुमार हूँ। राजकुमारों को अपने चक्र की बात विदित रहती है, इसलिए कहता हूँ।"

धीवर-बाला ने एक बार सुदर्शन के मुख की ओर देखा, फिर कहा—

"तब तो मैं इन निरीह जीवों को छोड़ देती हूँ।"

सुदर्शन ने कौतूहल से देखा, बालिका ने अपने अंचल से सुनहली मछलियों की भरी हुई मूठ समुद्र में बिखेर दी; जैसे जल-बालिका वरुण के चरण में स्वर्ण-सुमनों का उपहार दे रही हो। सुदर्शन ने प्रगल्भ होकर उसका हाथ पकड़ लिया, और कहा—

"यदि मैंने झूठ कहा तो ?"

"तो कल फिर जाल डालूँगी।"

"तुम केवल सुंदरी ही नहीं, सरल भी हो।"

"और तुम वंचक हो।"—कहकर धीवर-बाला ने एक निश्वास ली, और संध्या के समय अपना मुख फेर लिया। उसकी अलकावली जाल के साथ मिलकर

निशीथ का नवीन अध्याय खोलने लगी। सुदर्शन सिर नीचा करके कुछ सोचने लगा। धीवर-बालिका चली गई। एक मौन अंधकार टहलने लगा। कुछ काल के अनन्तर दो व्यक्ति एक अश्व लिये आये। सुदर्शन से बोले—"श्रीमान्, विलंब हुआ। बहुत-से निमन्त्रित लोग आ रहे हैं। महाराज ने आपको स्मरण किया है।"

"मेरा यहाँ पर कुछ खो गया है, उसे ढूंढ़ लूँगा, तब लौटूँगा।"

"श्रीमन्, रात्रि समीप है।"

"कुछ चिंता नहीं, चंद्रोदय होगा।"

"हम लोगों को क्या आज्ञा है?"

"जाओ।"

सब लोग गये। राजकुमार सुदर्शन बैठा रहा। चाँदी का थाल लिये रजनी समुद्र से कुछ अमृत-भिक्षा लेने आई। उदार सिंधु देने के लिए उमड़ उठा। लहरियाँ सुदर्शन के पैर चूमने लगीं। उसने देखा, दिगंत-विस्तृत जलराशि पर कोई गोल और धवल पाल उड़ाता हुआ अपनी सुंदर तरणी लिए हुए आ रहा है। उसका विषय-शून्य हृदय व्याकुल हो उठा। उत्कट प्रतीक्षा—दिगंत-गामिनी अभिलाषा—उसकी जन्मांतर की स्मृति बनकर उस निर्जन प्रकृति में रमणीयता की—समुद्र-गर्जन में संगीत की सृष्टि करने लगी। धीरे-धीरे उसके कानों में एक कोमल अस्फुट नाद गूँजने लगा। उस दूरागत स्वर्गीय संगीत ने उसे अभिभूत कर दिया। नक्षत्र-मालिनी प्रकृति हीरे-नीलम से जड़ी पुतली के समान उसकी आँखों का खेल बन गई।

सुदर्शन ने देखा, सब सुंदर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनकर सामने आती थी, वह उसे हँसती हुई मोहनी और मधुर सौन्दर्य से ओतप्रोत दिखाई देने लगी। अपने में और सबमें फैली हुई उस सौन्दर्य की विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बदल गई। उसे उन्माद हो चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चंद्रमा की किरणें खेलें और वह हँसा करे। इतने में ध्यान आया उस धीवर-बालिका का। इच्छा हुई कि वह भी वरुण-कन्या सी चंद्रकिरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़े। उसे ध्यान आया कि मुझे लौटा ले जाने के लिए कुछ लोग आ रहे हैं। वह चंचल हो उठा, फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।

बेला से दूर—चारों ओर जल—आंखों में वही धवल पाल, कानों में अस्फुट संगीत। सुदर्शन तैरते-तैरते थक चला था। संगीत और वंशी समीप आ रही थी। एक छोटी मछली पकड़ने की नाव आ रही थी। पास आने पर देखा, धीवर-बाला वंशी बजा रही है और नाव अपने मन से चल रही है।

धीवर-बाला ने कहा—आओगे ?

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा —कहाँ ले चलोगी ?

पृथ्वी से दूर जल-राज्य में; जहाँ कठोरता नहीं, केवल शीतल, कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं, सीधा आत्मविश्वास है; वैभव नहीं, सरल सौन्दर्य है।

धीवर-बाला ने हाथ पकड़कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी।

□□

वैरागी

पहाड़ की तलहटी में एक छोटा-सा समतल भूमिखंड था। मौलसिरी, अशोक, कदम और आम के वृक्षों का एक हरा-भरा कुटुंब उसे आबाद किये हुए था। दो-चार छोटे-छोटे फूलों के पौदे कोमल मृत्तिका के थालों में लगे थे। सब आर्द्र और सरल थे। तपी हुई लू और प्रभात का मलय-पवन, एक क्षण के लिए इस निभृत कुंज में विश्राम कर लेते। भूमि लिपी हुई स्वच्छ, एक तिनके का कहीं नाम नहीं और सुंदर वेदियों और लता-कुंजों से अलंकृत थी।

यह एक वैरागी की कुटी थी, और तृण-कुटीर —उस पर लता-वितान, कुशासन और कम्बल, कमंडल और वल्कल उतने ही अभिराम थे, जितने किसी राज-मन्दिर में कला-कुशल शिल्पी के उत्तम शिल्प।

एक शिलाखंड पर वैरागी पश्चिम की ओर मुँह किये ध्यान में निमग्न था। अस्त होनेवाले सूर्य की अंतिम किरणें उसकी बरौनियों में घुसना चाहती थीं, परंतु वैरागी अटल, अचल था, बदन पर मुसकराहट और अंग पर ब्रह्मचर्य की रुक्षता थी। यौवन की अग्नि निर्वेद की राख से ढंकी थी। शिलाखंड के नीचे ही पगडंडी थी। पशुओं का झुंड उसी मार्ग से पहाड़ी गोचर-भूमि से लौट रहा था। गोधूलि मुक्त गगन के अंक में आश्रय खोज रही थी। किसी ने पुकारा—"आश्रय मिलेगा ?"

वैरागी का ध्यान टूटा। उसने देखा, सचमुच मलिन-वसना गोधूलि उसके आश्रम में आश्रय माँग रही है। अंचल छिन्न बालों की लटें, फटे हुए कबल के समान मांसल वक्ष और स्कंध को ढँकना चाहती थीं। गैरिक वसन जीर्ण और मलिन।

सौन्दर्यविकृत आँखें कह रही थीं कि उन्होंने उमंग की रातें जगते हुए बिताई हैं। वैरागी अकस्मात् आँधी के झोंके में पड़े हुए वृक्ष के समान तिलमिला गया। उसने धीरे से कहा—"स्वागत अतिथि! आओ।"

रजनी के घने अंधकार में तृण-कुटीर, वृक्षावली, जगमगाते हुए नक्षत्र धुँधले चित्रपट के सदृश प्रतिभासित हो रहे थे। स्त्री अशोक के नीचे वेदी पर बैठी थी, वैरागी अपने कुटीर के द्वार पर।

स्त्री ने पूछा—"जब तुमने अपना सोने का संसार पैरों से ठुकरा दिया, पुत्र-मुख-दर्शन का सुख, माता का अंक, यशविभव, सब छोड़ दिया, तब तुच्छ भूमि-खंड पर इतनी ममता क्यों? इतना परिश्रम, इतना यत्न किसलिए?"

"केवल तुम्हारे-जैसे अतिथियों की सेवा के लिए। जब कोई आश्रयहीन महलों से ठुकरा दिया जाता है, तब उसे ऐसे ही आश्रय-स्थान अपने अंक में विश्राम देते हैं। मेरे परिश्रम सफल हो जाता है—जब कोई कोमल शय्या पर सोनेवाला प्राणी इस मुलायम मिट्टी पर थोड़ी देर विश्राम करके सुखी हो जाता है।"

"कब तक तुम ऐसा करोगे?"

"अनंत काल तक प्राणियों की सेवा का सौभाग्य मुझे मिले!"

"तुम्हारा आश्रय कितने दिनों के लिए है?"

"जब तक उसे दूसरा आश्रय न मिले।"

"मुझे इस जीवन में कहीं आश्रय नहीं, और न मिलने की संभावना है।"

"जीवन-भर?"—आश्चर्य से वैरागी ने पूछा।

"हाँ।"—युवती के स्वर में विकृति थी।

"क्या तुम्हें ठंड लग रही है?"—वैरागी ने पूछा।

"हाँ।"—उसी प्रकार उत्तर मिला।

वैरागी ने कुछ सूखी लकड़ियाँ सुलगा दीं। अंधकार-प्रदेश में दो-तीन चमकीली लपटें उठने लगीं। पर धुँधला प्रकाश फैल गया। वैरागी ने एक कंबल लाकर स्त्री को दिया। उसे ओढ़कर वह बैठ गई। निर्जन प्रांत में दो व्यक्ति। अग्नि-प्रज्वलित पवन ने एक थपेड़ा दिया। वैरागी ने पूछा—"कब तक बाहर बैठोगी?"

"रात बिता कर चली जाऊँगी, कोई आश्रय खोजूंगी; क्योंकि यहाँ रहकर बहुतों के सुख में बाधा डालना ठीक नहीं। इतने समय के लिए कुटी में क्यों आऊँ?"

वैरागी को जैसे बिजली का धक्का लगा। वह प्राणपण से बल संकलित करके बोला—"नहीं-नहीं, तुम स्वतन्त्रता से यहाँ रह सकती हो।"

"इस कुटी का मोह तुमसे नहीं छूटा। मैं उसमें समभागी होने का भय तुम्हारे

लिए उत्पन्न न करूँगी।"—कहकर स्त्री ने सिर नीचा कर लिया। वैरागी के हृदय में सनसनी हो रही थी। वह न जाने क्या कहने जा रहा था, सहसा बोल उठा—

"मुझे कोई पुकारता है, तुम इस कुटी को देखना!"—यह कहकर वैरागी अंधकार में विलीन हो गया। स्त्री अकेली रह गई।

पथिक लोग बहुत दिन तक देखते रहे कि एक पीला मुख उस तृण-कुटीर से झाँककर प्रतीक्षा के पथ में पलक-पाँवड़े बिछाता रहा।

□□

बनजारा

धीरे-धीरे रात खिसक चली, प्रभात के फूलों के तारे चू पड़ना चाहते थे। विंध्य की शैलमाला में गिरि-पथ पर एक झुंड बैलों का बोझ लादे आता था। साथ के बनजारे उनके गले की घंटियों के मधुर स्वर में अपने ग्रामगीतों का आलाप मिला रहे थे। शरद ऋतु की ठंड से भरा हुआ पवन उस दीर्घ पथ पर किसी को खोजता हुआ दौड़ रहा था।

वे बनजारे थे। उनका काम था सरगुजा तक के जंगलों में जाकर व्यापार की वस्तु क्रय-विक्रय करना। प्राय: बरसात छोड़कर वे आठ महीने यही उद्यम करते। उस परिचित पथ में चलते हुए वे अपने परिचित गीतों को कितनी ही बार उन पहाड़ी चट्टानों से टकरा चुके थे। उन गीतों में आशा, उपालंभ, वेदना और स्मृतियों की कचोट, ठेस और उदासी भरी रहती।

सबसे पीछे वाले युवक ने अभी अपने आलाप को आकाश में फैलाया था, उसके गीत का अर्थ था—

"मैं बार-बार लाभ की आशा से लादने जाता हूं; परंतु हे उस जंगल की हरियाली में अपने यौवन को छिपाने वाली कोलकुमारी, तुम्हारी वस्तु बड़ी महँगी है! मेरी सब पूँजी भी उसको क्रय करने के लिए पर्याप्त नहीं। पूँजी बढ़ाने के लिए व्यापार करता हूँ; एक दिन धनी होकर आऊँगा; परन्तु विश्वास है कि तब भी तुम्हारे सामने रंक ही रह जाऊँगा!"

आलाप लेकर वह जंगली वनस्पतियों की सुगंध में अपने को भूल गया। यौवन के उभार में नंदू अपरिचित सुखों की ओर जैसे अग्रसर हो गया था। सहसा

बैलों की श्रेणी के अग्रभाग में हल-चल मची। तड़ातड़ का शब्द, चिल्लाने और कूदने का उत्पात होने लगा। नंदू का सुख-स्वप्न टूट गया, "बाप रे, डाका!"—कहकर वह एक पहाड़ी की गहराई में उतरने लगा। गिर पड़ा, लुढ़कता हुआ नीचे चला। मूर्च्छित हो गया।

हाकिम परगना और इंजीनियर का पड़ाव अधिक दूर न था। डाका पड़नेवाला स्थान दूसरे ही दिन भीड़ से भर गया। गौड़ैत और सिपाहियों की दौड़-धूप चलने लगी। छोटी-सी पहाड़ी के नीचे, फूस की झोंपड़ी में, उषा की किरणों का गुच्छा सुनहले फूल के सदृश झूलने लगा था। अपने दोनों हाथों पर झुकी हुई एक साँवली-सी युवती उस आहत पुरुष के मुख को एकटक देख रही थी। धीरे-धीरे युवती के मुख पर मुस्कराहट और पुरुष के मुख पर सचेष्टता के लक्षण दिखलाई देने लगे। पुरुष ने आँखें खोल दीं। युवती पास ही धरा हुआ गरम दूध उसके मुँह में डालने लगी। और युवक पीने लगा।

युवक को उतनी चोट नहीं थी, जितना वह भय से आक्रांत था। वह दूध पीकर स्वस्थ हो चला था। उठने की चेष्टा करते हुए पूछा—"मोनी, तुम हो!"

"हाँ, चुप रहो।"

"अब मैं चंगा हो गया हूँ, कुछ डरने की बात नहीं।" अभी युवक इतना ही कह पाया था कि एक कोल-चौकीदार की क्रूर आँखें झोपड़ी में झाँकने लगीं। युवक ने उसे देखा। चौकीदार ने हँसकर कहा—'वाह मोनी? डाका भी डलवाती हो और दया भी करती हो! बताओ तो, कौन-कौन थे; साहब पूछ रहे हैं?"

मोनी की आँखें चढ़ गयीं। उसने दाँत पीसकर कहा—"तुम पाजी हो! जाओ, मेरी झोंपड़ी में से निकल जाओ!"

"हाँ, यह कहो। तो तुम्हारा मन रीझ गया है इस पर, यह तो कभी-कभी तुम्हारा प्याज-मेवा लेने आता था न!"—चौकीदार ने कहा।

घायल बाघिनी-सी वह तड़प उठी। चौकीदार कुछ सहमा। परन्तु वह पूरा काइयाँ था, अपनी बात का रुख बदलकर वह युवक से कहने लगा—"क्यों जी, तुम्हारा भी तो लूटा गया है, कुछ तुम्हें भी चोट आई है! चलो, साहब से अपना हाल कहो। बहुत से माल का पता लगा है; चलकर देखो तो!"

"क्यों मोनी! अब जेल जाओगी न? बोलो; अब से भी अच्छा है। हमारी बात मान जाओ।"—चौकीदार ने पड़ाव से दूर हथकड़ी से जकड़ी हुई मोनी से कहा। मोनी अपनी आँखों की स्याही संध्या की कालिमा में मिला रही थी। पेड़ों के उस झुरमुट में दूर वह बनजारा भी खड़ा था। एक बार मोनी ने उसकी ओर देखा, उसके ओठ फड़क उठे। वह बोली—"मैं किसी को नहीं जानती, और नहीं जानती थी कि उपकार करने जाकर यह अपमान भोगना पड़ेगा!" फिर

जेल की भीषणता स्मरण करके वह दीनता से बोली—"चौकीदार ! मेरी झोंपड़ी और सब पेड़ ले लो; मुझे बचा दो !"

चौकीदार हँस पड़ा। बोला—"मुझे वह सब न चाहिए; बोलो, तुम मेरी बात मानोगी, वही…"

मोनी ने चिल्लाकर कहा—"नहीं, कभी नहीं !"

नर-पिशाच चौकीदार ने बेदर्द होकर कई थप्पड़ लगाये, पर मोनी न रोई, न चिल्लायी। वह हठी लड़के की तरह उस मारनेवाले का मुँह देख रही थी।

हाकिम परगना एक अच्छे सिविलियन थे। वे कैम्प से टहलने के लिए गये थे; नंदू ने न-जाने उनसे हाथ जोड़ते हुए क्या कहा, वे उधर ही चल पड़े, जहाँ मोनी थी।

सब बातें समझकर साहब ने मोनी की हथकड़ीं खोलते हुए चौकीदार की पीठ पर दो-तीन बेंत जमाये, और कहा—"देख बदमाश ! आज तो तुझे छोडता हूँ, फिर इस तरह का कोई काम किया, तो तुझसे चक्की ही पिसवाऊँगा। असली डाकुओं का पता लगाओ।"

मोनी पड़ाव से चली गई। और नंदू अपना बैल पहचानकर ले चला ! वह फिर बराबर अपने उस व्यापार में लगा रहा।

कई महीने बाद--

एक दिन फिर प्याज-मेवा लेने की लालच में नंदू उसी मोनी की झोंपड़ी की ओर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने देखा—झोंपड़ी से सब पत्ते के छाजन तितर-बितर होकर बिखर रहे हैं और पत्थर के ढोंके अब-तब गिरना चाहते हैं। भीतर कूड़ा है, जहाँ वह पहले जंगली वस्तुओं का ढेर देखा करता था। उसने पुकारा—"मोनी !" कोई उत्तर न मिला। नदू लौटकर अपने पथ पर आने लगा।

सामने देखा—पहाड़ी नदी के तट पर बैठी हुई मोनी को ! वह हँसता हुआ फूल कुम्हला गया था, अपने दोनों पैर नदी में डाले बैठी थी। नंदू के पुकारा—"मोनी !" वह फिर भी कुछ न बोली। अब वह पास आ गया। मोनी ने देखा। एक बार उसके मुँह पर कुछ तरावट-सी दौड़ गई, फिर सहसा कड़ी धूप निकल आने पर एक बौछार की गीली भूमि जैसे रूखी हो जाती है, वैसे ही उसके मुँह पर धूल उड़ने लगी।"

नंदू ने पूछा—"मोनी ? प्याज-मेवा है ?"

मोनी ने रूखेपन से कहा—"अब मैं नहीं बटोरती, नंदू। बेचने के लिए नहीं इकट्ठा करती।"

नंदू ने पूछा—"क्यों, अब क्या हो गया ?"

'जंगल में वही सब तो हम लोगों के भोजन के लिए है, उसे बेच दूँगी, तो खाऊँगी क्या ?"

"और पहले क्या था ?"

"वह लोभ था; व्यापार करने की, धन बटोरने की इच्छा थी।"

"अब वह इच्छा क्या हुई ?"

"अब मैं समझती हूँ कि सब लोग न तो व्यापार कर सकते हैं और न तो सब वस्तु बाजार में बेची जा सकती है।"

"तो मैं लौट जाऊँ ?"

"हाँ, लौट जाओ; जब तक ओस की बूंदों से ठंडी धूल तुम्हारे परों में लगे, उतने समय में अपना पथ समाप्त कर लो !"

"लादना छोड़ दूँगा, सोनी !"

"ओहो ! यह क्यों ? मैं इस पहाड़ी पर निस्तब्ध प्रभाव में घंटियों के मधुर स्वर की आशा में अनमनी बैठी रहती हूँ। वह पहुँचने का; बोझ उतारने के व्याकुल विश्राम का अनुभव करके सुखी रहती हूँ। मैं नहीं चाहती कि किसी को लादने के लिए मैं बोझ इकट्ठा करूँ; नंदू !"

नंदू हताश था। वह अपने बैलों की खाली पीठ पर हाथ धरे चुपचाप अपने पथ पर चलने लगा।

□□

चूड़ीवाली

"अभी तो पहना गई हो।"

"बहूजी, बड़ी अच्छी चूड़ियाँ हैं। सीधे बम्बई से पारसल मँगाया है। सरकार का हुक्म है; इसलिए नई चूड़ियाँ आते ही चली आती हूँ।"

"तो जाओ, सरकार को ही पहनाओ, मैं नहीं पहनती।"

"बहूजी ! जरा देख तो लीजिए।" कहती मुस्कराती हुई ढीठ चूड़ीवाली अपना बक्स खोलने लगी। वह पचीस वर्ष की एक गोरी छरहरी स्त्री थी। उसकी कलाई सचमुच चूड़ी पहनाने के लिए ढली थी। पान से लाल पतले-पतले ओठ दो-तीन वक्रताओं में अपना रहस्य छिपाये हुए थे। उन्हें देखने का मन करता, देखने पर उन सलोने अधरों से कुछ बोलवाने का जी चाहता है। बोलने पर हँसाने की इच्छा होती और उसी हँसी में शैशव का अल्हड़पन, यौवन की तरावट और प्रौढ़ की-सी गंभीरता बिजली के समान लड़ जाती।

बहूजी को उसकी हँसी बहुत बुरी लगती; पर जब पंजों में अच्छी चूड़ी चढ़ा कर, संकट में फँसाकर वह हँसते हुए कहती—"एक पान मिले बिना यह चूड़ी नहीं चढ़ती।" तब बहूजी को क्रोध के साथ हँसी आ जाती और उसकी तरल हँसी की तरी लेने में तन्मय हो जातीं।

कुछ ही दिनों से यह चूड़ीवाली आने लगी है। कभी-कभी बिना बुलाये ही चली आती और ऐसे ढंग फैलाती कि बिना सरकार के आये निबटारा न होता। यह बहूजी को असह्य हो जाता। आज उसको चूड़ी फँसाते देख बहूजी झल्लाकर बोलीं—"आज-कल दूकान पर ग्राहक कम आते हैं क्या?"

"बहूजी, आज-कल खरीदने की धुन में हूँ, बेचती हूँ कम।" इतना कहकर कई दर्जन चूडियाँ बाहर सजा दीं। स्लीपरों के शब्द सुनाई पड़े। बहूजी ने कपड़े सम्हाले, पर वह ढीठ चूड़ीवाली बालिकाओं के समान सिर टेढ़ा करके "यह जर्मनी की है, यह फराँसीसी है, यह जापानी है" कहती जाती थी। सरकार पीछे खड़े मुस्करा रहे थे।

"क्या रोज नयी चूड़ियाँ पहनाने के लिए इन्हें हुक्म मिला है?" बहूजी ने गर्व से पूछा।

सरकार ने कहा—"पहनो, तो बुरा क्या है?"

"बुरा तो कुछ नहीं, चूड़ी चढ़ाते हुए कलाई दुखती होगी।" चूड़ीवाली ने सिर नीचा किये कनखियों से देखते हुए कहा। एक लहर-सी लाली आँखों की ओर से कपोलों को तर करती हुई दौड़ जाती थी। सरकार ने देखा—"एक लालसा-भरी युवती व्यंग कर रही है। हृदय में हलचल मच गयी, घबरा कर बोले—"ऐसा है, तो न पहनें।"

"भगवान करे, रोज पहनें।" चूड़ीवाली आशीर्वाद देने के गम्भीर स्वर में प्रौढ़ा के समान बोली।

"अच्छा, तुम अभी जाओ।" सरकार और चूड़ीवाली दोनों की ओर देखते हुए बहूजी ने झुंझलाकर कहा।

"तो क्या मैं लौट जाऊँ? आप तो कहती थीं न, कि सरकार को ही पह-नाओ, तो जरा उनसे पहनने के लिए कह दीजिए।"

"निकल मेरे यहाँ से।" कहते हुए बहूजी की आँखे तिलमिला उठीं। सरकार धीरे से निकल गये। अपराधी के समान सर नीचा किये चूड़ीवाली अपनी चूड़ियाँ बटोरकर उठी। हृदय की धड़कन में अपनी रहस्यपूर्ण निश्वास छोड़ती हुई चली गयी।

2

चूड़ीवाली का नाम था विलासिनी। वह नगर की एक प्रसिद्ध नर्त्तकी की

कन्या थी। उसके रूप और संगीत-कला की सुख्याति थी, वैभव भी कम न था ! विलास और प्रमोद का पर्याप्त संभार मिलने पर भी उसे संतोष न था। हृदय में कोई अभाव खटकता था, वास्तव में उसकी मनोवृत्ति उसके व्यवसाय के प्रतिकूल थी।

कुलवधू बनने की अभिलाषा हृदय में और दांपत्य-सुख का स्वर्गीय स्वप्न उसकी आँखों में समाया था। स्वच्छंद प्रणय का व्यापार अरुचिकर हो गया। परन्तु समाज उससे हिंस्र पशु के समान सशंक था। उससे आश्रय मिलना असंभव जानकर विलासिनी ने छल के द्वारा वही सुख लेना चाहा। यह उसकी सरल आवश्यकता थी, क्योंकि अपने व्यवसाय में उसका प्रेम क्रय करने के लिए बहुत-से लोग आते थे, पर विलासिनी अपना हृदय खोल कर किसी से प्रेम न कर सकती थी।

उन्हीं दिनों सरकार के रूप, यौवन और चारित्र्य ने उसे प्रलोभन दिया। नगर के समीप बाबू विजयकृष्ण की, अपनी जमींदारी में बड़ी सुन्दर अट्टालिका थी। वहीं रहते थे। उनके अनुचर और प्रजा उन्हें सरकार कहकर पुकारती थी। विलासिनी की आँखें विजयकृष्ण पर गड़ गयीं। अपना चिर-संचित मनोरथ पूर्ण करने के लिए वह कुछ दिनों के लिए चूड़ीवाली बन गयी थी।

सरकार चूड़ीवाली को जानते हुए भी अनजान बने रहे। अमीरी का एक कौतुक था, एक खिलवाड़ समझकर उसके आने-जाने में बाधा न देते। विलासिनी के कला-पूर्ण सौंदर्य ने जो कुछ प्रभाव उनके मन पर डाला था, उसके लिए उनके सुरुचिपूर्ण मन ने अच्छा बहाना खोज लिया था, वे सोचते, 'बहूजी का कुल-वधू-जनोचित सौंदर्य और वैभव की मर्यादा देखकर चूड़ीवाली स्वयं पराजय स्वीकार कर लेगी और अपना निष्फल प्रयत्न छोड़ देगी, तब तक यह एक अच्छा मनोविनोद चल रहा है !'

चूड़ीवाली अपने कौतूहलपूर्ण कौशल में सफल न हो सकी थी, परन्तु बहूजी के आज के दुर्व्यवहार ने प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी और चोट खाकर उसने सरकार को घायल कर दिया।

3

अब सरकार प्रकाश्य रूप से उसके यहाँ जाने लगे। विलास-रजनी का प्रभात भी चूड़ीवाली के उपवन में कटता। कुल-मर्यादा, लोकलाज और जमींदारी सब एक ओर और चूड़ीवाली अकेले। दालान में कुर्सियों पर सरकार और चूड़ीवाली बैठकर रात्रि-जागरण का खेद मिटा रहे थे पास ही अनार का वृक्ष था, उसमें फूल खिले थे। एक बहुत ही छोटी काली चिड़िया उन फूलों में चोंच डालकर मकरन्द

पान करती और कुछ केसर खाती, फिर हृदयविमोहक कल-नाद करती हुई उड़ जाती।

सरकार बड़ी देर से कौतुक देख रहे थे, बोले—"इसे पकड़कर पालतू बनाया जाय, तो कैसा ?"

"उहूँ, यह फूलसुंघी है। पींजरे में जी नहीं सकती। उसे फूलों का प्रदेश ही जिला सकता है, स्वर्ण-पिंजर नहीं, उसे खाने के लिए फूलों की केसर का चारा और पीने के लिए मकरन्द-मदिरा कौन जुटावेगा ?"

"पर इसकी सुन्दर-बोली संगीत-कला की चरम सीमा है; वीणा में भी कोई-कोई मीड़ ऐसी निकलती होगी। इसे अवश्य पकड़ना चाहिए।"

"जिसमें बाधा नहीं, बंधन नहीं, जिसका सौंदर्य स्वच्छंद है, उस असाधारण प्राकृतिक कला का मूल्य क्या बन्धन है ? कुरुचि के द्वारा वह कलंकित भले ही हो जाय परन्तु पुरस्कृत नहीं हो सकती। उसे आप पींजरे में बन्द करके पुरस्कार देंगे या दण्ड ?" कहते हुए उसने विजय की एक व्यंग-भरी मुस्कान छोड़ी। सरकार की — उस वन-विहंगम को पकड़ने की लालसा बलवती हो उठी। उन्होंने कहा—"जाने भी दो, वह अच्छी कला नहीं जानती।" प्रसंग बदल गया। नित्य का साधारण विनोदपूर्ण क्रम चला।

4

चूड़ीवाली अपने अभ्यास के अनुसार समझती कि यदि बहूजी की अपार-प्रणयसंपत्ति में से कुछ अंश मैं भी लेती हूं, तो हानि क्या, परन्तु बहूजी को अपने प्रणय के एकाधिपत्य पर पूर्ण विश्वास था। वह निष्क्रिय प्रतिरोध करने लगीं। राजयक्ष्मा के भयानक आक्रमण से वह घुलने लगीं और सरकार वन-विहंगिनी विलासिनी को स्वायत्त करने में दत्तचित हुए। रोगी की शुश्रूषा और सेवा में कोई कमी न थी, परन्तु एक बड़े मुकदमे में सरकार का उधर सर्वस्वांत हुआ, इधर बहूजी चल बसीं।

चूड़ीवाली ने समझा कि उसकी पूर्ण विजय हुई, पर बात कुछ दूसरी थी। विजयकृष्ण का वह एक विनोद था। जब सब कुछ चला गया, तब विनोद लेकर क्या होगा। एक दिन चूड़ीवाली से छुट्टी माँगी। उसने कहा—"कमी किस बात की है, मैं तुम्हारी ही हूँ और सब विभव भी तुम्हारा है।" विजयकृष्ण ने कहा—"मैं वेश्या की दी हुई जीविका से पेट पालने में असमर्थ हूँ।" चूड़ीवाली बिलखने लगी, विनय किया, रोई, गिड़गिड़ाई, पर विजयकृष्ण चले ही गये! वह सोचने लगी कि—"अपना व्यवसाय और विजय की गृहस्थी बिगाड़कर जो सुख खरीदा था, उसका कोई मूल्य नहीं। मैं कुलवधू होने के उपयुक्त नहीं। क्या समाज

के पास इसका कोई प्रतिकार नहीं ? इतनी तपस्या और इतना स्वार्थ-त्याग व्यर्थ है ?"

परन्तु विलासिनी यह न जानती थी कि स्त्री और पुरुष-संबन्धी समस्त अन्तिम निर्णय करने में समाज कितना ही उदार क्यों न हो; दोनों पक्षों को सर्वथा संतुष्ट नहीं कर सका और न कर सकने की आशा है। यह रहस्य सृष्टि को उलझा रखने की कुंजी है।

विलासिनी ने बहुत सोच-समझकर अपनी जीवनचर्या बदल डाली। सरकार से मिली हुई जो कुछ संपत्ति थी, उसे बेचकर पास ही के एक गाँव में खेती करने के लिए भूमि लेकर आदर्श हिंदू गृहस्थ की-सी तपस्या करने में अपना बिखरा हुआ मन उसने लगा दिया। उसके कच्चे मकान के पास एक विशाल वट-वृक्ष और निर्मल जल का सरोवर था। वहीं बैठकर चूड़ीवाली ने पथिकों की सेवा करने का सङ्कल्प किया। थोड़े ही दिनों में अच्छी खेती होने लगी और अन्न से उसका घर भरा रहने लगा। भिखारियों को अन्न देकर उन्हें खिला देने में उसे अकथनीय सुख मिलता। धीरे-धीरे दिन ढलने लगा, चूड़ीवाली को सहेली बनाने के लिए यौवन का तीसरा पहर करुणा और शांति को पकड़ लाया। उस पथ से चलनेवाले पथिकों को दूर से किसी कला कुशल कंठ की तान सुनाई पड़ती—

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।

वट-वृक्ष के नीचे, एक अनाथ बालक नंदू को चना और गुड़ की दूकान चूड़ीवाली ने करा दी है। जिन पथिकों के पास पैसे न होते, उनका मूल्य वह स्वयं देकर नंदू की दूकान में घाटा न होने देती, और पथिक भी विश्राम किये बिना उस तालाब से न जाता। कुछ ही दिनों में चूड़ीवाली का तालाब विख्यात हो गया।

5

संध्या हो चली थी। पखेरुओं का बसेरे की ओर लौटने का कोलाहल मचा और वट-वृक्ष में चहल-पहल हो गई। चूड़ीवाली चरनी के पास खड़ी बैलों को देख रही थी। दालान में दीपक जल रहा था, अंधकार उसके घर और मन में बरजोरी घुस रहा था। कोलाहल-शून्य जीवन में भी चूड़ीवाली को शांति मिली ऐसा विश्वास नहीं होता था। पास ही उसकी पिंडुलियों से सिर रगड़ता हुआ कलुआ दुम हिला रहा था। सुखिया उसके लिए घर में से कुछ खाने को ले आयी थी; पर कलुआ उधर न देखकर अपनी स्वामिनी से स्नेह जता रहा था। चूड़ीवाली ने हँसते हुए कहा—"चल, तेरा दुलार हो चुका। जा, खा ले।" चूड़ीवाली ने मन में सोचा, कंगाल मनुष्य स्नेह के लिए क्यों भीख माँगता है? वह स्वयं नहीं करता, नहीं तो तृण-वीरुध तथा पशु-पक्षी भी तो स्नेह करने के लिए प्रस्तुत हैं। इतने में नन्दू ने आकर कहा—"माँ' एक बटोही बहुत थका हुआ अभी

आया है। भूख के मारे वह जैसे शिथिल हो गया है।"

"तूने क्यों नहीं दे दिया?"

"लेता भी नहीं, कहता है, तू बड़ा गरीब लड़का है, तुझसे न लूँगा।"

चूड़ीवाली वट-वृक्ष की ओर चल पड़ी। अँधेरा हो गया था। पथिक जड़ का सहरा लेकर लेटा था। चूड़ीवाली ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज, आप कुछ भोजन कीजिए।"

"तुम कौन हो?"

"पहले की एक वेश्या।"

"छिः, मुझे पड़े रहने दो, मैं नहीं चाहता कि तुम मुझसे बोलो भी, क्योंकि तुम्हारा व्यवसाय कितने ही सुखी घरों को उजाड़कर श्मशान बना देता है।"

"महाराज, हम लोग तो कला के व्यवसायी हैं। यह अपराध कला का मूल्य लगानेवालों की कुरुचि और कुत्सित इच्छा का है। संसार में बहुत-से निर्लज्ज स्वार्थपूर्ण व्यवसाय चलते हैं। फिर इसी पर इतना क्रोध क्यों?"

"क्योंकि वह उन सबों में अधम और निकृष्ट है।"

"परन्तु वेश्या का व्यवसाय करके भी मैंने एक ही व्यक्ति से प्रेम किया था। मैं और धर्म नहीं जानती, पर अपने सरकार से जो कुछ मुझे मिला, उसे मैं लोक-सेवा में लगाती हूँ। मेरे तालाब पर कोई भूखा नहीं रहने पाता। मेरी जीविका चाहे जो रही हो, मेरे अतिथि-धर्म में बाधा न दीजिए।"

पथिक एक बार ही उठकर बैठ गया और आंख गड़ाकर अँधेरे में देखने लगा। सहसा बोल उठा—"चूड़ीवाली?"

"कौन सरकार?"

"हाँ, तुमने शोक हर लिया। मेरे अपराधजनक तमाम त्याग में पुण्य का भी भाग था, यह मैं नहीं जानता।"

"सरकार! मैंने गृहस्थ-कुलवधू होने के लिए कठोर तपस्या की है। इन चार वर्षों में मुझे विश्वास हो गया है कि कुलवधू होने में जो महत्व है, वह सेवा का है, न कि विलास का।"

"सेवा ही नहीं, चूड़ीवाली! उसमें विलास का अनंत यौवन है, क्योंकि केवल स्त्री-पुरुष के शारीरिक बन्धन में वह पर्यवसित नहीं है, बाह्य साधनों के विकृत हो जाने तक ही, उसकी सीमा नहीं, गार्हस्थ्य जीवन उसके लिए प्रचुर उपकरण प्रस्तुत करता है, इसलिए वह प्रेय भी है और श्रेय भी है। मुझे विश्वास है कि तुम अब सफल हो जाओगी।"

"मेरी सफलता आपकी कृपा पर है। विश्वास है कि अब इतने निर्दय न होंगे"---कहते-कहते चूड़ीवाली ने सरकार के पैर पकड़ लिये।

सरकार ने उसके हाथ पकड़ लिये। □□

अपराधी

वनस्थली के रंगीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठीं, देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पंखुरियाँ, वसंत-पवन के पैरों के समान हिल रही थीं। पीले पराग का अंगराग लगने से किरणें पीली पड़ गईं। वसंत का प्रभात था।

युवती कामिनी मालिन का काम करती थी। उसे और कोई न था। वह इस कुसुम-कानन से फूल चुन ले जाती और माला बनाकर बेचती। कभी-कभी उसे उपवास भी करना पड़ता। पर, वह यह काम न छोड़ती। आज भी फूले हुए, कचनार के नीचे बैठी हुई, अर्द्ध-विकसित कामिनी-कुसुमों को बिना बेधे हुए, फंदे देकर माला बना रही थी। भँवर आये, गुनगुनाकर चले गये। वसंत के दूतों का संदेश उसने न सुनना। मलय-पवन अंचल उड़ाकर, रूखी लटों को बिखराकर, हट गया। मालिन बेसुध थी, वह फंदा बनाती जाती थी और फूलों को फँसाती जाती थी।

द्रुत-गति से दौड़ते हुए अश्व के पद-शब्द ने उसे त्रस्त कर दिया। वह अपनी फूलों की टोकरी उठाकर भयभीत होकर सिर झुकाये खड़ी हो गई। राजकुमार आज अचानक उधर वायु-सेवन के लिये आ गये थे। उन्होंने दूर ही से देखा, समझ गये कि वह युवती त्रस्त है। बलवान अश्व वहीं रुक गया। राजकुमार ने पूछा—"तुम कौन हो?"

कुरंगी कुमारी के समान बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर उसने कहा—"मालिन!"

"क्या तुम माला बनाकर बेचती हो?"

"हाँ।"

"यहाँ का रक्षक तुम्हें रोकता नहीं?"

"नहीं, यहाँ कोई रक्षक नहीं है।"

"आज तुमने कौन-सी माला बनाई है?"

"यही कामिनी की माला बना रही थी।"

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"कामिनी।"

"वाह! अच्छा, तुम इस माला को पूरी करो, मैं लौटकर—उसे लूँगा। डरने पर भी मालिक ढीठ थी। उसने कहा—"धूप निकल आने पर कामिनी का सौरभ कम हो जायेगा।

"मैं शीघ्र आऊँगा"—कहकर राजकुमार चले गये।

मालिन ने माला बना डाली। किरणें प्रतीक्षा में लाल-पीली होकर धवल हो

चलीं। राजकुमार लौटकर नहीं आये। तब उसी ओर चली—जिधर राजकुमार गये थे।

युवती बहुत दूर न गई होगी कि राजकुमार लौटकर दूसरे मार्ग से उसी स्थान पर आये। मालिन को देखकर पुकारने लगे—"मालिन ! ओ मालिन !"

दूरागत कोकिल की पुकार-सा वह स्वर उसके कान में पड़ा था वह लौट आई। हाथों में कामिनी की माला लिये वह वन-लक्ष्मी के समान लौटी। राजकुमार उसी दिन-सौंदर्य को सकुतूहल देख रहे थे। कामिनी ने माला गले में पहना दी। राकुमार ने अपना कौशेय उष्णीश खोलकर मालिन के ऊपर फेंक दिया। कहा—"जाओ, इसे पहनकर आओ।" आश्चर्य और भय से लताओं की झुरमुट में जाकर उसने आज्ञानुसार कौशेय वसन पहना।

बाहर आई, तो उज्ज्वल किरणें उसके अंग-अंग पर हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही थीं। राजकुमार मुसकराये और कहा—"आज से तुम इस कुसुम-कानन की वनपालिका हुई हो। स्मरण रखना।"

राजकुमार चले गये। मालिन किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर मधूक-वृक्ष के नीचे बैठ गई।

2

वसन्त बीत गया। गर्मी जलाकर चली गई। कानन में हरियाली फैल रही थी। श्यामल घटायें आकाश में और शस्य-शोभा धरणी पर एक सघन-सौंदर्य का सृजन कर रही थी। वन-पालिका के चारों ओर मयूर घेरकर नाचते थे। संध्या में एक सुन्दर उत्सव हो रहा था। रजनी आई। वन-पालिका के कुटीर को तम ने घेर लिया। मूसलाधार वृष्टि होने लगी। युवती प्रकृति का मद-विह्वल लास्य था। वन-पालिका पर्ण-कुटीर के वातायन से चकित होकर देख रही थी। सहसा बाहर कंपित कंठ से शब्द हुआ—"आश्रय चाहिए !" वन-पालिका ने कहा—"तुम कौन हो ?"

"एक अपराधी।"

"तब यहाँ स्थान नहीं है।"

"विचार कर उत्तर दो, कहीं आश्रय न देकर तुम अपराध न कर बैठो।" वन-पालिका विचारने लगी। बाहर से फिर सुनाई पड़ा—"विलम्ब होने से प्राणों की आशंका है।"

वन-पालिका निस्संकोच उठी और उसने द्वार खोल दिया। आगंतुक ने भीतर प्रवेश किया। वह एक बलिष्ठ युवक था, साहस उसकी मुखाकृति थी। वन-पालिका ने पूछा—"तुमने कौन-सा अपराध किया है ?"

"बड़ा भारी अपराध है, प्रभात होने पर सुनाऊँगा। इस रात्रि में केवल

आश्रय दो।"—कहकर आगंतुक अपना आर्द्र वस्त्र निचोड़ने लगा। उसका स्वर विकृत और वदन नीरस था। अंधकार ने उसे और भी अस्पष्ट बना दिया था।

युवती वन-पालिका व्याकुल होकर प्रभात की प्रतीक्षा करने लगी। सहसा युवक ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह त्रस्त हो गई, बोली—"अपराधी, यह क्या ?"

"अपराधी हूँ सुंदरी !"—अबकी वार उसका स्वर परिवर्तित था। पागल प्रकृति पर्णकुटी को घेरकर अपनी हँसी में फूटी पड़ती थी। वह करस्पर्श उन्माद-कारी था। कामिनी की धमनियों में बाहर के बरसाती नालों के समान रक्त दौड़ रहा था। युवक के स्वर में परिचय था, परंतु युवती की वासना के कुतूहल ने भय का बहाना खोज लिया ! बाहर करकापात के साथ ही बिजली कड़की। वन-पालिका ने दूसरा हाथ युवक के कंठ में डाल दिया।

अंधकार हँसने लगा।

3

बहुत दिन बीत गये। कितने ही बरस आये और चले गये। वह कुसुम-कानन—जिसमें मोर, शुक और पिक, फूलों से लदी झाड़ियों में विहार करते थे, अब एक जंगल हो गया। अब राजकुमार वहां नहीं आते थे। अब वे स्वयं राजा हैं। सुकुमार पौदे सूख गये। विशालकाय वृक्षों ने अपनी शाखाओं से जकड़ लिया। उस गहन वन में एक कोने में पर्णकुटी थी, उसमें एक स्त्री और उसका पुत्र, दोनों रहते थे।

दोनों बहेलियों का व्यवसाय करते; उसी से उनका जीवन-निर्वाह होता। पक्षियों को फँसाकर नागरिकों के हाथ वह बालक बेचा करता, कभी-कभी मृग-शावक भी पकड़ ले आता।

एक दिन वन-पालिका का पुत्र एक सुंदर कुरंग पकड़कर नगर की ओर बेचने के लिए ले गया। उसकी पीठ पर बड़ी अच्छी बूटियाँ थीं। वह दर्शनीय था। राजा का पुत्र अपने टट्टू पर चढ़कर घूमने निकला था, उसके रक्षक साथ थे। राजपुत्र मचल गया। किशोर मूल्य माँगने लगा। रक्षकों ने कुछ देकर उसे छीन लेना चाहा। किशोर ने कुरंग का फंदा ढीला कर दिया। वह छलाँग भरता हुआ निकल गया। राजपुत्र अत्यंत हठी था, वह रोने लगा। रक्षकों ने किशोर को पकड़ लिया। वे उसे राजमंदिर की ओर ले चले।

वातायन से रानी ने देखा, उसका लाल रोता हुआ लौट रहा है। एक आँधी-सी आ गई। रानी ने समाचार सुनकर उस बहेलिये के लड़के को बेंतों से पीटे जाने की आज्ञा दी।

किशोर ने विना रोये-चिल्लाये और आँसू बहाये बेतों की चोट सहन की।

उसका सारा अंग क्षत-विक्षत था, पीड़ा से चल नहीं सकता था। मृगया से लौटते हुए राजा ने देखा। एक बार दया तो आई, परन्तु उसका कोई उपयोग न हुआ। रानी की आज्ञा थी। वन-पालिका ने राजा के निकल जाने पर किशोर को गोद में उठा लिया। अपने आँसुओं से घाव धोती हुई, उसने कहा—"आह ! वे कितने निर्दयी हैं !"

फिर कई वर्ष बीत गये। नवीन राजपुत्र को मृगया की शिक्षा के लिए, लक्ष्य साधने के लिए, वही नगरोपकंठ का वन स्थिर हुआ। वहाँ राजपुत्र हिरणों पर, पक्षियों पर तीर चलाता। वन-पालिका को अब फिर कुछ लाभ होने लगा। हिरणों को हाँकने से, पक्षियों का पता बताने से, कुछ मिल जाता है। परन्तु उसका पुत्र किशोर राजकुमार की मृगया में भाग न लेता।

एक दिन वसंत की उजली धूप में राजा अपने राजपुत्र की मृगया-परीक्षा लेने के लिए, सोलह बरस बाद, उस जंगल में आये। राजा का मुह एक बार विवर्ण हो गया। उस कुसुम कानन के सभी सुकुमार पौधे सूखकर लोप हो नये हैं। उनकी पेड़ियों में कहीं-कहीं दो-एक अंकुर निकल कर अपने प्राचीन बीज का निर्देश करते थे। राजा स्वप्न के समान उस अतीत की कल्पना कर रहे थे।

अहेरियों के वेश में राजपुत्र और उसके समवयस्क जंगल में आये। किशोर भी अपना धनुष लिये एक ओर खड़ा था। कुरंग पर तीर छूटे। किशोर का तीर कुरंग के कंठ को वेधकर राजपुत्र की छाती में घुस गया। राजपुत्र अचेत होकर गिर पड़ा। किशोर पकड़ लिया गया।

इधर वन-पालिका राजा के आने का समाचार सुनकर फूल खोजने लगी थी। उस जंगल में अब कामिनी-कुसुम नहीं थे। उसने मधूक और दूर्वा की सुन्दर माला बनाई, यही उसे मिले थे।

राजा क्रोध से उन्मत्त थे। प्रतिहिंसा से कड़ककर बोले—मारो।—बधिकों के तीर छूटे ? वह कमनीय-कलेवर किशोर पृथ्वी पर लोटने लगा। ठीक उसी समय मधूक-मालिका लिये वन-पालिका राजा के सामने पहुँची।

कठोर नियति जब अपना विधान पूर्ण कर चुकी थी, तब कामिनी किशोर के शव के पास पहुँची ! पागल-सी उसने माला राजा के ऊपर फेंकी और किशोर को गोद में बैठा लिया। उसकी निश्चेष्ट आँखें मौन भाषा में जैसे माँ-माँ कह रही थीं ! उसने हृदय में घुस जानेवाली आँखों से एक बार राजा की ओर देखा। और भी देखा—राजपुत्र का शव !

राजा एक बार आकाश और पृथ्वी के बीच में हो गये। जैसे वह कहाँ-से-कहाँ चले आये। राजपुत्र का शोक और क्रोध, से बहती हुई बरसाती नदी की धारा में बुल्ले के समान बह गया। उनका हृदय विषय-शून्य हो गया। एक बार सचेत

होकर उन्होंने देखा और पहचाना—अपना वही—"जीर्ण कौशेय उष्णीश।"—"वन-पालिका!"

"राजा"—कामिनी की आँखों में आँसू नहीं थे।

"यह कौन था?"

गंभीर स्वर में सर नीचा किये वन-पालिका ने कहा—"अपराधी।"

□□

प्रणय-चिन्ह

"क्या अब वे दिन लौट आवेंगे? वे आशाभरी संध्यायें, वह उत्साह-भरा हृदय—जो किसी के संकेत पर शरीर से अलग होकर उछलने को प्रस्तुत हो जाता था—क्या हो गया?"

"जहाँ तक दृष्टि दौड़ती है, जंगलों की हरियाली। उनसे कुछ बोलने की इच्छा होती है, उत्तम पानी की उत्कंठा होती है। वे हिलकर रह जाते हैं, उजली धूप जलजलाती हुई नाचती निकल जाती है। नक्षत्र चुपचाप देखते रहते हैं,—चाँदनी मुसकराकर घूँघट खींच लेती है। कोई बोलनेवाला नहीं! मेरे साथ दो बातें कर लेने की जैसे सबने शपथ ले ली है। रात खुलकर रोती भी नहीं—चुपचाप ओस के आँसू गिराकर चल देती है। तुम्हारे निष्फल प्रेम से निराश होकर बड़ी इच्छा हुई थी, मैं किसी से संबंध न रखकर सचमुच अकेला हो जाऊँ। इसलिए जन-संसर्ग से दूर इस झरने के किनारे आकर बैठ गया, परंतु अकेला ही न आ सका, तुम्हारी चिंता बीच-बीच में बाधा डालकर मन को खींचने लगी। इसलिए फिर किसी से बोलने की, लेन-देन की, कहने-सुनने की कामना बलवती हो गई।

"परंतु कोई न कुछ कहता है और न सुनता है। क्या सचमुच हम संसार से निर्वासित हैं—अछूत हैं! विश्व का यह नीरव तिरस्कार असह्य है। मैं उसे हिलाऊँगा; उसे झकझोर कर उत्तर देने के लिए बाध्य करूँगा।"

कहते-कहते एकांतवासी गुफा के बाहर निकल पड़ा। सामने झरना था, उसके पार पथरीली भूमि। वह उधर न जाकर झरने के किनारे-किनारे चल पड़ा। बराबर चलने लगा, जैसे समय चलता है।

सोता आगे बढ़ते-बढ़ते छोटा होता गया। क्षीण, फिर क्रमशः और क्षीण

होकर मरुभूमि में जाकर विलीन हो गया। अब उसके सामने सिकता-समुद्र ! चारों ओर धू-धू करती हुई बालू से मिली समीर की उत्ताल तरंगें। वह खड़ा हो गया। एक बार चारों ओर आँख फिरा कर देखना चाहा, पर कुछ नहीं, केवल बालू के थपेड़े।

साहस करके पथिक आगे बढ़ने लगा। दृष्टि काम नहीं देती थी, हाथ-पैर अवसन्न थे। फिर भी चलता गया। विरल छाया-वाले खजूर-कुंज तक पहुँचते-पहुँचते वह गिर पड़ा। न जाने कब तक अचेत पड़ा रहा।

एक पथिक पथ भूलकर वहां विश्राम कर रहा था। उसने जल के छींटे दिये। एकांतवासी चैतन्य हुआ। देखा, एक मनुष्य उसकी सेवा कर रहा है। नाम पूछने पर मालूम हुआ—"सेवक।"

"तुम कहाँ जाओगे ?" उसने पूछा।

"संसार से घबराकर एकांत में जा रहा हूँ।"

"और मैं एकांत से घबराकर संसार में जाना चाहता हूँ।"

"क्या एकांत में कुछ सुख नहीं मिला ?"

"सब सुख था—एक दुःख, पर वह बड़ा भयानक दुःख था। अपने सुख को मैं किसी से प्रकट नहीं कर सकता था, इससे बड़ा कष्ट था।"

"मैं उस दुःख का अनुभव करूँगा।"

"प्रार्थना करता हूँ, उसमें न पड़ो।"

"तब क्या करूँ ?"

"लौट चलो; हम लोग बातें करते हुए जीवन बिता देंगे !"

"नहीं तुम अपनी बातों में विष उगलोगे।"

"अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा।"

दोनों विश्राम करने लगे। शीतल पवन ने सुला दिया। गहरी नींद लेने पर जागे। एक-दूसरे को देखकर मुसकराने लगे। सेवक ने पूछा—"आप तो इधर से आ रहे हैं, कैसा पथ है ?"

"निर्जन मरुभूमि।"

"तब तो मैं न जाऊँगा; नगर की ओर लौट जाऊँगा। तुम भी चलोगे ?"

"नहीं, इस खजूर-कुंज को छोड़कर मैं कहीं न जाऊँगा। तुमसे बोलचाल कर लेने पर और लोगों से मिलने की इच्छा जाती रही। जी भर गया।"

"अच्छा तो मैं जाता हूँ। कोई काम हो, तो बताओ, कर दूंगा।"

"मेरा ! मेरा कोई काम नहीं।"

"सोच लो।"

"नहीं, वह तुमसे न होगा।"

"देखूँगा, संभव है, हो जाय।"

"लूनी नदी के उस पार रामनगर के जमींदार की एक सुंदर कन्या है; उससे कोई संदेश कह सकोगे ?"

"चेष्टा करूँगा। क्या कहना होगा ?"

"तीन बरस से तुम्हारा जो प्रेमी निर्वासित है, वह खजूर-कुंज में विश्राम कर रहा है। तुमसे एक चिन्ह पाने की प्रत्याशा में ठहरा है। अब की बार वह अज्ञात विदेश में जायगा। फिर लौटने की आशा नहीं है।"

सेवक ने कहा—"अच्छा, जाता हूँ, परंतु ऐसा न हो कि तुम यहाँ से चले जाओ; वह मुझे झूठा समझे।"

"नहीं, मैं यहीं प्रतीक्षा करूँगा।"

सेवक चला गया। खजूर के पत्तों से झोंपड़ी बनाकर एकांतवासी फिर रहने लगा। उसको बड़ी इच्छा होती कि कोई भूला-भटका पथिक आ जाता, तो खजूर और मीठे जल से उसका आतिथ्य करके वह एक बार गृहस्थ बन जाता।

परन्तु कठोर अदृष्ट-लिपि। उसके भाग्य में एकान्तवास ज्वलंत अक्षरों में लिखा था। कभी-कभी पवन के झोंके से खजूर के पत्ते खड़खड़ा जाते। वह चौंक उठता। उसकी अवस्था पर वह क्षीणकाय स्रोत रोगी के समान हँस देता। चांदनी में दूर तक मरुभूमि सादी चित्रपटी-सी दिखाई देती।

2

माँ भूखी थी। बुढ़िया झोंपड़ी में दाने ढूँढ़ रही थी। उस पार नदी के कगारे पर दोनों की धुँधली प्रतिकृति दिखाई दे रही थी। पश्चिम के क्षितिज में नीचे अस्त होता हुआ सूर्य बादलों पर अपना रंग फेंक रहा था। बादल नीचे जल पर छाया-दान कर रहा था। नदी में धूप-छाँव बिछी थी। 'सेवक' डोंगी लिये, इधर यात्री की आशा में, बालू के रुखे तट से लगा बैठा था।

उसके केवल माँ थी। वह युवक था। स्वामी कन्या से वह किसी प्रेमी का संदेश कह रहा था; राजा (जमींदार) को संदेह हुआ। वे क्रुद्ध हुए, बिगड़ गये, परन्तु कन्या के अनुरोध से उसके प्राण बच गये। तब से वह डोंगी चलाकर अपना पेट पालता था।

तमिस्रा आ रही थी। निर्जन प्रदेश नीरव था। लहरियों का कल-कल बन्द था। उसकी दोनों आँखें प्रतीक्षा की दूती थीं। कोई आ रहा है! और भी ठहर जाऊँ—नहीं, लौट चलूँ। डाँडे डोंगी से जल में गिरा दिये। 'छप' शब्द हुआ। उसे सिकता-तट पर भी पद-शब्द की भ्रांति हुई। रुककर देखने लगा।

"माँझी, उस पार चलोगे ?" एक कोमल कंठ, वंशी की झनकार।

"चलूँगा क्यों नहीं, उधर ही तो मेरा घर है। मुझे लौटकर जाना है।"

"मुझे भी आवश्यक कार्य है। मेरा प्रियतम उस पार बैठा है। उससे मिलना

है। जल्द ले चलो।" यह कहकर एक रमणी आकर बैठ गई। डोंगी हल्की हो गई, जैसे चलने के लिए नाचने लगी हो। सेवक संध्या के गहरे प्रकाश में उसे आँखें गड़ाकर देखना चाहता था। रमणी खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"सेवक, तुम मुझे देखते रहोगे कि खेना आरम्भ करोगे।"

"मैं देखता चलूँगा, खेता चलूँगा। बिन देखे भी कोई खे सकता है।"

"अच्छा, वही सही। देखो, पर खेते भी चलो। मेरा प्रिय कहीं लौट न जाय, कहीं लौट न जाय; शीघ्रता करो।"—रमणी की उत्कंठा उसके उभरते हुए वक्ष-स्थल में श्वास बनकर फूल रही थी। सेवक डाँडे चलाने लगा। दो-चार नक्षत्र नील गगन से झाँक रहे थे। अवरुद्ध समीर नदी की शीतल चादर पर खुलकर लौटने लगा। सेवक तल्लीन होकर खे रहा था। रमणी ने पूछा—"तुम्हारे और कौन है?"

"कोई नहीं, केवल माँ है।"

नाव किनारे पहुँच गई। रमणी उतरकर खड़ी हो गई। बोली - "तुमने बड़े ठीक समय से पहुँचाया। परन्तु मेरे पास क्या है, जो तुम्हें पुरस्कार दूँ।"

वह चुपचाप उसका मुँह देखने लगा।

रमणी बोली—"मेरा जीवन-धन जा रहा है। एक बार उससे अंतिम भेंट करने आई हूँ। एक अँगूठी उसे अपना चिह्न देने के लिए लाईहूँ और कुछ नहीं है। परन्तु तुमने इस अन्तिम मिलन में बड़ी सहायता की है, तुम्हीं ने उसका संदेश पहूंचाया। तुम्हें कुछ दिए बिना हमारा मिलन असफल होगा, इसलिए, यह चिह्न तुम्हीं ले लो।"

सेवक ने अँगूठी लेते हुए पूछा—"और तुम अपने प्रियतम को क्या चिह्न दोगी?"

"अपने को स्वयं दे दूँगी। लौटना व्यर्थ है। अच्छा, धन्यवाद!" रमणी तीर-वेग से चली गई।

वह हक्का-बक्का खड़ा रह गया। आकाश के हृदय में तारा चमकता था; उसके हाथ में अँगूठी का रत्न। उससे तारे का मिलान करते-करते झोंपड़ी में पहुंचा। माँ भूखी थी। इसे बेचना होगा, यही चिन्ता थी। माँ ने जाते ही कहा —"कब से भोजन बनाकर बैठी हूँ, तू आया नहीं। बड़ी अच्छी मछली मिली थी। ले, लल्द खा ले।" वह प्रसन्न हो गया।

3

एकांतवासी बैठा हुआ खजूर इकट्ठा कर रहा था। अभी प्रभात का कोमल सूर्य खगोल में बहुत ऊँचा नहीं था। एक सुनहरी किरण-सी रमणी सामने आ गई। आत्मविस्मृत होकर एकांतवासी देखने लगा।

"स्वागत अतिथि ! आओ बैठो।"

रमणी ने आतिथ्य स्वीकार किया। बोली—"मुझे पहचानते हो ?"

"तुम्हें न पहचानूंगा, प्रियतमे ! अनंत पथ का पाथेय कोई प्रणय-चिह्न ले आई हो; तो मुझे दे दो। इसलिए ठहरा हूँ।"

"लौट चलो ! इस भीषण एकांत से तुम्हारा मन नहीं भरा ?"

"कहाँ चलूंगा ? तुम्हारे साथ जीवन व्यतीत करने का साधन नहीं; करने भी न पाऊँगा, लौटकर क्या करूँगा ? मुझे केवल चिह्न दे दो, उसी से मन बहलाऊँगा।"

"मैं उसे पुरस्कार-स्वरूप दे आई हूँ। उसे पाने के लिए तो लूनी के तट तक चलना होगा।"

"तो चलूँगा।"

यात्रा की तैयारी हुई। दोनों लौट चले।

सेवक जब संध्या को डोंगी लेकर लौटता है; तब उसके हृदय में उस रमणी की सुध आ जाती है। वह अँगूठी निकाल कर देखता और प्रतीक्षा करता है कि रमणी लौटे, तो उसे दे दूँ। उसे विश्वास था, कभी तो वह आवेगी।

डोंगी नीचे बँधी थी। वह झोंपड़ी से निकलकर चला ही था कि सामने रमणी आती दिखाई पड़ी। साथ में एक पुरुष था। न जाने क्यों, वह डोंगी पर जा बैठा। दोनों तीर पर आकर खड़े हो गये। रमणी ने पूछा—"मुझे पहचानते हो ?"

"अच्छी तरह।"

"मैंने तुम्हें कुछ पुरस्कार दिया था। वह मेरा प्रणय-चिह्न था। मेरा प्रिय मुझे नहीं लेगा। उसी चिह्न को लेगा। इसीलिए तुमसे विनती करती हूँ कि उसे दे दो।"

"यह अन्याय है। मेरी मजूरी मुझसे न छीनो।"

"मैं भीख माँगती हूँ।"

"मैं दरिद्र हूँ, देने में असमर्थ हूँ।"

निरुपाय होकर रमणी ने एकांतवासी की ओर देखा। उसने कहा—"तुमने तो उसे लौटा देने के लिए ही रख छोड़ा है। वह देखो, तुम्हारी उँगली में चमक रहा है, क्यों नहीं दे देते ?"

"मैं समझ गया, इसका मूल्य परिश्रम से अधिक है। तो चलो, अबकी दोनों की सेवा करके इसका मूल्य पूरा कर दूँ परन्तु दया करके इसे मेरे ही पास रहने दो। जिन्हें विदेश जाना है, उनको नौका की यात्रा बड़ी सुखद होती है।" कहकर एक बार उसने झोपड़ी की ओर देखा। बुढ़िया मर चुकी थी। खाली झोंपड़ी की ओर से उसने मुँह फिरा लिया। डाँडे जल में गिरा दिये।

रमणी ने कहा—"चलो, यात्रा तो करनी ही है, बैठ जाएँ।"

एकांतवासी हँस पड़ा। दोनों नाव पर बैठ गए। नाव धारा में बहने लगी। रमणी ने हँसकर पूछा—"केवल देखोगे या खेओगे भी?"

"नाव स्वयं बहेगी; मैं केवल देखूँगा ही।"

□□

रूप की छाया

काशी के घाटों की सौध-श्रेणी जाह्नवी के पश्चिम तट पर धवल शैल-माला-सी खड़ी है। उनके पीछे दिवाकर छिप चुके। सीढ़ियों पर विभिन्न वेशभूषा वाले भारत के प्रत्येक प्रांत के लोग टहल रहे हैं। कीर्तन, कथा और कोलाहल से जाह्नवी-तट पर चहल-पहल है।

एक युवती भीड़ से अलग एकांत में ऊँची सीढ़ी पर बैठी हुई भिखारी का गीत सुन रही है, युवती कानों से गीत सुन रही है, आँखों के सामने का दृश्य देख रही है। हृदय शून्य था, तारा-मंडल के विराट् गगन के समान शून्य और उदास। सामने गंगा के उस पार चमकीली रेत बिछी थी। उसके बाद वृक्षों की हरियाली के ऊपर नीला आकाश, जिसमें पूर्णिमा का चन्द्र, फीके बादल के गोल टुकड़े के सदृश, अभी दिन रहते ही गंगा के ऊपर दिखाई दे रहा है। जैसे मंदाकिनी में जल-विहार करने वाले किसी देव-द्वंद्व की नौका का गोल पाल। दृश्य के स्वच्छ पट में काले-काले बिन्दु दौड़ते हुए निकल गए। युवती ने देखा, वह किसी उच्च मंदिर में से उड़े कपोतों का एक झुंड था। दृष्टि फिर कर वहाँ गई, जहाँ टूटी काठ की चौकी पर विवर्ण-मुख, लम्बे असंयत बाल और फटा कोट पहने एक युवक कोई पुस्तक पढ़ने में निमग्न था।

युवती का हृदय फड़कने लगा। वह उतरकर एक बार युवक के पास तक आई, फिर लौट गई। सीढ़ियों के ऊपर चढ़ते-चढ़ते उसकी एक प्रौढ़ा संगिनी मिल गई। उससे बड़ी घबराहट में युवती ने कुछ कहा और स्वयं वहाँ से चली गई।

प्रौढ़ा ने आकर युवक के एकांत अध्ययन में बाधा दी और पूछा—"तुम विद्यार्थी हो?"

"हाँ, मैं हिन्दू-स्कूल में पढ़ता हूँ?"

"क्या तुम्हारे घर के लोग यहीं हैं?"

"नहीं, मैं एक विदेशी, निस्सहाय विद्यार्थी हूँ।"

"तब तुम्हें सहायता की आवश्कता है?"

"यदि मिल जाए, मुझे रहने के स्थान का बड़ा कष्ट है।"

"हम लोग दो-तीन स्त्रियाँ हैं। कोई अड़चन न हो, तो हम लोगों के साथ रह सकते हो।"

"बड़ी प्रसन्नता से, आप लोगों का कोई छोटा-मोटा काम भी कर दिया करूँगा।"

"अभी चल सकते हो?"

"कुछ पुस्तक और सामान है, उन्हें लेता आऊँ।"

"ले आओ, मैं बैठी हूँ।"

युवक चला गया।

गंगा-तट पर एक कमरे में उज्ज्वल प्रकाश फैल रहा था। युवक विद्यार्थी बैठा हुआ ब्यालू कर रहा था। अब वह कालेज के छात्रों में है। उसका रहन-सहन बदल गया है। वह एक सुरुचि-संपन्न युवक हो गया है। अभाव उससे दूर हो गये थे।

प्रौढ़ा परसती हुई बोली—"क्यों शैलनाथ! तुम्हें अपनी चाची का स्मरण होता है?"

"नहीं तो, मेरे कोई चाची नहीं है।"

दूर बैठी हुई युवती ने कहा—"जो अपनी स्मृति के साथ विश्वासघात करता है, उसे कौन स्मरण दिला सकता है।"

युवक ने हँसकर इस व्यंग्य को उड़ा दिया। चुपचाप घड़ी का टिक-टिक शब्द सुनता और मुँह चलाता जा रहा था। मन में मनोविज्ञान का पाठ सोचता जाता था—"मन क्यों एक बार एक ही विषय का विचार कर सकता है?"

प्रौढ़ा चली गई। युवक हाथ-मुँह धो चुका था। सरला ने पान बना कर दिया और कहा—"क्या एक बात मैं भी पूछ सकती हूँ?"

"उत्तर देने ही में तो छात्रों का समय बीतता है, पूछिये।"

"कभी तुम्हें रामगाँव का स्मरण होता है? यमुना की लाल लहरियों में से निकलता हुआ अरुण और उसके श्यामल तट का प्रभात स्मरण होता है? स्मरण होता है, एक दिन हम लोग कार्तिक पूर्णिमा-स्नान को गये थे, मैं बालिका थी, तुमने मुझे फिसलते देखकर हाथ पकड़ लिया था, इस पर साथ की और स्त्रियाँ हँस पड़ी थीं, तुम लज्जित हो गये थे।"

पचीस वर्ष के बाद युवक छात्र ने अपने जीवन-भर में जैसे आज ही एक आश्चर्य की बात सुनी हो, वह बोल उठा—"नहीं तो।"

कई दिन बीत गये।

गंगा के स्थिर जल में पैर डाले हुए, नीचे की सीढ़ियों पर सरला बैठी हुई थी कारुकार्य-खचित-कंचुकी के ऊपर कंधे के पास सिकुड़ी हुई साड़ी, आधा खुला हुआ सिर, बंकिम ग्रीवा और मस्तक में कुंकुम-बिन्दु—महीन चादर में—सब अलग-अलग दिखाई दे रहे थे। मोटी पलकों वाली बड़ी-बड़ी आँखें गंगा के हृदय में से मछलियों को ढूँढ़ निकालना चाहती थीं। कभी-कभी वह बीच धारा में बहती हुई डोंगी को देखने लगती। खेने वाला जिधर जा रहा है उधर देखता ही नहीं। उल्टे बैठकर डाँड़ चला रहा है। कहाँ जाना है, इसकी उसे चिंता नहीं।

सहसा शैलनाथ ने आकर पूछा—

"मुझे क्यों बुलाया है?"

"बैठ जाओ।"

शैलनाथ पास ही बैठ गया। सरला ने कहा—"अब तुम नहीं छिप सकते। तुम्हीं मेरे पति हो, तुम्हीं से मेरा बाल-विवाह हुआ था, एक दिन चाची के बिगड़ने पर सहसा घर से निकलकर कहीं चले गये, फिर न लौटे। हम लोग आज-कल अनेक तीर्थों में तुम्हें खोजती हुई भटक रही हैं। तुम्हीं मेरे देवता हो; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। कह दो—हाँ!"

सरला जैसे उन्मादिनी हो गई है। यौवन की उत्कंठा उसके बदन पर बिखर रही थी। प्रत्येक अंग में अँगड़ाई, शरीर में मरोर, शब्दों में वेदना का संचार था, शैलनाथ ने देखा, कुमुदों से प्रफुल्लित शरत्काल के ताल-सा भरा यौवन। सर्वस्व लुटाकर चरणों में लोट जाने के योग्य सौन्दर्य-प्रतिमा। मन को मचला देने वाला विभ्रम, धैर्य को हिलाने वाली लावण्यलीला। वक्षस्थल में हृदय जैसे फैलने लगा। वह 'हाँ' कहने ही को था परन्तु सहसा उसके मुंह से निकल पड़ा—

"यह सब तुम्हारा भ्रम है। भद्रे! मुझे हृदय के साथ ही मस्तिष्क भी है।"

"गंगाजल छूकर बोल रहे हो! फिर से सच कहो!"

युवक ने देखा, गोधूलि-मलिना-जाह्नवी के जल में सरला के उज्ज्वल रूप की छाया चंद्रिका के समान पड़ रही है। गंगा का उतना अंश मुकुट-सदृश धवल था। उसी में अपना मुख देखते हुए शैलनाथ ने कहा—

"भ्रम है सुन्दरी, तुम्हें पाप होगा।"

"हाँ, परन्तु वह पाप, पुण्य बनने के लिए उत्सुक है।"

"मैं जाता हूँ। सरला, तुम्हें रूप की छाया ने भ्रांत कर दिया है। अभागों को सुख भी दुःख ही देता है। मुझे और कहीं आश्रय खोजना पड़ा।"

शैलनाथ उठा और चला गया।

विमूढ़ सरला कुछ न बोल सकी। वह क्षोभ और लज्जा से गड़ी जाने लगी। क्रमशः घनीभूत रात में सरला के रूप की छाया भी विलीन हो गई। □□

ज्योतिष्मती

तामसी रजनी के हृदय में नक्षत्र जगमगा रहे थे। शीतल पवन की चादर उन्हें ढँक लेना चाहती थी, परन्तु वे निविड़ अंधकार को भेदकर निकल आये थे, फिर यह झीना आवरण क्या था।

बीहड़, शैल-संकुल वन्य-प्रदेश, तृण और वनस्पतियों से घिरा था। वसन्त की लताएँ चारों ओर फैली हुई थीं। हिमवान की उच्च उपत्यका प्रकृति का एक सजीव, गम्भीर और प्रभावशाली चित्र बनी थी !

एक बालिका, सूक्ष्म कँवल-वासिनी सुन्दरी बालिका चारों ओर देखती हुई चुपचाप चली जा रही थी। विराट् हिमगिरि की गोद में वह शिशु के समान खेल रही थी। बिखरे हुए बालों को सम्हालकर उन्हें बार-बार हटा देती थी और पैर बढ़ाती हुई चली जा रही थी। वह एक क्रीड़ा-सी थी। परन्तु सुप्त हिमांचल उसका चुंबन न ले सकता था। नीरव प्रदेश उस सौन्दर्य से आलोकित हो उठता था। बालिका न जाने क्या खोजती चली जाती थी। जैसे शीतल जल का एक स्वच्छ सोता एकाग्र मन से बहता जाता हो।

बहुत खोजने पर भी उसे वह वस्तु न मिली, जिसे वह खोज रही थी। सम्भवत: वह स्वयं खो गई। पथ भूल गया, अज्ञात प्रदेश में जा निकली। सामने निशा की निस्तब्धता भंग करता हुआ एक निर्झर कलरव कर रहा था। सुन्दरी ठिठक गई। क्षण-भर के लिए तमिस्रा की गम्भीरता ने उसे अभिभूत कर लिया। हताश होकर शिला-खण्ड पर बैठ गई।

वह शान्त हो गई थी। नील निर्झर का तम-समुद्र में संगम, एकटक वह घंटों देखती रही। आँखें ऊपर उठतीं, तारागण झलझला जाते थे। नीचे निर्झर छल-छलाता था। उसकी जिज्ञासा का कोई स्पष्ट उत्तर न देता। मौन प्रकृति के देश में न स्वयं कुछ कह सकती और न उनकी बात समझ में आती। अकस्मात् किसी ने पीठ पर हाथ रख दिया। यह सिहर उठी, भय का संचार हो गया। कम्पित स्वर से बालिका ने पूछा, "कौन ?"

"यह मेरा प्रश्न है। इस निर्जन निशीथ में जब सत्व विचरते हैं, दस्यु घूमते हैं, तुम यहाँ कैसे ?" गम्भीर कर्कश कंठ से आगन्तुक ने पूछा।

सुकुमारी बालिका सत्वों और दस्युओं का स्मरण करते ही एक बार काँप उठी। फिर सम्हल कर बोली—

"मेरी वह नितांत आवश्यकता है। वह मुझे भय ही सही, तुम कौन हो ?"

"एक साहसिक—"

"साहसिक और दस्यु तो क्या, सत्व भी हो, तो उसे मेरा काम करना होगा।"

"बड़ा साहस है ! तुम्हें क्या चाहिए, सुंदरी तुम्हारा क्या नाम है ?"

"वनलता !"

"बूढ़े वनराज, अंधे वनराज की सुंदरी बालिका वनलता ?"

"हाँ।"

"जिसने मेरा अनिष्ट करने में कुछ भी उठा न रखा, वही वनराज !" क्रोध कम्पित स्वर से आगन्तुक ने कहा ।

"मैं नहीं जानती, पर क्या तुम मेरी याचना पूरी करोगे ?"

शीतल प्रकाश में लम्बी छाया जैसे हँस पड़ी और बोली—

"मैं तुम्हारा विश्वस्त अनुचर हूँ, क्या चाहती हो, बोलो ?"

"पिताजी के लिए ज्योतिष्मती चाहिए।"

"अच्छा चलो, खोजें।" कहकर आगन्तुक ने बालिका का हाथ पकड़ लिया। दोनों बीहड़ वन में घुसे। ठोकरें लग रही थीं, अँगूठे क्षत-विक्षत थे। साहसिक की लम्बी डगों के साथ बालिका हाँफती हुई चली जा रही थी।

सहसा साथी ने कहा—"ठहरो, देखो, वह क्या है ?"

श्यामा सघन, तृण-संकुल शैल-मण्डप पर हिरण्यलता तारा के समान फूलों से लदी हुई मन्द मारुत से विकंपित हो रही थी। पश्चिम में निशीथ के चतुर्थ प्रहर में अपनी स्वल्प किरणों से चतुर्दशी का चन्द्रमा हँस रहा था। पूर्व प्रकृति अपने स्वप्न-मुकुलित नेत्रों को आलस से खोल रही थी। वनलता का बदन सहसा खिल उठा। आनन्द से हृदय अधीर होकर नाचने लगा। वह बोल उठी—"यही तो है।"

साहसिक अपनी सफलता पर प्रसन्न होकर आगे बढ़ना चाहता था कि वनलता ने कहा—"ठहरो, तुम्हें एक बात बतानी होगी।"

"वह क्या है ?"

"जिसे तुमने कभी प्यार किया हो, उससे कोई आशा तो नहीं रखते ?"

"सुंदरी ! पुण्य की प्रसन्नता का उपभोग न करने से वह पाप हो जाएगा।"

"तब तुमने किसी को प्यार किया है ?"

"क्यों ? तुम्हीं को !" कहकर आगे बढ़ा !

"सुनो, सुनो; जिसने चंद्रशालिनी ज्योतिष्मती रजनी के चारों पहर कभी बिना पलक लगे प्रिय की निश्छल चिंता में न बिताये हों, उसे ज्योतिष्मती न छूनी चाहिए। इसे जंगल के पवित्र प्रेमी ही छूते हैं, ले आते हैं, तभी इसका गुण…"

वनलता की इन बातों को बिना सुने हुए वह बलिष्ठ युवक अपनी तलवार की मूँठ दृढ़ता से पकड़कर वनस्पति की ओर अग्रसर हुआ।

बालिका छटपटा कर कहने लगी—"हाँ-हाँ, छूना मत, पिताजी की आँखें, आह !" तब तक साहसिक की लम्बी छाया ने ज्योतिष्मती पर पड़ती हुई चंद्रिका को ढंक लिया। वह एक दीर्घ निश्वास फेंककर जैसे सो गई। बिजली के फूल मेघ में विलीन हो गए। चंद्रमा खिसक कर पश्चिमी शैल-माला के नीचे जा गिरा।

वनलता—झंझावात से भग्न होते हुए वृक्ष की वनलता के समान वसुधा का आलिंगन करने लगी और साहसिक युवक के ऊपर कालिमा की लहर टकराने लगी।

□□

रमला

साजन के मन में नित्य बसंत था। वही बसंत जो उत्साह और उदासी का समझौता कराता, वह जीवन के उत्साह से कभी विरत नहीं, न जाने कौन-सी आशा की लता उसके मन में कली लेती रहती। तिस पर भी उदासीन साजन उस बड़ी-सी झील के तट पर, प्रायः निश्चेष्ट अजगर की तरह पड़ा रहता। उसे स्मरण नहीं, कब से वहाँ रहता था। उसका सुंदर सुगठित शरीर बिना देख-रेख के अपनी इच्छानुसार मलिनता में भी चमकता रहता। उस झील का वह एकमात्र स्वामी था, रक्षक था, सखा था।

शैलमाला की गोद में वह समुद्र का शिशु कलोल करता, उस पर से अरुण की किरणें नाचती हुई, अपने को शीतल करती चली जातीं। मध्यान्ह में दिवस ठहर जाता—उसकी लघु वीचियों का कंपन देखने के लिए। संध्या होते, उसके चारों ओर के वृक्ष अपनी छाया के अंचल में छिपा लेना चाहते; परन्तु उसका हृदय उदार था, मुक्त था, विराट् था। चाँदनी उसमें अपना मुँह देखने लगती और हँस पड़ती।

और साजन ! वह भी अपने निर्जन सहचर का उसके शांत सौन्दर्य में अभिनन्दन करता। हुलस कर उसमें कूद पड़ता, यही उसका स्नेहातिरेक था।

साजन की साँसें उसकी लहरियों से स्वर-सामंजस्य बनाये रहतीं। यह झील उसे खाने के लिए कमलगट्टे देती, सिंघाड़े देती, कोंईबेर्री, और भी कितनी वस्तु बिखेरती। वही साजन की गृहिणी थी, स्नेहमयी, कभी-कभी वह उसे पुकार उठता, बड़े उल्लास से बुलाता—'रानी !' प्रतिध्वनि होती, ई-ई-ई...।' वह

खिलखिला उठता, आँखें विकस जातीं, रोएँ-रोएँ हँसने लगते। फिर सहसा वह अपनी उदासी में डूब जाता, तब तारा छाई रात उस पर अपना श्याम अंचल डाल देती। कभी-कभी वृक्ष की जड़ से ही सिर लगाकर सो रहता।

ऐसे ही कितने ही बरस बीत गये।

उधर पशु चराने के लिए गोप-बालक न जाते। दूर-दूर के गाँव में यह विश्वास था कि रमला झील पर कोई जलदेवता रहता है। उधर कोई झाँकता भी नहीं। वह संसर्ग से वंचित देश अपनी विभूति में अपने में ही मस्त था।

रमला बड़ी ढीठ थी। वह गाँव-भर में सबसे चंचल लड़की थी। लड़की क्यों, वह युवती हो चली थी। उसका ब्याह नहीं हुआ था; वह अपनी जाति भर में सबसे अधिक गोरी थी, तिस पर भी उसका नाम पड़ गया रमला! वह ऐसी बाधा थी कि उसका ब्याह होना असंभव हो गया। उसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि वह बड़े-बड़े लड़कों को भी उनकी ढिठाई पर चपत लगाकर हँस देती थी। झील के दक्षिण की पहाड़ी से कोसों दूर पर उसका गाँव था।

मंजल भी कम दुष्ट न था, वह प्रायः रमला को चिढ़ाया करता। उसने सब लड़कों से सलाह की—"रमला की पहाड़ी पर चला जाय।"

बालक इकट्ठे हुए। रमला भी आज पहाड़ी पर पशु चराने को ठहरी। सब चढ़ने लगे; परन्तु रमला सबके पहले थी। सबसे ऊंची चोटी पर खड़ी होकर उसने कहा—"लो, मैं सबके आगे ही पहुंची,"—कहकर पास के लड़के को चपत लगा दी।

मंजल ने कहा—"उधर तो देखो! वह क्या है?"

रमला ने देखा सुन्दर झील! वह उसे देखने में तन्मय हो गई थी। प्रतिहिंसा से भरे हुए लड़के ने एक हलका-सा धक्का दिया, यद्यपि वह उसके परिणाम से पूरी तरह परिचित नहीं था; फिर भी रमला को तो कष्ट भोगने के लिए कोई रुकावट न थी। वह लुढ़क चली, जब तक एक झाड़ को पकड़ती और वह उखड़कर गिरता, तब तक दूसरे पत्थर का कोना उसे चोट पहुँचाने पर अवलंब दे ही देता; किंतु पतन रुकना असंभव था। वह चोटखाते-खाते नीचे आ ही पड़ी। बालक गांव की ओर भगे। रमला के घरवालों ने भी संतोष कर लिया।

साजन कभी-कभी रमला झील की फेरी लगता। वह झील कई कोस में थी। जहां स्थल-पथ का पहाड़ी की बीहड़ शिलाओं से अन्त हो जाता, वहां वह तैरने लगता। बीच-बीच में उसने दो-एक स्थान विश्राम के लिए बना लिये थे; वह स्थान और कुछ नहीं; प्राकृतिक गुहायें थीं। उसने दक्षिण की पहाड़ी के नीचे पहुंचकर देखा, एक किशोरी जल में पैर लटकाये बैठी है।

वह आश्चर्य और क्रोध से अपने होंठ चबाने लगा; क्योंकि एक गुफा वहीं पर

थी। अब साजन क्या करे! उसने पुष्ट भुजा उठाकर दूर से पूछा—"तुम कौन? भागो।"

रमला एक मनुष्य की आकृति देखते ही प्रसन्न हो गई, हँस पड़ी। बोली—

"मैं हूँ, रमला!"

"रमला! रमला रानी।"

"रानी नहीं, रमला।"

"रमला नहीं, रानी कहो, नहीं पीटूँगा, मेरी रानी!"—कहकर साजन झील की ओर देखने लगा।

"अच्छा, अच्छा, रानी! तुम कौन हो?"

"मैं साजन, रानी का सहचर।"

"तुम सहचर हो? और मैं वहां आई हूँ तुम मेरा कुछ सत्कार नहीं करते?"—हँसोड़ रमला ने कहा।

"आओ तुम!"—कहकर विस्मय से साजन उस किशोरी की ओर देखने लगा।

"हाँ मैं, तुम बड़े दुष्ट हो साजन! कुछ खिलाओ, कहाँ रहते हो? वहीं चलूँ।"

साजन घबराया, उसने देखा कि रमला उठ खड़ी हुई। उसने कहा—तैरकर चलना होगा, आगे पथ नहीं है।

वह कूद पड़ी और राजहंसी के समान तैरने लगी। साजन क्षणभर तक उस सुन्दर संतरण को देखता रहा। उसकी दृष्टि का यह पहला महोत्सव था। उसे भी तो तैरने का विनोद था न। मन का विरोध उन लहरों के आंदोलन से घुलने लगा, अनिच्छा होने पर भी वह साथ देने के लिए कूद पड़ा। दोनों साथ-साथ तैर चले।

बहुत दिन बीत गये। रमला और साजन एकत्र रहने पर भी अलग थे। रमला का सब उत्साह उस एकांत नीरवता में धीरे-धीरे विलीन हो चला।

वह ऊब चली। उसकी गुफा में ढेर-के-ढेर कमलगट्ट फल पड़े रहते, उसे सब पदार्थों से वितृष्णा हो चली। साजन पालतू पशु के समान अपनी स्वामिनी से आज्ञा की अपेक्षा करता; परंतु रमला का उत्साह तो उस बंदीगृह से भाग जाने के लिए उत्सुक था।

साजन ने एक दिन पूछा—

"क्या ले आऊँ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ नहीं? क्यों?"

"मैं अब जाऊँगी?"

"कहाँ ?"

"जिधर जा सकूँगी।"

"तब यहीं क्यों नहीं रहती हो ?"—अचानक साजन ने कहा।

रमला कुछ न बोली। उस झील पर रात आई, अपना जगमगाता चँदवा तानकर विश्राम करने लगी। रमला अपनी गुफा में सोने चली गई और साजन अपनी गुफा के पास बैठा एकटक रजनी का सौंदर्य देखने लगा। आज जैसे उसे स्मृति हुई—रमला के आ जाने से वह जिस बात को भूल गया था, उसके अंतर की वही भावना जाग उठी। साजन पुकार उठा—'रानी !' बहुत दिन के बाद उस झील की पहाड़ियाँ प्रतिध्वनि से मुखरित हो उठीं—ई—ई—ई।

रमला चौंककर जाग पड़ी। बाहर चली आई। उसने देखा, साजन झील की ओर मुंह किये पुकार रहा है—'रानी !' 'रानी !'—उसका कंठ गद्गद है। चाँदनी आज निखर पड़ी थी। रमला ने सुना। साजन के स्वर में रुदन था। व्याकुलता थी; रमला ने उसके कंधे पर हाथ रख दिया—साजन सिहर उठा। उसने कहा—"कौन, रमला !"

"रमला नहीं—रानी।"

साजन विस्मय से देखने लगा। उसने पूछा—"तुम रानी हो ?"

"हाँ, मुझी को तो तुम पुकारते थे न ?"

"तुम्हीं...तुम्हीं...हाँ, तुम्हीं को तो, मेरी प्यारी रानी !"

दोनों ने देखा, आकाश के नक्षत्र रमला-झील में डुबकियाँ ले रहे थे, और खिलखिला रहे थे।

कितना समय बीत गया—

साजन की सब सोई वासनायें जाग उठीं—भूले हुए पाठ की तरह अच्छे गुरु के सामने स्मरण होने लगी थीं !

उसे अब शीत लगने लगा—रमला के कपड़ों की आवश्यकता वह स्वयं अनुभव करने लगा।

अकस्मात् एक दिन रमला ने कहा—"चलो, कहीं घूम आवें।"

साजन ने भी कह दिया—"चलो।"

वही गिरिपथ, जिसने बहुत दिनों से मनुष्य का पद-चिह्न भी नहीं देखा था—साजन और रमला के पैर चूमने लगा। दोनों उसे रौंदते चले गये।

रमला अपनी फटी साड़ी में लिपटी थी और साजन वल्कल बाँधे था। वे दरिद्र थे पर उनके मुख पर एक तेज था। वे जैसे प्राचीन देवकथाओं के कोई पात्र हों। संध्या हो गयी थी— गाँव का जमींदार का प्रांगण अभी सूना न था। जमींदार भी बिलकुल युवक था। उसे इस जोड़े को देखकर कुतूहल हुआ। उसने वस्त्र और भोजन की व्यवस्था करके उन्हें टिकने की आज्ञा दे दी।

प्रातः आँखें खोल रहा था। किसान अपने खेतों में जाने की तैयारी में थे। रमला उठ बैठी थी, पास ही साजन पड़ा सो रहा था। कपड़ों की गरमी उसे सुख में लपेटे थी। उसे कभी यह आनन्द न मिला था। कितने ही प्रभात रमला झील के तट उस नारी ने देखे। किन्तु यह गाँव का दृश्य उसके मन में संदेह, कुतूहल, आशा भर रहा था। युवक जमींदार अपने घोड़े पर चढ़ना ही चाहता था कि उसकी दृष्टि मलिन वस्त्र में से झाँकती हुई दो आँखों पर पड़ी। वह पास आ गया, पूछने लगा—"तुम लोगों को कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?"

"नहीं'—कहते हुए रमला ने अपने सिर का कपड़ा हटा दिया और युवक को आश्चर्य से देखने लगी। युवक घबड़ाकर बोला—"कौन ? रमला ?"

"हाँ, मंजल !"

युवक की साँस भारी हो चली।

उसने कहा—"रमला, मुझे क्षमा करो, मैंने तुम्हें..."

"हाँ, धक्का देकर गिरा दिया था। तब भी मैं बच गई।"

युवक ने सोये हुए मनुष्य की ओर देखकर पूछा—"वह तुम्हारा कौन है ?"

रमला ने रुकते हुए उत्तर दिया—"मेरा—कोई नहीं।"

"तब भी, यह है कौन ?"

"रमला झील का जल-देवता।"

"युवक एक बार झनझना गया।

उसने पूछा—"तुम क्या फिर चली जाओगी, रमला ?"—उसके कंठ में बड़ी कोमलता थी।

"तुम जैसा कहो"—रमला जैसे बेबसी से बोली।

युवक—"अच्छा, जाओ पहले नहा-धो लो"—कहता हुआ घोड़े पर चढ़कर चला गया। रमला सलज्ज उठी—गाँव की पोखरी की ओर चली।

उसके जाते ही साजन जैसे जग पड़ा। एक बार अँगड़ाई ली और उठ खड़ा हुआ। जिस पथ से आया था, उससे लौटने लगा।

गोधूलि थी और वही उदास रमला झील ! साजन थका हुआ बैठा था। आज उसके मन में, न-जाने कहाँ का स्नेह उमड़ा था। प्रशांत रमला में एक चमकीला फूल हिलने लगा; साजन ने आँख उठाकर देखा—पहाड़ी की चोटी पर एक तारिका रमला के उदास भाल पर सौभाग्यचिह्न-सी चमक उठी। देखते-देखते रमला का वक्ष नक्षत्रों के हार से सुशोभित हो उठा।

साजन ने उल्लास से पुकारा—"रानी !"

□□

बिसाती

उद्यान की शैल-माला के नीचे एक हरा-भरा छोटा-सा गाँव है। वसंत का सुन्दर समीर उसे आलिंगन करके फूलों के सौरभ से उमके झोपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध-संगीत निरन्तर चला करता है, जिसके भीतर बुल-बुलों का कलनाद, कंप और लहर उत्पन्न करता है।

दाड़िम के लाल फूलों की रँगीली छाया संध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरी उसी के नीचे शिलाखंड पर बैठी हुई सामने गुलाबों की झुर-मुट देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे, वे समीरण के साथ छूल-छुलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजित कर रहे थे।

शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील-भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पद निस्पंद थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवा न करते हुए बुलबुलों का उसमें घुसना और उड़ भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी जुलेखा के आने से उसकी एकांत भावना भंग हो गई। अपना अवगुंठन उलटते हुए जुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जानेवाला बुलबुल, आज-कल नहीं दिखलाई देता?"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसंत तो आ गया पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिन्दुस्तान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या यह सच है, शीरीं?"

"हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतन्त्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुँघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा लौट आवेगा—चिंता न कर। मैं घर जाती हूँ।" शीरीं ने सिर हिला दिया।

जुलेखा चली गई।

जब पहाड़ी आकाश में संध्या अपने रँगीले पट फैला देती, जब विहंग केवल कलरव करते पंक्ति बाँधकर उड़ते हुए गुँजान झाड़ियों की ओर लौटते और अनिल में उनके कोमल परों से लहर उठती, जब समीर अपनी झोंकेदार तरंगों

में बार-बार अन्धकार को खींच लाता, जब गुलाब अधिकाधिक सौरभ लुटाकर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे; तब शीरीं की आशा-भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।

हिन्दुस्तान के समृद्धिशाली नगर की गली में एक युवक पीठ पर गट्ठर लादे घूम रहा है। परिश्रम और अनाहार से उसका मुख विवर्ण है। थककर वह किसी के द्वार पर बैंठ गया है। कुछ बेचकर उस दिन की जीविका प्राप्त करने की उत्कंठा उसकी दयनीय बातों से टपक रही है। परन्तु वह गृहस्थ कहता है—तुम्हें उधार देना हो तो दो, नहीं तो अपनी गठरी उठाओ। समझे आगा ?"

युवक कहता है—"मुझे उधार देने की सामर्थ्य नहीं।"

"तो मुझे भी कुछ नहीं चाहिए।"

शीरीं अपनी इस कल्पना से चौंक उठी। काफिले के साथ अपनी संपत्ति लादकर खैबर के गिरि-संकट को वह अपनी भावना से पदाक्रांत करने लगी।

उसकी इच्छा हुई कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रख दें कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें। परन्तु सरला शीरीं निस्सहाय थी। उसके पिता एक क्रूर पहाड़ी सरदार थे। उसने अपना सिर झुका लिया। कुछ सोचने लगी।

संध्या का अधिकार हो गया। कलरव बंद हुआ। शीरीं की साँसों के समान समीर की गति अवरुद्ध हो उठी। उसकी पीठ शिला से टिक गई।

दासी ने आकर उसको प्रकृतिस्थ किया। उसने कहा—"बेगम बुला रही हैं। चलिए मेंहदी आ गई है।"

महीनों हो गये। शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया। झरने के किनारे शीरीं के बाग में शबरी खींची है। पवन अपने एक-एक थपेड़े में सैंकड़ों फूलों को रुला देता है। मधु-धारा बहने लगती है। बुलबुल उसकी निर्दयता पर क्रन्दन करने लगते हैं। शीरीं सब सहन करती रही। सरदार का मुख उत्साहपूर्ण था। सब होने पर भी वह एक सुन्दर प्रभात था।

एक दुर्बल और लम्बा युवक पीठ पर गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा पर वह किसी ओर देखता नहीं। अपना सामान खोलकर सजाने लगा।

सरदार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिए काँच की प्याली और काश्मीरी सामान छाँटने लगा।

शीरीं चुपचाप थी, उसके हृदय-कानन में कलरवों का क्रन्दन हो रहा था। सरदार ने दाम पूछा। युवक ने कहा—"मैं उपहार देता हूँ। बेचता नहीं। ये विलायती और कश्मीरी सामान मैंने चुनकर लिए हैं। इनमें मूल्य ही नहीं, हृदय

भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकते।"

सरदार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे न चाहिए। ले जाओ---उठाओ।"

"अच्छा, उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ, थोड़ा अवसर दीजिए, में हाथ-मुँह धो लूँ।" कहकर युवक भरभराई हुई आँखों को छिपाते, उठ गया।

सरदार ने समझा, झरने की ओर गया होगा। विलम्ब हुआ पर वह न आया। गहरी चोट और निर्मम व्यथा को वहन करते कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों की ओर देखने लगी। परन्तु उसकी आँसू-भरी आँखों को कुछ न सूझता था। सरदार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो ?"

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दुस्तान की ओर चला गया था। वह लौटकर आज सवेरे दिखलाई पड़ा, पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा, तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया!"—शीरीं के स्वर में कंपन था, फिर भी वे शब्द बहुत सम्हलकर निकले थे। सरदार ने हँसकर कहा—"फूल को बुलबुल की खोज ? आश्चर्य है!"

बिसाती अपना सामान छोड़ गया। फिर लौटकर नहीं आया। शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया।

□□

आँधी

आँधी

चन्दा के तट पर बहुत-से छतनारे वृक्षों की छाया है, किन्तु मैं प्रायः मुचकुन्द के नीचे ही जाकर टहलता, बैठता और कभी-कभी चाँदनी में ऊँघने भी लगता। वहीं मेरा विश्राम था। वहाँ मेरी एक सहचरी भी थी, किन्तु वह कुछ बोलती न थी। वह रहट्ठों की बनी हुई मूसदानी-सी एक झोपड़ी थी, जिसके नीचे पहले सथिया मुसहरिन का मोटा-सा काला लड़का पेट के बल पड़ा रहता था। दोनों कलाइयों पर सिर टेके हुए भगवान की अनन्त करुणा को प्रणाम करते हुए उसका चित्र आँखों के सामने आ जाता। मैं सथिया को कभी-कभी कुछ दे देता था, पर वह नहीं के बराबर। उसे तो मजूरी करके जीने में सुख था। अन्य मुसहरों की तरह अपराध करने में वह चतुर न थी। उसको मुसहरों की बस्ती से दूर रहने में सुविधा थी, वह मुचकुन्द के फूल इकट्ठे करके बेचती, सेमर की रुई बिन लेती, लकड़ी के गट्ठे बटोर कर बेचती पर उसके इन सब व्यापारों में कोई और सहायक न था। एक दिन वह मर ही तो गई। तब भी कलाई पर से सिर उठा कर, करवट बदल कर अँगड़ाई लेते हुए कलुआ ने केवल एक जँभाई ली थी। मैंने सोचा—स्नेह, माया, ममता इन सबों की भी एक घरेलू पाठशाला है, जिसमें उत्पन्न होकर शिशु धीरे-धीरे इनके अभिनय की शिक्षा पाता है। उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार और विशेषता से वह आकर्षक होता है सही, किन्तु, माया-ममता किस प्राणी के हृदय में न होगी ! मुसहरों को पता लगा—वे कल्लू को ले गये। तब से इस स्थान को निर्जनता पर गरिमा का एक और रंग चढ़ गया।

मैं अब भी तो वहीं पहुँच जाता हूँ। बहुत घूम-फिर कर भी जैसे मुचकुन्द की छाया की ओर खिंच जाता हूँ। आज के प्रभात में कुछ अधिक सरसता थी। मेरा हृदय हलका-हलका-सा हो रहा था। पवन में मादक सुगन्ध और शीतलता थी। ताल पर नाचती हुई लाल-लाल किरनें वृक्षों के अन्तराल से बड़ी सुहावनी लगती थीं। मैं परजाते के सौरभ में अपने सिर को धीरे-धीरे हिलाता हुआ कुछ गुनगुनाता चला जा रहा था। सहसा मुचकुंद के नीचे मुझे धुँआ और कुछ मनुष्यों की चहल-पहल का अनुमान हुआ। मैं कुतूहल से उसी ओर बढ़ने लगा।

वहाँ कभी एक सराय भी थी, अब उसका ध्वंस बच रहा था। दो-एक

कोठरियाँ थीं, किन्तु पुरानी प्रथा के अनुसार अब भी वहीं पर पथिक ठहरते।

मैंने देखा कि मुचकुन्द के आस-पास दूर तक एक विचित्र जमावड़ा है। अद्‌भुत शिविरों की पाँति में यहाँ पर कानन-चरों, बिना घरवालों की बस्ती बसी हुई है।

सृष्टि को आरम्भ हुए कितना समय बीत गया, किन्तु इन अभागों को कोई पहाड़ की तलहटी या नदी की घाटी बसाने के लिए प्रस्तुत न हुई और न इन्हें कहीं घर बनाने की सुविधा ही मिली। वे आज भी अपने चलते-फिरते घरों को जानवरों पर लादे हुए घूमते ही रहते हैं! मैं सोचने लगा—ये सभ्य मानव-समाज के विद्रोही हैं, तो भी इनका एक समाज है। सभ्य संसार के नियमों को कभी न मान कर भी इन लोगों ने अपने लिए नियम बनाये हैं। किसी भी तरह, जिनके पास कुछ है, उनसे ले लेना और स्वतंत्र होकर रहना। इनके साथ सदैव आज के संसार के लिए विचित्रतापूर्ण संग्रहालय रहता है। ये अच्छे घुड़सवार और भयानक व्यापारी हैं। अच्छा, ये लोग कठोर परिश्रमी और संसार यात्रा के उपयुक्त प्राणी हैं, फिर इन लोगों ने कहीं बसना, घर बनाना, क्यों नहीं पसन्द किया?—मैं मन-ही-मन सोचता हुआ धीरे-धीरे उनके पास होने लगा। कुतूहल ही तो था। आज तक इन लोगों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सुनता आया था। जब निर्जन चन्दा का ताल मेरे मनोविनोद की सामग्री हो सकता है, तब आज उसका बसा हुआ तट मुझे क्यों न आकर्षित करता? मैं धीरे-धीरे मुचकुन्द के पास पहुँच गया। उसकी एक डाल से बँधा हुआ एक सुन्दर बछेड़ा हरी-हरी दूब खा रहा था और लहँगा-कुरता पहने, रूमाल सिर से बाँधे हुए एक लड़की उसकी पीठ सूखे घास के मट्ठे से मल रही थी। मैं रुक कर देखने लगा। उसने पूछा—घोड़ा लोगे, बाबू?

नहीं—कहते हुए मैं आगे बढ़ा था, कि एक तरुणी ने झोपड़े से सिर निकाल कर देखा। वह बाहर निकल आई। उसने कहा—आप पढ़ना जानते हैं?

हाँ, जानता तो हूँ।

हिन्दुओं की चिट्ठी आप पढ़ लेंगे?

मैं उसके सुन्दर मुख को कला की दृष्टि से देख रहा था। कला की दृष्टि; ठीक तो बौद्ध-कला, गान्धार-कला, द्रविड़ों की कला इत्यादि नाम से भारतीय मूर्ति-सौन्दर्य के अनेक विभाग जो हैं; जिससे गढ़न का अनुमान होता है। मेरे एकान्त जीवन को बिताने की सामग्री में इस तरह का जड़ सौन्दर्य-बोध भी एक स्थान रखता है। मेरा हृदय सजीव प्रेम से कभी आप्लुत नहीं हुआ था। मैं इस मूक सौन्दर्य से ही कभी-कभी अपना मनोविनोद कर लिया करता। चिट्ठी पढ़ने की बात पूछने पर भी मैं अपने मन में निश्चय कर रहा था, कि यह वास्तविक गान्धार प्रतिमा है, या ग्रीस और भारत का इस सौन्दर्य में समन्वय है।

वह झुँझला कर बोली—क्या नहीं पढ़ सकोगे ?

चश्मा नहीं है, मैंने सहसा कह दिया। यद्यपि मैं चश्मा नहीं लगाता, तो भी स्त्रियों से बोलने में न जाने क्यों मेरे मन में हिचक होती है। मैं उनसे डरता भी था, क्योंकि सुना था कि वे किसी वस्तु को वेचने के लिए प्रायः इस तरह तंग करती हैं कि उनसे दाम पूछनेवाले को लेकर ही छूटना पड़ता है। इसमें उनके पुरुष लोग भी सहायक हो जाते हैं, तब वह बेचारा गाहक और भी झंझट में फँस जाता। मेरी सौन्दर्य की अनुभूति विलीन हो गई। मैं अपने दैनिक जीवन के अनुसार टहलने का उपक्रम करने लगा; किन्तु वह सामने अचल प्रतिमा की तरह खड़ी हो गई। मैंने कहा—क्या है ?.

चश्मा चाहिए ? मैं ले आती हूँ।

ठहरो, ठहरो, मुझे चश्मा न चाहिए।

कहकर मैं सोच रहा था कि कहीं मुझे खरीदना न पड़े। उसने पूछा—तब तुम पढ़ सकोगे कैसे ?

मैंने देखा कि बिना पढ़े मुझे छुट्टी न मिलेगी। मैंने कहा—ले आओ, देखूँ, सम्भव है कि पढ़ सकूँ।— उसने अपनी जेब से एक बुरी तरह मुड़ा हुआ पत्र निकाला। मैं उसे लेकर मन-ही-मन पढ़ने लगा।

लैला······;

तुमने जो मुझे पत्र लिखा था, उसे पढ़ कर मैं हँसा भी और दुःख तो हुआ ही। हँसा इसलिए कि तुमने दूसरे से अपने मन का ऐसा खुला हुआ हाल क्यों कह दिया। तुम कितनी भोली हो ! क्या तुमको ऐसा पत्र दूसरे से लिखवाते हुए हिचक न हुई। तुम्हारा घूमनेवाला परिवार ऐसी बातों को सहन करेगा ? क्या इन प्रेम की बातों में तुम गम्भीरता का तनिक भी अनुभव नहीं करती हो ? और दुखी इसलिए हुआ कि तुम मुझसे प्रेम करती हो। यह कितनी भयानक बात है। मेरे लिए भी और तुम्हारे लिए भी। तुमने मुझे निमंत्रित किया है प्रेम के स्वतंत्र साम्राज्य में घूमने के लिए, किन्तु तुम जानती हो, मुझे जीवन की ठोस झँझटों से छुट्टी नहीं। घर में मेरी स्त्री है, तीन-तीन बच्चे हैं, उन सबों के लिए मुझे खटना पड़ता है, काम करना पड़ता है। यदि वैसा न भी होता, तो भी क्या मैं तुम्हारे जीवन को अपने साथ घसीटने में समर्थ होता ? तुम स्वतंत्र वन-विहंगिनी और मैं एक हिन्दू गृहस्थ; अनेकों रुकावटें, बीसों बन्धन। यह सब असम्भव है। तुम भूल जाओ। जो स्वप्न तुम देख रही हो—उसमें केवल हम और तुम हैं। संसार का आभास नहीं। मैं एक दिन और जीर्ण सुख लेते हुए जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का समन्वय करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। न-मालूम कब से मनुष्य इस भयानक सुख का अनुभव कर रहा है। मैं उन मनुष्यों में अपवाद नहीं हूँ, क्योंकि यह सुख भी तुम्हारे स्वतंत्र सुख की सन्तति है ! वह आरम्भ है, यह परिणाम है। फिर भी

घर बसाना पड़ेगा। फिर वही समस्याएँ सामने आवेंगी। तब तुम्हारा यह स्वप्न भंग हो जायगा। पृथ्वी ठोस और कंकरीली रह जायगी। फूल हवा में बिखर जायेंगे। आकाश का विराट् मुख समस्त आलोक को पी जायगा। अन्धकार केवल अन्धकार में झूँझलाहट-भरा पश्चात्ताप, जीवन को अपने डंकों से क्षत-विक्षत कर देगा। इसलिए लैला! भूल जाओ। तुम चारयारी बेचती हो। उससे सुना है, चोर पकड़े जाते हैं। किन्तु अपने मन का चोर पकड़ना कहीं अच्छा है। तुम्हारे भीतर जो तुमको चुरा रहा है, उसे निकाल बाहर करो। मैंने तुमसे कहा था कि बहुत-से पुराने सिक्के खरीदूंगा, तुम अबकी बार पश्चिम जाओ तो खोजकर ले आना। मैं उन्हें अच्छे दामों पर ले लूँगा। किन्तु तुमको खरीदना है अपने को बेचना नहीं, इसलिए मुझसे प्रेम करने की भूल तुम न करो।

हाँ, अब कभी इस तरह पत्र न भेजना क्योंकि वह सब व्यर्थ है।

रामेश्वर

मैं एक साँस में पत्र पढ़ गया, तब तक लैला मेरा मुँह देख रही थी। मेरा पढ़ना कुछ ऐसा ही हुआ, जैसे लोग अपने में बर्राते हैं। मैंने उसकी ओर देखते हुए वह कागज उसे लौटा दिया। उसने पूछा — इसका मतलब?

मतलब! वह फिर किसी समय बताऊँगा। अब मुझे जलपान करना है। मैं जाता हूँ। कहकर मैं मुड़ा ही था कि उसने पूछा—आपका घर, बाबू!—मैंने चन्दा के किनारे अपने सफेद बँगले को दिखा दिया। लैला पत्र हाथ में लिये वहीं खड़ी रही। मैं अपने बँगले की ओर चला। मन में सोचता जा रहा था। रामेश्वर! वही तो रामेश्वरनाथ वर्मा! क्यूरियो मर्चेण्ट! उसी की लिखावट है। वह तो मेरा परिचित है। मित्र मान लेने में मन को एक तरह की अड़चन है। इसलिए मैं प्रायः अपने कहे जानेवाले मित्रों को भी जब अपने मन में सम्बोधन करता हूँ, तो परिचित ही कहकर! सो भी जब इतना माने बिना काम नहीं चलता। मित्र मान लेने पर मनुष्य उससे शिव के समान आत्म-त्याग, बोधिसत्व के सदृश सर्वस्व-समर्पण की जो आशा करता है और उसकी शक्ति की सीमा को प्रायः अतिरञ्जित देखता है। वैसी स्थिति में अपने को डालना मुझे पसन्द नहीं। क्योंकि जीवन का हिसाब-किताब उस काल्पनिक गणित के आधार पर रखने का मेरा अभ्यास नहीं, जिसके द्वारा मनुष्य सबके ऊपर अपना पावना ही निकाल लिया करता है।

अकेले जीवन के नियमित व्यय के लिये साधारण पूंजी का ब्याज मेरे लिए पर्याप्त है। मैं सुखी विचरता हूँ! हाँ, मैं जलपान करके कुरसी पर बैठा हुआ अपनी डाक देख रहा था। उसमें एक लिकाफा ठीक उन्हीं अक्षरों में लिखा हुआ—जिनमें लैला का पत्र था—निकला। मैं उत्सुकता से खोल कर पढ़ने लगा—

भाई श्रीनाथ

तुम्हारा समाचार बहुत दिनों से नहीं मिला। तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हम लोग दो सप्ताह के भीतर तुम्हारे अतिथि होंगे। चन्दा की वायु हम लोगों को खींच रही है। मिन्ना तो तंग कर ही रहा है, उसकी माँ को और भी उत्सुकता है। उन सबों को यही सूझी है, कि दिन भर ताल में डोंगी पर भोजन न करके हवा खायेंगे और पानी पीयेंगे। तुम्हें कष्ट तो न होगा ?

तुम्हारा—रामेश्वर

पत्र पढ़ लेने पर जैसे कुतूहल मेरे सामने नाचने लगा। रामेश्वर के परिवार का स्नेह, उनके मधुर झगड़े; मान-मनौवल—समझौता और अभाव में भी सन्तोष; कितना सुन्दर ! मैं कल्पना करने लगा। रामेश्वर एक सफल कदम्ब है, जिसके ऊपर मालती की लता अपनी सैकड़ों उलझनों से, आनन्द की छाया और आलिंगन का स्नेह-सुरभि ढाल रही है।

रामेश्वर का ब्याह मैंने देखा था। रामेश्वर के हाथ के ऊपर मालती की पीली हथेली, जिसके ऊपर जलधारा पड़ रही थी। सचमुच यह सम्बन्ध कितना शीतल हुआ। उस समय मैं हँस रहा था—बालिका मालती और किशोर रामेश्वर ! हिन्दू-समाज का यह परिहास—यह भीषण मनो-विनोद ! तो भी मैंने देखा, कहीं भूचाल नहीं हुआ—कहो ज्वालामुखी नहीं फूटा। बहिया ने कोई गाँव बहाया नहीं। रामेश्वर और मालती अपने सुख की फसल हर साल काटते हैं।...मैंने जो सोचा—अभी-अभी जो विचार मेरे मन में आया, वह न लिखूँगा। मेरी क्षुद्रता जलन के रूप में प्रकट होगी। किन्तु मैं सच कहता हूँ, मुझे रामेश्वर से जलन नहीं तो भी मेरे उस विचार का मिथ्या अर्थ लोग लगा ही लेंगे। आज-कल मनोविज्ञान का युग है न। प्रत्येक ने मनोवृत्तियों के लिए हृदय को कबूतर का दरबा बना डाला है। इनके लिए सफेद, नीला, सुर्ख का श्रेणी-विभाग कर लिया गया है। उतनी प्रकार की मनोवृत्तियों को गिनकर वर्गीकरण कर लेने का साहस भी होने लगा है।

तो भी मैंने उस बात को सोच ही लिया। मेरे साधारण जीवन में एक लहर उठी। प्रसन्नता की स्निग्ध लहर ! पारिवारिक सुखों से लिपटा हुआ, प्रणय-कलह देखूँगा; मेरे दायित्व-विहीन जीवन का वह मनोविनोद होगा। मैं रामेश्वर को पत्र लिखने लगा—

भाई रामेश्वर !

तुम्हारे पत्र ने मुझ पर प्रसन्नता की वर्षा की है। मेरे शून्य जीवन को आनंद-कोलाहल से, कुछ ही दिनों के लिए सही भर देने का तुम्हारा प्रयत्न, मेरे लिए सुख का कारण होगा, तुम अवश्य आओ और सबको साथ लेकर आओ !

तुम्हारा—श्रीनाथ

पुनश्च: —

बंबई से आते हुए सूरन अवश्य लेते आना । यहाँ वैसा नहीं मिलता। सूरन की तरकारी की गरमी में ही तुम लोग चन्दा की ठंडी हवा झेल सकोगे और साथ-साथ अपनी चलती-फिरती दूकान का एक बक्स, जिस पर हम लोगों की बात-चीत की परम्परा लगी रहे ।

—श्रीनाथ

दोपहर का भोजन कर लेने के बाद मैं थोड़ी देर अवश्य लेटता हूँ । कोई पूछता है, तो कह देता हूँ कि यह निद्रा नहीं भाई, तन्द्रा है, स्वास्थ्य को मैं उसे अपने आराम से चलने देता हूँ ! चिकित्सकों से सलाह पूछ कर उसमें छेड़-छाड़ करना मुझे ठीक नहीं जँचता । सच बात तो यह है कि मुझे वर्तमान युग की चिकित्सा में वैसा ही विश्वास है, जैसे पाश्चात्य पुरातत्त्वज्ञों की खोज पर । जैसे वे साँची अमरावती के स्तम्भ तथा शिल्प के चिह्नों में वस्त्र पहनी हुई मूर्तियों को देखकर, ग्रीक शिल्प कला का आभास पा जाते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि भारतीय बौद्ध कला ऐसी हो ही नहीं सकती, क्योंकि वे कपड़ा पहनना जानते ही न थे । फिर चाहे आप त्रिपिटक से ही प्रमाण क्यों न दें कि बिना अन्तर्वासक, चीवर इत्यादि के भारत का कोई भी भिक्षु नहीं रहता था; पर वे कब मानने वाले ! वैसे ही चिकित्सक के पास सिर में दर्द होने की दवा खोजने गये कि वह पेट से उसका सम्बन्ध जोड़कर कोई रेचक औषधि दे ही देगा । बेचारा कभी न सोचेगा कि कोई गम्भीर विचार करते हुए, जीवन की किसी कठिनाई से टकराते रहने से भी सिर में पीड़ा हो सकती है । तो भी में हल्की-सी तन्द्रा केवल तबीयत बनाने के लिए ले ही लेता हूँ ।

शरद्-काल की उजली धूप ताल के नीले जल पर फैल रही थी । आँखों में चकाचौंधी लग रही थी । मैं कमरे में पड़ा अँगड़ाई ले रहा था । दुलारे ने आकर कहा—ईरानी—नहीं-नहीं बलूची आये हैं मैंने पूछा—कैसे ईरानी और बलूची ?

वही जो मूंगा, फीरोजा, चारयारी बेचते हैं, सिर में रूमाल बाँधे हुए ।

मैं उठ खड़ा हुआ, दालान में आकर देखता हूँ, तो एक बीस बरस के युवक के साथ लैला । गले में चमड़े का बेग, पीठ पर चोटी, छींट का रूमाल । एक निराला आकर्षक चित्र ! लैला ने हँसकर पूछा— बाबू, चारयारी लोगे ?

चारयारी ?

हाँ बाबू ! चारयारी ! इसके रहने से इसके पास सोना, अशर्फी रहेगा । थैली कभी खाली न होगी । और बाबू ! इससे चोरी का माल बहुत जल्द पकड़ा जाता है ।

साथ ही युवक ने कहा—ले लो बाबू ! असली चारयारी; सोना का चारयारी ! एक बाबू के लिए लाया था। वह मिला नहीं।

मैं अब तक उन दोनों की सुरमीली आँखों को देख रहा था। सुरमे का घेरा गोरे-गोरे मुँह पर आँख की विस्तृत सत्ता का स्वतन्त्र साक्षी था। पतली लंबी गर्दन पर खिलौने-सा मुँह टपाटप बोल रहा था ! मैंने कहा—मुझे तो चारयारी नहीं चाहिए।

किन्तु वहाँ सुनता कौन है, दोनों सीढ़ी पर बैठ गये थे और लैला अपना बेग खोल रही थी। कई पोटलियाँ निकलीं, सहसा लैला के मुँह का रंग उड़ गया। वह घबराकर कुछ अपनी भाषा में कहने लगी। युवक उठ खड़ा हुआ। मैं कुछ न समझ सका। वह चला गया। अब लैला ने मुस्कराते हुए, बेग में से वही पत्र निकाला। मैंने कहा—इसे तो मैं पढ़ चुका हूँ।

इसका मतलब !

वह तुम्हारी चारयारी खरीदने फिर आवेगा। यही इसमें लिखा है—मैंने कहा।

बस ! इतना ही ?

और भी कुछ है।

क्या बाबू ?

और जो उसने लिखा हैं, वह मैं नहीं कह सकता—

क्यों बाबू ? क्यों न कह सकोगे ? बोलो।

लैला की वाणी में पुचकार, दुलार, झिड़की और आज्ञा थी।

यह सब बात मैं नहीं……

बीच में ही बात काटकर उसने कहा—नहीं क्यों ? तुम जानते हो, नहीं बोलोगे ?

उसने लिखा है, मैं तुमको प्यार करता हूँ।

लिखा हैं, बाबू ! लैला की आँखों में स्वर्ग हँसने लगा ! वह फुरती से पत्र मोड़कर रखती हुई हँसने लगी। मैंने अपने मन में कहा—अब यह पूछेगी, वह कब आवेगा ? कहाँ मिलेगा ?—किन्तु लैला ने यह सब कुछ नहीं पूछा। वह सीढ़ियों पर अर्द्ध-शयनावस्था में जैसे कोई सुन्दर सपना देखती हुई मुस्करा रही थी। युवक दौड़ता हुआ आया; उसने अपनी भाषा में कुछ घबरा कर कहा पर लैला लेटे-ही-लेटे कुछ बोली। युवक भी बैठ गया। लैला ने मेरी ओर देखकर कहा—तो बाबू ! वह आवेगा। मेरी चारयारी खरीदेगा। गुल से भी कह दो। मैंने समझ लिया कि युवक का नाम गुल है। मैंने कहा—हाँ, वह तुम्हारी चारयारी खरीदने आवेंगे। गुल ने लैला की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखा।

परन्तु मैं, जैसे भयभीत हो गया। अपने ऊपर सन्देह होने लगा। लैला

सुन्दरी थी, पर उसके भीतर भयानक राक्षस की आकृति थी या देवमूर्ति ! यह विना जाने मैंने क्या कह दिया ! इसका परिणाम भीषण भी हो सकता है। मैं सोचने लगा। रामेश्वर को मित्र तो मानता नहीं, किन्तु मुझे उससे शत्रुता करने का क्या अधिकार हैं ?

चन्दा के दक्षिणी तट पर ठीक मेरे बँगले के सामने एक पाठशाला थी। उसमें एक सिंहली सज्जन रहते थे। न जाने कहाँ-कहाँ से उनको चन्दा मिलता था। वे पास-पड़ोस के लड़कों को बुलाकर पढ़ाने के लिए बिठाते थे। दो मास्टरों को वेतन देते थे। उनका विश्वास था कि चन्दा का तट किसी दिन तथागत के पवित्र चरण-चिह्न से अंकित हुआ था, वे आज भी उन्हें खोजते थे। बड़े शांत प्रकृति के जीव थे। उनका श्यामल शरीर, कुंचित केश, तीक्ष्ण दृष्टि, सिंहली विशेषता से पूर्ण विनय, मधुर वाणी और कुछ-कुछ मोटे अक्षरों में चौबीसों घंटे बसने वाली हँसी आकर्षण से भरी थी। मैं कभी-कभी जब जीभ में खुजलाहट होती, वहाँ पहुँच जाता। आज की वह घटना मेरे गम्भीर विचार का विषय बन कर मुझे व्यस्त कर रही थी। मैं अपनी डोंगी पर बैठ गया। दिन अभी घंटे-डेढ़-घंटे बाकी था। उस पार खेकर डोंगी ले जाते बहुत देर नहीं हुई। मैं पाठशाला और ताल के बीच के उद्यान को देख रहा था। खजूर और नारियल के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की जिसमें निराली छटा थी। एक नया पीपल अपने चिकने पत्तों की हरियाली में झूम रहा था। उसके नीचे शिला पर प्रज्ञासारथि बैठे थे। नाव को अटका कर मैं उनके समीप पहुँचा। अस्त होनेवाले सूर्य-बिम्ब की रँगीली किरणें उनके प्रशांत मुख-मण्डल पर पड़ रही थीं। दो ढाई हजार वर्ष पहले का चित्र दिखाई पड़ा, जब भारत की पवित्रता हजारों कोस से लोंगों को वासना-दमन करना सीखने के लिये आमन्त्रित करती थी। आज भी आध्यात्मिक रहस्यों के उस देश में उस महती साधना का आशीर्वाद बचा है। अभी भी बोध-वृक्ष पनपते हैं ! जीवन की जटिल आवश्यकता को त्याग कर जब काषाय पहने सन्ध्या के सूर्य के रंग में रंग मिलाते हुए ध्यान-स्तिमित-लोचन मूर्तियाँ अभी देखने में आती हैं, तब जैसे मुझे अपनी सत्ता का विश्वास होता है, और भारत की अपूर्वता का अनुभव होता है। अपनी सत्ता का इसलिए कि मैं भी त्याग का अभिनय करता हूँ न ! और भारत के लिये तो मुझे पूर्ण विश्वास हैं कि इस विजय धर्म में है।

अधरों में कुंचित हँसी, आँखों में प्रकाश भरे प्रज्ञासारथि ने मुझे देखते हुए कहा—आज मेरी इच्छा थी कि आपसे भेंट हो।

मैंने हँसते हुए कहा—अच्छा हुआ कि मैं प्रत्यक्ष ही आ गया। नहीं तो ध्यान में बाधा पड़ती।

श्रीनाथजी ! मेरे ध्यान में आपके आने की सम्भावना न थी। तो भी आज एक विषय पर आपकी सम्मति की आवश्यकता है।

मैं भी कुछ कहने के लिए ही यहाँ आया हूँ। पहले मैं कहूँ कि आप ही आरम्भ करेंगे ?

साथिया के लड़के कल्लू के सम्बन्ध में तो आपको कुछ नहीं कहना है ? मेरे बहुत कहने पर मुसहरों ने उसे पढ़ने के लिए मेरी पाठशाला में रख दिया है और उसके पालन के भार से अपने को मुक्त कर लिया। अब वह सात बरस का हो गया है। अच्छी तरह खाता-पीता है। साफ-सुथरा रहता है। कुछ-कुछ पढ़ता भी है ! —प्रज्ञासारथि ने कहा।

चलिए, अच्छा हुआ ! एक रास्ते पर लग गया। फिर जैसा उसके भाग्य में हो। मेरा मन इन घरेलू बन्धनों में पड़ने के लिए विरक्त-सा है, फिर भी न जाने क्यों कल्लू का ध्यान आ ही जाता है—मैंने कहा।

तब तो अच्छी बात है, आप इस कृत्रिम विरक्ति से ऊब चले हैं, तो कुछ काम करने लगिए। मैं भी घर जाना चाहता हूँ, न हो तो पाठशाला ही चलाइए—कहते हुए प्रज्ञासारथि ने मेरी ओर गम्भीरता से देखा।

मेरे मन में हलचल हुई। मैं एक बकवादी मनुष्य ! किसी विषय पर गम्भीरता का अभिनय करके थोड़ी देर तक सफल वाद-विवाद चला देना और फिर विश्वास करना; इतना ही तो मेरा अभ्यास था। काम करना, किसी दायित्व को सिर पर लेना असम्भव ! मैं चुप रहा। वह मेरा मुँह देख रहे थे। मैं चतुरता से निकल जाना चाहता था। यदि मैं थोड़ी देर और उसी तरह सन्नाटा रखता, तो मुझे हाँ या नहीं कहना ही पड़ता। मैंने विवाह वाला चुटकला छेड़ ही तो दिया।

आप तो विरक्ति भिक्षु हैं। अब घर जाने की आवश्यकता कैसे आ पड़ी।

भिक्षु ! आश्चर्य से प्रज्ञासारथि ने कहा—मैं तो ब्रह्मचर्य में हूँ। विद्याभ्यास और धर्म का अनुशीलन कर रहा हूँ। यदि मैं चाहूँ तो प्रव्रज्या ले सकता हूँ, नहीं तो गृही बनाने में कोई धार्मिक आपत्ति नहीं। सिंहल में तो यही प्रथा प्रचलित है। मेरे से यह प्राचीन आर्य-प्रथा भी थी ! मैं गार्हस्थ्य-जीवन से परिचित होना चाहता हूँ।

तो आप ब्याह करेंगे ?

क्यों नहीं; वही करने तो जा रहा हूँ।

देखता हूँ, स्त्रियों पर आपको पूर्ण विश्वास है।

अविश्वास करने का कारण ही क्या है ? इतिहास में, आख्यायिकाओं में कुछ स्त्रियों और पुरुषों का दुष्ट चरित्र पढ़कर मुझे अपने और अपनी भावी सहधर्मिणी पर अविश्वास कर लेने का कोई अधिकार नहीं ? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परीक्षा देनी चाहिए।

विवाहित जीवन ! सुखदायक होगा ?—मैंने पूछा।

किसी कर्म को करने के पहले उसमें सुख की ही खोज करना क्या अत्यन्त आवश्यक है ? सुख तो धर्माचरण से मिलता है। अन्यथा संसार तो दुःखमय है ही ! संसार के कर्मों को धार्मिकता के साथ करने में सुख की ही संभावना है ।

किन्तु ब्याह-जैसे कर्म से तो सीधा-सीधा स्त्री से सम्बन्ध है। स्त्री ! कितनी विचित्र पहेली है। इसे जानना सहज नहीं। बिना जाने ही उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना, कितनी बड़ी भूल है, ब्रह्मचारीजी !—मैंने हँस कर कहा।

भाई, तुम बड़े चतुर हो। खूब सोच-समझकर, परख कर तब सम्बन्ध जोड़ना चाहते हो न; किन्तु मेरी समझ में सम्बन्ध हुए बिना परखने का दूसरा उपाय नहीं। प्रज्ञासारथि ने गंभीरता से कहा। मैं चुप होकर सोचने लगा। अभी-अभी जो मैंने एक काण्ड का बीजारोपण किया है, वह क्या लैला के स्वभाव से परिचित होकर ! मैं अपनी मूर्खता पर मन-ही-मन तिलमिला उठा। मैंने कल्पना से देखा, लैला प्रतिहिंसाभरी एक भयानक राक्षसी है, यदि वह अपने जाति-स्वभाव के अनुसार रामेश्वर के साथ बदला लेने की प्रतिज्ञा कर बैठे, तब क्या होगा ?

प्रज्ञासारथि ने फिर कहा—मेरा जाना तो निश्चित है। ताम्रपर्णी की तरंग-मालाएँ मुझे बुला रही हैं ! मेरी एक प्रार्थना है। आप कभी-कभी आकर इसका निरीक्षण कर लिया कीजिए।

मुझे एक बहाना मिला, मैंने कहा—मैंने बैठे-बिठाये एक झंझट बुला ली है। मैं देखता हूँ कि कुछ दिनों तक तो मुझे उसमें फंसना ही पड़ेगा।

प्रज्ञासारथि ने पूछा—वह क्या ?

मैंने लैला का पत्र पढ़ने और उसके बाद का सब वृतान्त कह सुनाया। प्रज्ञासारथि चुप रहे, फिर उन्होंने कहा—आपने इस काम को खूब सोच-समझ कर करने की आवश्यकता पर तो ध्यान न दिया होगा, क्योंकि इसका फल दूसरे को भोगने की सम्भावना है न !

मुझे प्रज्ञासारथि का यह व्यंग अच्छा न लगा। मैंने कहा—सम्भव है कि मुझे भी कुछ भोगना पड़े।

भाई, मैं तो देखता हूँ, संसार में बहुत-से ऐसे काम मनुष्य को करने पड़ते हैं, जिन्हें वह स्वप्न में भी नहीं सोचता। अकस्मात् वे प्रसंग सामने आकर गुर्राने लगते हैं, जिनसे भाग कर जान बचाना ही उसका अभीष्ट होता है। मैं भी इसी तरह ब्याह करने के लिए सिंहल जा रहा हूँ।

अन्धकार को भेद कर शरद् का चन्द्रमा नारियल और खजूर के वृक्षों पर दिखाई देने लगा था। चन्दा का ताल लहरियों में प्रसन्न था। मैं क्षण भर के लिए प्रकृति की उस सुन्दर चित्रपटी को तन्मय होकर देखने लगा।

कलुआ ने जब प्रज्ञासारथि को भोजन करने की सूचना दी, मुझे स्मरण हुआ

कि मुझे उस पार जाना है। मैंने दूसरे दिन आने को कहकर प्रज्ञासारथि से छुट्टी माँगी।

डोंगी पर बैठकर मैं धीरे-धीरे डाँड़ चलाने लगा।

मैं अनमना-सा डाँड़ चलाता हुआ कभी चन्द्रमा को और कभी चन्दा ताल को देखता। नाव सरल आन्दोलन में तिर रही थी। बार-बार सिंहली प्रज्ञासारथि की बात सोचता जाता था। मैंने घूमकर देखा, तो कुंज से घिरा हुआ पाठशाला का भवन चन्दा के शुभ्रजल में प्रतिबिम्बित हो रहा था! चन्दा का वह तट समुद्र-उपकूल का एक खंड-चित्र था। मन-ही-मन सोचने लगा—मैं करता ही क्या हूँ, यदि मैं पाठशाला का निरीक्षण करूँ, तो हानि क्या? मन भी लगेगा और समय भी कटेगा।—अब मैं बहुत दूर चला आया था। सामने मुचकुन्द वृक्ष की नील आकृति दिखलाई पड़ी। मुझे लैला का फिर स्मरण आ गया। कितनी सरल, स्वतंत्र और साहसिकता से भरी हुई रमणी है। सुरमीली आँखों में कितना नशा है और अपने मादक उपकरणों से भी रामेश्वर को अपनी ओर आकर्षित करने में वह असमर्थ है। रामेश्वर पर मुझे क्रोध आया और लैला को फिर अपने विचारों से उलझते देख कर झुँझला उठा। अब किनारा समीप हो चला था। मैं मुचकुन्द की ओर से नाव घुमाने को था कि मुझे उस प्रशान्त जल में दो सिर तैरते हुए दिखाई पड़े। शरद्-काल की शीतल रजनी में उन तैरनेवालों पर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने डाँड़ा चलाना बन्द कर दिया। दोनों तैरनेवाले डोंगी के पास आ चले थे। मैंने चन्द्रिका के आलोक में पहचान लिया, वह लैला का सुन्दर मुख था। कुमदिनी की तरह प्रफुल्ल चाँदनी में हँसता हुआ लैला का मुख! मैंने पुकारा,—लैला! वह बोलने ही को थी कि उसके साथवाला मुख गुर्रा उठा। मैंने समझा कि उसका साथी गुल होगा; किन्तु लैला ने कहा—चुप, बाबूजी हैं। अब मैंने पहचाना—वह एक भयानक ताजी कुत्ता है, जो लैला के साथ तैर रहा था। लैला ने कहा—बाबूजी, आप कहाँ? मेरी डोंगी के एक ओर लैला का हाथ था और दूसरी ओर कुत्ते के दोनों अगले पंजे। मैंने कहा—यों ही घूमने आया था और तुम रात को तैरती हो? लैला।

दिन भर काम करने के बाद अब तो छुट्टी मिली है, बदन ठंडा कर रही हूँ—लैला ने कहा।

वह एक अद्भुत दृश्य था। इतने दिनों तक मैं जीवन के अकेले दिनों को काट चुका हूँ। अनेक अवसर विचित्र घटनाओं से पूर्ण और मनोरंजक मिले हैं; किन्तु ऐसा दृश्य तो मैंने कभी न देखा। मैंने पूछा—आज की रात तो बहुत ठंडी है, लैला!

उसने कहा—नहीं, बड़ी गर्म।

दोनों ने अपनी रुकावट हटा ली। डोंगी चलने को स्वतन्त्र थी। लैला और

उसका साथी दोनों तैरने लगे। मैं फिर अपने बँगले की ओर डोंगी खेने लगा। किनारे पर पहुँच कर देखता हूँ कि दुलारे खड़ा है। मैंने पूछा—क्यों रे! तू कब से यहाँ है ?

उसने कहा—आपको आने में देर हुई, इसलिए मैं आया हूँ। रसोई ठंढी हो रही है।

मैं डोंगी से उतर पड़ा और बँगले की ओर चला। मेरे मन में न जाने क्यों सन्देह हो रहा था कि दुलारे जान-बूझकर परखने आया था। लैला से बातचीत करते हुए उसने मुझे अवश्य देखा है। तो क्या वह मुझ पर कुछ सन्देह करता है ? मेरा मन दुलारे को सन्देह करने का अवसर देकर जैसे कुछ प्रसन्न ही हुआ। बँगले पर पहुँच कर मैं भोजन करने बैठ गया। स्वभाव के अनुसार शरीर तो अपना नियमित सब करता ही रहा, किन्तु सो जाने पर भी वही सपना देखता रहा।

आज बहुत विलम्ब से सोकर उठा। आलस से कहीं घूमने-फिरने की इच्छा न थी। मैंने अपनी कोठरी में ही आसन जमाया। मेरी आँखों में वह रात्रि का दृश्य अभी घूम रहा था। मैंने लाख चेष्टा की किन्तु लैला और वह सिंहली भिक्षु दोनों ही ने मेरे हृदय को अखाड़ा बना लिया था। मैंने विरक्त होकर विचार-परम्परा को तोड़ने के लिये बाँसुरी बजाना आरम्भ किया। आसावरी के गम्भीर विलम्बित अलापों में फिर भी लैला की प्रेमपूर्ण आकृति जैसे बनने लगती। मैंने बाँसुरी बजाना बन्द किया और ठीक विश्रामकाल में ही मैंने देखा कि प्रज्ञासारथि सामने खड़े हैं। मैंने उन्हें बैठाते हुए पूछा—आज आप इधर कैसे भूल पड़े ?

यह प्रश्न मेरी विचार-विशृंखलता के कारण हुआ था, क्योंकि वे तो प्रायः मेरे यहाँ आया ही करते थे। उन्होंने हँस कर कह—मेरा आना भूलकर नहीं, किन्तु कारण से हुआ है। कहिये, आपने उस विषय में कुछ स्थिर किया ?

मैंने अनजान बन कर पूछा—किस विषय में ?

प्रज्ञासारथि ने कहा—वही पाठशाला की देख-रेख करने के लिए, जैसा मैंने उस दिन आपसे कहा था।

मैंने बात उड़ाने के ढंग से कहा—आप तो सोच-विचार कर काम करने में विश्वास ही नहीं रखते। आपका तो यही कहना है न कि मनुष्य प्रायः अनिच्छावश बहुत-से काम करने के लिए बाध्य होता है, तो फिर मुझे उस पर सोचने-विचारने की क्या आवश्यकता थी ? जब वैसा अवसर आवेगा, तब देखा जायगा।

कृपया मेरी बातों का अपने मनोनुकूल अर्थ न लगाइए। यह तो मैं मानता हूँ कि आप अपने ढंग से विचार करने के लिए स्वतंत्र हैं; किन्तु उन्हें क्रियात्मक रूप देने के समय आपकी स्वतंत्रता में मेरा विश्वास संदिग्ध हो जाता है। प्रायः देखा जाता है, हम लोग क्या करने जाकर क्या कर बैठते हैं, तो भी हम उसकी जिम्मेदारी से छूटते नहीं। मान लीजिए कि लैला के हृदय में एक दुराशा उत्पन्न करके

आपने रामेश्वर के जीवन में अड़चन डाल दी है। संभव है, यह घटना साधारण न रह कर कोई भीषण काण्ड उपस्थित कर सकती है और आपका मित्र अपने अनिष्ट करनेवाले को न भी पहचान सके, तो क्या आप अपने ही मन के सामने इसके लिए अपराधी न ठहरेंगे ?

प्रज्ञासारथि की ये बातें मुझे बेढंगी-सी जान पड़ीं क्योंकि उस समय मुझे उनका आना और मुझे उपदेश देने का ढोंग रचना असह्य होने लगा। मेरी इच्छा होती थी कि वे किसी तरह भी यहाँ से चले जाते; तो भी मुझे उन्हें उत्तर देने के लिए इतना तो कहना ही पड़ा कि—आप कच्चे अदृष्टवादी हैं। आपके जैसा विचार रखने पर मैं तो इसे इस तरह सुलझाऊँगा कि अपराध करने में और दंड देने में मनुष्य एक-दूसरे का सहायक होता है। हम आज जो किसी को हानि पहुँचाते हैं, या कष्ट देते हैं, वह इतने ही के लिए नहीं कि उसने मेरी कोई बुराई की है। हो सकता है कि मैं उसके किसी अपराध का यह दण्ड समाज-व्यवस्था के किसी मौलिक नियम के अनुसार दे रहा हूँ। फिर चाहे मेरा यह दण्ड देना भी अपराध बन जाय और उसका फल भी मुझे भोगना पड़े। मेरे इस कहने पर प्रज्ञासारथि ने हँस दिया और कहा—श्रीनाथजी, मैं आपकी दण्ड-व्यवस्था ही तो करने आया हूँ। आप अपने वेकार जीवन को मेरी बेगार में लगा दीजिए। मैंने पिण्ड छुड़ाने के लिए कहा—अच्छा, तीन दिन सोचने का अवसर दीजिए।

प्रज्ञासारथि चले गये और मैं चुपचाप सोचने लगा। मेरे स्वतंत्र जीवन में माँ के मर जाने के बाद यह दूसरी उलझन थी। निश्चित जीवन की कल्पना का अनुभव मैंने इतने दिनों तक कर लिया था। मैंने देखा कि मेरे निराश जीवन में उल्लास का छींटा भी नहीं। यह ज्ञान मेरे हृदय को और भी स्पर्श करने लगा। मैं जितना ही विचारता था, उतना ही मुझे निश्चिन्तता और निराशा का अभेद दिखलाई पड़ता था। मेरे आलसी जीवन में सक्रियता की प्रतिध्वनि होने लगी। तो भी काम न करने का स्वभाव मेरे विचारों के बीच में जैसे व्यंग से मुस्करा देता था।

तीन दिनों तक मैंने सोचा और विचार किया। अन्त में प्रज्ञासारथि की विजय हुई क्योंकि मेरी दृष्टि में प्रज्ञासारथि का काम नाम के लिए तो अवश्य था, किन्तु करने में कुछ भी नहीं के बराबर।

मैंने अपना हृदय दृढ़ किया और प्रज्ञासारथि से जाकर कह दिया कि—मैं पाठशाला का निरीक्षण करूँगा, किन्तु मेरे मित्र आनेवाले हैं और जब तक यहाँ रहेंगे, तब तक तो मैं अपना बँगला न छोड़ूँगा क्योंकि यहाँ उन लोगों के आने से आपको असुविधा होगी। फिर जब वे लोग चले जायँगे, तब मैं यहीं आकर रहने लगूँगा।

मेरे सिंहली मित्र ने हँस कर कहा—अभी तो एक महीने यहाँ मैं अवश्य

रहूँगा। यदि आप अभी से यहाँ चले आवें तो, बड़ा अच्छा हो, क्योंकि मेरे रहते यहाँ का सब प्रबन्ध आपकी समझ में आ जायगा। रह गई मेरी असुविधा की बात, सो तो केवल आपकी कल्पना है। मैं आपके मित्रों को यहाँ देख कर प्रसन्न ही होऊँगा। जगह की कमी भी नहीं।

मैं 'अच्छा' कह कर उनसे छुट्टी लेने के लिए उठ खड़ा हुआ; किन्तु प्रज्ञा-सारथि ने मुझे फिर से बैठाते हुए कहा—देखिए श्रीनाथजी, यह पाठशाला का भवन पूर्णत: आपके अधिकार में रहेगा। भिक्षुओं के रहने के लिए तो संघाराम का भाग अलग है ही और उसमें जो कमरे अभी अधूरे हैं, उन्हें शीघ्र ही पूरा कराकर तब मैं जाऊँगा और अपने संघ से मैं इसकी पक्की लिखा-पढ़ी कर रहा हूँ कि आप पाठशाला के आजीवन अवैतनिक प्रधानाध्यक्ष रहेंगे और उसमें किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार न होगा।

मैं उस युवक बौद्ध मिशनरी की युक्तिपूर्ण व्यावहारिकता देख कर मन-ही-मन चकित हो रहा था। एक क्षण भर के लिए उस सिंहली की व्यवहार-कुशल बुद्धि से मैं भीतर-ही-भीतर ऊब उठा। मेरी इच्छा हुई कि मैं स्पष्ट अस्वीकार कर दूँ; किन्तु न जाने क्यों मैं वैसा न कर सका। मैंने कहा—तो आपको मुझमें इतना विश्वास है कि मैं आजीवन आपकी पाठशाला चलाता रहूँगा!

प्रज्ञासारथि ने कहा—शक्ति की परीक्षा दूसरों ही पर होती है; यदि मुझे आपकी शक्ति का अनुभव हो, तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। और आप तो जानते ही हैं कि धार्मिक मनुष्य विश्वासी होता है। सूक्ष्म रूप से जो कल्याण-ज्योति मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक-से-अधिक श्रद्धा करता हूँ। विपथगामी होने पर वही संत हो करके मनुष्य का अनुशासन करती है, यदि उसकी पशुता ही प्रबल न हो गई हो, तो।

मैंने प्रज्ञासारथि की आँखों से आँख मिलाते हुए देखा, उसमें तीव्र संयम की ज्योति चमक रही थी, मैं प्रतिवाद न कर सका, और यह कहते हुए खड़ा हुआ कि—अच्छा, जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा।

मैं धीरे-धीरे बँगले की ओर लौट रहा था। रास्ते में अचानक देखता हूँ कि दुलारे दौड़ा हुआ चला आ रहा है। मैंने पूछा—क्या है रे?

उसने कहा—बाबूजी, घोड़ागाड़ी पर बहुत-आदमी आये हैं। वे लोग आपको पूछ रहे हैं।

मैंने समझ लिया कि रामेश्वर आ गया। दुलारे से कहा कि—तू दौड़ जा, मैं यहीं खड़ा हूँ। उन लोगों को सामान-सहित यहीं लिवा ला!

दुलारे तो बँगले की ओर भागा, मैं उसी जगह अविचल भाव से खड़ा रहा। मन में विचारों की आँधी उठने लगी, रामेश्वर तो आ गया और वे ईरानी भी यहीं हैं। ओह, मैंने कैसी मूर्खता की! तो मेरे मन को जैसे ढाढ़स हुआ कि रामेश्वर

मेरे बँगले में नहीं ठहरता है। इस बौद्ध पाठशाला तक लैला क्यों आने लगी? जैसे लैला को वहाँ आने में कोई दैवी बाधा हो। फिर मेरा सिर चकराने लगा। मैंने कल्पना की आँखों से देखा कि लैला अबाधगति से चलनेवाली एक निर्झरिणी है। पश्चिम की सर्राटे से भरी हुई वायुतरंग-माला है। उसको रोकने की किसमें सामर्थ्य है; और फिर अकेले रामेश्वर ही तो नहीं, उसकी स्त्री भी उसके साथ है। अपनी मूर्खतापूर्ण करनी से मेरा ही दम घुटने लगा। मैं खड़ा-खड़ा झील की ओर देख रहा था। उसमें छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं, जिनमें सूर्य की किरणें प्रतिबिम्बित होकर आँखों को चौंधिया देती थीं। मैंने आँखें बन्द कर लीं। अब मैं कुछ नहीं सोचता था। गाड़ी की घरघराहट ने मुझे सजग किया। मैंने देखा कि रामेश्वर गाड़ी का पल्ला खोलकर वहीं सड़क में उतर रहा है।

मैं उससे गले मिल शीघ्रता से कहने लगा—गाड़ी पर बैठ जाओ। मैं भी चलता हूँ। यहीं पास ही चलना है।—उसने गाड़ीवान से चलने के लिए कहा। हम दोनों साथ-साथ पैदल ही चले। पाठशाला के समीप प्रज्ञासारथि अपनी रहस्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ अगवानी करने के लिए खड़े थे।

दो दिनों में हम लोग अच्छी तरह रहने लगे। घर का कोना-कोना आवश्यक चीजों से भर गया। प्रज्ञासारथि इसमें बराबर हम लोगों के साथी हो रहे थे और सबसे अधिक आश्चर्य मुझे मालती को देख कर हुआ। वह मानो इस जीवन की सम्पूर्ण गृहस्थी यहाँ सजा कर रहेगी। मालती एक स्वस्थ युवती थी; किन्तु दूर से देखने में अपनी छोटी-सी आकृति के कारण वह बालिका-सी लगती थी। उसकी तीनों सन्तानें बड़ी सुन्दर थीं। मिन्ना छह बरस का, रञ्जन चार का और कमलो दो की थी। कमलो सचमुच एक गुड़िया थी, कल्लू का उससे इतना घना परिचय हो गया कि दोनों को एक-दूसरे बिना चैन नहीं। मैं सोचता था कि प्राणी क्या स्नेहमय ही उत्पन्न होता है। अज्ञात प्रदेशों से आकर वह संसार में जन्म लेता है। फिर अपने लिए स्नेहमय सम्बन्ध बना लेता है; किन्तु मैं सदैव इन बुरी बातों से भागता ही रहा। इसे मैं अपना सौभाग्य कहूँ, या दुर्भाग्य?

इन्हीं कई दिनों में रामेश्वर के प्रति मेरे हृदय में इतना स्नेह उमड़ा कि मैं उसे एक क्षण छोड़ने के लिए प्रस्तुत न था। अब हम लोग साथ बैठ कर भोजन करते, साथ ही टहलने निकलते। बातों का तो अन्त ही न था। कल्लू तीनों लड़कों को बहलाये रहता। दुलारे खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेता। रामेश्वर से मेरी बातें होतीं और मालती चुपचाप सुना करती। कभी-कभी बीच में कोई अच्छी-सी मीठी बात बोल भी देती।

और प्रज्ञासारथि को तो मानो एक पाठशाला ही मिल गई थी। वे गार्हस्थ्य-जीवन का चुप-चाप अच्छा-सा अध्ययन कर रहे थे।

एक दिन मैं बाजार से अकेला लौट रहा था। बँगले के पास मैं पहुँचा ही था,

कि लैला मुझे दिखाई पड़ी। वह अपने घोड़े पर सवार थी मैं क्षण भर तक विचारता रहा कि क्या करूँ। तब तक घोड़े से उतर कर वह मेरे पास चली आई। मैं खड़ा हो गया था। उसने पूछा—बाबूजी, आप कहीं चले गये थे ?

हाँ !

अब इस बँगले में आप नहीं रहते ?

मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ, लैला।—मैंने घबरा कर उससे कहा।

क्या बाबूजी ?

वह चिट्ठी।

है तो मेरे ही पास, क्यों ?

मैंने उसमें कुछ झूठ कहा था।

झूठ !—लैला की आँखों से बिजली निकलने लगी थी।

हाँ लैला ! उसमें रामेश्वर ने लिखा था कि मैं तुमको नहीं चाहता, मुझे बाल-बच्चे हैं।

ऐं ! तुम झूठे ! दगाबाज !—कहती हुई लैला अपनी छुरी की ओर देखती हुई दाँत पीसने लगी।

मैंने कहा—लैला, तुम मेरा कसूर···।

तुम मेरे दिल से दिल्लगी करते थे ! कितने रञ्ज की बात है ! वह कुछ न कह सकी। वहीं बैठ कर रोने लगी। मैंने देखा कि यह बड़ी आफत है। कोई मुझे इस तरह यहाँ देखेगा तो क्या कहेगा। मैं तुरन्त वहाँ से चल देना चाहता था, किन्तु लैला ने आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए कहा—तुमने मेरे लिए दुनिया में एक बड़ी अच्छी बात सुनाई थी। वह मेरी हँसी थी ! इसे जान कर आज मुझे इतना गुस्सा आता है कि मैं तुमको मार डालूँ या आप ही मर जाऊँ। —लैला दाँत पीस रही थी। मैं काँप उठा—अपने प्राणों के भय से नहीं किन्तु लैला के साथ अदृष्ट के खिलवाड़ पर और अपनी मूर्खता पर। मैंने प्रार्थना के ढंग से कहा—लैला, मैंने तुम्हारे मन को ठेस लगा दी है—इसका मुझे बड़ा दुःख है। अब तुम उसको भूल जाओ।

तुम भूल सकते हो, मैं नहीं ! मैं खून करूँगी !—उसकी आँखों में ज्वाला निकल रही थी।

किसका, लैला ! मेरा ?

ओह नहीं, तुम्हारा नहीं, तुमने एक दिन मुझे सबसे बड़ा आराम दिया है। हो, वह झूठा। तुमने अच्छा नहीं किया था, तो भी मैं तुमको अपना दोस्त समझती हूँ।

तब किसका खून करोगी ?

उसने गहरी साँस ले कर कहा—अपना या किसी···फिर चुप हो गई। मैंने

कहा—तुम ऐसा न करोगी, लैला ! मेरा और कुछ कहने का साहस नहीं होता था। उसी ने फिर पूछा—वह जो तेज हवा चलती है, जिसमें बिजली चमकती है, बरफ गिरती है, जो बड़े-बड़े पेड़ों को तोड़ डालती है।...हम लोगों के घरों को उड़ा ले जाती है।

आँधी ! —मैंने बीच ही में कहा।

हाँ, वही मेरे यहाँ चल रही है !—कह कर लैला ने अपनी छाती पर हाथ रख दिया।

लैला ! —मैंने अधीर होकर कहा।

मैं उसको एक बार देखना चाहती हूँ।—उसने भी व्याकुलता से मेरी ओर देखते हुए कहा।

मैं उसे दिखा दूँगा; पर तुम उसकी कोई बुराई तो न करोगी ?—मैंने कहा।

हुश ! —कह कर लैला ने अपनी काली आँखें उठा कर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा—अच्छा लैला ! मैं दिखा दूँगा।

कल मुझसे यहीं मिलना।—कहती हुई वह अपने घोड़े पर सवार हो गई। उदास लैला के बोझ से वह घोड़ा भी धीरे-धीरे चलने लगा और लैला झुकी हुई-सी उस पर मानो किसी तरह बैठी थी।

मैं वहीं देर तक खड़ा रहा। और फिर धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक पाठशाला की ओर लौटा। प्रज्ञासारथि पीपल के नीचे शिलाखंड पर बैठे थे। मिन्ना उनके पास खड़ा उनका मुँह देख रहा था। प्रज्ञासारथि की रहस्यपूर्ण हँसी आज अधिक उदार थी। मैंने देखा कि वह उदासीन विदेशी अपनी समस्या हल कर चुका है। बच्चों की चहल-पहल ने उसके जीवन में वांछित परिवर्तन ला दिया है। और मैं ?

मैं कह चुका था, इसलिए दूसरे दिन लैला से भेंट करने पहुँचा। देखता हूँ कि वह पहले ही से वहाँ बैठी है। निराशा से उदास उसका मुँह आज पीला हो रहा था। उसने हँसने की चेष्टा नहीं की और न मैंने ही। उसने पूछा—तो कब, कहाँ चलना होगा ? मैं तो सूरत में उससे मिली थी ! वहीं उसने मेरी चिट्ठी का जवाब दिया था। अब कहाँ चलना होगा ?

मैं भौंचक-सा हो गया। लैला को विश्वास था कि सूरत, बम्बई, काश्मीर वह चाहे कहीं हो, मैं उसे लिवा कर चलूँगा ही। और रामेश्वर से भेंट करा दूँगा। सम्भवत: उसने परिहास का यह दण्ड निर्धारित कर लिया था। मैं सोचने लगा—क्या कहूँ।

लैला ने फिर कहा—मैं उसकी बुराई न करूँगी, तुम डरो मत।

मैंने कहा—वह यहीं आ गया है। उसके बाल-बच्चे सब साथ हैं ! लैला, तुम चलोगी?

वह एक बार सिर से पैर तक काँप उठी ! और मैं भी घबरा गया। मेरे मन में नई आशंका हुई। आज मैं क्या दूसरी भूल करने जा रहा हूँ ? उसने सम्हल कर कहा—हाँ चलूँगी, बाबू ! मैंने गहरी दृष्टि से उसके मुँह की ओर देखा, तो अन्धड़ नहीं, किन्तु एक शीतल मलय का व्याकुल झोंका उसकी घुँघराली लटों के साथ खेल रहा था। मैंने कहा—अच्छा, मेरे पीछे-पीछे चली आओ !

मैं चला और वह मेरे पीछे थी। जब पाठशाला के पास पहुँचा, तो मुझे हारमोनियम का स्वर और मधुर आलाप सुनाई पड़ा। मैं ठिठकर सुनने लगा—रमणी-कण्ठ की मधुर ध्वनि ! मैंने देखा कि लैला की आँखें उस संगीत के नशे में मतवाली हो चली हैं। उधर देखता हूँ तो कमलों की गोद में लिये प्रज्ञासारथि भी झूम रहे हैं। अपने कमरे में मालती छोटे-से सफारी बाजे पर पीलू गा रही है और अच्छी तरह गा रही है। रामेश्वर लेटा हुआ उसके मुँह की ओर देख रहा है। पूर्ण तृप्ति ! प्रसन्नता की माधुरी दोनों के मुँह पर खेल रही है ! पास ही रंजन और मिन्ना बैठे हुए अपने माता और पिता को देख रहे हैं ! हम लोगों के आने की बात कौन जानता है। मैंने एक क्षण के लिए अपने को कोसा; इतने सुंदर संसार में कलह की ज्वाला जलाकर मैं तमाशा देखने चला था। हाय रे—मेरा कुतूहल ! और लैला स्तब्ध अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से एकटक न जाने क्या देख रही थी। मैं देखता था कि कमलो प्रज्ञासारथि की गोद से धीरे से खिसक पड़ी और बिल्ली की तरह पैर दबाती हुई अपनी माँ की पीठ पर हँसती हुई गिर पड़ी, और बोली—माँ ! और गाना रुक गया। कमलो के साथ मिन्ना और रंजन भी हँस पड़े। रामेश्वर ने कहा—कमलो, तू बली पाजी है ले ! बा—पाजी—लाल—कहकर कमलो ने अपनी नन्हीं-सी उँगली उठाकर हम लोगों की ओर संकेत किया। रामेश्वर तो उठकर बैठ गए। मालती ने मुझे देखते ही सिर का कपड़ा तनिक आगे की ओर खींच लिया और लैला ने रामेश्वर को देखकर सलाम किया। दोनों की आँखें मिलीं। रामेश्वर के मुँह पर पल भर के लिए एक घबराहट दिखाई पड़ी। फिर उसने सम्हलकर पूछा - अरे लैला ! तुम यहाँ कहाँ ?

चारयारी न लोगे, बाबू ?—कहती हुई लैला निर्भीक भाव से मालती के पास जाकर बैठ गई।

मालती लैला पर एक सलज्ज मुस्कान छोड़ती हुई, उठ खड़ी हुई। लैला उसका मुँह देख रही थी, किन्तु उस ओर ध्यान न देकर मालती ने मुझसे कहा—भाई जी, आपने जलपान नहीं किया। आज तो आप ही के लिए मैंने सूरन के लड्डू बनाये हैं।

तो देती क्यों नहीं पगली, मैं सवेरे ही से भूखा भटक रहा हूँ—मैंने कहा।

मालती जलपान ले आने गई। रामेश्वर ने कहा—चारयारी ले आई हो ? लैला ने हाँ कहते हुए अपना बैग खोला। फिर रुक कर उसने अपने गले से एक ताबीज निकाला। रेशम से लिपटा हुआ चौकोर ताबीज का सीवन खोलकर उसने वह चिट्ठी निकाली। मैं स्थिर भाव से देख रहा था। लैला ने कहा—पहले बाबूजी, इस चिट्ठी को पढ़ दीजिए। रामेश्वर ने कम्पित हाथों से उसको खोला, वह उसी का लिखा हुआ पत्र था। उसने घबराकर लैला की ओर देखा। लैला ने शान्त स्वरों में कहा—पढ़िए बाबू ! आप ही के मुँह से सुनना चाहती हूँ।

रामेश्वर ने दृढ़ता से पढ़ना आरम्भ किया। जैसे उसने अपने हृदय का समस्त बल आने वाली घटनाओं का सामना करने के लिए एकत्र कर लिया हो; क्योंकि मालती जलपान लिये आ ही रही थी। रामेश्वर ने पूरा पत्र पढ़ लिया। केवल नीचे अपना नाम नहीं पढ़ा। मालती खड़ी सुनती रही और मैं सूरन के लड्डू खाता रहा। बीच-बीच में मालती का मुँह देख लिया करता था ! उसने बड़ी गम्भीरता से पूछा—भाईजी, लड्डू कैसे हैं, यह तो आपने बताया नहीं, धीरे से खा गये।

जो वस्तु अच्छी होती है, वही गले में धीरे से उतार ली जाती है। नहीं तो कड़वी वस्तु के लिए थू-थू करना पड़ता।—मैं कह ही रहा था कि लैला ने रामेश्वर से कहा है—ठीक तो ! मैंने सुन लिया। अब आप उसको फाड़ डालिए। तब आपको चारयारी दिखाऊँ।

रामेश्वर सचमुच पत्र फाड़ने लगा। चिन्दी-चिन्दी उस कागज के टुकड़े की उड़ गई और लैला ने एक छिपी हुई गहरी साँस ली, किन्तु मेरे कानों ने उसे सुन ही लिया। वह तो एक भयानक आँधी से कम न थी। लैला ने सचमुच एक सोने की चारयारी निकाली। उसके साथ एक सुन्दर मूँगे की माला। रामेश्वर ने चारयारी लेकर देखा। उसने मालती से पचास के नोट देने के लिए कहा। मालती अपने पति के व्यवसाय को जानती थी, उसने तुरन्त नोट दे दिये। रामेश्वर ने जब नोट लैला की ओर बढ़ाये, तभी कमलो सामने आकर खड़ी हो गई—बा··· ···लाल··· रामेश्वर ने पूछा, क्या है रे कमलो ?

पुतली-सी सुन्दर बालिका ने रामेश्वर के गालों को अपने छोटे-से हाथों से पकड़कर कहा—लाल-लाल···

लैला ने नोट ले लिये थे। पूछा—बाबूजी ! मूँगे की माला न लीजिएगा ?

नहीं।

लैला ने माला उठाकर कमलो को पहना दी। रामेश्वर नहीं-नहीं कर रहा था किन्तु उसने सुना नहीं ! कमलो ने अपनी माँ को देखकर कहा माँ···लाल··· वह हँस पड़ी और कुछ नोट रामेश्वर को देते हुए बोली—तो ले लो न, इसका भी दाम दे दो।

लैला ने तीव्र दृष्टि से मालती को देखा; मैं तो सहम गया था। मालती हँस पड़ी। उसने कहा—क्या दाम न लोगी?

लैला कमलो का मुँह चूमती हुई उठ खड़ी हुई। मालती अवाक्, रामेश्वर स्तब्ध, किन्तु मैं प्रकृतिस्थ था।

लैला चली गई।

मैं विचारता रहा, सोचता रहा। कोई अन्त न था—ओर-छोर का पता नहीं। लैला, प्रज्ञासारथि—रामेश्वर और मालती सभी मेरे सामने बिजली के पुतलों से चक्कर काट रहे थे। सन्ध्या हो चली थी, किन्तु मैं पीपल के नीचे से न उठ सका। प्रज्ञासारथि अपना ध्यान समाप्त करके उठे। उन्होंने मुझे पुकारा—श्रीनाथजी! मैंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—कहिए!

आज तो आप भी समाधिस्थ रहे।

तब भी इसी पृथ्वी पर था। जहाँ लालसा क्रन्दन करती है, दुःखानुभूति हंसती है और नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविनोद करती है; किन्तु आप तो बहुत ऊँचे किसी स्वर्गीय भावना में···

ठहरिए श्रीनाथजी! सुख और दुःख, आकाश और पृथ्वी, स्वर्ग और नरक के बीच में है वह सत्य, जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

मुझे क्षमा कीजिए! अन्तरिक्ष में उड़ने की मुझमें शक्ति नहीं है। मैंने परिहासपूर्वक कहा।

साधारण मन की स्थिति को छोड़कर जब मनुष्य कुछ दूसरी बात सोचने के लिए प्रयास करता है, तब क्या वह उड़ने का प्रयास नहीं? हम लोग कहने के लिए द्विपद हैं, किन्तु देखिए तो जीवन में हम लोग कितनी बार उचकते हैं, उड़ान भरते हैं। वही तो उन्नति की चेष्टा, जीवन के लिए संग्राम, और भी क्या-क्या नाम से प्रशंसित नहीं होती? तो मैं भी इसकी निन्दा नहीं करता; उठने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु···

आप यही न कहेंगे कि समझ-बूझकर एक बार उचकना चाहिए; किन्तु उस एक बार को—उस अचूक अवसर को जानना सहज नहीं। इसीलिए तो मनुष्यों को, जो सबसे बुद्धिमान प्राणी है, बार-बार धोखा खाना पड़ता है। उन्नति को उसने विभिन्न रूपों में अपनी आवश्यकताओं के साथ इतना मिलाया है कि उसे सिद्धान्त बना लेना पड़ा है कि उन्नति का द्वन्द्व पतन ही है।

संयम का वज्र-गम्भीर नाद प्रकृति से नहीं सुनते हो? शारीरिक क्रम तो गौण है, मुख्य संयम तो मानसिक है। श्रीनाथजी, आज लैला का वह मन का संयम क्या किसी महानदी की प्रखर धारा के अचल बाँध से कम था? मैं तो देखकर अवाक् था। आपकी उस समय विचित्र परिस्थिति रही। फिर भी कैसे सब निर्विघ्न समाप्त हो गया। उसे सोचकर तो मैं अब भी चकित हो जाता हूँ;

क्या वह इस भयानक प्रतिरोध के धक्के को सम्हाल लेगी ?

लैला के वक्षःस्थल में कितना भीषण अन्धड़ चल रहा होगा, इसका अनुभव हम लोग नहीं कर सकते ! मैं भी अब इससे भयभीत हो रहा हूँ ।

प्रज्ञासारथि चुप रहकर धीरे-धीरे कहने लगे—मैं तो कल जाऊंगा । यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो रामेश्वर को भी साथ चलने के लिए कहूँ । बम्बई तक हम लोगों का साथ रहेगा और मालती इस भयावनी छाया से शीघ्र ही दूर हट जाएगी ! फिर तो सब कुशल ही है।...

मेरे त्रस्त मन को शरण मिली । मैंने कहा—अच्छी बात है । प्रज्ञासारथि उठ गये । मैं वहीं बैठा रहा, और भी बैठा रहता, यदि मिन्ना और रंजन की किलकारी और रामेश्वर की डाँट-डपट—मालती की कलछी की खट-खट का कोलाहल जोर न पकड़ लेता और कल्लू सामने आकर न खड़ा हो जाता ।

प्रज्ञासारथि, रामेश्वर और मालती को गये एक सप्ताह से ऊपर हो गया । अभी तक उस वास्तविक संसार का कोलाहल सुदूर से आती हुई मधुर संगीत की प्रतिध्वनि के समान मेरे कानों में गूंज रहा था । मैं अभी तक उस मादकता को उतार न सका था । जीवन में पहले की-सी निश्चिन्तता का विराग नहीं, न तो वह बे-परवाही रही । मैं सोचने लगा कि अब मैं क्या करूँ ?

कुछ करने की इच्छा क्यों ? मन के कोने से चुटकी लेते कौन पूछ बैठा ?

किये बिना तो रहा नहीं जाता ।

करो भी, पाठशाला से क्या मन ऊब चला ?

उतने से सन्तोष नहीं होता ।

और क्या चाहिए ?

यही तो नहीं समझ सका, नहीं तो यह प्रश्न ही क्यों करता कि— अब मैं क्या करूँ—मैंने झुंझला कर कहा । मेरी बातों का उत्तर लेने-देने वाला मुस्कुरा कर हट गया । मैं चिन्ता के अन्धकार में डूब गया ! वह मेरी ही गहराई थी, जिसकी मुझे थाह न लगी । मैं प्रकृतिस्थ हुआ कब, जब एक उदास और ज्वालामयी तीव्र दृष्टि मेरी आँखों में घुसने लगी । अपने उस अन्धकार में मैंने एक ज्योति देखी ।

मैं स्वीकार करूँगा कि वह लैला थी, इस पर हँसने की इच्छा हो तो हँस लीजिए, किन्तु मैं लैला को पा जाने के लिए विकल नहीं था, क्योंकि लैला जिसको पाने की अभिलाषा करती थी, वही उसे न मिला । और परिणाम ठीक मेरी आँखों के सामने था । तब ? मेरी सहानुभूति क्यों जगी ? हाँ, वह सहानुभूति थी । लैला जैसे दीर्घ पथ पर चलने वाले मुझ पथिक की चिरसंगिनी थी ।

उस दिन इतना ही विश्वास करके मुझे सन्तोष हुआ ।

रात को कलुआ ने पूछा—बाबूजी ! आप घर न चलिएगा । मैं आश्चर्य से

उसकी ओर देखने लगा। उसने हठ-भरी आँखों से फिर वही प्रश्न किया। मैंने हँसकर कहा—मेरा घर तो यही है रे कलुआ।

नहीं बाबूजी! जहाँ मिन्ना गये हैं। जहाँ रंजन और जहाँ कमलो गई हैं, वहीं तो घर है।

जहाँ बहूजी गई हैं—जहाँ बाबाजी···हठात् प्रज्ञासारथि का मुझे स्मरण हो आया। मुझे क्रोध में कहना पड़ा—कलुआ, मुझे और कहीं घर-वर नहीं है। फिर मन-ही-मन कहा—इस बात को वह बौद्ध समझता था—

"हूँ, सबको घर है, बाबाजी को, मिन्ना को—सबको है, आपको नहीं है?" उसने ठुनकते हुए कहा।

किन्तु मैं अपने ऊपर झुँझला रहा था। मैंने कहा—बकवाद न कर, जा सो रह, आजकल तू पढ़ता नहीं।

कलुआ सिर झुकाये—व्यथा-भरे वक्ष:स्थल को दबाये अपने बिछौने पर जा पड़ा। और मैं उस निस्तब्ध रात्रि में जागता रहा! खिड़की में से झील का आन्दोलित जल दिखाई पड़ रहा था और मैं आश्चर्य से अपना ही बनाया हुआ चित्र उसमें देख रहा था। चन्दा के प्रशान्त जल में एक छोटी-सी नाव है, जिस पर मालती, रामेश्वर बैठे थे और मैं डाँड़ा चला रहा था। प्रज्ञासारथि तीर पर खड़े बच्चों को बहला रहे थे। हम लोग उजली चाँदनी में नाव खेते हुए चले जा रहे थे। सहसा उस चित्र में एक और मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ। वह थी लैला! मेरी आँखें तिलमिला गईं।

मैं जागता था—सोता था।

सवेरा हो गया था। नींद से भरी आँखें नहीं खुलती थीं, तो भी बाहर के कोलाहल ने मुझे जगा दिया। देखता हूँ ईरानियों का एक झुण्ड बाहर खड़ा है।

मैंने पूछा—क्या है?

गुल ने कहा—यहाँ का पीर कहाँ है?

पीर!—मैंने आश्चर्य से पूछा।

हाँ वही, जो पीला-पीला कपड़ा पहनता था।

मैं समझ गया, वे लोग प्रज्ञासारथि को खोजते थे। मैंने कहा—वह तो यहाँ नहीं हैं, अपने घर गये। काम क्या है?

एक लड़की को हवा लगी है, यहीं का कोई आसेब है। पीर को दिखलाना चाहती हूँ।—एक अधेड़ स्त्री ने बड़ी व्याकुलता से कहा।

मैंने पूछा—भाई! मैं तो यह सब कुछ नहीं जानता। वह लड़की कहाँ है?

पड़ाव पर, बाबूजी! आप चलकर देख लीजिए।

आगे वह कुछ बोल न सकी। किन्तु गुल ने कहा—बाबू! तुम जानते हो, वही—लैला!

आगे मैं न सुन सका। अपनी ही अन्तर्ध्वनि से मैं व्याकुल हो गया। यही होता है, किसी के उजड़ने से ही दूसरा बसता है। यदि यही विधि-विधान है, तो बसने का नाम उजड़ना ही है। यदि रामेश्वर, मालती और अपने बाल-बच्चों की चिन्ता छोड़ कर लैला को ही देखता, तभी··· किन्तु वैसा हो कैसे सकता है! मैंने कल्पना की आँखों से देखा; लैला का विवर्ण सुन्दर मुख—निराशा की झुलस से दयनीय मुख!

उन ईरानियों से फिर से बात न करके मैं भीतर चला गया और तकिये में अपना मुँह छिपा लिया। पीछे सुना, कलुआ डाँट बताता हुआ कह रहा है—जाओ-जाओ, यहाँ बाबाजी नहीं रहते!

मैं लड़कों को पढ़ाने लगा। कितना आश्चर्यजनक भयानक परिवर्तन मुझमें हो गया! उसे देखकर मैं ही विस्मित होता था। कलुआ इन्हीं कई महीनों से मेरा एकान्त साथी बन गया। मैंने उसे बार-बार समझाया, किन्तु वह बीच-बीच में मुझसे घर चलने के लिए कह बैठता ही था। मैं हताश हो गया। अब वह जब घर चलने की बात कहता, तो मैं सिर हिला कर कह देता—अच्छा, अभी चलूँगा।

दिन इसी तरह बीतने लगे। बसन्त के आगमन से प्रकृति सिहर उठी। बनस्पतियों की रोमावली पुलकित थी। मैं पीपल के नीचे उदास बैठा हुआ ईषत् शीतल पवन से अपने शरीर में फुरहरी का अनुभव कर रहा था। आकाश की आलोक-माला चन्दा की वीचियों में डुबकियाँ लगा रही थी। निस्तब्ध रात्रि का आगमन बड़ा गम्भीर था।

दूर से एक संगीत की—नन्हीं-नन्ही करुण वेदना की तान सुनाई पड़ रही थी। उस भाषा को मैं नहीं समझता था। मैंने समझा, यह भी कोई छलना होगी। फिर सहसा मैं विचारने लगा कि नियति भयानक वेग से चल रही है। आँधी की तरह उसमें असंख्य प्राणी तृण-तूलिका के समान इधर-उधर बिखर रहे हैं। कहीं से लाकर किसी को वह मिला ही देती है और ऊपर से कोई बोझे की वस्तु भी लाद देती है कि वे चिरकाल तक एक-दूसरे से सम्बद्ध रहें। सचमुच! कल्पना प्रत्यक्ष हो चली। दक्षिण का आकाश धूसर हो चला—एक दानव ताराओं को निगलने लगा। पक्षियों का कोलाहल बढ़ा। अन्तरिक्ष व्याकुल हो उठा! कड़वा-हट में सभी आश्रय खोजने लगे; किन्तु मैं कैसे उठता! वह संगीत की ध्वनि समीप आ रही थी। वज्रनिर्घोष को भेदकर कोई कलेजे से गा रहा था। अन्ध-कार में साम्राज्य में तृण, लता, वृक्ष सचराचर कम्पित हो रहे थे।

कलुआ की चीत्कार सुन कर भीतर चला गया। उस भीषण कोलाहल में भी वही संगीत-ध्वनि पवन के हिंडोले पर झूल रही थी, मानो पाठशाला के चारों ओर लिपट रही थी। सहसा एक भीषण अर्राहट हुई। अब मैं टार्च लिए बाहर आ गया।

आँधी रुक गई थी। मैंने देखा कि पीपल की बड़ी-सी डाल फटी पड़ी है और लैला नीचे दबी हुई अपनी भावनाओं की सीमा पार कर चुकी है।

मैं अब भी चन्दा-तट की बौद्ध पाठशाला का अवैतनिक अध्यक्ष हूँ। प्रज्ञा-सारथि के नाम को कोसता हुआ दिन बिताता हूँ। कोई उपाय नहीं। वहीं जैसे मेरे जीवन का केन्द्र है।

आज भी मेरे हृदय में आँधी चला करती है और उसमें लैला का मुख बिजली की तरह कौंधा करता है।

□□

मधुवा

आज सात दिन हो गये, पीने को कौन कहे—छुआ तक नहीं! आज सातवाँ दिन है, सरकार!

तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महक आ रही है।

वह···वह तो कई दिन हुए। सात दिन के ऊपर—कई दिन हुए—अँधेरे में बोतल उँड़ेलने लगा था। कपड़े पर गिर जाने से नशा भी न आया। और आपको कहने का···क्या कहूँ···सच मानिए। सात दिन—ठीक सात दिन से एक बूंद भी नहीं।

ठाकुर सरदार सिंह हँसने लगे। लखनऊ में लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उनको कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी सबेरे भी आता। अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर का मनो-विनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा—तो आज पियोगे न!

झूठ कैसे कहूँ। आज तो जितना मिलेगा, सब पिऊँगा। सात दिन चने-चबेने पर बिताये हैं, किसलिए।

अद्भुत! सात दिन पेट काटकर आज अच्छा भोजन न करके तुम्हें पीने की सूझी है! यह भी···

सरकार! मौज-बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुःखपूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिये जा सकते हैं।

अच्छा, आज दिन भर तुमने क्या-क्या किया है?

मैंने ?—अच्छा सुनिये—सवेरे कुहरा पड़ता था, मेरे धुआँसे कम्बल-सा वह भी सूर्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।

ठाकुर साहब ने हँसकर कहा—अच्छा, तो इस मुँह छिपाने का कोई कारण ?

सात दिन से एक बूंद भी गले न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था ! और जब बारह बजे धूप निकली, तो फिर लाचारी थी ! उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दु ख हुआ, सरकार, वह क्या कहने की बात है ! पास में पैसे बचे थे। चना चबाने से दाँत भाग रहे थे। कट-कटी लग रही थी। पराँठे वाले के यहाँ पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती किनारे चला गया ! घूमते-घूमते अँधेरा हो गया, बूंदें पड़ने लगीं, तब कहीं भाग के आपके पास आ गया।

अच्छा, जो उस दिन तुमने गड़रिये वाली कहानी सुनाई थी, जिसमें आसफुद्दौला ने उसकी लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दाने के बदले मोतियों से भर दिया था ! वह क्या सच है ?

सच ! अरे, गरीब लड़की भूख से उसे चबा कर थू-थू करने लगी ! ···रोने लगीं ! ऐसी निर्दयी दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है श्री रामचन्द्र ने भी हनुमानजी से ऐसा ही···

ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे। पेट पकड़कर हँसते-हँसते लोट गये। साँस बटोरते हुए सम्हल कर बोले—और बड़प्पन किसे कहते हैं ? कंगाल तो कंगाल ! गधी लड़की ! भला उसने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूँ, आज तक तुमने जितनी कहानियाँ सुनाईं, सब में बड़ी टीस थी। शाहजादों के दुखड़े, रंग-महल की अभागिनी बेगमों के निष्फल प्रेम, करुण कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ ही तुम्हें आती हैं; पर ऐसी हँसाने वाली कहानी और सुनाओ, तो मैं अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ।

सरकार ! बूढ़ों से सने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन, अमीरों की रँग-रेलियाँ, दुखियों की दर्द-भरी आहें, रंगमहलों में घुल-घुलकर मरने वाली बेगमें, अपने-आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उनकी पीड़ा से रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते हैं। बड़े-बड़ों का घमंड चूर होकर धूल में मिल जाते हैं। तब भी दुनिया बड़ी पागल है। मैं उसके पागलपन को भुलाने के लिए शराब पीने लगता हूँ—सरकार ! नहीं तो यह बुरी बला कौन अपने गले लगाता !

ठाकुर साहब ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शराबी सर्दी में ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंककर ठाकुर साहब ने कहा—अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।

शराबी रुपया उठाकर धीरे से खिसका। लल्लू था ठाकुर साहब का जमादार।

उसे खोजते हुए जब वह फाटक पर की बगल वाली कोठरी के पास पहुँचा, तो सुकुमार कंठ से सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा।

तो सूअर, रोता क्यों है ? कुँवर साहब ने दो ही लातें लगाई हैं ! कुछ गोली तो नहीं मार दी ?—कर्कश स्वर से लल्लू बोल रहा था; किन्तु उत्तर में सिसकियों के साथ एकाध हिचकी ही सुनाई पड़ जाती। अब और भी कठोरता से लल्लू ने कहा—मधुआ ! जा सो रह, नखरा न कर, नहीं तो उठूँगा तो खाल उधेड़ दूँगा ! समझा न ?

शराबी चुपचाप सुन रहा था। बालक की सिसकी और बढ़ने लगी। फिर उसे सुनाई पड़ा—ले, अब भागता है कि नहीं ? क्यों मार खाने पर तुला है ?

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढलक रही थीं। बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सर्दी थी। दोनों चुपचाप चलने लगे। शराबी की मौन सहानुभूति को उस छोटे-से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका ही था कि बालक के फिर से सिसकने की आहट लगी। वह झिड़क कर बोल उठा—

अब क्यों रोता है रे छोकरे ?

मैंने दिन भर से कुछ खाया नहीं।

कुछ खाया नहीं; इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन भर तुझे खाने को नहीं मिला ?

यही कहने तो मैं गया था जमादार के पास; मार तो रोज ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँवर साहब का ओवरकोट लिए खेल में दिन भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी नौ बजे तक कुछ काम करना पड़ा। आटा रख नहीं सका था। रोटी बनती तो कैसे ! जमादार से कहने गया था ! भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया, वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाजा ढकेलकर बालक को लिए हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जलाकर वह फटे कम्बल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक पराँठे का टुकड़ा मिला ! शराबी उसे बालक के हाथ में देकर बोला —तब तक तू इसे चबा, मैं तेरा गढ़ा भरने के लिए कुछ और ले आऊँ—सुनता है रे छोकरे ! रोना मत, रोएगा तो खूब पीटूँगा। मुझसे रोने से बड़ा बैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का···

शराबी गली के बाहर भागा। उसके हाथ में एक रुपया था। बारह आने का

एक देशी अद्धा और दो आने की चाय···दो आने की पकौड़ी···नहीं-नहीं, आलू-मटर···अच्छा, न सही, चारों आने का माँस ही ले लूँगा, पर यह छोकरा! इसका गढ़ा जो भरना होगा, यह कितना खाएगा और क्या खाएगा। ओह! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच-विचार किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ?—पहले एक अद्धा तो ले लूँ।—इतना सोचते-सोचते उसकी आँखों पर बिजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। वह शराब का अद्धा लेना भूलकर मिठाई-पूरी खरीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरा एक रुपए का सामान लेकर वह दूकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिए एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँच कर उसने डोनों की पाँत बालक के सामने सजा दी। उनकी सुगन्ध से बालक के गले में एक तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शराबी ने मिट्टी की गगरी से पानी उँड़ेलते हुए कहा—नटखट कहीं का, हँसता है, सोंधी बास नाक में पहुँची न! ले खूब, ठूँस कर खा ले, और फिर रोया कि पीटा!

दोनों ने, बहुत दिन पर मिलने वाले दो मित्रों की तरह साथ बैठकर भरपेट खाया। सीली जगह में सोते हुए बालक ने शराबी का पुराना बड़ा कोट ओढ़ लिया था। जब उसे नींद आ गई, तो शराबी भी कम्बल तान कर बड़बड़ाने लगा। सोचा था, आज सात दिन पर भरपेट पीकर सोऊँगा, लेकिन यह छोटा-सा रोना पाजी, न जाने कहाँ से आ धमका?

एक चिन्तापूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्रय की विभूति को देखा और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को; उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सुकुमार फूल को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इसको लेकर मुझे घर-बारी बनना पड़ेगा क्या? दुर्भाग्य! जिसे मैंने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता—जिस पर, आज तक केवल बोतल का ही पूरा अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी? इस छोटे-से पाजी ने मेरे जीवन के लिए कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है? तब क्या करूँ? कोई काम करूँ? कैसे दोनों का पेट चलेगा? नहीं, भगा दूँगा इसे—आँख तो खोले?

बालक अँगड़ाई ले रहा था। वह उठ बैठा। शराबी ने कहा—ले उठ, कुछ खा ले, अभी रात का बचा हुआ है; और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?

बालक ने सहज हँसी हँस कर कहा—मधुआ! भला हाथ-मुँह भी न धोऊँ। खाने लगूँ? और जाऊँगा कहाँ?

आह ! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय ! कह दूँ कि भाड़ में जा; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्ठी में जलता ही रहा है। तो···वह चुपचाप घर से झल्ला-कर सोचता हुआ निकला—ले पाजी, अब यहाँ लौटूँगा ही नहीं। तू ही इस कोठरी में रह !

शराबी घर से निकला। गोमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था, पर कुछ भी सोच न सका। हाथ-मुँह धोने लगा। उजली धूप निकल आई थी। वह चुपचाप गोमती की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भुलाने का प्रयत्न कर रहा था कि किसी ने पुकारा—

भले आदमी रहे कहाँ ? सालों पर दिखाई पड़े। तुमको खोजते-खोजते मैं थक गया।

शराबी ने चौंक कर देखा। वह कोई जान-पहचान का तो मालूम होता था; पर कौन है, यह ठीक-ठीक न जान सका।

उसने फिर कहा—तुम्हीं से कह रहे हैं। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरने की कल, नहीं तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी, जिसका मैं दो रुपये किराया देता हूँ, उसमें क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिए नहीं है ?

ओहो ? रामजी, तुम हो भाई, मैं भूल गया था। तो चलो, आज ही उसे उठा लाता हूँ।—कहते हुए शराबी ने सोचा—अच्छी रही, उसी को बेचकर कुछ दिनों तक काम चलेगा।

गोमती नहा कर, रामजी, पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी की कल देते हुए उसने कहा—ले जाओ, किसी तरह मेरा इससे पिण्ड छूटे।

बहुत दिनों पर आज उसको कल ढोना पड़ा। किसी तरह अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने देखा कि बालक बैठा है। बड़बड़ाते हुए उसने पूछा—क्यों रे, तूने कुछ खा लिया कि नहीं ? भर-पेट खा चुका हूँ, और वह देखो तुम्हारे लिए भी रख दिया है। कहकर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया। शराबी एक क्षण भर चुप रहा। फिर चुपचाप जल-पान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—यह भाग्य का संकेत नहीं, तो और क्या है ? चलूँ फिर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो, दो बातें किस्सा कहानी इधर-उधर की कहकर अपना काम चला ही लेता था ? पर अब तो बिना कुछ किये घर नहीं चलने का। जल पीकर बोला—क्यों रे मधुआ, अब तू कहाँ जायगा ?

कहीं नहीं।

यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गड़ी है कि मैं खोद-खोद कर तुझे मिठाई खिलाता रहूँगा।

तब कोई काम करना चाहिए।

करेगा ?

जो कहो ?

अच्छा, तो आज से मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिए लाया हूँ! चल, आज से तुझे सान देना सिखाऊँगा। कहाँ, इसका कुछ ठीक नहीं। पेड़ के नीचे रात बिता सकेगा न ?

कहीं भी रह सकूँगा; पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूँगा ?—शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन-ही-मन कहा—बैठे-बैठाये यह हत्या कहाँ से लगी ? अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

वह साथ ले जाने वाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—तू किसे उठायेगा ?

जिसे कहो।

अच्छा, तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो ?

कोई नहीं पकड़ेगा, चलो भी। मेरे बाप कभी मर गये।

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठाकर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़ कर चल पड़े।

□□

दासी

यह खेल किसको दिखा रहे हो बलराज ?—कहते हुए फिरोजा ने युवक की कलाई पकड़ ली। युवक की मुट्ठी में एक भयानक छुरा चमक रहा था। उसने झुँझला कर फीरोजा की तरफ देखा। वह खिलखिला कर हँस पड़ी। फीरोजा युवती से अधिक बालिका थी। अल्हड़पन, चंचलता और हँसी से बनी हुई वह तुर्क बाला सब हृदयों के स्नेह के समीप थी। नीली नसों से जकड़ी हुई बलराज की पुष्ट कलाई उन कोमल उँगुलियों के बीच में शिथिल हो गई। उसने कहा—फीरोजा, तुम मेरे सुख में बाधा दे रही हो !

सुख जीने में है बलराज ! ऐसी हरी-भरी दुनिया, फूल-बेलों से सजे हुए नदियों के सुन्दर किनारे, सुनहला सवेरा, चाँदी की रातें इन सबों से मुँह मोड़कर आँखें बन्द कर लेना ! कभी नहीं ! सबसे बढ़कर तो इसमें हम लोगों की उछल-कूद का तमाशा है। मैं तुम्हें मरने न दूँगी।

क्यों ?

यों ही बेकार मर जाना ! वाह, ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिहून के किनारे तुर्कों से लड़ते हुए मर जाना दूसरी बात थी। तब मैं तुम्हारी कब्र बनवाती, उस पर फूल चढ़ाती; पर इस गजनी नदी के किनारे अपना छुरा अपने कलेजे में भोंक कर मर जाना बचपना भी तो नहीं है।

बलराज ने देखा, सुल्तान मसऊद के शिल्पकला-प्रेम की गम्भीर प्रतिमा, गजनी नदी पर एक कमानी वाला पुल अपनी उदास छाया जलधारा पर डाल रहा है। उसने कहा—वही तो, न जाने क्यों मैं उसी दिन नहीं मरा, जिस दिन मेरे इतने वीर साथी कटार से लिपट कर इसी गजनी की गोद में सोने चले गये। फिरोजा ! उन वीर आत्माओं का वह शोचनीय अन्त ! तुम उस अपमान को नहीं समझ सकती हो।

सुल्तान ने सिल्जूको से हारे हुए तुर्क और हिन्दू दोनों को ही नौकरी से अलग कर दिया। पर तुर्कों ने तो मरने की बात नहीं सोची ?

कुछ भी हो, तुर्क सुल्तान के अपने लोगों में हैं और हिन्दू बेगाने ही हैं। फीरोजा ! यह अपमान मरने से बढ़ कर है।

और आज किसलिए मरने जा रहे थे ?

वह सुनकर क्या करोगी ?—कहकर बलराज छुरा फेंककर एक लम्बी साँस लेकर चुप हो रहा। फीरोजा ने उसका कन्धा पकड़कर हिलाते हुए कहा—

सुनूँगी क्यों नहीं। अपनी...हाँ, उसी के लिए ! कौन है वह ! कैसी है ? बलराज ! गोरी सी है, मेरी तरह वह भी पतली-दुबली है न ? कानों में कुछ पहनती है ? और गले में ?

कुछ नहीं फीरोजा, मेरी ही तरह वह भी कंगाल है। मैंने उससे कहा था कि लड़ाई पर जाऊँगा और सुल्तान की लूट में मुझे भी चाँदी-सोने की ढेरी मिलेगी, जब अमीर हो जाऊँगा, तब आकर तुमसे ब्याह करूँगा।

तब भी मरने जा रहे थे ! खाली ही लौट कर उससे भेंट करने की, उसे एक बार देख लेने की, तुम्हारी इच्छा न हुई ! तुम बड़े पाजी हो। जाओ, मरो या जियो, मैं तुमसे न बोलूँगी।

सचमुच फीरोजा ने मुँह फेर लिया। वह जैसे रूठ गई थी। बलराम को उसके इस भोलेपन पर हँसी न आ सकी। वह सोचने लगा, फीरोजा के हृदय में कितना स्नेह है ! कितना उल्लास है ? उसने पूछा—फीरोजा, तुम भी तो लड़ाई में पकड़ी

हुई गुलामी भुगत रही हो। क्या तुमने कभी अपने जीवन पर विचार किया है? किस बात का उल्लास है तुम्हें?

मैं अब गुलामी में नहीं रह सकूँगी। अहमद जब हिन्दुस्तान जाने लगा था, तभी उसने राजा साहब से कहा था कि मैं एक हजार सोने के सिक्के भेजूँगा। भाई तिलक! तुम उसे लेकर फीरोजा को छोड़ देना और वह हिन्दुस्तान आना चाहे तो उसे भेज देना। अब वह थैली आती ही होगी। मैं छुटकारा पा जाऊँगी और गुलाम ही रहने पर रोने की कौन-सी बात है? मर जाने की इतनी जल्दी क्यों? तुम देख नहीं रहे हो कि तुर्कों में एक नयी लहर आयी है। दुनिया ने उसके लिए जैसे छाती खोल दी है। जो आज गुलाम है; वही कल सुल्तान हो सकता है। फिर रोना किस बात का, जितनी देर हँस सकती हूँ, उस समय को रोने में क्यों बिताऊँ?

तुम्हारा सुखमय जीवन और भी लम्बा हो, फीरोजा; किन्तु आज तुमने जो मुझे मरने से रोक दिया, यह अच्छा नहीं किया।

कहती तो हूँ, बेकार न मरो। क्या तुम्हारे मरने के लिए कोई...?

कुछ भी नहीं, फीरोजा! हमारी धार्मिक भावनाएँ बँटी हुई हैं, सामाजिक जीवम दम्भ से और राजनीतिक क्षेत्र कलह और स्वार्थ से जकड़ा हुआ है। शक्तियाँ हैं, पर उनका कोई केन्द्र नहीं। किस पर अभिमान हो, किसके लिए प्राण दूँ?

दुत, चले जाओ हिन्दुस्तान में मरने के लिए कुछ खोजो। मिल ही जायगा, जाओ न... कहीं वह तुम्हारी... मिल जाय तो किसी झोंपड़ी ही में काट लेना। न सही अमीरी, किसी तरह तो कटेगी। जितने दिन जीने के हों, उन पर भरोसा रखना।

'.........'

बलराज! न जाने क्यों मैं तुम्हें मरने देना नहीं चाहती। वह तुम्हारी राह देखती हुई कहीं जी रही हो, तब! आह कभी उसे देख पाती तो उसका मुँह चूम लेती। कितना प्यार होगा उसके छोटे से हृदय में? लो, ये पाँच दिरम, मुझे कल राजा साहब ने इनाम के दिये हैं। इन्हें लेते जाओ! देखो, उससे जाकर भेंट करना।

फीरोजा की आँखों में आँसू भरे थे, तब भी वह जैसे हँस रही थी। सहसा वह पाँच धातु के टुकड़ों को बलराज के हाथ पर रखकर झाड़ियों में घुस गई। बलराज चुपचाप अपने हाथ पर के चमकीले टुकड़ों को देख रहा था। हाथ कुछ झुक रहा था। धीरे-धीरे टुकड़े उसके हाथ से खिसक पड़े। वह बैठ गया—सामने एक पुरुष खड़ा हुआ मुस्करा रहा था।

बलराज!

राजा साहब।—जैसे आँख खोलते हुए बलराज ने कहा, और उठकर खड़ा हो गया।

मैं सब सुन रहा था। तुम हिन्दुस्तान चले जाओ। मैं भी तुमको यही सलाह दूँगा। किन्तु, एक बात है।

वह क्या राजा साहब ?

मैं तुम्हारे दु:ख का अनुभव कर रहा हूँ। जो बातें तुमने अभी फीरोजा से कही हैं, उन्हें सुनकर मेरा हृदय विचलित हो उठा है। किन्तु क्या करूँ ? मैंने आकांक्षा का नशा पी लिया है। वही मुझे बेबस किए है। जिस दु:ख से मनुष्य छाती फाड़कर चिल्लाने लगता हो, सिर पीटने लगता हो, वैसी प्रतिफल परिस्थितियों में भी मैं केवल सिर-नीचा कर चुप रहना अच्छा समझता हूँ। क्या ही अच्छा होता कि जिस सुख में आनन्दातिरेक से मनुष्य उन्मत हो जाता है, उसे भी मुस्करा कर टाल दिया करूँ। सो नहीं होता। एक साधारण स्थिति से मैं सुल्तान के सलाहकारों के पद तक तो पहुँच गया हूँ। मैं भी हिन्दुस्तान का ही एक कंगाल था। प्रतिदिन की मर्यादा-वृद्धि, राजकीय विश्वास और उसमें सुख की अनुभूति से मेरे जीवन को पहेली बनाकर...जाने दो। मैंने सुल्तान के दरबार से जितना सीखा है, वही मेरे लिए बहुत है। एक बनावटी गम्भीरता ! छल-पूर्ण विनय ! ओह, कितना भीषण है, यह विचार ! मैं धीरे-धीरे इतना बन गया हूँ कि मेरी सहृदयता घूँघट उलटने नहीं पाती। लोगों को मेरी छाती में हृदय होने का सन्देह हो चला है। फिर मैं तुमसे अपनी सहृदयता क्यों प्रकट करूँ ? तब भी आज तुमने मेरे स्वभाव की धारा का बाँध तोड़ दिया है। आज मैं...।

बस राजा साहब, और कुछ न कहिए। मैं जाता हूँ। मैं समझ गया कि......

ठहरो, मुझे अधिक अवकाश नहीं है। कल यहाँ से कुछ विद्रोही गुलाम, अहमद नियाल्तगीन के पास लाहौर जानेवाले हैं, उन्हीं के साथ तुम चले जाओ। यह लो—कहते हुए सुल्तान के विश्वासी राजा तिलक ने बलराज के हाथों में थैली रख दी। बलराज वहाँ से चुपचाप चल पड़ा।

तिलक सुल्तान महमूद का अत्यन्त विश्वासपात्र हिन्दू कर्मचारी था। अपने बुद्धि-बल से कट्टर यवनों के बीच में अपनी प्रतिष्ठा दृढ़ रखने के कारण सुल्तान मसऊद के शासन-काल में भी वह उपेक्षा का पात्र नहीं था। फिर भी वह अपने को हिन्दू ही समझता था, चाहे अन्य लोग उसे कुछ समझते रहे हों। बलराज की बातें वह सुन चुका था। आज उसकी मनोवृत्तियों में भयानक हलचल थी। सहसा उसने पुकारा—फीरोजा !

झाड़ियों से निकलकर फीरोजा ने उसके सामने सिर झुका दिया। तिलक ने उसके सिर पर हाथ रखते हुए कोमल स्वर में पूछा—फीरोजा, तुम अहमद के पास हिन्दुस्तान जाना चाहती हो ?

फीरोजा के हृदय में कम्पन होने लगा। वह कुछ न बोली। तिलक ने कहा—डरो मत, साफ-साफ कहो।

क्या अहमद ने आपके पास दीनारें भेज दीं—कहकर फीरोजा ने अपनी उत्कण्ठा-भरी आँखें उठाईं। तिलक ने हँसकर कहा—सो तो उसने नहीं भेजीं, तब भी तुम जाना चाहती हो, तो मुझसे कहो।

मैं क्या कह सकती हूँ ? जैसी मेरी...।—कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू छलछला उठे। तिलक ने कहा—फीरोजा, तुम जा सकती हो। कुछ सोने के टुकड़ों के लिए मैं तुम्हारा हृदय नहीं कुचलना चाहता।

सच ! आश्चर्य-भरी कृतज्ञता उसकी वाणी में थी।

सच फीरोजा ! अहमद मेरा मित्र है, और भी एक काम के लिए तुमको भेज रहा हूँ। उसे जाकर समझाओ कि वह अपनी सेना लेकर पंजाब के बाहर इधर-उधर हिन्दुस्तान में लूट-मार न किया करे। मैं कुछ ही दिनों में सुल्तान से कह कर खजाने और मालगुजारी का अधिकार भी उसी को दिला दूँगा। थोड़ा समझ-कर धीरे-धीरे काम करने से सब हो जायगा। समझी न, दरबार में इस पर गर्मा-गर्मी है कि अहमद की नियत खराब है। कहीं ऐसा न हो कि मुझी को सुल्तान इस काम के लिए भेजें !

फीरोजा, मैं हिन्दुस्तान नहीं जाना चाहता। मेरी एक छोटी बहन थी, वह कहाँ है ? क्या दुःख उसने पाया ? मरी या जीती है, इन कई बरसों से मैंने इसे जानने की चेष्टा भी नहीं की। और भी...मैं हिन्दू हूँ, फीरोजा ! आज तक अपनी आकांक्षा में भूला हुआ, अपने आराम में मस्त, अपनी उन्नति में विस्मृत, गजनी में बैठा हुआ हिन्दुस्तान को, अपनी जन्मभूमि को और उसके दुःख-दर्द को भूल गया हूँ। सुल्तान महमूद के लूटों की गिनती करना, उस रक्त-रंजित धन की तालिका बनाना, हिन्दुस्तान के ही शोषण के लिए सुल्तान को नयी-नयी तरकीबें बताना, यही तो मेरा काम था, जिससे आज मेरी इतनी प्रतिष्ठा है। दूर रहकर मैं सब कुछ कर सकता था; पर हिन्दुस्तान कहीं मुझे जाना पड़ा—उसकी गोद में फिर रहना पड़ा—तो मैं क्या करूँगा ! फीरोजा, मैं वहाँ जाकर पागल हो जाऊँगा। मैं चिर-निर्वासित, विस्मृत अपराधी ! इरावती मेरी बहन ! आह, मैं उसे क्या मुँह दिखलाऊँगा। वह कितने कष्टों में जीती होगी ! और मर गई हो तो...फीरोजा ! अहमद से कहना, मेरी मित्रता के नाते मुझे इस दुःख से बचा ले।

मैं जाऊँगी और इरावती को खोज निकालूँगी—राजा साहब ! आपके हृदय में इतनी टीस है, आज तक मैं न जानती थी। मुझे यही मालूम था कि अनेक अन्य तुर्क सरदारों के समान आप भी रंग-रलियों में समय बिता रहे हैं, किन्तु बरफ से ढकी हुई चीटियों के नीचे भी ज्वालामुखी होता है।

तो जाओ फीरोजा ! मुझे बचाने के लिए, उस भयानक आग से, जिससे मेरा हृदय जल उठता है, मेरी रक्षा करो !—कहते हुए राजा तिलक उसी जगह बैठ गये। फीरोजा खड़ी थी। धीरे-धीरे राजा के मुख पर एक स्निग्धता आ चली। अब अन्धकार हो चला।गजनी के लहरों पर से शीतल पवन उन झाड़ियों में भरने लगा था। सामने ही राजा साहब का महल था। उसका शुभ्र गुम्बद उस अन्धकार में अभी अपनी उज्ज्वलता से सिर ऊँचा किये था।तिलक ने कहा—फीरोजा, जाने के पहले अपना वह गाना सुनाती जाओ।

फीरोज गाने लगी। उसके गीत की ध्वनि थी—मैं जलती हुई दीपशिखा हूँ और तुम हृदय-रञ्जन प्रभात हो ! जब तक देखती नहीं, जला करती हूँ और जब तुम्हें देख लेती हूँ, तभी मेरे अस्तित्व का अन्त हो जाता है—मेरे प्रियतम ! संध्या की अँधेरी झाड़ियों में गीत की गुंजार घूमने लगी।

यदि एक बार उसे फिर देख पाता; पर यह होने का नहीं। निष्ठुर नियति ! उसकी पवित्रता पंकिल हो गई होगी। उसकी उज्ज्वलता पर संसार के काले हाथों ने अपनी छाप लगा दी होगी। तब उससे भेंट करके क्या करूँगा ? क्या करूँगा ? अपने कल्पना के स्वर्ण-मन्दिर का खँडहर देख कर !—कहते-कहते बलराज ने अपने बलिष्ठ पंजों को पत्थरों से जकड़े हुए मन्दिर के प्राचीर पर दे मारा। वह शब्द एक क्षण में विलीन हो गया। युवक ने आरक्त आँखों से उस विशाल मन्दिर को देखा और वह पागल-सा उठ खड़ा हुआ। परिक्रमा के ऊँचे-ऊँचे खंभों से धक्के खाता हुआ घूमने लगा।

गर्भ-गृह के द्वारपालों पर उसकी दृष्टि पड़ी। वे तेल से चुपड़े हुए काले-काले दूत अपने भीषण त्रिशूल से जैसे युवक की ओर संकेत कर रहे थे। वह ठिठक गया। सामने देवगृह के समीप घृत का अखण्ड-दीप जल रहा था। केशर, कस्तूरी और अगरु से मिश्रित फूलों की दिव्य सुगन्ध की झकोर रह-रह कर भीतर से आ रही थी। विद्रोही हृदय प्रणत होना नहीं चाहता था, परन्तु सिर सम्मान से झुक ही गया।

देव ! मैंने अपने जीवन में जान-बूझ कर कोई पाप नहीं किया है। मैं किसके लिए क्षमा माँगूँ ? गजनी के सुल्तान की नौकरी, वह मेरे वश की नहीं; किन्तु मैं माँगता हूँ···एक बार उस, अपनी प्रेम प्रतिमा का दर्शन ! कृपा करो। बचा लो।

प्रार्थना करके युवक ने सिर उठाया ही था कि उसे किसी को अपने पास से खिसकने का सन्देह हुआ। वह घूम कर देखने लगा। एक स्त्री कौशेय वसन पहने हाथ में फूलों से सजी डाली लिए चली जा रही थी। युवक पीछे-पीछे चला। परिक्रमा में एक स्थान पर पहुँच कर उसने सदिग्ध स्वर से पुकारा—इरावती ! वह स्त्री घूम कर खड़ी हो गई। बलराज अपने दोनों हाथ पसारकर उसे आलिंगन

करने के लिए दौड़ा। इरावती ने कहा—ठहरो। बलराज ठिठक कर उसकी गम्भीर मुखाकृति को देखने लगा। उसने पूछा—क्यों इरा! क्या तुम मेरी वाग्दत्ता पत्नी नहीं हो? क्या हम लोगों का वह्निवेदी के सामने परिणय नहीं होने वाला था? क्या···?

हाँ, होने वाला था किन्तु हुआ नहीं, और बलराज! तुम मेरी रक्षा नहीं कर सके। मैं आततायी के हाथ से कलंकित की गयी। फिर तुम मुझे पत्नी के-रूप में कैसे ग्रहण करोगे? तुम वीर हो! पुरुष हो! तुम्हारे पुरुषार्थ के लिए बहुत-सी महत्त्वाकांक्षाएँ हैं उन्हें खोज लो, मुझे भगवान् की शरण में छोड़ दो। मेरा जीवन अनुताप की ज्वाला से झुलसा हुआ मेरा मन, अब स्नेह के योग्य नहीं।

प्रेम की, पवित्रता की, परिभाषा अलग है इरा! मैं तुमको प्यार करता हुँ। तुम्हारी पवित्रता से मेरे मन का अधिक सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है। चलो, हम···और कुछ भी हों, मेरे प्रेम की वह्नि तुम्हारी पवित्रता को अधिक उज्ज्वल कर देगी।

भाग चलूँ, क्यों? सो नहीं हो सकता। मैं क्रीत दासी हूँ। म्लेच्छों ने मुझे मुलतान की लूट में पकड़ लिया। मैं उनकी कठोरता में जीवित रह कर बराबर उनका विरोध ही करती रही। नित्य कोड़े लगते। बांध कर मैं लटकाई जाती। फिर भी मैं अपने हट से न डिगी। एक दिन कन्नौज के चतुष्पथ पर घोड़ों के साथ ही बेचने के लिए उन आततायियों ने मुझे खड़ा किया। मैं बिकी पाँच सौ दिरम पर, काशी के ही एक महाजन ने मुझे दासी बना लिया। बलराज! तुमने न सुना होगा, कि मैं किन नियमों के साथ बिकी हूँ। मैंने लिखकर स्वीकार किया है, इस घर का कुत्सित से भी कुत्सित कर्म करूँगी और कभी विद्रोह न करूँगी,—न कभी भागने की चेष्टा करूँगी; न किसी के कहने से अपने स्वामी का अहित सोचूँगी। यदि मैं आत्महत्या भी कर डालूँ, तो मेरे स्वामी या उनके कुटुम्ब पर कोई दोष न लगा सकेगा! वे गंगा-स्नान किये-से पवित्र हैं। मेरे सम्बन्ध में वे सदा ही शुद्ध और निष्पाप हैं। मेरे शरीर पर उनका आजीवन अधिकार रहेगा। वे मेरे नियम विरुद्ध आचरण पर जब चाहें राजपथ पर मेरे बालों को पकड़ कर मुझे दण्ड दे सकते हैं। मैं तो मर चुकी हूँ। मेरा शरीर पाँच सौ दिरम पर जी कर जब तक सहेगा, खटेगा। वे चाहें तो मुझे कौड़ी के मोल भी किसी दूसरे के हाथ बेच सकते हैं। समझे! सिर पर तृण रख कर मैंने स्वयं अपने को बेचने में स्वीकृति दी है। उस सत्य को कैसे तोड़ दूँ?

बलराज ने लाल होकर कहा—इरावती, यह असत्य है, सत्य नहीं। पशुओं के समान मनुष्य भी बिक सकते हैं! मैं यह सोच भी नहीं सकता। यह पाखण्ड तुर्की घोड़ों के व्यापारिक ने फैलाया है। तुम ने अनजान में जो प्रतिज्ञा कर ली है,

वह ऐसा सत्य नहीं कि पालन किया जाये। तुम नहीं जानती हो कि तुमको खोजने के लिए ही मैंने यवनों की सेवा की।

क्षमा करो बलराज, मैं तुम्हारा तर्क नहीं समझ सकी। मेरी स्वामिनी का रथ दूर चला गया होगा, तो मुझे बातें सुननी पड़ेंगी क्योंकि आज-कल मेरे स्वामी नगर से दूर स्वास्थ्य के लिए उपवन में रहते हैं। स्वामिनी देव-दर्शन के लिए आई थीं।

तब मेरा इतना परिश्रम व्यर्थ हुआ ! फीरोजा ने व्यर्थ ही आशा दी थी। मैं इतने दिनों भटकता फिरा। इरावती ! मुझ पर दया करो।

फीरोजा कौन ?—फिर सहसा रुक कर इरावती ने कहा—क्या करूँ ? यदि मैं वैसा करती, तो मुझे इस जीवन की सबसे बड़ी प्रसन्नता मिलती; किन्तु वह मेरे भाग्य में है कि नहीं, इसे भगवान ही जानते होंगे ? मुझे अब जाने दो।—बलराज इस उत्तर से खिन्न और चकराया हुआ काठ के किवाड़ की तरह इरावती के सामने से अलग होकर मन्दिर के प्राचीर से लग गया। इरावती चली गई। बलराज कुछ समय तक स्तब्ध और शून्य-सा वहीं खड़ा रहा। फिर सहसा जिस ओर इरावती गई थी, उसी ओर चल पड़ा।

युवक बलराज कई दिन तक पागलों-सा धनदत्त के उपवन से नगर तक चक्कर लगाता रहा। भूख-प्यास भूल कर वह इरावती को एक बार फिर देखने के लिए विकल था; किन्तु वह सफल न हो सका। आज उसने निश्चय किया था कि वह काशी छोड़कर चला जायगा। वह जीवन से हताश होकर काशी से प्रतिष्ठान जाने वाले पथ पर चलने लगा। उसकी पहाड़ के ढोके-सी काया, जिसमें असुर-सा बल होने का लोग अनुमान करते, निर्जीव-सी हो रही थी। अनाहार से उसका मुख विवर्ण था। यह सोच रहा था —उस दिन, विश्वनाथ के मन्दिर में न जाकर मैंने आत्महत्या क्यों न कर ली ! वह अपनी उधेड़-बुन में चल रहा था। न जाने कब तक चलता रहा। वह चौंक उठा—जब किसी के डाँटने का शब्द सुनाई पड़ा—देख कर नहीं चलता ! बलराज ने चौंक कर देखा, अश्वारोहियों की लम्बी पंक्ति, जिसमें अधिकतर अपने घोड़ों को पकड़े हुए पैदल ही चल रहे थे। वे सब तुर्क थे। घोड़ों के व्यापारी-से जान पड़ते थे। गजनी के प्रसिद्ध महमूद के आक्रमणों का अन्त हो चुका था। मसऊद सिंहासन पर था। पंजाब तो गजनी के सेनापति नियाल्तगीन के शासन में था। मध्य-प्रदेश में भी तुर्क व्यापारी अधिकतर व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। वह राह छोड़ कर हट गया। अश्वारोही ने पूछा—बनारस कितनी दूर होगा ? बलराज ने कहा—मुझे नहीं मालूम।

तुम अभी उधर से चले आ रहे हो और कहते हो, नहीं मालूम ! ठीक-ठीक बताओ, नहीं तो···।

नहीं तो क्या ? मैं तुम्हारा नौकर हूँ ।—कहकर वह आगे बढ़ने लगा। अकस्मात् पहले अश्वारोही ने कहा—पकड़ लो इसको !

कौन ! नियाल्तगीन !—सहसा बलराज चिल्ला उठा।

अच्छा, यह तुम्हीं हो बलराज ! यह तुम्हारा क्या हाल है, क्या सुल्तान की सरकार में अब तुम काम नहीं करते हो ?

नहीं, सुल्तान मसऊद का मुझ पर विश्वास नहीं है। मैं ऐसा काम नहीं करता, जिसमें सन्देह मेरी परीक्षा लेता रहे; किन्तु इधर तुम लोग क्यों ?

सुना है, बनारस एक सुंदर और धनी नगर है। और···।

और क्या ?

कुछ नहीं, देखने चला आया हूँ। काजी नहीं चाहता कि कन्नौज के पूरब भी कुछ हाथ-पाँव बढ़ाया जाय। तुम चलो न मेरे साथ। मैं तुम्हारी तलवार की कीमत जानता हूँ। बहादुर लोग इस तरह नहीं रह सकते। तुम अभी तक हिन्दू बने हो। पुरानी लकीर पीटने वाले, जगह-जगह झुकने वाले, सबसे दबते हुए, बनते हुए, कतराकर चलनेवाले हिन्दू ! क्यों ! तुम्हारे पास बहुत-सा कूड़ा-कचड़ा इकट्ठा हो गया है, उनका पुरानेपन का लोभ तुमको फेंकने नहीं देता ? मन में नयापन तथा दुनिया का उल्लास नहीं आने पाता ! इतने दिन हम लोगों के साथ रहे, फिर भी···।

बलराज सोच रहा था, इरावती का वह सूखा व्यवहार। सीधा-सीधा उत्तर ! क्रोध से वह अपना ओठ चबाने लगा। नियाल्तगीन बलराज को परख रहा था ! उसने कहा—तुम कहाँ हो ? बात क्या है ? ऐसा बुझा हुआ मन क्यों ?

बलराज ने प्रकृतिस्थ होकर कहा—कहीं तो नहीं अब मुझे छुट्टी दो, मैं जाऊँ। तुम्हारा बनारस देखने का मन है—इस पर मुझे विश्वास नहीं होता, तो भी मुझे इससे क्या ? जो चाहो करो। संसार भर में किसी पर दया करने की आवश्यकता नहीं— लूटो, काटो, मारो। जाओ, नियाल्तगीन।

नियाल्तगीन ने हँस कर कहा—पागल तो नहीं हो। इन थोड़े-से आदमियों से भला क्या हो सकता है। मैं तो एक बहाने से इधर आया हूँ। फीरोजा का बनारसी जरी के कपड़ों का···

क्या फिरोजा भी तुम्हारे साथ है ?

चलो, पड़ाव पर सब आप ही मालूम हो जायगा !—कह कर नियाल्तगीन ने संकेत किया। बलराज के मन में न-जाने कैसी प्रसन्नता उमड़ी। वह एक तुर्की घोड़े पर सवार हो गया।

दोनों ओर जवाहरात, जरी कपड़ों, बर्तन तथा सुगन्धित द्रव्यों की सजी हुई दुकानों से; देश-विदेश के व्यापारियों की भीड़ और बीच-बीच में एक घोड़े के रथों से, बनारस की पत्थर से बनी हुई चौड़ी गलियाँ अपने ढंग की निराली

दिखती थीं। प्राचीरों से घिरा हुआ नगर का प्रधान भाग त्रिलोचन से लेकर राजघाट तक विस्तृत था। तोरणों पर गांगेय देव के सैनिकों का जमाव था। कन्नौज के प्रतिहार सम्राट से काशी छीन ली गई थी। त्रिपुरी उस पर शासन करती थी। ध्यान से देखने पर यह तो प्रकट हो जाता था कि नागरिकों में अव्यवस्था थी। फिर भी ऊपरी काम-काज, क्रय-विक्रय, यात्रियों का आवागमन चल रहा था।

फीरोजा कमख्वाब देख रही थी और नियाल्तगीन मणि-मुक्तओं की ढेरी से अपने लिए अच्छे नग चुन रहा था। पास ही दोनों दूकानें थीं। बलराज बीच में खड़ा था। अन्यमनस्क फीरोजा ने कई थान छाँट लिये थे। उसने कहा—बलराज ! देखो तो, इन्हें तुम कैसा समझते हो, हैं न अच्छे ? उधर से नियाल्तगीन ने पूछा—कपड़े देख चुकी हो, तो इधर आओ। इन्हें भी देख न लो ! फीरोजा उधर जाने लगी थी कि दूकानदार ने कहा— लेना न देना, झूठ-मूठ तंग करना। कभी देखा तो नहीं। कंगालों की तरह जैसे आंखों से देख कर ही खा जायगी। फीरोजा घूम कर खड़ी हो गई। उसने पूछा— क्या बकते हो ?—जा-जा तुर्किस्तान के जंगलों में भेड़ चरा। इन कपड़ों का लेना तेरा काम नहीं।—सटी हुई दूकानों से जौहरी अभी कुछ बोलना ही चाहता था कि बलराज ने कहा—

चुप रह, नहीं तो जीभ खींच लूंगा।

ओहो ! तुर्की गुलाम का दास, तू भी...। अभी इतना ही कपड़े वाले के मूँह से निकला था कि नियाल्तगीन की तलवार उसके गले तक पहुँच गई। बाजार में हलचल मची। नियाल्तगीन के साथी इधर-उधर बिखरे ही थे। कुछ तो वहीं आ गये। औरों को समाचार मिल गया। झगड़ा बढ़ने लगा, नियाल्तगीन को कुछ लोगों ने घेर लिया था; किन्तु तुर्कों ने उसे छीन लेना चाहा। राजकीय सैनिक पहुँच गये। नियाल्तगीन को यह मालूम हो गया कि पड़ाव पर समाचार पहुँच गया है। उसने निर्भीकता से अपनी तलवर घुमाते हुए कहा—अच्छा होता कि झगड़ा यहीं तक रहता, नहीं तो हम लोग तुर्क हैं।

तुर्कों का आतंक उत्तरी भारत में फैल चुका था। क्षण भर के लिए सन्नाटा तो हुआ, परंतु वणिक के प्रतिरोध के लिए नागरिकों का रोष उबल रहा था। राजकीय सैनिकों का सहयोग मिलते ही युद्ध आरम्भ हो गया, अब और भी तुर्क आ पहुँचे थे। नियाल्तगीन हँसने लगा। उसने तुर्की में संकेत किया बनारस का राजपथ तुर्कों की तलवार से पहली बार आलोकित हो उठा।

नियाल्तगीन के साथी संघटित हो गये थे। वे केवल युद्ध और आत्मारक्षा ही नहीं कर रहे थे, बहुमूल्य पदार्थों की लूट भी करने लगे। बलराज स्तब्ध था। वह जैसे एक स्वप्न देख रहा था। अकस्मात् उसके कानों में एक परिचित स्वर सुनाई

पड़ा। उसने घूम कर देखा—जौहरी के गले पर तलवार पड़ा ही चाहती है और इरावती 'इन्हें छोड़ दो, न मारो' कहती हुई तलवार के सामने आ गई थी। बलराज ने कहा—ठहरो, नियाल्तगीन। दूसरे ही क्षण नियाल्तगीन की कलाई बलराज की मुट्ठी में थी। नियाल्तगीन ने कहा—धोखेबाज काफिर, यह क्या ?—कई तुर्क पास आ गये थे ! फीरोजा का भी मुख तमतमा गया था। बलराज ने सबल होने पर भी बड़ी दीनता से कहा—फीरोजा, यही इरावती है। फिरोजा हँसने लगी। इरावती को पकड़ कर उसने कहा—नियाल्तगीन ! बलराज को इसके साथ लेकर मैं चलती हूँ, तुम आना। और इस जौहरी से तुम्हारा नुकसान न हो, तो न मारो ! देखो, बहुत-से घुड़सवार आ रहे हैं। हम सबों का चलना ही अच्छा है।

नियाल्तगीन ने परिस्थिति एक क्षण में ही समझ ली। उसने जौहरी से पूछा—तुम्हारे घर में दूसरी ओर से बाहर जाया जा सकता है ?

हाँ !—कँपे कण्ठ से उत्तर मिला।

अच्छा चलो, तुम्हारी जान बच रही है। मैं इरावती को ले जाता हूँ।—कह कर नियाल्तगीन ने एक तुर्क के कान में कुछ कहा ! और बलराज को आगे चलने का संकेत करके इरावती और फीरोजा के पीछे धनदत्त के घर में घुसा। इधर तुर्क एकत्र होकर प्रत्यावर्तन कर रहे थे। नगर की राजकीय सेना पास आ रही थी।

चन्द्रभागा के तट पर शिविरों की एक श्रेणी थी। उसके समीप ही घने वृक्षों के झुरमुट में इरावती और फीरोजा बैठी हुई सायंकालीन गम्भीरता की छाया में एक-दूसरे का मुँह देख रही हैं। फीरोजा ने कहा—

बलराज को तुम प्यार करती हो ?

मैं नहीं जानती।—एक आकस्मिक उत्तर मिला !

और वह तो तुम्हारे ही लिए गजनी से हिन्दुस्तान चला आया।

तो क्यों आने दिया, वहीं रोक रखती।

तुमको क्या हो गया है ?

मैं—मैं नहीं रही; मैं हूँ दासी; कुछ धातु के टुकड़ों पर बिकी हुई हाड़-मांस का समूह, जिसके भीतर एक सूखा हृदय-पिण्ड है।

इरा ! वह मर जायगा—पागल हो जायेगा।

और मैं क्या हो जाऊँ, फीरोजा ?

अच्छा होता, तुम भी मर जाती !—तीखेपन से फीरोजा ने कहा।

इरावती चौंक उठी। उसने कहा—बलराज ने वह भी न होने दिया। उस दिन नियाल्तगीन की तलवार ने यही कर दिया होता; किन्तु मनुष्य बड़ा स्वार्थी है। अपने सुख की आशा में वह कितनों को दुखी बनाया करता है। अपनी साध

पूरी करने में दूसरों की आवश्यकता ठुकरा दी जाती है। तुम ठीक कह रही हो फीरोजा, मुझे...

ठहरो, इरा! तुमने मन को कड़वा बना कर मेरी बात सुनी है। उतनी ही तेजी से उसे बाहर कर देना चाहती हो।

मेरे दुखी होने पर जो मेरे साथ रोने आता है, उसे मैं अपना मित्र नहीं जान सकती, फीरोजा। मैं तो देखूँगी कि वह मेरे दुःख को कितना कम कर सका है। मुझे दुःख सहने के लिए जो छोड़ जाता है, केवल अपने अभिमान और आकांक्षा की तुष्टि के लिए। मेरे दुःख में हाथ बटाने का जिसका साहस नहीं, जो मेरी परिस्थिति में साथी नहीं बन सकता, जो पहले अमीर बनना चाहता है, फिर अपने प्रेम का दान करना चाहता है, वह मुझसे हृदय माँगे, इससे बढ़ कर धृष्टता और क्या होगी?

मैं तुम्हारी बहुत-सी बातें समझ नहीं सकी, लेकिन मैं इतना तो कहूँगी कि दुःखों ने तुम्हारे जीवन की कोमलता छीन ली है।

फीरोजा...मैं तुमसे बहस नहीं करना चाहती। तुमने मेरा प्राण बचाया है सही, किन्तु हृदय नहीं बचा सकती। उसे अपनी खोज-खबर आप ही लेनी पड़ेगी तुम चाहे जो मुझे कह लो। मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य दूसरों की दृष्टि में कभी पूर्ण नहीं हो सकता! पर उसे अपनी आँखों से तो नहीं ही गिरना चाहिए।

फीरोजा ने सन्देह से पीछे की ओर देखा। बलराज वृक्ष की आड़ से निकल आया। उसने कहा—फीरोजा, मैं जब गजनी के किनारे मरना चाहता था, तो क्या भूल कर रहा था? अच्छा, जाता हूँ।

इरावती सोच रही थी, अब भी कुछ बोलूँ—

फीरोजा सोच रहीं थी, दोनों को मरने से बचा कर क्या सचमुच मैंने कोई बुरा काम किया?

बलराज की ओर किसी ने न देखा। वह चला गया।

रावी के किनारे एक सुन्दर महल में अहमद नियाल्तगीन पंजाब के सेनानी का आवास है उस महल के चारों ओर वृक्षों की दूर तक फैली हुई हरियाली है, जिसमें शिविरों की श्रेणी में तुर्क सैनिकों का निवास है।

वसन्त की चाँदनी रात अपनी मतवाली उज्ज्वलता में महल के मीनारों और गुम्बदों तथा वृक्षों की छाया में लड़खड़ा रही है, अब जैसे सोना चाहती हो। चन्द्रमा पश्चिम में धीरे-धीरे झुक रहा था। रावी की ओर एक संगमर्मर की दालान में खाली सेज बिछी थी। जरी के परदे ऊपर की ओर बँधे थे। दालान की सीढ़ी पर बैठी हुई इरावती रावी का प्रवाह देखते-देखते सोने लगी थी—उस महल की जैसे सजावट गुलाबी पत्थर की अचल प्रतिमा हो।

शयन-कक्ष की सेवा का भार आज उसी पर था। वह अहमद के आगमन की

प्रतीक्षा करते-करते सो गई थी। अहमद इन दिनों गजनी से मिले हुए समाचार के कारण अधिक व्यस्त था। सुल्तान के रोष का समाचार उसे मिल चुका था। वह फीरोजा से छिपा कर, अपने अन्तरंग साथियों से, जिन पर उसे विश्वास था, निस्तब्ध रात्रि में मंत्रणा किया करता। पंजाब स्वतंत्र शासक बनने की अभिलाषा उसके मन में जग गई थी, फीरोजा ने उसे मना किया था, किन्तु एक साधारण तुर्क दासी के विचार राजकीय कामों में कितने मूल्य के हैं, इसे वह अपनी महत्त्वाकांक्षा की दृष्टि से परखता था। फीरोजा कुछ तो रूठी थी और कुछ उसकी तबियत भी अच्छी न थी। वह बन्द कमरे में जाकर सो रही। अनेक दासियों के रहते भी आज इरावती को ही वहाँ ठहरने के लिए उसने कह दिया था। अहमद सीढ़ियों से चढ़कर दालान के पास आया। उसने देखा एक वेदना-विमण्डित सुप्त सौन्दर्य ! वह और भी समीप आया। गुम्बद के बगल चन्द्रमा की किरणें ठीक इरावती के मुख पर पड़ रही थीं। अहमद ने वारुणीविलसित नेत्रों से देखा, उस रूपमाधुरी को, जिसमें स्वाभाविकता थी, बनावट नहीं। तरावट थी, प्रमाद की गर्मी नहीं। एक वार सशंक दृष्टि से उसने चारों ओर देखा, फिर इरावती का हाथ पकड़ कर हिलाया। वह चौंक उठी। उसने देखा—सामने अहमद ! इरावती खड़ी होकर अपने वस्त्र सँभालने लगी। अहमद ने संकोच-भरी ढिठाई से कहा—

तुम यहाँ क्यों सो रही हो, इरा ?

थक गयी थी। कहिए, क्या लाऊँ ?

थोड़ी शीराजी —कहते हुए वह पलँग पर जाकर बैठ गया और इरावती का स्फटिक-पात्र में शीराजी उँड़ेलना देखने लगा। इरा ने जब पात्र भर कर अहमद को दिया, तो अहमद ने सतृष्ण नेत्रों से उसकी ओर देख कर पूछा—फीरोजा कहाँ है ?

सिर में दर्द है, भीतर सो रही है।

अहमद की आँखों में पशुता नाच उठी। शरीर में एक सनसनी का अनुभव करते हुए उसने इरावती का हाथ पकड़ कर कहा—बैठो न, इरा ! तुम थक गई हो।

आप शर्बत लीजिये। मैं जाकर फीरोजा को जगा दूँ।

फीरोजा ! फीरोजा के हाथ मैं बिक गया हूँ क्या, इरावती ! तुम—आह !

इरावती हाथ छुड़ाकर हटनेवाली ही थी कि सामने फीरोजा खड़ी थी ! उसकी आँखों में तीव्र ज्वाला थी। उसने कहा—मैं बिकी हूँ, अहमद ! तुम भला मेरे हाथ क्यों बिकने लगे ? लेकिन तुमको मालूम है कि तुमने अभी राजतिलक को मेरा दाम नहीं चुकाया; इसलिए मैं जाती हूँ।

अहमद हत-बुद्धि ! निष्प्रभ ! और फीरोजा चली। इरावती ने गिड़गिड़ा कर कहा—बहन, मुझे भी न लेती चलोगी...?

फीरोजा ने घूमकर एक बार स्थिर दृष्टि से इरावती की ओर देखा और कहा— तो फिर चलो।

दोनों हाथ पकड़े सीढ़ी से उतर गईं।

बहुत दिनों तक विदेश में इधर-उधर भटकने पर बलराज जब से लौट आया है, तब से चन्द्रभागा-तट के जाटों में एक नयी लहर आ गई है। बलराज ने अपने सजातीय लोगों को पराधीनता से मुक्त होने का संदेश सुनाकर उन्हें सुल्तान-सरकार का अबाध्य बना दिया है। उद्दंड जाटों को अपने वश में रखना, उन पर सदा फौजी शासन करना, सुल्तान के कर्मचारियों के लिए भी बड़ा कठिन हो रहा था।

इधर फीरोजा के जाते ही अहमद अपनी कोमल वृत्तियों को भी खो बैठा। एक ओर उसके पास मसऊद के रोष के समाचार आते थे, दूसरी ओर वह जाटों की हलचल से खजाना भी नहीं भेज सकता था। वह झुँझला गया। दिखावे में तो अहमद ने जाटों को एक बार ही नष्ट करने का निश्चय कर लिया, और अपनी दृढ़ सेना के साथ वह जाटों को घेरे में डालते हुए बढ़ने लगा; किन्तु उसके हृदय में एक दूसरी ही बात थी। उसे मालूम हो गया था कि गजनी की सेना तिलक के साथ आ रही है; उसकी कल्पना का साम्राज्य छिन्न-भिन्न कर देने के लिए! उसने अन्तिम प्रयत्न करने का निश्चय किया। अंतरंग साथियों की सम्मति हुई कि यदि विद्रोही जाटों को इस समय मिला लिया जाय, तो गजनी से पंजाब आज ही अलग हो सकता है। इस चढ़ाई में दोनों मतलब थे।

घने जंगल का आरम्भ था। वृक्षों के हरे अँचल की छाया में थकी हुई दो युवतियाँ उनकी जड़ों पर सिर धरे हुए लेटी थीं। पथरीले टीलों पर पड़ती हुई घोड़ों की टापों के शब्द ने उन्हें चौंका दिया। वे अभी उठ कर बैठ भी नहीं पाई थीं कि उनके सामने अश्वारोहियों का एक झुण्ड आ गया। भयानक भालों की नोक सीधे किये हुए स्वास्थ्य के तरुण तेज से उदीप्त जाट-युवकों का वह वीर दल था। स्त्रियों को देखते ही उनके सरदार ने कहा—माँ, तुम लोग कहाँ जाओगी?

अब फीरोज़ा और इरावती सामने खड़ी हो गयीं। सरदार ने घोड़े पर से उतरते हुए पूछा—फीरोजा, यह तुम हो बहन!

हाँ भाई, बलराज! मैं हूँ—और यह है इरावती! पूरी बात जैसे न सुनते हुए बलराज ने कहा—फीरोजा, अहमद से युद्ध होगा। इस जंगल को पार कर लेने पर तुर्क सेना जाटों का नाश कर देगी, इसलिए यहीं उन्हें रोकना होगा। तुम लोग इस समय कहाँ जाओगी?

जहाँ कहो, बलराज। अहमद की छाया से तो मुझे भी बचना है। फीरोजा ने अधीर होकर कहा।

डरो मत फीरोजा, यह हिन्दुस्तान है, और यह हम हिन्दुओं का धर्म-युद्ध है।

गुलाम बनने का भय नहीं।—बलराज अभी यह कह ही रहा था कि वह चौंककर पीछे देखता हुआ बोल उठा—अच्छा, वे लोग आ ही गये। समय नहीं है। बलराज दूसरे ही क्षण में अपने घोड़े की पीठ पर था। अहमद की सेना सामने आ गई। बलराज को देखते ही उसने चिल्ला कर कहा—बलराज ! यह तुम्हीं हो।

हाँ, अहमद।

तो हम लोग दोस्त भी बन सकते हैं। अभी समय है—कहते-कहते सहसा उसकी दृष्टि फीरोजा और इरावती पर पड़ी। उसने समस्त व्यवस्था भूलकर, तुरन्त ललकारा—पकड़ लो इन औरतों को ?—उसी समय बलराज का भला हिल उठा। युद्ध का आरम्भ था।

जाटों की विजय के साथ युद्ध का अन्त होने ही वाला था कि एक नया परिवर्तन हुआ। दूसरी ओर से तुर्क-सेना जाटों की पीठ पर थी। घायल बलराज का भीषण भाला अहमद की छाती में पार हो रहा था। निराश जाटों की रण-प्रतिज्ञा अपनी पूर्ति करा रही थी। मरते हुए अहमद ने देखा कि गजनी की सेना के साथ तिलक सामने खड़े थे। सबके अस्त्र तो रुक गये, परन्तु अहमद के प्राण न रुके। फीरोजा उसके शव पर झुकी हुई रो रही थी। और इरावती मूर्च्छित हो रहे बलराज का सिर अपनी गोद में लिये थी। तिलक ने विस्मित होकर यह दृश्य देखा।

बलराज ने जल का संकेत किया। इरावती के हाथों में तिलक ने जल का पात्र दिया। जल पीते ही बलराज ने आँखें खोलकर कहा—इरावती, अब मैं न मरूँगा ?

तिलक ने आश्चर्य से पूछा—इरावती ?

फीरोजा ने रोते हुए कहा—हाँ राजा साहब, इरावती।

मेरी दुखिया इरावती ? मुझे क्षमा कर, मैं तुझे भूल गया था। तिलक ने विनीत शब्दों में कहा।

भाई !—इरावती आगे कुछ न कह सकी, उसका गल भर आया था। उसने तिलक के पैर पकड़ लिये।

बलराज जाटों का सरदार है, इरावती रानी। चनाब का वह प्रान्त इरावती की करुणा से हार-भरा हो रहा है; किन्तु फीरोजा की प्रसन्नता की वहीं समाधि बन गई—और वहीं वह झाड़ू देती, फूल चढ़ाती और दीप जलाती रही। उस समाधि की वह आजीवन दासी बनी रही।

□□

घीसू

सन्ध्या की कालिमा और निर्जनता में किसी कुएँ पर नगर के बाहर बड़ी प्यारी स्वर-लहरी गूँजने लगती। घीसू को गाने का चसका था, परन्तु जब कोई न सुने। वह अपनी बूटी अपने लिए घोंटता और आप ही पीता !

जब उसकी रसीली तान दो-चार को पास बुला लेती, वह चुप हो जाता। अपनी बटुई में सब सामान बटोरने लगता और चल देता। कोई नया कुआँ खोजता, कुछ दिन वहाँ अड्डा जमता।

सब करने पर भी वह नौ बजे नन्दू बाबू के कमरे में पहुँच ही जाता। नन्दू बाबू का भी वही समय था, बीन लेकर बैठने का। घीसू को देखते ही वह कह देते—आ गये, घीसू !

हाँ बाबू, गहरेबाजों ने बड़ी धूल उड़ाई—साफे का लोच आते-आते बिगड़ गया ! कहते-कहते वह प्राय: अपने जयपुरी गमछे को बड़ी मीठी आँखों से देखता और नन्द बाबू उसके कन्धे तक बाल, छोटी-छोटी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी गुलाबी आँखों को स्नेह से देखते। घीसू उनका नित्य दर्शन करनेवाला, उनकी बीन सुननेवाला भक्त था। नन्दू बाबू उसे अपने डिब्बे से दो खिल्ली पान की देते हुए कहते—लो, इसे जमा लो ! क्यों, तुम तो इसे जमा लेना ही कहते हो न ?

वह विनम्र भाव से पान लेते हुए हँस देता—उसके स्वच्छ मोती-से दाँत हँसने लगते।

घीसू की अवस्था पच्चीस की होगी। उसकी बूढ़ी माता को मरे भी तीन वर्ष हो गये थे।

नन्दू बाबू की बीन सुनकर वह बाजार से कचौड़ी और दूध लेता, घर जाता, अपनी कोठरी में गुनगुनाता हुआ सो रहता।

उसकी पूंजी भी एक सौ रुपये। वह रेजगी और पैसे की थैली लेकर दशाश्वमेध पर बैठता, एक पैसा रुपया बट्टा लिया करता और उसके बारह-चौदह आने की बचत हो जाती थी।

गोविन्दराम जब बूटी बनाकर उसे बुलाते, वह अस्वीकार करता। गोविन्दराम कहते—बड़ा कंजूस है। सोचता है, पिलाना पड़ेगा, इसी डर से नहीं पीता।

घीसू कहता—नहीं भाई, मैं सन्ध्या को केवल एक बार ही पीता हूँ।

गोविन्दराम के घाट पर बिन्दो नहाने आती, दस बजे। उसकी उजली धोती में गोराई फूटी पड़ती। कभी रेजगी पैसे लेने के लिए वह घीसू के सामने आकर खड़ी हो जाती, उस दिन घीसू को असीम आनन्द होता। वह कहती—देखो, घिसे पैसे न देना।

वाह बिन्दो ! घिसे पैसे तुम्हारे ही लिए हैं ? क्यों ?

तुम तो घीसू ही हो, फिर तुम्हारे पैसे क्यों न घिसे होंगे ? —कहकर जब वह मुस्करा देती; तो घीसू कहता —बिन्दो ! इस दुनियाँ में मुझसे अधिक कोई न घिसा; इसीलिए तो मेरे माता-पिता ने घीसू नाम रक्खा था।

बिन्दो की हँसी आँखों में लौट जाती। वह एक दबी हुई साँस लेकर दशाश्वमेध के तरकारी-बाजार में चली जाती।

बिन्दो नित्य रुपया नहीं तुड़ाती; इसीलिए घीसू को इसकी बातों के सुनने का आनन्द भी किसी-किसी दिन न मिलता। तो भी वह एक नशा था, जिससे कई दिनों के लिए भरपूर तृप्ति हो जाती, वह मूक मानसिक विनोद था।

घीसू नगर के बाहर गोधूलि की हरी-भरी क्षितिज-रेखा में उसके सौन्दर्य से रंग भरता, गाता, गुनगुनाता और आनन्द लेता। घीसू की जीवन-यात्रा का वही सम्बल था, वही पाथेय था।

सन्ध्या की शून्यता, बूटी की गमक, तानों की रसीली गुन्नाहट और नन्दू बाबू की बीन, सब बिन्दो की आराधना की सामग्री थी। घीसू कल्पना के सुख से सुखी होकर सो रहता।

उसने कभी विचार भी न किया था कि बिन्दो कौन है ? किसी तरह से उसे इतना तो विश्वास हो गया था कि वह एक विधवा है; परन्तु इससे अधिक जानने की उसे जैसे आवश्यकता नहीं।

रात के आठ बजे थे, घीसू बाहरी ओर से लौट रहा था। सावन के मेघ घिरे थे, फूही पड़ रही थी। घीसू गा रहा था—"**निसि दिन बरसत नैन हमारे**"।

सड़क पर कीचड़ की कमी न थी। वह धीरे-धीरे चल रहा था, गाता जाता था। सहसा वह रुका ! एक जगह सड़क में पानी इकट्ठा था। छींटों से बचने के लिए वह ठिठक कर—किधर से चलें—सोचने लगा। पास के बगीचे के कमरे से उसे सुनाई पड़ा—यही तुम्हारा दर्शन है—यहाँ इस मुँहजली को लेकर पड़े हो। मुझसे...।

दूसरी ओर से कहा गया—तो इसमें क्या हुआ ! क्या तुम मेरी ब्याही हुई हो, जो मैं तुम्हें इसका जबाब देता फिरूँ ?—इस शब्द में भर्राहट थी, शराबी की बोली थी।

घीसू ने सुना, बिन्दो कह रही थी—मैं कुछ नहीं हूँ लेकिन तुम्हारे साथ मैंने धर्म बिगाड़ा है सो इसीलिए नहीं कि तुम मुझे फटकारते फिरो। मैं इसका गला घोंट दूँगी और—तुम्हारा भी...बदमाश...।

ओहो ! मैं बदमाश हूँ ! मेरा ही खाती है और मुझसे ही...ठहर तो, देखूँ किसके साथ तू यहाँ आई है, जिसके भरोसे इतना बढ़-बढ़कर बातें कर रही है ! पाजी...लुच्ची...भाग, नहीं तो छुरा भोंक दूँगा !

छुरा भोंकेगा ! मार डाल हत्यारे ! मैं आज अपनी और तेरी जान दूँगी और लूँगी—तुझे भी फ़ाँसी पर चढ़वा कर छोड़ूँगी !

एक चिल्लाहट और धक्कम-धक्का का शब्द हुआ। घीसू से अब न रहा गया, उसने बगल में दरवाजे पर धक्का दिया, खुला हुआ था, भीतर घूम-फिरकर पलक मारते-मारते घीसू कमरे में जा पहुँचा। बिन्दो गिरी हुई थी और एक अधेड़ मनुष्य उसका जूड़ा पकड़े था। घीसू की गुलाबी आँखों से खून बरस रहा था । उसने कहा—हैं ! यह औरत है...इसे...

मारनेवाले ने कहा—तभी तो, इसी के साथ यहां तक आई हो ! लो, यह तुम्हारा यार आ गया।

बिन्दो ने घूमकर देखा—घीसू ! वह रो पड़ी।

अधेड़ ने कहा—ले, चली जा, मौज कर ! आज से मुझे अपना मुँह मत दिखाना !

घीसू ने कहा—भाई, तुम विचित्र मनुष्य हो। लो, चला जाता हूँ। मैंने तो छुरा भोंकने इत्यादि और चिल्लाने का शब्द सुना, इधर चला आया। मुझसे तुम्हारे झगड़े से क्या सम्बन्ध !

मैं कहाँ ले जाऊँगा भाई ! तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। लो, मैं जाता हूँ कहकर घीसू जाने लगा।

बिन्दो ने कहा—ठहरो !

घीसू रुक गया।

बिन्दो ने फिर कहा—तो जाती हूँ,—अब इसी के संग...।

हाँ-हाँ, वह भी क्या पूछने की बात है !

बिन्दो चली, घीसू भी पीछे-पीछे बगीचे के बाहर निकल आया। सड़क सुनसान थी। दोनों चुपचाप चले। गोदौलिया चौमुहानी पर आकर घीसू ने पूछा—अब तो तुम अपने घर चली जाओगी !

कहाँ जाऊँगी ! अब तुम्हारे घर चलूँगी।

घीसू बड़े असमंजस में पड़ा। उसने कहा— मेरे घर कहाँ ? नन्दू बाबू की एक कोठरी है, वहीं पड़ा रहता हूँ, तुम्हारे वहाँ रहने की जगह कहाँ !

बिन्दो ने रो दिया। चादर के छोर से आँसू पोंछती हुई, उसने कहा—तो फिर तुमको इस समय वहाँ पहुँचने की क्या पड़ी थी। मैं जैसा होता, भुगत लेती ! तुमने वहाँ पहुँच कर मेरा सब चौपट कर दिया—मैं कहीं की न रही !

सड़क पर बिजली के उजाले में रोती हुई बिन्दो से बात करने में घीसू का दम घुटने लगा। उसने कहा—तो चलो।

दूसरे दिन, दोपहर को थैली गोविन्दराम के घाट पर रख कर घीसू चुपचाप

बैठा रहा। गोविन्दराम की बूटी बन रही थी। उन्होंने कहा—घीसू, आज बूटी लोगे ?

घीसू कुछ न बोला।

गोविन्दराम ने उसका उतरा हुआ मुँह देखकर कहा—क्या कहें घीसू ! आज तुम उदास क्यों हो ?

क्या कहूँ भाई ! कहीं रहने की जगह खोज रहा हूँ—कोई छोटी-सी कोठरी मिल जाती, जिसमें सामान रखकर ताला लगा दिया करता।

गोविन्दराम ने पूछा—जहाँ रहते थे ?

वहाँ अब जगह नहीं है।

इसी मढ़ी में क्यों नहीं रहते ! ताला लगा दिया करो, मैं तो चौबीस घन्टे रहता नहीं।

घीसू की आँखों में कृतज्ञता के आँसू भर आये।

गोविन्द ने कहा—तो उठो, आज तो बूटी छान लो।

घीसू पैसे की दूकान लगाकर अब भी बैठता है और बिन्दो नित्य गंगा नहाने आती है। वह घीसू की दूकान पर खड़ी होती है, उसे वह चार आने पैसे देता है। अब दोनों हँसते नहीं, मुस्कराते नहीं।

घीसू का बाहरी ओर जाना छूट गया है। गोविन्दराम की डोंगी पर उस पार हो आता है, लौटते हुए बीच गंगा में से उसकी लहरीली तान सुनाई पड़ती है; किंतु घाट पर आते-आते चुप।

बिन्दो नित्य पैसा लेने आती। न तो कुछ बोलती और न घीसू कुछ कहता। घीसू की बड़ी-बड़ी आँखों के चारों ओर हलके गढ़े पड़ गये थे, बिन्दो उसे स्थिर दृष्टि से देखती और चली जाती। दिन-पर-दिन वह यह भी देखती कि पैसों की ढेरी कम होती जाती है। घीसू का शरीर भी गिरता जा रहा है। फिर भी एक शब्द नहीं, एक बार पूछने का काम नहीं।

गोविन्दराम ने एक दिन पूछा—घीसू, तुम्हारी तान इधर सुनाई नहीं पड़ी।

उसने कहा— तबीयत अच्छी नहीं है।

गोविन्द ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—क्या तुम्हें ज्वर आता है ?

नहीं तो, यों ही आजकल भोजन बनाने में आलस करता हूँ, अण्ड-बण्ड खा लेता हूँ।

गोविन्दराम ने पूछा—बूटी छोड़ दिया, इसी से तुम्हारी यह दशा है।

उस समय घीसू सोच रहा था—नन्दू बाबू की बीन सुने बहुत दिन हुए, वे क्या सोचते होंगे !

गोविन्दराम के चले जाने पर घीसू अपनी कोठरी में लेट रहा। उसे सचमुच ज्वर आ गया।

भीषण ज्वर था, रात-भर वह छटपटाता रहा। बिन्दो समय पर आई, मढ़ी के चबूतरे पर उस दिन घीसू की दूकान न थी। वह खड़ी रही। फिर सहसा उसने दरवाजा धकेल कर भीतर देखा—घीसू छटपटा रहा था! उसने जल पिलाया।

घीसू ने कहा—बिन्दो। क्षमा करना; मैंने तुम्हें बड़ा दुःख दिया। अब मैं चला। लो, यह बचा हुआ पैसा! तुम जानो भगवान्''कहते-कहते उसकी आँखें टँग गईं। बिन्दो की आँखों से आँसू बहने लगे। वह गोविन्दराम को बुला लाई।

बिन्दो अब भी बची हुई पूंजी से पैसे की दूकान करती है। उसका यौवन, रूप-रंग कुछ नहीं रहा। बच रहा—थोड़ा-सा पैसा और बड़ा-सा पेट—और पहाड़-से आनेवाले दिन!

□□

बेड़ी

"बाबूजी, एक पैसा!"

मैं सुनकर चौंक पड़ा, कितनी कारुणिक आवाज थी। देखा तो एक 9-10 बरस का लड़का अंधे की लाठी पकड़े खड़ा था। मैंने कहा—सूरदास, यह तुमको कहाँ से मिल गया?

अन्धे को अन्धा न कह कर सूरदास के नाम से पुकारने की चाल मुझे भली लगी। इस सम्बोधन में उस दीन के अभाव की ओर सहानुभूति और सम्मान की भावना थी, व्यंग न था।

उसने कहा—बाबूजी, यह मेरा लड़का है—मुझ अन्धे की लकड़ी है। इसके रहने से पेट भर खाने को माँग सकता हूँ और दबने-कुचलने से भी बच जाता हूँ।

मैंने उसे इकन्नी दी, बालक ने उत्साह से कहा—अहा इकन्नी! बुड्ढे ने कहा—दाता, जुग-जुग जियो!

मैं आगे बढ़ा और सोचता जाता था, इतने कष्ट से जो जीवन बिता रहा है, उसके विचार में भी जीवन ही सबसे अमूल्य वस्तु है, हे भगवान्!

दीनानाथ करी क्यों देरी? दशाश्वमेध की ओर जाते हुए मेरे कानों में एक प्रौढ़ स्वर सुनाई पड़ा। उसमें सच्ची विनय थी—वही जो तुलसीदास की विनय-पत्रिका में ओत-प्रोत है। वही आकुलता, सान्निध्य की पुकार, प्रबल प्रहार से

व्यथित की कराह ! मोटर की दम्भ भरी भीषण भों-भों में विलीन होकर भी वायुमण्डल में तिरने लगी। मैं अवाक् होकर देखने लगा, वही बुड्ढा ! किन्तु आज अकेला था। मैंने उसे कुछ देते हुए पूछा—क्यों जी, आज वह तुम्हारा लड़का कहाँ है ?

बाबूजी, भीख में से कुछ पैसा चुरा कर रखता था, वही लेकर भाग गया, न जाने कहाँ गया !—उन फूटी आँखों से पानी बहने लगा। मैंने पूछा—उसका पता नहीं लगा ? कितने दिन हुए ?

लोग कहते हैं कि वह कलकत्ता भाग गया !—उस नटखट लड़के पर क्रोध से भरा हुआ मैं घाट की ओर बढ़ा, वहाँ एक व्यास जी श्रवण-चरित की कथा कह रहे थे। मैं सुनते-सुनते उस बालक पर अधिक उत्तेजित हो उठा। देखा तो पानी की कल का धुआँ पूर्व के आकाश में अजगर की तरह फैल रहा था।

कई महीने बीतने पर चौक में वही बुड्ढा दिखाई पड़ा, उसकी लाठी पकड़े वही लड़का अकड़ा हुआ खड़ा था। मैंने क्रोध से पूछा—क्यों बे, तू अन्धे पिता को छोड़कर कहाँ भागा था ? वह मुस्कराते हुए बोला—बाबू जी, नौकरी खोजने गया था। मेरा क्रोध उसकी कर्तव्य-बुद्धि से शान्त हुआ। मैंने उसे कुछ देते हुए कहा—लड़के, तेरी यही नौकरी है, तू अपने बाप को छोड़कर न भागा कर।

बुड्ढा बोल उठा—बाबूजी, अब यह नहीं भाग सकेगा, इसके पैरों में बेड़ी डाल दी गई है। मैंने घृणा और आश्चर्य से देखा, सचमुच उसके पैरों में बेड़ी थी। बालक बहुत धीरे-धीरे चलता था। मैंने मन-ही-मन कहा—हे भगवान्, भीख मँगवाने के लिए, बाप अपने बेटे के पैर में बेड़ी भी डाल सकता है और वह नटखट फिर भी मुस्कराता था। संसार, तेरी जय हो !

मैं आगे बढ़ गया।

मैं एक सज्जन की प्रतीक्षा में खड़ा था, आज नाव पर घूमने का उनसे निश्चय हो चुका था। गाड़ी, मोटर, ताँगे टकराते-टकराते भागे जा रहे थे, सब जैसे व्याकुल। मैं दार्शनिक की तरह उनकी चंचलता की आलोचना कर रहा था ! सिरस के वृक्ष की आड़ में फिर वही कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा। बुड्ढे ने कहा—बेटा, तीन दिन और न ले पैसा, मैंने रामदास से कहा है सात आने में तेरा कुरता बन जायगा, अब ठंड पड़ने लगी है। उसने ठुनकते हुए कहा—नहीं, आज मुझे दो, पैसा दो, मैं कचालू खाऊँगा, वह देखो उस पटरी पर बिक रहा है। बालक के मुँह और आँख में पानी भरा था। दुर्भाग्य से बुड्ढा उसे पैसा नहीं दे सकता था। वह न देने के लिए हठ करता ही रहा; परन्तु बालक की ही विजय हुई। वह पैसा लेकर सड़क की उस पटरी पर चला। उसके बेड़ी से जकड़े हुए पैंतरा काट कर चल रहे थे। जैसे युद्ध-विजय के लिए।

नवीन बाबू चालिस मील की स्पीड से मोटर अपने हाथ से दौड़ा रहे थे।

दर्शकों की चीत्कार से बालक गिर पड़ा, भीड़ दौड़ी। मोटर निकल गई और यह बुड्ढा विकल हो रोने लगा—अन्धा किधर जाय !

एक ने कहा—चोट अधिक नहीं।

दूसरे ने कहा—हत्यारे ने बेड़ी पहना दी है, नहीं तो क्यों चोट खाता।

बुड्ढे ने कहा—काट दो बेड़ी बाबा, मुझे न चाहिए।

और मैंने हतबुद्धि होकर देखा कि बालक के प्राण-पखेरू अपनी बेड़ी काट चुके थे।

□□

व्रत-भंग

तो तुम न मानोगे ?

नहीं, अब हम लोगों के बीच इतनी बड़ी खाईं हैं, जो कदापि नहीं पट सकती !

इतने दिनों का स्नेह ?

उँह ! कुछ भी नहीं। उस दिन की बात आजीवन भुलाई नहीं जा सकती; नन्दन ! अब मेरे लिए तुम्हारा और तुम्हारे लिए मेरा कोई अस्तित्व नहीं। वह अतीत के स्मरण, स्वप्न हैं, समझे ?

यदि न्याय नहीं कर सकते, तो दया करो, मित्र ! हम लोग गुरुकुल में...

हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ, तुम मुझे दरिद्र युवक समझ कर मेरे ऊपर कृपा रखते थे, किन्तु उसमें कितना तीक्ष्ण अपमान था, उसका मुझे अब अनुभव हुआ।

उस ब्रह्म-वेला में जब उषा का अरुण आलोक भागीरथी की लहरों के साथ तरल होता रहता, हम लोग कितने अनुराग से करने जाते थे। सच कहना, क्या वैसी मधुरमा हम लोगों के स्वच्छ हृदयों में न थी ?

रही होगी—पर अब, उस मर्मघाती अपमान के बाद ! मैं खड़ा रह गया, तुम स्वर्ण-रथ पर चढ़कर चले गये; एक बार भी नहीं पूछा। तुम कदाचित् जानते होगे नन्दन कि कंगाल के मन में प्रलोभनों के प्रति कितना विद्वेष है ? क्योंकि वह उससे सदैव छल करता है—ठुकराता है। मैं अपनी उस बात को दुहराता हूँ कि हम लोगों का अब उस रूप में कोई अस्तित्व नहीं।

वही सही कपिञ्जल ! हम लोगों का पूर्व अस्तित्व कुछ नहीं, तो क्या हम

लोग वैसे ही निर्मल होकर एक नवीन मैत्री के लिए हाथ नहीं बढ़ा सकते ? मैं आज प्रार्थी हूँ।

मैं उस प्रार्थना की उपेक्षा करता हूँ। तुम्हारे पास ऐश्वर्य का दर्प है; तो अकिञ्चनता उससे कहीं अधिक गर्व रखती है।

तुम बहुत कटु हो गये हो इस समय। अच्छा, फिर कभी···

न अभी, न फिर कभी। मैं दरिद्रता को भी दिखला दूँगा कि मैं क्या हूँ। इस पाखण्ड-संसार में भूखा रहूँगा, परन्तु किसी के सामने सिर न झुकाऊँगा। हो सकेगा तो संसार को बाध्य करूँगा झुकने के लिए।

कपिञ्जल चला गया। नन्दन हतबुद्धि होकर लौट आया। उस रात को उसे नींद न आई।

उक्त घटना को बरसों बीत गये। पाटलीपुत्र के धनकुबेर कलश का कुमार नन्दन धीरे-धीरे उस घटना को भूल चला। ऐश्वर्य का मदिरा-विलास किसे स्थिर रहने देता है! उसने यौवन के संसार में बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर पदार्पण किया था। नन्दन तब भी मित्र से वञ्चित होकर जीवन को अधिक चतुर न बना सका।

राधा, तू भी कैसी पगली है? तूने कलश की पुत्र-वधू बनने का निश्चय किया है, आश्चर्य!

हाँ महादेवी, जब गुरुजनों की आज्ञा है; तब उसे तो मानना ही पड़ेगा। मैं रोक सकती हूँ। मूर्ख नन्दन! कितना असंगत चुनाव है! राधा, मुझे दया आती है।

किसी अन्य प्रकार से गुरुजनों की इच्छा को टाल देना यह मेरी धारणा के प्रतिकूल है, महादेवी! नन्दन की मूर्खता सरलता का सत्यरूप है। मुझे वह अरुचि-कर नहीं। मैं उस निर्मल-हृदय की देख-रेख कर सकूँ, तो यह मेरे मनोरंजन का ही विषय होगा।

मगध की महादेवी ने हँसी से कुमारी के इस साहस का अभिनन्दन करते हुए कहा। तेरी जैसी इच्छा, तू स्वयं भोगेगी।

माधवी-कुंज से वह विरक्त होकर उठ गईं। उन्हें राधा पर कन्या के समान ही स्नेह था।

दिन स्थिर हो चुका था। स्वयं मगध-नरेश की उपस्थिति में महाश्रेष्ठि धनञ्जय की कन्या का ब्याह कलश के पुत्र से हो गया, अद्भुत वह समारोह था। रत्नों के आभूषण तथा स्वर्ण-पात्रों के अतिरिक्त मगध-सम्राट् ने राधा की प्रिय वस्तु अमूल्य-मणि-निर्मित दीपाधार भी दहेज में दे दिया। उस उत्सव की बड़ाई, पान-भोजन आमोद का विभवशाली चारु चयन कुसुमपुर के नागरिकों को बहुत दिन तक गल्प करने का एक प्रधान उपकरण था।

राधा कलश की पुत्र-वधू हुई।

राधा के नवीन उपवन के सौध-मन्दिर में अगरु, कस्तूरी और केशर की चहल-पहल, पुष्प-मालाओं का दोनों सन्ध्या में नवीन आयोजन और दीपावली में वीणा, वंशी और मृदंग की स्निग्ध गम्भीर ध्वनि बिखरती रहती। नन्दन अपने सुकोमल आसन पर लेटा हुआ राधा का अनिन्द्य सौन्दर्य एकटक चुपचाप देखा करता। उस सुसज्जित कोष्ठ में मणि-निर्मित दीपाधार की यन्त्र-मयी नर्तकी अपने नूपुरों की झंकार से नन्दन और राधा के लिए एक क्रीड़ा और कुतूहल का सृजन करती रहती। नन्दन कभी राधा के खिसकते हुए उत्तरीय को सँभाल देता। राधा हँसकर कहती—

बड़ा कष्ट हुआ।

नन्दन कहता—देखो, तुम अपने प्रसाधन ही में पसीने-पसीने हो जाती हो, तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है।

राधा गर्व से मुस्करा देती। कितना सुहाग था उसका अपने सरल पति पर और कितना अभिमान था अपने विश्वास पर! एक सुखमय स्वप्न चल रहा था।

कलश—धन का उपासक सेठ अपनी विभूति के लिए सदैव सशंक रहता। उसे राजकीय संरक्षण तो था ही, दैवी रक्षा से भी अपने को सम्पन्न रखना चाहता था। इस कारण उसे एक नंगे साधु पर अत्यन्त भक्ति थी, जो कुछ ही दिनों से उस नगर के उपकण्ठ में आकर रहने लगा था।

उसने एक दिन कहा—सब लोग दर्शन करने चलेंगे।

उपहार के थाल प्रस्तुत होने लगे। दिव्य रथों पर बैठ कर सब साधु-दर्शन के लिये चले। वह भागीरथी-तट का एक कानन था, जहाँ कलश का बनवाया हुआ कुटीर था।

सब लोग अनुचरों के साथ रथ छोड़कर भक्तिपूर्ण हृदय से साधु के समीप पहुँचे। परंतु राधा ने जब दूर ही से देखा कि वह साधु नग्न है, तो वह रथ की ओर लौट पड़ी। कलश ने बुलाया; पर राधा न आई। नन्दन कभी राधा को देखता और कभी अपने पिता को। साधु खीलों के समान फूट पड़ा। दाँत किटकिटा कर उसने कहा—यह तुम्हारी पुत्र-वधू कुलक्षणा है, कलश! तुम इसे हटा दो, नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चित है। नन्दन दाँतों तले जीभ दबा कर धीरे से बोला—अरे! यह कपिंजल···

अनागत भविष्य के लिए भयभीत कलश क्षुब्ध हो उठा। वह साधु की पूजा करके लौट आया। राधा अपने नवीन उपवन में उतरी।

कलश ने पूछा— तुमने महापुरुष से क्यों इतना दुर्विनीत व्यवहार किया?

नहीं पिताजी! वह स्वयं दुर्विनीत है। जो स्त्रियों को आते देख कर भी

साधारण शिष्टाचार का पालन नहीं करता, वह धार्मिक महात्मा तो कदापि नहीं।

क्या कह रही है ! वे एक सिद्ध पुरुष हैं।

सिद्धि यदि इतनी अधम है, धर्म यदि इतना निर्लज्ज है, तो वह स्त्रियों के योग्य नहीं, पिताजी ! धर्म के रूप में कहीं आप भय की उपासना तो नहीं कर रहे हैं ?

तू सचमुच कुलक्षणा है !

इसे तो अन्तर्यामी भगवान ही जान सकते हैं। मनुष्य इसके लिए अत्यन्त क्षुद्र है। पिताजी, आप···

उसे रोक कर अत्यन्त क्रोध से कलश ने कहा—तुझे इस घर में रखना अलक्ष्मी को बुलाना है। जा, मेरे भवन से निकल जा।

नन्दन सुन रहा था। काठ के पुतले के समान ! वह इस विचार का अन्त हो जाना तो चाहता था; पर क्या करे, यह उसकी समझ में न आया। राधा ने देखा, उसका पति कुछ नहीं बोलता, तो अपने गर्व से सिर उठा कर कहा—मैं धनकुबेर की क्रीत दासी नहीं हूँ। मेरे गृहिणीत्व का अधिकार केवल मेरा पदस्खलन ही छीन सकता है। मुझे विश्वास है, मैं अपने आचरण से अब तक इस पद की स्वामिनी हूँ। कोई भी मुझे इससे वंचित नहीं कर सकता।

आश्चर्य से देखा नन्दन ने और हतबुद्धि होकर सुना कलश ने। दोनों उपवन के बाहर चले गये।

वह उपवन सबसे परित्यक्त और उपेक्षणीय बन गया। भीतर बैठी हुयी राधा ने यह सब देखा।

नन्दन ने पिता का अनुकरण किया। वह धीरे-धीरे राधा को भूल चला; परन्तु नये ब्याह का नाम लेते ही चौंक पड़ता। उसके मन में धन की ओर वितृष्णा जगी। ऐश्वर्य का यान्त्रिक शासन जीवन को नीरस बनाने लगा। उसके मन की अतृप्ति, विद्रोह करने के लिए सुविधा खोजने लगी।

कलश ने उसके मनोविनोद के लिए नया उपवन बनवाया। नन्दन अपनी स्मृतियों का लीला-निकेतन छोड़ कर रहने लगा।

राधा के आभूषण बिकते थे और उस सेठ के द्वार की अतिजि-सेवा वैसी ही होती रहती। मुक्त द्वार का अपरिमित व्यय और आभूषणों के विक्रय की आय—कब तक यह युद्ध चले ? अब राधा के पास बच गया था वही मणि-निर्मित दीपाधार, जिसे महादेवी ने उसकी क्रीड़ा के लिए बनवाया था।

थोड़ा-सा अन्न अतिथियों के लिए बचा था। राधा दो दिन से उपवास कर रही थी। दासी ने कहा—स्वामिनी ! यह कैसे हो सकता है कि आपके सेवक, बिना आपके भोजन किए अन्न ग्रहण करें ?

राधा ने कहा—तो, आज यह मणि-दीप बिकेगा। दासी उसे ले आई। वह यन्त्र से बनी हुई रत्न-जटित नर्तकी नाच उठी। उसके नूपुर की झंकार उस दरिद्र भवन में गूंजने लगी। राधा हँसी। उसने कहा—मनुष्य जीवन में इतनी नियमानुकूलता यदि होती?

स्नेह से चूमकर उसे बेचने के लिए अनुचर को दे दिया। पण्य में पहुँचते ही दीपाधार बड़े-बड़े रत्न-वणिकों की दृष्टि एक कुतूहल बन गया। उस चूड़ामणि का दिव्य आलोक सभी की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता था। मूल्य की बोली बढ़ने लगी। कलश भी पहुँचा। उसने पूछा—यह किसका है? अनुचर ने उत्तर दिया—मेरी स्वामिनी सौभाग्यवती श्रीमती राधा देवी का।

लोभी कलश ने डाँट कर कहा—मेरे घर की वस्तु इस तरह चुरा कर तुम लोग बेचने फिर जाओगे, तो बन्दी-गृह में पड़ोगे। भागो।

अमूल्य दीपाधार से वंचित सब लोग लौट गये। कलश उसे अपने घर उठवा ले गया।

राधा ने सब सुना—वह कुछ न बोली।

गँगा और शोण में एक साथ ही बाढ़ आई। गाँव-के-गाँव बहने लगे। भीषण हाहाकार मचा। कहाँ ग्रामीणों की असहाय दशा और कहाँ जल की उद्दण्ड बाढ़, कच्चे झोपड़े उस महाजल-व्याल की फूँक से तितर-बितर होने लगे। वृक्षों पर जिसे आश्रय मिला, वही बच सका। नन्दन के हृदय ने तीसरा धक्का खाया। नन्दन का सत्साहस उत्साहित हुआ। वह अपनी पूरी शक्ति से नावों की सेना बना कर जलप्लावन में डट गया और कलश अपने सात खण्ड के प्रासाद में बैठा वह दृश्य देखता रहा।

रात नावों पर बीतती है और बाँसों के छोटे-छोटे बेड़े पर दिन। नन्दन के लिए धूप, वर्षा, शीत कुछ नहीं। अपनी धुन में वह लगा हुआ है। बाढ़-पीड़ितों का झुण्ड सेठ के प्रासाद में हर नाव से उतरने लगा। कलश क्रोध के मारे बिलबिला उठा। उसने आज्ञा दी कि बाढ़-पीड़ित यदि स्वयं नन्दन भी हो, तो वह प्रासाद में न आने पावे। घटा घिरी थी, जल बरसता था। कलश अपनी ऊँची अटारी पर बैठा मणि-निर्मित दीपाधार का नृत्य देख रहा था।

नन्दन भी उसी नाव पर था, जिस पर चार दुर्बल स्त्रियाँ, तीन शीत से ठिठुरे हुए बच्चे और पाँच जीर्ण पंजर वाले वृद्ध थे। उस समय नाव द्वार पर जा लगी। सेठ का प्रासाद गंगा-तट की एक ऊँची चट्टान पर था। वह एक छोटा-सा दुर्ग था। जल अभी द्वार तक ही पहुँच सका था। प्रहरियों ने नाव को देखते ही रोका—पीड़ितों को इसमें स्थान नहीं।

नन्दन ने पूछा—क्यों?

महाश्रेष्ठि कलश की आज्ञा।

नन्दन ने एक क्रोध से उस प्रासाद की ओर देखा और माँझी को नाव लौटाने की आज्ञा दी। माँझी ने पूछा—कहाँ ले चलें ? नन्दन कुछ न बोला। नाव बाढ़ में चक्कर खाने लगी। सहसा दूर उसे जल-मग्न वृक्षों की चोटियों और पेड़ों के बीच में एक गृह का ऊपरी अंश दिखाई पड़ा। नन्दन ने संकेत किया। माँझी उसी ओर नाव खेने लगा।

गृह के नीचे के अंश में जल भर गया था। थोड़ा-सा अन्न और इंधन ऊपर के भाग में बचा था। राधा उस जल में घिरी हुई अचल थी। छत की मुँडेर पर बैठी वह जलमयी प्रकृति में डूबती हुई सूर्य की अन्तिम किरणों को ध्यान से देख रही थी। दासी ने कहा—स्वामिनी ! वह दीपाधार भी गया, अब तो हम लोगों के लिए बहुत थोड़ा अन्न घर में बच रहा है।

देखती नहीं यह प्रलय-सी बाढ़ ! कितने मरमिटे होंगे। तुम तो पक्की छत पर बैठी अभी यह दृश्य देख रही हो। आज से मैंने अपना अंश छोड़ दिया। तुम लोग जब तक जी सको, जीना।

सहसा नीचे झांक कर राधा ने देखा, एक नाव उसके वातायन से टकरा रही है, और एक युवक उसे वातायन के साथ दृढ़ता से बाँध रहा है।

राधा ने पूछा—कौन है ?

नीचे सिर किये नन्दन ने कहा—बाढ़-पीड़ित कुछ प्राणियों को क्या आश्रय मिलेगा ? अब जल का क्रोध उतर चला है। केवल दो दिन के लिए इतने मरने वालों को आश्रय चाहिए।

ठहरिये, सीढ़ी लटकाई जाती है।

राधा और दासी तथा अनुचर ने मिलकर सीढ़ी लगाई। नन्दन विवर्ण मुख एक-एक को पीठ पर लाद कर ऊपर पहुँचाने लगा। जब सब ऊपर आ गये, तो राधा ने आकर कहा—और तो कुछ नहीं है, केवल द्विदलों का जूस इन लोगों के लिए है, ले आऊँ।

नन्दन ने सिर उठा कर देखा राधा। वह बोल उठा—राधा ! तुम यहीं हो ?

हाँ स्वामी, मैं अपने घर में हूँ। गृहणी का कर्तव्य पालन कर रही हूँ।

पर मैं गृहस्थ का कर्तव्य न पालन कर सका, राधा, पहले मुझे क्षमा करो।

स्वामी, यह अपराध मुझसे न हो सकेगा। उठिए, आज आपकी कर्मण्यता से मेरा ललाट उज्ज्वल हो रहा है। इतना साहस कहाँ छिपा था, नाथ !

दोनों प्रसन्न होकर कर्तव्य में लगे। यथा-सम्भव उन दुखियों की सेवा होने लगी।

एक प्रहर के बाद नन्दन ने कहा—मुझे भ्रम हो रहा है कि कोई यहाँ पास

ही विपन्न है। राधा ? अभी रात अधिक नहीं हुई है, मैं एक वार नाव लेकर जाऊं ?

राधा ने कहा—मैं भी चलूँ ?

नन्दन ने कहा—गृहणी का काम करो, राधा ! कर्तव्य कठोर होता है, भाव-प्रधान नहीं।

नन्दन एक माँझी को लेकर चला गया और राधा दीपक जलाकर मुंडेर पर बैठी थी। दासी और दास पीड़ितों की सेवा में लगे थे। बादल खुल गये थे। असंख्य नक्षत्र झलमला कर निकल आये, मेघों के बन्दीगृह से जैसे छुट्टी मिली हो ! चन्द्रमा भी धीरे-धीरे उस त्रस्त प्रदेश को भयभीत होकर देख रहा था।

एक घंटे में नन्दन का शब्द सुनाई पड़ा—सीढ़ी।

राधा दीपक दिखला रही थी और सीढ़ी के सहारे नन्दन ऊपर एक भारी बोझ लेकर चढ़ रहा था।

छत पर आकर उसने कहा—एक वस्त्र दो, राधा ! राधा ने एक उत्तरीय दिया। वह मुमूर्षु व्यक्ति नग्न था। उसे ढक कर नन्दन ने थोड़ा सेंक दिया; गर्मी भीतर पहुँचते ही वह हिलने-डोलने लगा। नीचे से माँझी से कहा—जल बड़े वेग से हट रहा है, नाव ढीली न करूँगा, तो लटक जायगी।

नन्दन ने कहा—तुम्हारे लिए भोजन लटकाता हूँ, ले लो। काल-रात्रि बीत गई। नन्दन ने प्रभात में आँखें खोलकर देखा कि सब सो रहे हैं और राधा उसके पास बैठी सिर सहला रही है।

इतने में पीछे से लाया हुआ मनुष्य उठा। अपने को अपरिचित स्थान में देख कर वह चिल्ला उठा—मुझे वस्त्र किसने पहनाया, मेरा व्रत किसने भंग किया ?

नन्दन ने हँसकर कहा—कपिंजल ! यह राधा का गृह है, तुम्हें उसके आज्ञा-नुसार यहाँ रहना होगा। छोड़ो पागलपन ! चलो, बहुत से प्राणी हम लोगों की सहायता के अधिकारी हैं। कपिंजल ने कहा—सो कैसे हो सकता है ? तुम्हारा-हमारा संग असम्भव है।

मुझे दण्ड देने के लिए ही तो तुमने यह स्वाँग रचा था। राधा तो उसी दिन से निर्वासित थी और कल से मुझे भी अपने घर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं। कपिंजल ! आज तो हम और तुम दोनों बराबर हैं और इतने अधमरों के प्राणों का दायित्व भी हमी लोगों पर है। यह व्रत-भंग नहीं, व्रत का आरम्भ है। चलो, इस दरिद्र कुटुम्ब के लिए अन्न जुटाना होगा।

कपिंजल आज्ञाकारी बालक की भाँति सिर झुकाये उठ खड़ा हुआ।

□□

ग्राम–गीत

शरद-पूर्णिमा थी। कमलापुर के निकलते हुए करारे को गंगा तीन ओर से घेर कर दूध की नदी के समान बह रही थी। मैं अपने मित्र ठाकुर जीवन सिंह के साथ उनके सौध पर बैठा हुआ अपनी उज्ज्वल हँसी में मस्त प्रकृति को देखने में तन्मय हो रहा था। चारों ओर का क्षितिज नक्षत्रों के वन्दनवार-सा चमकने लगा था। धवलविधु-बिम्ब के समीप ही एक छोटी-सी चमकीली तारिका भी आकाश-पथ में भ्रमण कर रही थी। वह चन्द्र को छू लेना चाहती थी; पर छूने नहीं पाती थी।

मैंने जीवन से पूछा—तुम बता सकते हो, वह कौन नक्षत्र है ?

रोहिणी होगी।—जीवन के अनुमान करने के ढंग से उत्तर देने पर मैं हँसना ही चाहता था कि दूर से सुनाई पड़ा—

बरजोरी बसे हो नयनवाँ में।

उस स्वर-लहरी में उन्मत्त वेदना थी। कलेजे को कचोटनेवाली करुणा थी। मेरी हँसी सन्न रह गई। उस वेदना को खोजने के लिए, गंगा के उस पार वृक्षों की श्यामलता को देखने लगा; परन्तु कुछ न दिखाई पड़ा।

मैं चुप था, सहसा फिर सुनाई पड़ा—

अपने बाबा की बारी दुलारी,
खेलत रहली अँगनवाँ में,
बरजोरी बसे हो—

मैं स्थिर होकर सुनने लगा, जैसे कोई भूली हुई सुन्दर कहानी। मन में उत्कंठा थी, और एक कसक भरा कुतूहल था। ! फिर सुनाई पड़ा—

ई कुल बतियाँ कबौं नाहीं जनली,
देखली कबौं न सपनवाँ में।
बरजोरी बसे हो—

मैं मूर्ख-सा उस गान का अर्थ-सम्बन्ध लगाने लगा।

अँगने में खेलते हुए—ई कुल बतियाँ, वह कौन बात थी ? उसे जानने के लिए हृदय चंचल बालक-सा मचल गया। प्रतीत होने लगा, उन्हीं कुल अज्ञात बातों के रहस्य-जाल में मछली-सा मन चांदनी के समुद्र में छटपटा रहा है।

मैंने अधीर होकर कहा—ठाकुर ! इसको बुलवाओगे ?

नहीं जी, वह पगली है।

पगली ! कदापि नहीं ! जो ऐसा गा सकती है, वह पगली नहीं हो सकती। जीवन ! उसे बुलाओ बहाना मत करो।

तुम व्यर्थ हठ कर रहे हो।—एक दीर्घ निश्वास को छिपाते हुए जीवन ने कहा।

मेरा कुतूहल और भी बढ़ा। मैंने कहा—हठ नहीं, लड़ाई भी करना पड़े तो करूँगा। बताओ, तुम उसे क्यों नहीं बुलाने देना चाहते हो ?

वह इसी गाँव की भाँट की लड़की है। कुछ दिनों से सनक गई है। रात भर कभी-कभी गाती हुई गंगा के किनारे घूमा करती है।

तो इनसे क्या ? उसे बुलाओ भी।

नहीं, मैं उसे न बुलवा सकूँगा।

अच्छा, तो यही बताओ, क्यों न बुलवाओगे ?

वह बात सुनकर क्या करोगे ?

सुनूँगा अवश्य—ठाकुर ? यह न समझना कि मैं तुम्हारी जमींदारी में इस समय बैठा हूँ, इसलिए डर जाऊँगा।—मैंने हँसी से कहा।

जीवनसिंह ने कहा—तो सुनो—

तुम जानते हो कि देहातों में भाँटों का प्रधान काम है, किसी अपने ठाकुर के घर उत्सवों पर प्रशंसा के कवित्त सुनाना। उनके घर की स्त्रियाँ घरों में गाती-बजाती हैं। नन्दन भी इसी प्रकार मेरे घराने का आश्रित भाँट है। उसकी लड़की रोहिणी विधवा हो गई—

मैंने बीच ही में टोक कर कहा—क्या नाम बताया ?

जीवन ने कहा—रोहिणी। उसी साल उसका द्विरागमन होनेवाला था। नन्दन लोभी नहीं है। उसे और भाँटों के सदृश माँगने में भी संकोच होता है। यहाँ से थोड़ी दूर पर गंगा-किनारे उसकी कुटिया है। वहाँ वृक्षों का अच्छा झुर-मुट है। एक दिन मैं खेत देख कर घोड़े पर आ रहा था। कड़ी धूप थी। मैं नन्दन के घर पास वृक्षों की छाया में ठहर गया। नन्दन ने मुझे देखा। कम्बल बिछा कर उसने अपनी झोपड़ी में मुझे बैठाया, मैं लू से डरा था। कुछ समय वहीं बिताने का निश्चय किया।

जीवन को सफाई देते देख कर मैं हँस पड़ा; परन्तु उसकी ओर ध्यान न देकर जीवन ने अपनी कहानी गम्भीरता से विच्छिन्न न होने दी।

हाँ तो—नन्दन ने पुकारा—रोहिणी, एक लोटाजल ले आ बेटी, ये तो अपने मालिक हैं, इनसे लज्जा कैसी ? रोहिणी आई। वह उसके यौवन का प्रभात था परिश्रम करने से उसकी एक-एक नस और मांस-पेशियाँ जैसे गढ़ी हुई हों। मैंने देखा, उसकी झुकी हुई पलकों से काली बरौनियाँ छितरा रही थीं और उन बरौनियों से,जैसे करुणा को अदृश्य सरस्वती कितनी ही धाराओं में बह रही थी। मैं न जाने क्यों उद्विग्न हो उठा। अधिक काल तक वहाँ न ठहर सका। घर चला आया।

विजया का त्यौहार था। घर में गाना-बजाना हो रहा था। मैं अपनी

श्रीमती के पास जा बैठा। उन्होंने कहा—सुनते हो!

मैंने कहा—दोनों कानों से।

श्रीमती ने कहा—यह रोहिणी बहुत अच्छा गाने लगी, और भी एक आश्चर्य की बात है; यह गीत बनाती भी है, गाती भी है। तुम्हारे गाँव की लड़कियाँ तो बड़ी गुनवती हैं। मैं 'हूँ' कह कर उठ कर बाहर आने लगा; देखा तो रोहिणी जवारा लिये खड़ी है। मैंने सिर झुका दिया, यव की पतली-पतली लम्बी धानी पत्तियाँ मेरे कानों से अटका दी गईं, मैं उसे बिना कुछ दिये बाहर चला आया।

पीछे से सुना कि इस धृष्टता पर मेरी माता जी ने उसे बहुत फटकारा; उसी दिन से कोट में उसका आना बन्द हुआ।

नन्दन बड़ा दुःखी हुआ। उसने भी आना बन्द कर दिया। एक दिन मैंने सुना, उसी की सहेलियाँ उससे मेरे सम्बन्ध में हँसी कर रही थीं। वह सहसा अत्यन्त उत्तेजित हो उठी और बोली—तो इसमें तुम लोगों का क्या? मैं मरती हूँ, प्यार करती हूँ उन्हें, तो तुम्हारी बला से।

सहेलियों ने कहा—बाप रे! इसकी ढिठाई तो देखो। वह और भी गरम होती गई। यहाँ तक उन लोगों ने रोहिणी को छेड़ा कि वह बकने लगी। उसी दिन से उसका बकना बन्द न हुआ। अब वह गाँव में पगली समझी जाती है। उसे अब लज्जा-संकोच नहीं, जब जो आता है, गाती हुई घूमा करती है। सुन लिया तुमने; यही कहानी है, भला मैं उसे कैसे बुलाऊँ?

जीवनसिंह अपनी बात समाप्त करके चुप हो रहे और मैं कल्पना से फिर वही गाना सुनने लगा—

बरजोरी बसे हो नयनवां में।

सचमुच यह संगीत पास आने लगा। अब की सुनाई पड़ा...

मुरि मुसुक्याई पढ़्यो कछु टोना,
गारी दियो किधों मनवां में,
बरजोरी बसे हो—

उस ग्रामीण भाँड़ भाषा में पगली के हृदय की सरल कथा थी—मार्मिक व्यथा थी। मैं तन्मय हो रहा था।

जीवनसिंह न जाने क्यों चञ्चल हो उठे। उठ कर टहलने लगे। छत के नीचे गीत सुनाई पड़ रहा था।

खनकार भरी काँपती हुई तान हृदय खुरचने लगी। मैंने कहा—जीवन, उसे बुला लाओ, मैं इस प्रेमयोगिनी का दर्शन तो कर लूँ।

सहसा सीढ़ियों पर घमघमाहट सुनाई पड़ी, वही पगली रोहिणी आकर जीवन के सामने खड़ी हो गई।

पीछे-पीछे सिपाही दौड़ता हुआ आया। उसने कहा—हट पगली।

जीवन और हम चुप थे। उसने एक बार घूम कर सिपाही की ओर देखा। सिपाही सहम गया। पगली रोहिणी फिर गा उठी !

ढीठ ! बिसारे बिसरत नाहीं
कैसे बसूँ जाय बनवाँ में,
बरजोरी बसे हो...

सहसा सिपाही ने कर्कश स्वर से फिर डाँटा। वह भयभीत हो जैसी भगी, या पीछे हटी मुझे स्मरण नहीं। परन्तु छत के नीचे गंगा के चंद्रिका-रंजित प्रवाह में एक छपाका हुआ। हतबुद्धि जीवन देखते ही रहे। मैं ऊपर अनन्त की उस दौड़ को देखने लगा। रोहिणी चन्द्रमा का पीछा कर रही थी और नीचे छपाके से उठ हुए कितने ही बुदबुदों में प्रतिबिम्बित रोहिणी की किरणें विलीन हो रही थीं।

□□

विजया

कमल का सब रुपया उड़ चुका था—सब सम्पत्ति बिक चुकी थी। मित्रों नें खूब दलाली की, न्यास जहाँ रक्खा वहीं धोखा हुआ ! जो उसके साथ मौज-मंगल में दिन बिताते थे, रातों का आनन्द लेते थे, वे ही उसकी जेब टटोलते थे। उन्होंने कहीं पर कुछ भी बाकी न छोड़ा। सुख-भोग के जितने आविष्कार थे, साधन भर सबका अनुभव लेने का उत्साह ठंढा पड़ चुका था।

बच गया था एक रुपया।

युवक को उन्मत्त आनन्द लेने की बड़ी चाह थी। बाधा-विहीन सुख लूटने का अवसर मिला था—सब समाप्त हो गया। आज वह नदी के किनारे चुप-चाप बैठा हुआ उसी की धारा में विलीन हो जाना चाहता था। उस पार किसी की चिता जल रही थी, जो धूसर सन्ध्या में आलोक फैलाना चाहती थी। आकाश में बादल थे, उनके बीच में गोल रुपये के समान चन्द्रमा निकलना चाहता था। वृक्षों की हरियाली में गाँव के दीप चमकने लगे थे। कमल ने रुपया निकाला। उस एक रुपये से कोई विनोद न हो सकता। वह मित्रों के साथ नहीं जा सकता था। उसने सोचा, इसे नदी के जल में विसर्जन कर दूँ। साहस न हुआ—वही अन्तिम रुपया था। वह स्थिर दृष्टि से नदी की धारा देखने लगा, कानों से कुछ सुनाई न पड़ता

था, देखने पर भी दृश्य का अनुभव नहीं—वह स्तब्ध था, जड़ था, मूक था, हृदयहीन था।

माँ कुलता दिला दे—दछमी देखने जाऊँगा।

मेरे लाल ! मैं कहाँ से ले आऊँ—पेट-भर अन्न नहीं मिलता—नहीं-नहीं, रो मत—मैं ले आऊँगी; पर कैसे ले आऊँ ? हा, उस छलिया ने मेरा सर्वस्व लूटा और कहीं का न रखा। नहीं-नहीं, मुझे एक लाल है ! कंगाल का एक अमूल्य लाल। मुझे बहुत है। चलूँगी, जैसे होगा एक कुरता खरीदूंगी। उधार लूँगी। दसमी—विजया-दसमी के दिन मेरा लाल चिथड़ा पहन कर नहीं रह सकता।

पास ही जाते हुए माँ और बेटे की बात कमल के कान में पड़ी। वह उठ कर उसके पास गया। उसने कहा—सुन्दरी !

बाबू जी !—आश्चर्य से सुन्दरी ने कहा—बालक ने भी स्वर मिला कर कहा—बाबूजी !

कमल ने रुपया देते हुए कहा—सुन्दरी, यह एक ही रुपया बचा है, इसको ले जाओ। बच्चे को कुरता खरीद लेना। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, क्षमा करोगी ?

बच्चे ने हाथ फैला दिया—सुन्दरी ने उसका नन्हा हाथ अपने हाथ में समेट कर कहा—नहीं, मेरे बच्चे के कुरते से अधिक आवश्यकता आपके पेट के लिए है। मैं सब जानती हूँ।

मेरा—आज अन्त होगा, अब मुझे आवश्यकता नहीं—ऐसे पापी जीवन को रख कर क्या होगा ! सुन्दरी ! मैंने तुम्हारे ऊपर बड़ा अत्याचार किया है, क्षमा करोगी ! आह ! इस अन्तिम रुपये को लेकर मुझे क्षमा कर दो। यह एक ही सार्थक हो जाय !

आज तुम अपने पाप का मूल्य दिया चाहते हो—वह भी एक रुपया ?

और एक फूटी कौड़ी भी नहीं है, सुन्दरी ! लाखों उड़ा दिया है—मैं लोभी नहीं हूँ।

विधवा के सर्वस्व का इतना मूल्य नहीं हो सकता।

मुझे धिक्कार दो, मुझ पर थूको।

इसकी आवश्यकता नहीं—समाज से डरो मत। अत्याचारी समाज पाप कह कर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है; वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है; पर वह स्वयं नहीं सुनता। आओ चलो, हम उसे दिखा दें कि वह भ्रान्त है। मैं चार आने का परिश्रम प्रतिदिन करती हूँ। तुम भी सिलवर के गहने माँज कर कुछ कमा सकते हो। थोड़े-से परिश्रम से हम लोग एक अच्छी गृहस्थी चला लेंगे। चलो तो।

सुन्दरी ने दृढ़ता से कमल का हाथ पकड़ लिया।

बालक ने कहा—चलो न, बाबूजी

कमल ने देखा—चाँदनी निखर आई है। उसने बालक के हाथ में रुपया रख कर उसे गोद में उठा लिया।

सम्पन्न अवस्था की विलास-वासना, अभाव के थपेड़े से पुण्य में परिणत हो गई। कमल पूर्वकथा विस्मृत होकर क्षण-भर में स्वस्थ हो गया। मन हलका हो गया। बालक उसकी गोद में था। सुन्दरी पास में; वह विजया-दशमी का मेला देखने चला।

विजया के आशीर्वाद के सामने चाँदनी मुस्करा रही थी।

□□

अमिट स्मृति

फाल्गुनी पूर्णिमा का चन्द्र गंगा के शुभ्र वक्ष पर आलोक-धारा का सृजन कर रहा था। एक छोटा-सा बजरा वसन्त-पवन में आन्दोलित होता हुआ धीरे-धीरे बह रहा था। नगर का आनन्द-कोलाहल सैंकड़ों गलियों को पार करके गंगा के मुक्त वातावरण में सुनाई पड़ रहा था। मनोहरदास हाथ-मुँह धोकर तकिये के सहारे बैठ चुके थे। गोपाल ने ब्यालू करके उठते हुए पूछा—

बाबूजी, सितार ले आऊँ?

आज और कल, दो दिन नहीं।—मनोहरदास ने कहा।

वाह बाबूजी, आज सितार न बजा तो फिर बात क्या रही!

नहीं गोपाल, मैं होली के इन दोनों में न तो सितारा ही बजाता हूँ और न तो नगर में ही जाता हूँ।

तो क्या आप चलेंगे भी नहीं, त्योहार के दिन नाव पर ही बीतेंगे, यह तो बड़ी बुरी बात है।

यद्यपि गोपाल बरस-बरस का त्योहार मनाने के लिए साधारणतः युवकों की तरह उत्कंठित था; परन्तु सत्तर बरस के बूढ़े मनोहरदास को स्वयं बूढ़ा कहने का साहस नहीं रखता। मनोहरदास का भरा हुआ मुँह, दृढ़ अवयव और बलिष्ठ अंग-विन्यास गोपाल के यौवन से अधिक पूर्ण था। मनोहरदास ने कहा—

गोपाल! मैं गन्दी गालियों या रंग से भागता हूँ। इतनी ही बात नहीं, इसमें और भी कुछ है। होली इसी तरह बिताते मुझे पचास बरस हो गये।

गोपाल ने नगर में जाकर उत्सव देखने का कुतूहल दबाते हुए पूछा—ऐसा क्यों बाबूजी ?

ऊँचे तकिये पर चित्त लेट कर लम्बी साँस लेते हुए मनोहरदास ने कहना आरम्भ किया—

हम और तुम्हारे बड़े भाई गिरधरदास साथ-ही-साथ जवाहिरात का व्यवसाय करते थे। इस साझे का हाल तुम जानते ही हो। हाँ, तब बम्बई की दूकान न थी और न तो आज-जैसी रेलगाड़ियों का जाल भारत में बिछा हुआ था; इसलिए रथों और इक्कों पर भी लोग लम्बी-लम्बी यात्रायें करते। विशाल सफेद अजगर-सी पड़ी हुई उत्तरीय भारत की वह सड़क, जो बंगाल से काबुल तक पहुँचती है, सदैव पथिकों से भरी रहती थी। कहीं-कहीं बीच में दो-चार कोस की निर्जनता मिलती, अन्यथा प्याऊ, बनियों की दूकानें, पड़ाव और सरायों से भरी हुई इस सड़क पर बड़ी चहल-पहल रहती। यात्रा के लिए प्रत्येक स्थान में घण्टे में दस कोस जानेवाले इक्के तो बहुतायत से मिलते। बनारस इसमें विख्यात था।

हम और गिरधरदास होलिकादाह का उत्सव देखकर दस बजे लौटे थे कि प्रयाग के एक व्यापारी का पत्र मिला। इसमें लाखों के माल बिक जाने की आशा थी और कल तक ही वह व्यापारी प्रयाग में ठहरेगा। उसी समय इक्केवान को बुलाकर सहेज दिया और हम लोग ग्यारह बजे सो गये। सूर्य की किरणें अभी न निकली थीं; दक्षिण पवन से पत्तियाँ अभी जैसे झूम रही थीं, परन्तु हम लोग इक्के पर बैठ कर नगर को कई कोस पीछे छोड़ चुके थे। इक्का बड़े वेग में जा रहा था। सड़क के दोनों ओर लगे हुए आम की मञ्जरियों की सुगन्ध तीव्रता से नाक में घुसकर मादकता उत्पन्न कर रही थी। इक्केवान की बगल में बैठे हुए रघुनाथ महाराज ने कहा—सरकार बड़ी ठंड है।

कहना न होगा कि रघुनाथ महाराज बनारस के एक नामी लठैत थे। उन दिनों ऐसी यात्राओं में ऐसे मनुष्यों को रखना आवश्यक समझा जाता था।

सूर्य बहुत ऊपर आ चुके थे, मुझे प्यास लगी थी। तुम तो जानते ही हो, मैं दोनों बेला-बूटी छानता हूँ। आमों की छाया में एक छोटा-सा कुआँ दिखाई पड़ा, जिसके ऊपर मुरेरेदार पक्की छत थी और नीचे चारों ओर दालानें थीं। मैंने इक्का रोक देने को कहा। पूरब वाली दालान में एक बनिये की दूकान थी, जिस पर गुड़, चना, नमक, सत्तू आदि बिकते थे। मेरे झोले में सब आवश्यक सामान थे। सीढ़ियों से चढ़कर हम लोग ऊपर पहुँचे। सराय यहाँ से दो कोस और गाँव कोस भर पर था। इस रमणीय स्थान को देखकर विश्राम करने की इच्छा होती थी। अनेक पक्षियों की मधुर बोलियों से मिलकर पवन जैसे सुरीला हो उठा। ठंडई बनने लगी। पास ही एक नीबू का वृक्ष खूब फूला हुआ था। रघुनाथ ने बनिये से हाँड़ी लेकर कुछ फूलों को भिगो दिया। ठंडई तयार होते-होते उसकी महक से मन मस्त

हो गया। चाँदी के गिलास झोली से बाहर निकाले गये; पर रघुनाथ ने कहा—सरकार, इसकी बाहर तो पुरवे में है। बनिये को पुकारा। वह तो था नहीं, एक धीमा स्वर सुनाई पड़ा—क्या चाहिए ?

पुरवे दे जाओ !

थोड़ी ही देर में एक चौदह वर्ष की लड़की सीढ़ियों से ऊपर आती हुई नजर पड़ी। सचमुच वह सालू की छींट पहने एक देहाती लड़की थी, कल उसकी भाभी ने उसके साथ खूब गुलाल खेला था, वह जगी भी मालूम पड़ती थी।—मदिरा-मन्दिर के द्वार-सी खुली हुई आँखों में गुलाब की गरद उड़ रही थी। पलकों के छज्जे और बरौनियों की चिकों पर भी गुलाल की बहार थी। सरके हुए घूँघट से जितनी अलकें दिखलाई पड़तीं, वे सब रँगी थीं। भीतर से भी उस सरला को कोई रंगीन बनाने लगा था। न जाने क्यों, इस छोटी अवस्था में ही वह चेतना से ओत-प्रोत थी। ऐसा मालूम होता था कि स्पर्श का मनोविकारमय अनुभव उसे सचेष्ट बनाये रहता, तब भी उसकी आँखें धोखा खाने ही पर ऊपर उठतीं। पुरवा रखने ही भर में उसने अपने कपड़ों को दो-तीन बार ठीक किया, फिर पूछा—और कुछ चाहिए ? मैं मुस्करा कर रह गया। उस वसन्त के प्रभाव में सब लोग वह सुस्वादु और सुगन्धित ठंडई धीरे-धीरे पी रहे थे और मैं साथ-ही-साथ अपनी आँखों से उस बालिका के यौवनोन्माद की माधुरी भी पी रहा था। चारों ओर से नीबू के फूल और आमों की मञ्जरियों की सुगन्ध आ रही थी। नगरों से दूर देहातों से अलग कुएँ की वह छत संसार में जैसे सबसे ऊँचा स्थान था। क्षण भर के लिए जैसे उस स्वप्न-लोक में एक अप्सरा आ गई हो। सड़क पर एक बैलगाड़ी-वाला बण्डलों से टिका हुआ आँखें बन्द किये हुए बिरहा गाता था। बैलों के हाँकने की जरूरत नहीं थी। वह अपनी राह पहचानते थे। उसके गाने में उपालम्भ था, आवेदन था। बालिका कमर पर हाथ रक्खे हुए बड़े ध्यान से उसे सुन रही थी। गिरधरदास और रघुनाथ महाराज हाथ-मुँह धो आये; पर मैं वैसे ही बैठा रहा। रघुनाथ महाराज उजड्ड तो थे ही; उन्होंने हँसते हुए पूछा—

क्या दाम नहीं मिला ?

गिरधरदास भी हँस पड़े। गुलाब से रंगी हुई उस बालिका की कनपटी और भी लाल हो गई। वह जैसे सचेत-सी होकर धीरे-धीरे सीढ़ी से उतरने लगी। मैं भी जैसे तन्द्रा से चौंक उठा और सावधान होकर पान की गिलौरी मुँह में रखता हुआ इक्के पर आ बैठा। घोड़ा अपनी चाल से चला। घण्टे-डेढ़ घण्टे में हम लोग प्रयाग पहुँच गये। दूसरे दिन जब हम लोग लौटे, तो देखा कि उस कुएँ की दालान में बनिये की दूकान नहीं है। एक मनुष्य पानी पी रहा था, उससे पूछने पर मालूम हुआ कि गाँव में एक भारी दुर्घटना हो गई है। दोपहर को धुरहट्टा खेलने के समय नशे में रहने के कारण कुछ लोगों में दंगा हो गया। वह बनिया भी उन्हीं में था।

रात को उसी के मकान पर डाका पड़ा। वह तो मार ही डाला गया, पर उसकी लड़की का भी पता नहीं।

रघुनाथ ने अक्खड़पन से कहा—अरे, वह महालक्ष्मी ऐसी ही रहीं। उनके लिए जो कुछ न हो जाय, थोड़ा है।

रघुनाथ की यह बात मुझे बहुत बुरी लगी। मेरी आँखों के सामने चारों ओर जैसे होली जलने लगी। ठीक साल भर बाद वही व्यापारी प्रयाग आया और मुझे फिर उसी प्रकार जाना पड़ा। होली बीत चुकी थी, जब मैं प्रयाग से लौट रहा था; उसी कुएँ पर ठहरना पड़ा। देखा तो एक विकलांग दरिद्र युवती उसी दालान में पड़ी थी। उसका चलना-फिरना असम्भव था। जब मैं कुएँ पर चढ़ने लगा तो उसने दाँत निकाल कर हाथ फैला दिया। मैं पहचान गया—साल भर की घटना सामने आ गई। न जाने उस दिन मैं प्रतिज्ञा कर बैठा कि आज से होली न खेलूंगा।

वह पचास बरस की बीती हुई घटना आज भी प्रत्येक होली में नयी होकर सामने आती है। तुम्हारे बड़े भाई गिरधर ने मुझे कई बार होली मनाने का अनुरोध किया, पर मैं उनसे सहमत न हो सका और मैं अपने हृदय के इस निर्बल पक्ष पर अभी तक दृढ़ हूँ। समझा न, गोपाल! इसलिए मैं ये दो दिन बनारस के कोलाहल से अलग नाव पर ही बिताता हूँ।

□□

नीरा

अब और आगे नहीं, इस गंदगी में कहाँ चलते हो, देवनिवास?

थोड़ी दूर और—कहते हुए देवनिवास ने अपनी साइकिल धीमी कर दी; किन्तु विरक्त अमरनाथ ने ब्रेक दबा कर ठहर जाना ही उचित समझा। देवनिवास आगे निकल गया। मौलसिरी का वह सघन वृक्ष था, जो पोखरे के किनारे अपनी अन्धकारमयी छाया डाल रहा था। पोखरे से सड़ी हुई दुर्गन्ध आ रही थी। देवनिवास ने पीछे घूम कर देखा, मित्र को वहीं रुका देख कर वह लौट रहा था। उसकी साइकिल का लैम्प बुझ चला था। सहसा धक्का लगा, देवनिवास तो गिरते-गिरते बचा, और एक दुर्बल मनुष्य 'अरे राम' कहता हुआ गिरकर भी उठ खड़ा हुआ। बालिका उसका हाथ पकड़ कर पूछने लगी—कहीं चोट तो नहीं लगी, बाबा?

नहीं बेटी ! मैं कहता न था, मुझे मोटरों से उतना डर नहीं लगता, जितना इस बे-दुम के जानवर 'साइकिल' से। मोटर वाले तो दूसरों को ही चोट पहुँचाते हैं, पैदल चलनेवालों को कुचलते हुए निकल जाते हैं पर ये बेचारे तो आप भी गिर पड़ते हैं। क्यों बाबू साहब, आपको तो चोट नहीं लगी ? हम लोग तो चोट-घाव सह सकते हैं।

देवनिवास कुछ झेंप गया था। उसने बूढ़े से कहा—आप मुझे क्षमा कीजिए। आपको...

क्षमा—मैं करूँ ? अरे, आप क्या कह रहे हैं ! दो-चार हंटर आपने नहीं लगाये। घर भूल गये, हंटर नहीं ले आये ! अच्छा महोदय ! आपको कष्ट हुआ न, क्या करूँ, बिना भीख माँगे इस सर्दी में पेट गालियाँ देने लगता है ! नींद भी नहीं आती, चार-छः पहरों पर तो कुछ-न-कुछ इसे देना ही पड़ता है ! और भी मुझे एक रोग है। दो पैसों बिना वह नहीं छूटता—पढ़ने के लिए अखबार चाहिए; पुस्तकालयों में चिथड़े पहन कर बैठने न पाऊँगा, इसलिए नहीं जाता। दूसरे दिन का बासी समाचार-पत्र दो पैसों में ले लेता हूँ !

अमरनाथ भी पास आ गया था। उसने यह काण्ड देख कर हँसते हुए कहा—देवनिवास ! मैं मना करता था न ! तुम अपनी धुनि में कुछ सुनते भी हो। चले तो फिर चले, और रुके तो अड़ियल टट्टू भी झक मारे ! क्या उसे कुछ चोट आ गई है ? क्यों बूढ़े ! लो, यह अठन्नी है। जाओ अपनी राह, तनिक देखकर चला करो !

बूढ़ा मसखरा भी था। अठन्नी लेते हुए उसने कहा—देख कर चलता, तो यह अठन्नी कैसे मिलती ! तो भी बाबूजी, आप लोगों की जेब में अखबार होगा। मैंने देखा है, बाइसिकिल पर चढ़े हुए बाबुओं की पाकेट में निकला हुआ कागज का मुट्ठा; अखबार ही रहता होगा।

चलो बाबा, झोंपड़ी में, सर्दी लगती है।—यह छोटी-सी बालिका अपने बाबा को जैसे इस तरह बातें करते हुए देखना नहीं चाहती थी। वह संकोच में डूबी जा रही थी। देवनिवास चुप था। बुड्ढे को जैसे तमाचा लगा। वह अपने दयनीय और घृणित भिक्षा-व्यवसाय को बहुधा नीरा से छिपाकर, बना कर कहता। उसे अखबार सुनाता। और भी न जाने क्या-क्या ऊँची-नीची बातें बका करता; नीरा जैसे सब समझती थी ! वह कभी बूढ़े से प्रश्न नहीं करती थी। जो कुछ वह कहता, चुपचाप सुन लिया करती थी। कभी-कभी बुड्ढा झुँझला कर चुप हो जाता, तब भी वह चुप रहती। बूढ़े को आज ही नीरा ने झोंपड़ी में चलने के लिए कह कर पहले-पहल मीठी झिड़की दी। उसने सोचा कि अठन्नी पाने पर भी अखबार माँगना नीरा न सह सकी।

अच्छा तो बाबूजी, भगवान यदि कोई हों, तो आपका भला करें—बुड्ढा

लड़की का हाथ पकड़कर मौलसिरी की ओर चला। देवनिवास सन्न था। अमरनाथ ने अपनी साइकिल के उज्ज्वल आलोक में देखा; नीरा एक गोरी-सी, सुन्दरी, पतली-दुबली करुणा की छाया थी। दोनों मित्र चुप थे। अमरनाथ ने ही कहा—अब लौटोगे कि यहीं गड़ गये !

तुमने कुछ सुना, अमरनाथ ! वह कहता था—भगवान यदि कोई हों—कितना भयानक अविश्वास ! देवनिवास ने साँस लेकर कहा।

दरिद्रता और लगातार दुःखों से मनुष्य अविश्वास करने लगता है, निवास ! यह कोई नयी बात नहीं है—अमरनाथ ने चलने की उत्सुकता दिखाते हुए कहा।

किन्तु देवनिवास तो जैसे आत्मविस्मृत था। उसने कहा—सुख और सम्पत्ति से क्या ईश्वर का विश्वास अधिक होने लगता है ? क्या मनुष्य ईश्वर को पहचान लेता है ? उसकी व्यापक सत्ता को मलिन वेष में देखकर दुरदुराता नहीं—ठुकराता नहीं, अमरनाथ ! अबकी बार 'आलोचक' के विशेषांक में तुमने लौटे हुए प्रवासी कुलियों के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था न ! वह सब कैसे लिखा था ?

अखबारों से आँकड़े देखकर। मुझे ठीक-ठीक स्मरण है। कब, किस द्वीप से कौन-कौन स्टीमर किस तारीख में चले। 'सतलज', 'पंडित' और 'एलिफैंटा' नाम के स्टीमरों पर कितने-कितने कुली थे, मुझे ठीक-ठीक मालूम था, और ?

और वे सब कहाँ हैं ?

सुना है, इसी कलकत्ते के पास कहीं मटियाबुर्ज है, वही अभागों का निवास है। अवध के नवाब का विलास या प्रायश्चित-भवन भी तो मटियाबुर्ज ही रहा। मैंने उस लेख में भी एक व्यंग इस पर बड़े मार्के का दिया है। चलो, खड़े-खड़े बातें करने की जगह नहीं। तुमने तो कहा था कि आज जनाकीर्ण कलकत्ते से दूर तुमको एक अच्छी जगह दिखाऊँगा। वहीं...।

यही मटियाबुर्ज है।—देवनिवास ने बड़ी गम्भीरता से कहा। और अब तुम कहोगे कि यह बुड्ढा वहीं से लौटा हुआ कोई कुली है।

हो सकता है, मुझे नहीं मालूम। अच्छा, चलो अब लौटें।—कहकर अमरनाथ ने अपनी साइकिल को धक्का दिया।

देवनिवास ने कहा—चलो उसकी झोंपड़ी तक, मैं उससे कुछ बात करूँगा।

अनिच्छापूर्वक 'चलो' कहते हुए अमरनाथ ने मौलसिरी की ओर साइकिल घुमा दी। साइकिल के तीव्र आलोक में झोंपड़ी के भीतर का दृश्य दिखाई दे रहा था। बुड्ढा मनोयोग से लाई फाँक रहा था और नीरा भी कल की बची हुई रोटी चबा रही थी। रूखे ओठों पर दो-एक दाने चिपक गये थे, जो उस दरिद्र मुख में जाना अस्वीकार कर रहे थे। लुक फेरा हुआ टीन का गिलास अपने खुरदरे रंग का नीलापन नीरा की आँखों में उँडेल रहा था। आलोक एक उज्ज्वल सत्य

है, बन्द आँखों में भी उसकी सत्ता छिपी नहीं रहती। बुड्ढे ने आँखें खोलकर दोनों बाबुओं को देखा। वह बोल उठा—बाबूजी! आप अखबार देने आये हैं। मैं अभी पथ्य ले रहा था; बीमार हूँ न, इसी से लाई खाता हूँ, बड़ी नमकीन होती है। अखबार वाले भी कभी-कभी नमकीन बातों का स्वाद दे देते हैं! इसी से तो, बेचारे कितनी दूर-दूर की बातें सुनते हैं। जब मैं 'मोरिशस' में था, तब हिन्दुस्तान की बातें पढ़ा करता था। मेरा देश सोने का है, ऐसी भावना जग उठी थी। अब कभी-कभी उस टापू की बातें पढ़ पाता हूँ, तब यह मिट्टी मालूम पड़ता है; पर सच कहता हूँ बाबूजी, 'मोरिशस' में अगर गोली न चली होती और 'नीरा' की माँ न मरी होती...हाँ, गोली से ही वह मरी थी...तो मैं अब तक वहीं से जन्म-भूमि का सोने का सपना देखता; और इस अभागे देश! नहीं-नहीं बाबूजी, मुझे यह कहने का अधिकार नहीं। मैं हूँ अभागा! हाय रे भाग!!

'नीरा' घबरा उठी। उसने किसी तरह दो घूँट जल गले से उतार कर इन लोगों की ओर देखा। उसकी आँखें कह रही थीं कि 'जाओ, मेरी दरिद्रता का स्वाद लेनेवाले विचारकों! और सुख तो तुम्हें मिलते ही हैं, एक न सही!'

अपने पिता को बातें करते देख कर वह घबरा उठती थी। वह डरती थी कि बुड्ढा न-जाने क्या-क्या कह बैठेगा। देवनिवास चुपचाप उसका मुँह देखने लगा।

नीरा बालिका न थी। स्त्रीत्व के सब व्यंजन थे, फिर भी जैसे दरिद्रता के भीषण हाथों ने उसे दबा दिया था, वह सीधी ऊपर नहीं उठने पाई।

क्या तुमको ईश्वर में विश्वास नहीं है?—अमरनाथ ने गम्भीरता से पूछा।

'आलोचक' में एक लेख मैंने पढ़ा था! वह इसी प्रकार के उलाहने से भरा था, कि 'वर्तमान जनता में ईश्वर के प्रति अविश्वास का भाव बढ़ता जा रहा है; और इसीलिए वह दुखी है।' यह पढ़ कर मुझे तो हँसी आ गई।—बुड्ढे ने अविचल भाव से कहा।

हँसी आ गई! कैसे दुःख की बात है।—अमरनाथ ने कहा।

दुःख की बात सोच कर ही तो हँसी आ गई। हम मूर्ख मनुष्यों ने त्राण की—शरण की—आशा से ईश्वर पर पूर्वकाल में विश्वास किया था, परस्पर के विश्वास और सद्भाव को ठुकरा कर। मनुष्य, मनुष्य का विश्वास नहीं कर सका; इसीलिए तो एक सुखी दूसरे दुखी की ओर घृणा से देखता था। दुखी ने ईश्वर का अवलम्बन लिया, तो भी भगवान् ने संसार के दुखों की सृष्टि बन्द कर दी क्या? मनुष्य के बूते का न रहा, तो क्या वह भी...? कहते-कहते बूढ़े की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं; किन्तु वे अग्निकण गलने लगे और उसके कपोलों के गढ़े में वह द्रव इकट्ठा होने लगा।

अमरनाथ क्रोध से बुड्ढे को देख रहा था; किन्तु देवनिवास उस मलिना नीरा की उत्कण्ठा और खेद-भरी मुखाकृति का अध्ययन कर रहा था।

आपको क्रोध आ गया, क्यों महाशय ! आने की बात ही है। ले लीजिये अपनी अठन्नी । अठन्नी देकर ईश्वर में विश्वास नहीं कराया जाता। उस चोट के बारे में पुलिस से जाकर न कहने के लिए अठन्नी की आवश्यकता नहीं। मैं यह मानता हूँ कि सृष्टि विषमता से भरी है, चेष्टा करके भी इसमें आर्थिक या शारीरिक साम्य नहीं लाया जा सकता। हाँ, तो भी ऐश्वर्यवालों को, जिन पर भगवान् की पूर्ण कृपा है, अपनी सहृदयता से ईश्वर का विश्वास कराने का प्रयत्न करना चाहिए। कहिए, इस तरह भगवान् की समस्या सुलझाने के लिए आप प्रस्तुत हैं ?

इस बूढ़े नास्तिक और तार्किक से अमरनाथ को तीव्र विरक्ति हो चली थी। अब वह चलने के लिए देवनिवास से कहनेवाला था, किन्तु उसने देखा, वह तो झोंपड़ी में आसन जमाकर बैठ गया है।

अमरनाथ को चुप देखकर देवनिवास ने बूढ़े से कहा—अच्छा, तो आप मेरे घर चल कर रहिए। संभव है कि मैं आपकी सेवा कर सकूँ। तब आप विश्वासी बन जायँ, तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस बार तो वह बुड्ढा बुरी तरह देवनिवास को घूरने लगा। निवास वह तीव्र दृष्टि सह न सका। उसने समझा कि मैंने चलने के लिए कह बूढ़े को चोट पहुँचाई है। वह बोल उठा—क्या आप...?

ठहरो भाई ! तुम बड़े जल्दबाज मालूम होते हो—बूढ़े ने कहा। क्या सचमुच तुम मेरी सेवा किया चाहते हो या...?

अब बूढ़ा नीरा की ओर देख रहा था और नीरा की आँखें बूढ़े को आगे न बोलने की शपथ दिला रही थीं; किन्तु उसने फिर कहा ही—या नीरा को, जिसे तुम बड़ी देर से देख रहे हो, अपने घर लिवा जाने की बड़ी उत्कंठा है ! क्षमा करना ! मैं अविश्वासी हो गया हूँ न ! क्यों, जानते हो ? जब कुलियों के लिए इसी सीली, गन्दी और दुर्गन्धमयी भूमि में एक सहानुभूति उत्पन्न हुई थी, तब मुझे यह कटु अनुभव हुआ था कि वह सहानुभूति भी चिरायंध से खाली न थी। मुझे एक सहायक मिले थे और मैं यहाँ से थोड़ी दूर पर उनके घर रहने लगा था।

नीरा से अब न रहा गया। वह बोल उठी—बाबा, चुप न रहोगे; खाँसी आने लगेगी।

ठहर नीरा ! हाँ तो महाशय जी, मैं उनके घर रहने लगा था। और उन्होंने मेरा आतिथ्य साधारणतः अच्छा ही किया। एक ऐसी ही काली रात थी। बिजली बादलों में चमक रही थी और मैं पेट भर कर उस ठण्डी रात में सुख की झपकी लेने लगा था। इस बात को बरसों हुए; तो भी मुझे ठीक स्मरण है कि मैं जैसे भयानक सपना देखता हुआ चौंक उठा। नीरा चिल्ला रही थी ! क्यों नीरा ?

अब नीरा हताश हो गई थी और उसने बूढ़े को रोकने का प्रयत्न छोड़ दिया था। वह एकटक बूढ़े का मुँह देख रही थी।

बुड्ढे ने फिर कहना आरम्भ किया—हां तो नीरा चिल्ला रही थी। मैं उठकर देखता हूँ, तो मेरे वह परम सहायक महाशय इसी नीरा को दोनों हाथ से पकड़कर घसीट रहे थे और यह बेचारी छूटने का व्यर्थ प्रयत्न कर रही थी। मैंने अपने दोनों दुर्बल हाथों को उठाकर उस नीच उपकारी के ऊपर दे मारा। वह नीरा को छोड़कर 'पाजी, बदमाश, निकल मेरे घर से' कहता हुआ मेरा अकिंचन सामान बाहर फेंकने लगा। बाहर ओले सी बूँदें पड़ रही थीं और बिजली कौंधती थी। मैं नीरा को लिए सर्दी से दाँत किटकिटाता हुआ एक ठूँठे वृक्ष के नीचे रात भर बैठा रहा। उस समय वह मेरा ऐश्वर्यशाली सहायक बिजली के लैम्पों में मुलायम गद्दे पर सुख की नींद सो रहा था। यद्यपि मैं उसे लौट कर देखने नहीं गया, तो भी मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि उसके सुख में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करने का दण्ड देने के लिए भगवान् का न्याय अपने भीषण रूप में नहीं प्रकट हुआ। मैं रोता था—पुकारता था; किन्तु वहाँ सुनता कौन है !

तुम्हारा बदला लेने के लिए भगवान् नहीं आये, इसीलिए तुम अविश्वास करने लगे ! लेखकों की कल्पना का साहित्यिक न्याय तुम सर्वत्र प्रत्यक्ष देखना चाहते हो न ! निवास ने तत्परता से कहा।

क्यों न मैं ऐसा चाहता ? क्या मुझे इतना भी अधिकार न था ?

तुम समाचार-पत्र पढ़ते हो न ?

अवश्य !

तो उसमें कहानियाँ भी कहीं-कहीं पढ़ लेते होगे और उनकी आलोचनाएँ भी ?

हाँ, तो फिर !

जैसे एक साधारण आलोचक प्रत्येक लेखक से अपने मन की कहानी कहलाया चाहता है और हठ करता है कि नहीं, यहाँ तो ऐसा न होना चाहिए था; ठीक उसी तरह तुम सृष्टिकर्ता से अपने जीवन की घटनावली अपने मनोनुकूल सही कराना चाहते हो। महाशय ! मैं भी इसका अनुभव करता हूँ कि सर्वत्र यदि पापों का भीषण दण्ड तत्काल ही मिल जाया करता, तो यह सृष्टि पाप करना छोड़ देती। किन्तु वैसा नहीं हुआ। उलटे यह एक व्यापक और भयानक मनोवृत्ति बन गई है कि मेरे कष्टों का कारण कोई दूसरा है। इस तरह मनुष्य अपने कर्मों को सरलता से भूल सकता है। क्या तुमने अपने अपराधों पर विचार कर लिया है ?

निवास बड़े वेग में बोल रहा था। बुड्ढा, न जाने क्यों काँप उठा। साइकिल का तीव्र आलोक उसके विकृत मुख पर पड़ रहा था। बुड्ढे का सिर धीरे-धीरे

नीचे झुकने लगा। नीरा चौंककर उठी और एक फटा-सा कम्बल उस बुड्ढे को ओढ़ाने लगी। सहसा बुड्ढे ने सिर उठा कर कहा—मैं इसे मान लेता हूँ कि आपके पास बड़ी अच्छी युक्तियाँ हैं और उनके द्वारा वर्तमान दशा का कारण आप मुझे ही प्रमाणित कर सकते हैं। किन्तु वृक्ष के नीचे पुआल से ढँकी मेरी झोंपड़ी को और उसमें पड़े हुए अनाहार, सर्दी और रोगों से जीर्ण मुझ अभागे को मेरा ही भ्रम बताकर आप किसी बड़े भारी सत्य का आविष्कार कर रहे हैं, तो कीजिए। जाइए, मुझे क्षमा कीजिए।

देवनिवास कुछ बोलने ही बाला था कि नीरा ने दृढ़ता से कहा—आप लोग क्यों बाबा को तंग कर रहे हैं? अब उन्हें सोने दीजिए।

निवास ने देखा कि नीरा के मुख पर आत्म-निर्भरता और संतोष की गम्भीर शान्ति है। स्त्रियों का हृदय अभिलाषाओं का, संसार के सुखों का, क्रीड़ास्थल है; किन्तु नीरा का हृदय, नीरा का मस्तिष्क इस किशोर-अवस्था में ही कितना उदासीन और शान्त है। वह मन-ही-मन नीरा के सामने प्रणत हुआ।

दोनों मित्र उस झोंपड़ी से निकले। रात अधिक बीत चली थी। वे कलकत्ता महानगरी की घनी बस्ती में धीरे-धीरे साइकिल चलाते हुए घुसे। दोनों का हृदय भारी था। वे चुप थे।

देवनिवास का मित्र कच्चा नागरिक नहीं था। उसको अपने आँकड़ों का और उनके उपयोग पर पूरा विश्वास था। वह सुख और दुःख, दरिद्रता और विभव, कटुता और मधुरता की परीक्षा करता। जो उसके काम के होते, उन्हें सम्हाल लेता; फिर अपने मार्ग पर चल देता। सार्वजनिक जीवन का ढोंग रचने में वह पूरा खिलाड़ी था। देवनिवास के आतिथ्य का उपभोग करके अपने लिए कुछ मसाला जुटाकर वह चला गया।

किन्तु निवास की आँखों में, उस रात्रि में बूढ़े की झोपड़ी का दृश्य, अपनी छाया ढालता ही रहा। एक सप्ताह बीतने पर वह फिर उसी ओर चला।

झोपड़ी में बुड्ढा पुआल पर पड़ा था। उसकी आँखें कुछ बड़ी हो गई थीं, ज्वर से लाल थीं। निवास को देखते ही एक रुग्ण हँसी उसके मुँह पर दिखाई दी। उसने धीरे से पूछा—बाबूजी, आज फिर···।

नहीं, मैं वाद-विवाद करने नहीं आया हूँ। तुम क्या बीमार हो?

हाँ, बीमार हूँ बाबूजी, और यह आपकी कृपा है।

मेरी?

हाँ, उसी दिन से आपकी बातें मेरे सिर में चक्कर काटने लगी हैं। मैं ईश्वर पर विश्वास करने की बात सोचनेलगा हूँ। बैठ जाइए, सुनिए।

निवास बैठ गया था। बुड्ढे ने फिर कहना आरम्भ किया—मैं हिन्दू हूँ। कुछ सामान्य पूजा-पाठ का प्रभाव मेरे हृदय पर पड़ा रहा, जिन्हें मैं बाल्यकाल में

अपने घर पर्वों और उत्सवों पर देख चुका था। मुझे ईश्वर के बारे में कभी कुछ बताया नहीं गया। अच्छा, जाने दीजिए, वह मेरी लम्बी कहानी है, मेरे जीवन की संसार से झगड़ते रहने की कथा है। अपनी घोर आवश्यकताओं से लड़ता-झगड़ता मैं कुली बनकर 'मोरिशस' पहुँचा। वहाँ 'कुलसम' से, नीरा की माँ से, मुझसे भेंट हो गई। मेरा उसका ब्याह हो गया। आप हँसिए मत कुलियों के लिए वहाँ किसी काजी या पुरोहित की उतनी आवश्यकता नहीं। हम दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता थी। 'कुलसम' ने मेरा घर बसाया। पहिले वह जैसी रही—किन्तु मेरे साथ सम्बन्ध होने के बाद से आजीवन वह एक साध्वी गृहिणी बनी रही। कभी-कभी वह अपने ढंग पर ईश्वर का विचार करती और मुझे भी इसके लिए प्रेरित करती; किन्तु मेरे मन में जितना 'कुलसम' के प्रति आकर्षण था, उतना ही उसके ईश्वर सम्बन्धी विचारों से विद्रोह। मैं 'कुलसम' के ईश्वर को तो कदापि नहीं समझ सका। मैं पुरुष होने की धारणा से यह तो सोचता था कि 'कुलसम' वैसा ही ईश्वर माने जैसा उसे मैं समझ सकूँ और वह मेरा ईश्वर हिन्दू हो! क्योंकि मैं सब छोड़ सकता था, लेकिन हिन्दू होने का दम्भपूर्ण विचार मेरे मन में दृढ़ता से जम गया था; तो भी समझदार 'कुलसम' के सामने ईश्वर की कल्पना अपने ढंग की उपस्थिति करने का मेरे पास कोई साधन न था। मेरे मन ने ढोंग किया कि मैं नास्तिक हो जाऊँ। जब कभी ऐसा अवसर आता, मैं 'कुलसम' के विचारों की खिल्ली उड़ाता हुआ हँसकर कह देता—'मेरे लिए तो तुम्हीं ईश्वर हो, तुम्हीं खुदा हो, तुम्हीं सब कुछ हो।' वह मुझे चापलूसी करते हुए देखकर हँस तो देती थी, किन्तु उसका रोआँ-रोआँ रोने लगता।

मैं अपनी गाढ़ी कमाई के रुपये तो शराब के प्याले में गलाकर मस्त रहता! मेरे लिए वह भी कोई विशेष बात न थी, न तो मेरे लिए आस्तिक बनने में ही कोई विशेषता थी। धीरे-धीरे मैं उच्छृंखल हो गया। कुलसम रोती, बिलखती और मुझे समझाती; किन्तु मुझे ये सब बातें व्यर्थ की-सी जान पड़तीं। मैं अधिक अविचारी हो उठा। मेरे जीवन का वह भयानक परिवर्तन बड़े वेग से आरम्भ हुआ। कुलसम उस कष्ट को सहन करने के लिए जीवित न रह सकी। उस दिन जब गोली चली थी, तब कुलसम के वहाँ जाने की आवश्यकता न थी। मैं सच कहता हूँ बाबूजी, वह आत्महत्या करने का उसका एक नया ढंग था। मुझे विश्वास होता है कि मैं ही इसका कारण था। इसके बाद मेरी वह सब उद्दण्डता तो नष्ट हो ही गई, जीवन की पूँजी जो मेरा निज का अभिमान था—वह भी चूर-चूर हो गया। मैं नीरा को लेकर भारत के लिए चल पड़ा। तब तक तो मैं ईश्वर के सम्बन्ध से एक उदासीन नास्तिक था; किन्तु इस दुःख ने मुझे विद्रोही बना दिया। मैं अपने कष्टों का कारण ईश्वर को ही समझने लगा और मेरे मन में यह बात जम गई कि यह मुझे दण्ड दिया गया है।

बुड्ढा उत्तेजित हो उठा था। उसका दम फूलने लगा, खाँसी आने लगी। नीरा मिट्टी के घड़े में जल लिए हुए झोपड़ी में आई। उसने देवनिवास को और अपने पिता को अन्वेषक दृष्टि से देखा। यह समझ लेने पर कि दोनों में से किसी के मुख पर कटुता नहीं है, वह प्रकृतिस्थ हुई। धीरे-धीरे पिता का सिर सहलाते हुए उसने पूछा—बाबा, दवा ले आई हूँ, कुछ खा लो।

बुड्ढे ने कहा—ठहरो बेटी! फिर निवास की ओर देखकर कहने लगा—बाबूजी, उस दिन भी जब नीरा के लिए भगवान् को पुकारा था, तब उसी कटुता से। संभव है, इसीलिए वे न आये हों। आज कई दिनों से मैं भगवान् को समझने की चेष्टा कर रहा हूँ। नीरा के लिए मुझे चिन्ता हो रही है। वह क्या करेगी? किसी अत्याचारी के हाथ पड़कर नष्ट तो न हो जायगी?

निवास कुछ बोलने ही को था कि नीरा कह उठी—बाबा, तुम मेरी चिन्ता न करो, भगवान् मेरी रक्षा करेंगे। निवास की अन्तरात्मा पुलकित हो उठी। बुड्ढे ने कहा—करेंगे बेटी? उसके मुख पर व्याकुल प्रसन्नता झलक उठी।

निवास ने बुढ़े की ओर देखकर विनीत स्वर में कहा—मैं नीरा से ब्याह करने के लिए प्रस्तुत हूँ। यदि तुम्हें—

बूढ़े को अबकी खाँसी के साथ ढेर-सा रक्त गिरा, तो भी उसके मुँह पर सन्तोष और विश्वास की प्रसन्न-लीला खेलने लगी। उसने अपने दोनों हाथ निवास और नीरा पर फैलाकर रखते हुए कहा—हे मेरे भगवान्!

□□

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश के काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था।—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखायी पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा—

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वरोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रति वर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते, तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था; इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका को ही मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेयवसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गूँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक कुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली; किन्तु साथ उसमें की स्वर्णमुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे! महाराज की भृकुटी भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए

मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कौशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है, मन्त्रीवर! ···महाराज को भूमि-समर्पण करने में मेरा कोई विरोध न था और न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।—मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—देव! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।—महाराज चौंक उठे—सिंह मित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?

हां, देव!—सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर?—महाराज ने पूछा।

देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुन कर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक-वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाबी खिल रही थी, वह रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुण्डेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षक-गण ऊँघ रहे थे, अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक-कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धुदेश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक-वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का

संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए, परन्तु कोकिल बोल उठा। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया—छि:, कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने वाले धृष्ट, तुम कौन? मधूलिका की आँखें खुल पड़ी। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी।—भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल उस सम्मान···

क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है, देवि!

मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दयी है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी ··।

राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया। मैं दु:ख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।

नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दु:ख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर खिच कर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्नकिरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

मधूलिका ने राजा का प्रतिपादन, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आसपास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था ! ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ा कर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई। दो, नहीं-नहीं, तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था।

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था ? दुःख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण कर सकता था ? और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दरिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रसाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-कह रही थी। 'अभी वह निकल गया।' वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़-गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—राजकुमार !

मधूलिका ?—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों बाद आज फिर !

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु···

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—और आज उसकी यह क्या दशा है ?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—मगध के विद्रोही राजकुमार का

स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे में धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों के साथ रहने की क्या आवश्यकता है।

मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं, भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?

क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम...।

भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ। निराश क्यों हो जाऊँ?—अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।

कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा! तुम अपने छिने हुए खेत भी चिन्ता करके भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार।

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—तुम्हारी इच्छा हो, तो प्राणों से पण लगा कर मैं तुम्हें इस कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी? मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी···नहीं; किन्तु उसके मुँह से निकला—क्या?

सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकाँश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगी। दारुण भावना से उसका

मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—तुम बोलती नहीं हो?

जो कहोगे, वह करूँगी···मंत्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

स्वर्णमंच पर कोशल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किए हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचालित हो रहे हैं। ताम्बूल वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है?

तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।

मूर्ख! फिर क्या चाहिए?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे सहायक मिल गया। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी बनाना होगा।

महाराज ने कहा—कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।

तो फिर निराश लौट जाऊँ?

सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना···

देव! जैसी आज्ञा हो!

जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।

जय हो देव!—कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है, आज मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे वे मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक-दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उसी निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरण झुरमुट में घुस कर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगी। अरुण ने कहा—चार प्रहर और, विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके !

भयानक ! अरुण, तुम्हारा साहस देख मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम···

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?

अवश्य, तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मंदिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुन्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्द्धरात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए; तब रात्रि भर के लिए विदा ! मधूलिके !

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से, बढ़ने वाले अन्धकार में वह झोपड़ी की ओर चली।

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़-तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो ? श्रावस्ती दुर्ग के एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय ? मगध का चिरशत्रु ! ओह, उसकी विजय ! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र, कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं, 'नहीं, मधूलिका ! मधूलिका !!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी

सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित होती जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वाल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोक कर कहा—कौन? कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—तू कौन है, स्त्री? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—बाँध लो, मुझे बाँध लो। मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े, बोले—पगली है।

पगली नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है, स्पष्ट कह!

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जाएगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—तू क्या कह रही है?

मैं सच कह रही हूँ; शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रांतों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके, तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे।

सेनापति की जय हो! दो सौ।

उन्हें शीघ्र ही एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हों।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत

हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने उन्हें कहा—जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—सिंहमित्र की कन्या! फिर यहाँ क्यों? क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है। कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?

देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—मधूलिका, यह सत्य है!

हाँ, देव!

राजा ने सेनापति से कहा—सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो। मैं अभी आता हूँ! सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततार्इयों का प्रबन्ध कर लूँ।

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार करते हुए कहा—'वध करो!' राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—'प्राण-दण्ड।' मधूलिका बुलाई गयी। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग। वह चुप रही।

राजा ने कहा—मेरी निज की जितनी खेती है, मैं सब तुम्हें देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले। कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

□□

इन्द्रजाल

इन्द्रजाल

गाँव के बाहर, एक छोटे-से बंजर में कंजरों का दल पड़ा था। उस परिवार में टट्टू, भसे और कुत्तों को मिलाकर इक्कीस प्राणी थे। उनका सरदार मैंकू, लम्बी-चौड़ी हड्डियोंवाला एक अधेड़ पुरुष था। दया-माया उसके पास फटकने नहीं पाती थी। उसकी घनी दाढ़ी और मूछों के भीतर प्रसन्नता की हँसी छिपी ही रह जाती। गाँव में भीख माँगने के लिए जब कंजरों की स्त्रियाँ जातीं, तो उनके लिए मैंकू की आज्ञा थी कि कुछ न मिलने पर अपने बच्चों को निर्दयता से गृहस्थ के द्वार पर जो स्त्री न पटक देगी, उसको भयानक दण्ड मिलेगा।

उस निदय भुण्ड में गाने वाली एक लड़की थी।और एक बाँसुरी बजाने वाला युवक। ये दोनों भी गा-बजाकर जो पाते, वह मैंकू के चरणों में लाकर रख देते। फिर भी गोली और बेला की प्रसन्नता की सीमा न थी। उन दोनों का नित्य सम्पर्क ही उनके लिए स्वर्गीय सुख था। इन घुमक्कड़ों के दल में ये दोनों विभिन्न रुचि के प्राणी थे। बेला बेड़िन थी। माँ के मर जाने पर अपने शराबी और अकर्मण्य पिता के साथ वह कंजरों के हाथ लगी। अपनी माता के गाने-बजाने का संस्कार उसकी नस-नस में भरा था। वह बचपन से ही अपनी माता का अनुकरण करती हुई अलापती रहती थी।

शासन की कठोरता के कारण कंजड़ों का डाका और लड़कियों के चुराने का व्यापार बन्द हो चला था। फिर भी मैंकू अवसर से नहीं चूकता। अपने दल की उन्नति में बराबर लगा ही रहता। इस तरह गोली के बाप के मर जाने पर—जो एक चतुर नट था—मैंकू ने उसकी खेल की पिटारी के साथ गोली पर भी अधिकार जमाया। गोली महुअर तो बजाता ही था, पर बेला का साथ होने पर उसने बाँसुरी बजाने में अभ्यास किया। पहले तो उसकी नट-विद्या में बेला भी मनोयोग से लगी; किन्तु दोनों को भानुमती वाली पिटारी ढोकर दो-चार पैसे कमाना अच्छा न लगा। दोनों को मालूम हुआ कि दर्शक उस खेल से अधिक उसका गाना पसन्द करते हैं। दोनों का भुकाव उसी ओर हुआ। पैसा भी मिलने लगा। इन नवागन्तुक बाहरियों की कंजरों के दल में प्रतिष्ठा बढ़ी।

बेला साँवली थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोकपिण्ड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो

हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती। फिर भी गोली से अभी उसका ब्याह नहीं हुआ था।

गोली जब बाँसुरी बजाने लगता, तब बेला के साहित्यहीन गीत जैसे प्रेम के माधुर्य की व्याख्या करने लगते। गाँव के लोग उसके गीतों के लिए कंजरों को शीघ्र हटाने का उद्योग नहीं करते ! जहाँ अपने अन्य सदस्यों के कारण कंजरों का वह दल घृणा और भय का पात्र था, वहाँ गोली और बेला का संगीत आकर्षण के लिए पर्याप्त था; किन्तु इसी में एक व्यक्ति का अवांछनीय सहयोग भी आवश्यक था। वह था भूरे, छोटी-सी ढोल लेकर उसे भी बेला का साथ करना पड़ता।

भूरे सचमुच भूरा भेड़िया था। गोली अधरों से बाँसुरी लगाये अर्द्धनिमीलित आँखों के अंतराल से, बेला के मुख को देखता हुआ जब हृदय की फूंक से बाँस के टुकड़े को अनुप्राणित कर देता, तब विकट घृणा से ताड़ित होकर भूरे की भयानक थाप ढोल पर जाती। क्षण-भर के लिए जैसे दोनों चौंक उठते।

उस दिन ठाकुर के गढ़ में बेला का दल गाने के लिए गया था। पुरस्कार में कपड़े-रुपये तो मिले ही थे; बेला को एक अँगूठी भी मिली थी। मैकू उन सबको देखकर प्रसन्न हो रहा था। इतने में सिरकी के बाहर कुछ हल्ला सुनाई पड़ा। मैकू ने बाहर आकर देखा कि भूरे और गोली में लड़ाई हो रही थी। मैकू के कर्कश स्वर से दोनों भयभीत हो गये। गोली ने कहा—"मैं बैठा था, भूरे ने मुझको गालियाँ दीं। फिर भी मैं न बोला, इस पर उसने मुझे पैर से ठोकर लगा दी।"

"और यह समझता है कि मेरी बाँसुरी के बिना बेला गा ही नहीं सकती। मुझसे कहने लगा कि आज तुम ढोलक बेताल बजा रहे थे" भूरे का कंठ क्रोध से भर्राया हुआ था।

मैकू हँस पड़ा। वह जानता था कि गोली युवक होने पर भी सुकुमार और अपने प्रेम की माधुरी में विह्वल, लजीला और निरीह था। अपने को प्रमाणित करने की चेष्टा उसमें थी ही नहीं। वह आज जो कुछ उग्र हो गया, इसका कारण है केवल भूरे की प्रतिद्वन्द्विता।

बेला भी वहाँ आ गयी थी। उसने घृणा से भूरे की ओर देखकर कहा—

'तो क्या तुम सचमुच बेताल नहीं बजा रहे थे ?'

"मैं बेताल न बजाऊँगा, तो दूसरा कौन बजावेगा। अब तो तुमको नये यार न मिले हैं। बेला ! तुझको मालूम नहीं कि तेरा बाप मुझसे तेरा ब्याह ठीक करके मरा है। इसी बात पर मैंने उसे अपना नैपाली का दोगला टट्टू दे दिया था, जिस पर अब भी तू चढ़कर चलती है।" भूरे का मुँह क्रोध के झाग से भर गया था। वह और भी कुछ बकता; किन्तु मैकू की डाँट पड़ी। सब चुप हो गये।

उस निर्जन प्रान्त में जब अंधकार खुले आकाश के नीचे तारों से खेल रहा

था, तब बेला बैठी कुछ गुनगुना रही थी।

कंजरों की झोपड़ियों के पास ही पलाश का छोटा-सा जंगल था। उनमें बेला के गीत गूँज रहे थे। जैसे कमल के पास मधुकर को जाने से कोई रोक नहीं सकता; उसी तरह गोली भी कब माननेवाला था। आज उसके निरीह हृदय में संघर्ष के कारण आत्मविश्वास का जन्म हो गया था। अपने प्रेम के लिए, अपने वास्तविक अधिकार के लिए झगड़ने की शक्ति उत्पन्न हो गयी थी। उसका छुरा कमर में था। हाथ में बाँसुरी थी। बेला की गुनगुनाहट बन्द होते ही बाँसुरी में गोली उसी तान को दुहराने लगा। दोनों वन-विहंगम की तरह उस अँधेरे कानन में किलकारने लगे। आज प्रेम के आवेश ने आवरण हटा दिया था, वे नाचने लगे। आज तारों की क्षीण ज्योति में हृदय-से-हृदय मिले, पूर्ण आवेग में। आज बेला के जीवन में यौवन का और गोली के हृदय में पौरुष का प्रथम उन्मेष था।

किन्तु भूरा भी वहाँ आने से नहीं रुका। उसके हाथ में भयानक छुरा था। आलिंगन में आबद्ध बेला ने चीत्कार किया। गोली छटक कर दूर जा खड़ा हुआ, किन्तु घाव ओछा लगा।

बाघ की तरह झपट कर गोली ने दूसरा वार किया। भूरे सम्हाल न सका। फिर तीसरा वार चलाना ही चाहता था कि मैकू ने गोली का हाथ पकड़ लिया। वह नीचे सिर किये खड़ा रहा।

मैकू ने कड़क कर—"बेला, भूरे से तुझे ब्याह करना ही होगा। यह खेल अच्छा नहीं।"

उसी क्षण सारी बातें गोली के मस्तक में छाया-चित्र-सी नाच उठीं। उसने छुरा धीरे से गिरा दिया। उसका हाथ छूट गया। जब बेला और मैकू भूरे का हाथ पकड़ कर ले चले, तब गोली कहाँ जा रहा है, इसका किसी को ध्यान न रहा।

2

कंजर-परिवार में बेला भूरे की स्त्री मानी जाने लगी। बेला ने भी सिर झुका कर इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु उसे पलाश के जंगल में संध्या के समय जाने से कोई भी नहीं रोक सकता था। उसे जैसे सायंकाल में एक हलका-सा उन्माद हो जाता। भूरे या मैकू भी उसे वहाँ जाने से रोकने में असमर्थ थे। उसकी दृढ़ता-भरी आँखों से घोर विरोध नाचने लगता।

बरसात का आरम्भ था। गाँव की ओर से पुलिस के पास कोई विरोध की सूचना भी नहीं मिली थी। गाँव वालों की छुरी-हँसिया और काठ-कबाड़ के कितने ही काम बनाकर वे लोग पैसे लेते थे। कुछ अन्न यों भी मिल जाता। चिड़ियां पकड़ कर, पक्षिओं का तेल बनाकर, जड़ी-बूटी की दवा तथा उत्तेजक

औषधियों और मदिरा का व्यापार करके, कंजरों ने गाँव तथा गढ़ के लोगों से सद्भाव भी बना लिया था। सबके ऊपर आकर्षण बाँसुरी जब उसके साथ नहीं बजती थी, तब भी बेला के गले में एक ऐसी नयी टीस उत्पन्न हो गयी थी, जिसमें बाँसुरी का स्वर सुनाई पड़ता था।

अन्तर में भरे हुए निष्फल प्रेम से युवती का सौन्दर्य निखर आया था। उसके कटाक्ष अलस, गति मदिर और वाणी झंकार से भर गयी थी। ठाकुर साहब के गढ़ में उसका गाना प्रायः हुआ करता था।

छींट का घाघरा और चोली, उस पर गोटे से ढँकी हुई ओढ़नी सहज ही खिसकती रहती। कहना न होगा कि आधा गाँव उसके लिए पागल था। बालक पास से, युवक ठीक-ठिकाने से और बूढ़े अपनी मर्यादा, आदर्शवादिता की रक्षा करते हुए दूर से उसकी तान सुनने के लिए, एक झलक देखने के लिए घात लगाये रहते।

गढ़ के चौक में जब उनका गाना जमता, तो दूसरा काम करते हुए अन्यमनस्कता की आड़ में मनोयोग से और कनखियों से ठाकुर उसे देख लिया करते।

मैकू घाघ था। उसने ताड़ लिया। उस दिन संगीत बन्द होने पर पुरस्कार मिल जाने पर और भूरे के साथ बेला के गढ़ के बाहर जाने पर भी मैकू वहीं थोड़ी देर तक खड़ा रहा। ठाकुर ने उसे देखकर पूछा—"क्या है?"

"सरकार! कुछ कहना है।"

"क्या?"

"यह छोकरी इस गाँव से जाना नहीं चाहती, उधर पुलिस तंग कर रही है।"

"जाना नहीं चाहती, क्यों?"

"वह तो घूम-धाम कर गढ़ में आ जाती है। खाने को मिल जाता है।..."

मैकू आगे की बात चुप होकर कुछ-कुछ संकेत-भरी मुस्कराहट से कह देना चाहता था।

ठाकुर के मन में हलचल होने लगी। उसे दबाकर प्रतिष्ठा का ध्यान करके ठाकुर ने कहा—

"तो मैं क्या करूँ?"

"सरकार! वह तो साँझ होते ही पलाश के जंगल में अकेली चली जाती है। वहीं बैठी हुई बड़ी रात तक गाया करती है।"

"हूँ!"

"एक दिन सरकार धमका दें, हम लोग उसे ले-देकर आगे कहीं चले जायँ।"

"अच्छा।"

मैकू जाल फैलाकर चला आया। एक हजार की बोहनी की कल्पना करते वह अपनी सिरकी में बैठकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

बेला के सुंदर अंग की मेघ-माला प्रेमराशि की रजत-रेखा से उद्भासित हो उठी थी। उसके हृदय में यह विश्वास जम गया था कि भूरे के साथ घर बसाना गोली के प्रेम के साथ विश्वासघात करना है। उसका वास्तविक पति तो गोली ही है। बेला में यह उच्छृङ्खल भावना विकट ताण्डव करने लगी। उसके हृदय में वसन्त का विकास था। जंगल में मलयानिल की गति थी। कंठ में वनस्थली की काकली थी। आँखों में कुसुमोत्सव था और प्रत्येक आन्दोलन में परिमल का उद्गार था। उसकी मादकता बरसाती नदी की तरह वेगवती थी।

आज उसने अपने जूड़े में जंगली करौंदे के फूलों की माला लपेट कर, भरी मस्ती में जंगल की ओर चलने के लिए पैर बढ़ाया, तो भूरे ने डाँट कर कहा—"कहाँ चली?"

"यार के पास।" उसने छूटते ही कहा। बेला के सहवास में आने पर अपनी लघुता को जानते हुए मसोस कर भूरे ने कहा—"तू खून कराये बिना चैन न लेगी।"

बेला की आँखों में गोली का और उसके परिवर्धमान प्रेमांकुर का चित्र था, जो उसके हट जाने पर विरह-जल से हरा-भरा हो उठा। बेला पलाश के जंगल में अपने बिछुड़े हुए प्रियतम के उद्देश्य से दो-चार विरह-वेदना की तानों की प्रतिध्वनि छोड़ आने का काल्पनिक सुख नहीं छोड़ सकती थी।

उस एकांत सन्ध्या में बरसाती झिल्लियों की झनकार से वायुमण्डल गूँज रहा था। बेला अपने परिचित पलाश के नीचे बैठकर गाने लगी—

चीन्हत नाहीं बदल गए नैना···

ऐसा मालूम होता था कि सचमुच गोली उस अंधकार में अपरिचित की तरह मुँह फिराकर चला जा रहा है। बेला की मनोवेदना को पहचानने की क्षमता उसने खो दी है।

बेला का एकांत में विरह-निवेदन उसकी भाव-प्रवणता को और भी उत्तेजित करता था। पलाश का जंगल उसकी कातर कुहुक से गूँज रहा था। सहसा उस निस्तब्धता को भंग करते हुए घोड़े पर सवार ठाकुर साहब वहाँ आ पहुँचे।

"अरे बेला! तू यहाँ क्या कर रही है?"

बेला की स्वर-लहरी रुक गयी थी। उसने देखा ठाकुर साहब! महत्त्व का सम्पूर्ण चित्र, कई बार जिसे उसने अपने मन की असंयत कल्पना में दुर्गम शैल-शृंग समझकर अपने भ्रम पर अपनी हँसी उड़ा चुकी थी। वह सकुचाकर खड़ी हो रही। बोली नहीं, मन में सोच रही थी—"गोली को छोड़कर भूरे के साथ रहना

क्या उचित है ? और नहीं तो फिर···"

ठाकुर ने कहा—"तो तुम्हारे साथ कोई नहीं है। कोई जानवर निकल आवे, तो ?"

बेला खिलखिला कर हँस पड़ी। ठाकुर का प्रमाद बढ़ चला था। घोड़े से झुककर उसका कंधा पकड़ते हुए कहा, "चलो, तुमको पहुँचा दें।"

उसका शरीर काँप रहा था, और ठाकुर आवेश में भर रहे थे। उन्होंने कहा—"बेला, मेरे यहाँ चलोगी ?"

"भूरे मेरा पति है !" बेला के इस कथन में भयानक व्यंग था। वह भूरे से छुटकारा पाने के लिए तरस रही थी। उसने धीरे से अपना सिर ठाकुर की जाँघ से सटा दिया। एक क्षण के लिए दोनों चुप थे। फिर उसी समय अन्धकार में दो मूर्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। कठोर कंठ से भूरे ने पुकारा—"बेला !"

ठाकुर सावधान हो गए थे। उनका हाथ बगल की तलवार की मूठ पर जा पड़ा। भूरे ने कहा—"जंगल में किसलिए तू आती थी, यह मुझे आज मालूम हुआ। चल, तेरा खून पिये बिना न छोड़ूँगा।"

ठाकुर के अपराध का आरम्भ तो उनके मन में हो ही चुका था। उन्होंने अपने को छिपाने का प्रयत्न छोड़ दिया। कड़ककर बोले—"खून करने के पहले अपनी बात भी सोच लो, तुम मुझ पर सन्देह करते हो, तो यह तुम्हारा भ्रम है। मैं तो···"

अब मैकू आगे आया। उसने कहा—"सरकार ! बेला अब कंजरों के दल में नहीं रह सकेगी।"

"तो तुम क्या कहना चाहते हो ?" ठाकुर साहब अपने में आ रहे थे, फिर भी घटना-चक्र से विवश थे।

"अब यह आपके पास रह सकती है। भूरे इसे लेकर हम लोगों के संग नहीं रह सकता।" मैकू पूरा खिलाड़ी था। उसके सामने उस अन्धकार में रुपए चमक रहे थे।

ठाकुर को अपने अहंकार का आश्रय मिला। थोड़ा-सा विवेक, जो उस अन्धकार में झिलमिला रहा था, बुझ गया। उन्होंने कहा—

"तब तुम क्या चाहते हो ?"

'एक हजार।"

"चलो, मेरे साथ"—कह कर बेला का हाथ पकड़कर ठाकुर ने घोड़े को आगे बढ़ाया। भूरे कुछ भुनभुना रहा था; पर मैकू ने उसे दूसरी ओर भेजकर ठाकुर का संग पकड़ लिया। बेला रिकाब पकड़े चली जा रही थी।

दूसरे दिन कंजरों का दल उस गाँव से चला गया।

3

ऊपर की घटना को कई साल बीत गये। बेला ठाकुर साहब की एकमात्र प्रेमिका समझी जाती है। अब उसकी प्रतिष्ठा अन्य कुल-बधुओं की तरह होने लगी है। नये उपकरणों से उसका घर सजाया गया है। उस्तादों से गाना सीखा है। गढ़ के भीतर ही उसकी छोटी-सी साफ-सुथरी हवेली है। ठाकुर साहब की उमंग की रातें वहीं कटती हैं। फिर भी ठाकुर कभी-कभी प्रत्यक्ष देख पाते कि बेला उनकी नहीं है! वह न जाने कैसे एक भ्रम में पड़ गये। बात निबाहने की आ पड़ी।

एक दिन एक नट आया। उसने अनेक तरह के खेल दिखलाये। उसके साथ उसकी स्त्री थी, वह घूँघट ऊँचा नहीं करती थी। खेल दिखलाकर जब अपनी पिटारी लेकर जाने लगा, तो कुछ मनचले लोगों ने पूछा—

"क्यों जी, तुम्हारी स्त्री कोई खेल नहीं करती क्या?"

"करती तो है सरकार! फिर किसी दिन दिखलाऊँगा।" कहकर वह चला गया; किन्तु उसकी बाँसुरी की धुन बेला के कानों में उन्माद का आह्वान सुना रही थी। पिंजड़े की वन-विहंगनी को वसन्त की फूली हुई डाली का स्मरण हो आया था।

दूसरे दिन गढ़ में भारी जमघट लगा। गोली का खेल जम रहा था। सब लोग उसके हस्त-कौशल में मुग्ध थे। सहसा उसने कहा—

"सरकार! एक बड़ा भारी दैत्य आकाश में आ गया है, मैं उससे लड़ने जाता हूँ, मेरी स्त्री की रक्षा आप लोग कीजिएगा।"

गोली ने एक डोरी निकाल कर उसको ऊपर आकाश की ओर फेंका। वह सीधी तन गयी। सबके देखते-देखते गोली उसी के सहारे आकाश में चढ़कर अदृश्य हो गया। सब लोग मुग्ध होकर भविष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे। किसी को यह ध्यान नहीं रहा कि स्त्री अब कहाँ है।

गढ़ के फाटक की ओर सबकी दृष्टि फिर गयी। गोली लहू से रँगा चला आ रहा था। उसने आकर ठाकुर को सलाम किया और कहा—"सरकार! मैंने उस दैत्य को हरा दिया। अब मुझे इनाम मिलना चाहिए।"

सब लोग उस पर प्रसन्न होकर पैसों-रुपयों की बौछार करने लगे। उसने झोली भर कर इधर-उधर देखा, फिर कहा—

"सरकार, मेरी स्त्री भी अब मिलनी चाहिए, मैं भी···।" किन्तु यह क्या, वहाँ तो उसकी स्त्री का पता नहीं। गोली सिर पकड़ कर शोक-मुद्रा में बैठ गया। जब खोजने पर उसकी स्त्री नहीं मिली, तो उसने चिल्लाकर कहा—"यह अन्याय इस राज्य में नहीं होना चाहिए। मेरी सुन्दरी स्त्री को ठाकुर साहब ने

गढ़ के भीतर कहीं छिपा दिया। मेरी योगिनी कह रही है।" सब लोग हँसने लगे। लोगों ने समझा, यह कोई दूसरा खेल दिखलाने जा रहा है। ठाकुर ने कहा—"तो तू अपनी सुन्दर स्त्री मेरे गढ़ में से खोज ला!" अन्धकार होने लगा था। उसने जैसे घबड़ाकर चारों ओर देखने का अभिनय किया। फिर आंख मूंद कर सोचने लगा।

लोगों ने कहा—"खोजता क्यों नहीं? कहाँ है तेरी सुन्दरी स्त्री?"

"तो जाऊँ न सरकार?"

"हाँ, हाँ, जाता क्यों नहीं"—ठाकुर ने भी हँस कर कहा।

गोली नयी हवेली की ओर चला। वह निःशंक भीतर चला गया। बेला बैठी हुई तन्मय भाव से बाहर की भीड़ झरोखे से देख रही थी। जब उसने गोली को समीप आते देखा, तो वह काँप उठी। कोई दासी वहाँ न थी। सब खेल देखने में लगी थीं। गोली ने पोटली फेंक कर कहा—"बेला! जल्द चलो।"

बेला के हृदय में तीव्र अनुभूति जाग उठी थी। एक क्षण में उस दीन भिखारी की तरह—जो एक मुट्ठी भीख के बदले अपना समस्त संचित आशीर्वाद दे देना चाहता है—वह वरदान देने के लिए प्रस्तुत हो गयी। मन्त्र-मुग्ध की तरह बेला ने उस ओढ़नी का घूँघट बनाया। वह धीरे-धीरे उसके पीछे भीड़ में आ गयी। तालियाँ पिटीं। हँसी का ठहाका लगा। वही घूँघट, न खुलनेवाला घूँघट सायं-कालीन समीर से हिल कर रह जाता था। ठाकुर साहब हँस रहे थे। गोली दोनों हाथों से सलाम कर रहा था।

रात हो चली थी। भीड़ के बीच में गोली बेला को लिए जब फाटक के बाहर पहुँचा, तब एक लड़के ने आकर कहा—"एक्का ठीक है।"

तीनों सीधे उस पर जाकर बैठ गये। एक्का वेग से चल पड़ा।

अभी ठाकुर साहब का दरबार जम रहा था और नट के खेलों की प्रशंसा हो रही थी।

□□

सलीम

पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में एक छोटी-सी नदी के किनारे, पहाड़ियों से घिरे हुए उस छोटे-से गाँव पर, सन्ध्या अपनी धुँधली चादर डाल चुकी थी। प्रेमकुमारी

वासुदेव के निमित्त पीपल के नीचे दीपदान करने पहुँची। आर्य-संस्कृति में अश्वत्थ की वह मर्यादा अनार्य-धर्म के प्रचार के बाद भी उस प्रान्त में बची थी, जिसमें अश्वत्थ चैत्य-वृक्ष या वासुदेव का आवास समझ कर पूजित होता था। मन्दिरों के अभाव में तो बोधि-वृक्ष ही देवता की उपासना का स्थान था। उसी के पास लेखराम की बहुत पुरानी परचून की दुकान और उसी से सटा हुआ छोटा-सा घर था। बूढ़ा लेखराम एक दिन जब 'रामा राम जै जै रामा' कहता हुआ इस संसार से चला गया, तब से वह दुकान बन्द थी। उसका पुत्र नन्दराम सरदार सन्तसिंह के साथ घोड़ों के व्यापार के लिए यारकन्द गया था। अभी उसके आने में विलम्ब था। गाँव में दस घरों की बस्ती थी, जिसमें दो-चार खत्रियों के और एक घर पण्डित लेखराम मिसर का था। वहाँ के पठान भी शान्तिपूर्ण व्यवसायी थे। इसीलिए वजीरियों के आक्रमण से वह गाँव सदा सशंक रहता था। गुलमुहम्मद खाँ—सत्तर वर्ष का बूढ़ा—उस गाँव का मुखिया—प्राय: अपनी चारपाई पर अपनी चौपाल में पड़ा हुआ काले-नीले पत्थरों की चिकनी मनियों की माला अपनी लम्बी-लम्बी उँगलियों में फिराता हुआ दिखाई देता। कुछ लोग अपने-अपने ऊँट लेकर बनिज-व्यापार के लिए पास की मण्डियों में गये थे। लड़के बंदूकें लिए पहाड़ियों के भीतर शिकार के लिए चले गये थे।

प्रेमकुमारी दीप-दान और खीर की थाली वासुदेव को चढ़ाकर अभी नमस्कार कर रही थी कि नदी के उतार में अपनी पतली-दुबली काया में लड़खड़ाता हुआ, एक थका हुआ मनुष्य उसी पीपल के पास आकर बैठ गया। उसने आश्चर्य से प्रेमकुमारी को देखा। उसके मुंह से निकल पड़ा—"काफिर...!"

बन्दूक कन्धे पर रक्खे और हाथ में एक मरा हुआ पक्षी लटकाये वह दौड़ता चला आ रहा था। पत्थरों की नुकीली चट्टानें उसके पैर को छूती ही न थीं। मुँह से सीटी बज रही थी। वह था गुलमुहम्मद का सोलह बरस का लड़का अमीरखाँ! उसने आते ही कहा—"प्रेमकुमारी, तू थाली उठाकर भागी क्यों जा रही है? मुझे तो आज खीर खिलाने के लिए तूने कह रक्खा था।"

"हाँ भाई अमीर! मैं अभी और ठहरती; पर क्या करूँ, यह देख न, कौन आ गया है! इसीलिए मैं घर जा रही थी।"

अमीर ने आगन्तुक को देखा। उसे न जाने क्यों क्रोध आ गया। उसने कड़े स्वर से पूछा—"तू कौन है?"

"एक मुसलमान"—उत्तर मिला।

अमीर ने उसकी ओर से मुँह फिराकर कहा—"मालूम होता है कि तू भी भूखा है। चल, मुझे बाबा से कहकर कुछ खाने को दिलवा दूँगा। हाँ, इस खीर में से तो तुझे नहीं मिल सकता। चल न वहीं, जहाँ आग जलती दिखाई दे रही है।" फिर उसने प्रेमकुमारी से कहा—"तू मुझे क्यों नहीं देती? वह सब आ

जाएँगे, तब तेरी खीर मुझे थोड़ी ही सी मिलेगी।"

सीटियों के शब्द से वायु-मण्डल गूँजने लगा था। नटखट अमीर का हृदय चंचल हो उठा। उसने ठुनककर कहा—"तू मेरे हाथ पर ही देती जा और मैं खाता जाऊँ।"

प्रेमकुमारी हँस पड़ी। उसने खीर दी। अमीर ने उसे मुँह से लगाया ही था कि नवागन्तुक मुसलमान चिल्ला उठा। अमीर ने उसकी ओर अबकी बार बड़े क्रोध से देखा। शिकारी लड़के पास आ गये थे। वे सब-के-सब अमीर की तरह लम्बी-चौड़ी हड्डियों वाले स्वस्थ, गोरे और स्फूर्ति से भरे हुए थे। अमीर खीर मुँह में डालते हुए न जाने क्या कह उठा और लड़के आगन्तुक को घेर कर खड़े हो गये। उससे कुछ पूछने लगे। उधर अमीर ने अपना हाथ बढ़ाकर खीर माँगने का संकेत किया। प्रेमकुमारी हँसती जाती थी और उसे देती जाती थी। तब भी अमीर उसे तरेरते हुए अपनी आँखों में और भी देने को कह रहा था। उसकी आँखों में से अनुनय, विनय, हठ, स्नेह सभी तो माँग रहे थे, फिर प्रेमकुमारी सबके लिए एक-एक ग्रास क्यों न देती? नटखट अमीर एक आँख से लड़कों को, दूसरी आँख से प्रेमकुमारी को उलझाये हुए खीर गटकता जाता था। उधर वह नवागन्तुक मुसलमान अपनी टूटी-फूटी पश्तो में लड़के से 'काफिर' का प्रसाद खाने की अमीर की धृष्टता का विरोध कर रहा था। वे आश्चर्य से उसकी बातें सुन रहे थे। एक ने चिल्लाकर कहा—"अरे देखो, अमीर तो सब खीर खा गया।"

सब लड़के घूमकर अब प्रेमकुमारी को घेर कर खड़े हो गए। वह सबके उजले-उजले हाथों पर खीर देने लगी। आगन्तुक ने फिर चिल्लाकर कहा—क्या तुम सब मुसलमान हो?"

लड़कों ने एक स्वर से कहा—"हाँ, पठान।"

"और उस काफिर की दी हुई...?"

"यह मेरी पड़ोसिन है!"—एक ने कहा।

"यह मेरी बहन है।" दूसरे ने कहा।

"नन्दराम बन्दूक बहुत अच्छी चलाता है।"—तीसरे ने कहा।

"ये लोग कभी झूठ नहीं बोलते"—चौथे ने कहा।

"हमारे गाँव के लिए इन लोगों ने कई लड़ाइयाँ की हैं।"—पाँचवें ने कहा।

"हम लोगों को घोड़े पर चढ़ाना नन्दराम ने सिखलाया है। वह बहुत अच्छा सवार है।"—छठे ने कहा।

"और नन्दराम ही तो हम लोगों को गुड़ खिलाता है।"—सातवें ने कहा।

"तुम चोर हो।"—यह कहकर लड़कों ने अपने-अपने हाथ की खीर खा

डाली और प्रेमकुमारी हँस पड़ी। सन्ध्या उस पीपल की घनी छाया में पुंजीभूत हो रही थी। पक्षियों का कोलाहल शान्त होने लगा था। प्रेमकुमारी ने सब लड़कों से घर चलने के लिए कहा, अमीर ने भी नवागन्तुक से कहा—"तुझे भूख लगी हो, तो हम लोगों के साथ चल।" किन्तु वह तो अपने हृदय के विष से छटपटा रहा था। जिसके लिए वह हिजरत करके भारत से चला आया था, उस धर्म का मुसलमान-देश में भी यह अपमान! वह उदास मुँह से उसी अन्धकार में कट्टर दुर्दान्त वजीरियों के गाँवों की ओर चल पड़ा।

2

नन्दराम पूरा साढ़े छः फुट का बलिष्ठ युवक था। उसके मस्तक में केसर का टीका न लगा रहे, तो कुलाह और सलवार में वह सोलहों आने पठान ही जँचता। छोटी-छोटी भूरी मूँछें खड़ी रहती थीं। उसके हाथ में कोड़ा रहना आवश्यक था। उसके मुख पर संसार की प्रसन्न आकांक्षा हँसी बनकर खेला करती। प्रेमकुमारी उसके हृदय की प्रशान्त नीलिमा में उज्ज्वल बृहस्पति ग्रह की तरह झलमलाया करती थी। आज वह बड़ी प्रसन्नता में अपने घर की ओर लौट रहा था। सन्तसिंह के घोड़े अच्छे दामों में बिके थे। उसे पुरस्कार भी अच्छा मिला था। वह स्वयं अच्छा घुड़सवार था। उसने अपना घोड़ा भी अधिक मूल्य पाकर बेच दिया था। रुपये पास में थे। वह एक ऊँचे ऊँट पर बैठा हुआ चला आ रहा था। उसके साथी लोग बीच की मण्डी में रुक गये थे; किन्तु काम हो जाने पर, उसे तो प्रेमकुमारी को देखने की धुन सवार थी। ऊपर सूर्य की किरणें झलमला रही थीं। बीहड़ पहाड़ी पथ था। कोसों तक कोई गाँव नहीं था। उस निर्जनता में वह प्रसन्न होकर गाता आ रहा था।

"वह पथिक कैसे रुकेगा, जिसके घर के किवाड़ खुले हैं और जिसकी प्रेममयी युवती स्त्री अपनी काली आँखों से पति की प्रतीक्षा कर रही है।"

"बादल बरसते हैं, बरसने दो। आँधी उसके पथ में बाधा डालती है। वह उड़ जायगी। धूप पसीना बहाकर उसे शीतल कर लेगा, वह तो घर की ओर आ रहा है। उन कोमल भुज-लताओं का स्निग्ध-आलिंगन और निर्मल दुलार प्यासे को निर्झर और बर्फीली रातों की गर्मी है।"

"पथिक! तू चल-चल, देख, तेरी प्रियतमा की सहज नशीली आँखें तेरी प्रतीक्षा में जागती हुई अधिक लाल हो गई हैं। उनमें आँसू की बूंद न आने पावे।"

पहाड़ी प्रान्त को कम्पित करता हुआ बन्दूक का शब्द प्रतिध्वनित हुआ। नन्दराम का सिर घूम पड़ा। गोली सर्र से कान के पास से निकल गयी। एक बार उसके मुँह से निकल पड़ा—"वजीरी!" वह झुक गया। गोलियाँ चल चुकी

थीं। सब खाली गयीं। नन्दराम ने सिर उठाकर देखा, पश्चिम की पहाड़ी में झाड़ों के भीतर दो-तीन सिर दिखायी पड़े। बन्दूक साध कर उसने गोली चला दी।

दोनों तरफ से गोलियाँ चलीं। नन्दराम की जाँघ को छीलती हुई एक गोली निकल गयी। और सब बेकार रहीं। उधर दो वजीरियों की मृत्यु हुई। तीसरा कुछ भयभीत होकर भाग चला। तब नन्दराम ने कहा—"नन्दराम को नहीं पहचानता था? ले, तू भी कुछ लेता जा।" उस वजीरी के भी पैर में गोली लगी। वह बैठ गया। और नन्दराम अपने ऊँट पर घर की ओर चला।

सलीम नन्दराम के गाँव से धर्मोन्माद के नशे में चूर इन्हीं सहधर्मियों में आकर मिल गया था। उसके भाग्य से नन्दराम की गोली उसे नहीं लगी। वह झाड़ियों में छिप गया था। घायल वजीरी ने उससे कहा—"तू परदेशी भूखा बनकर इसके साथ जाकर घर देख आ। इसी नाले से उतर जा। वह तुझे आगे मिल जायगा।" सलीम उधर ही चला।

नन्दराम अब निश्चित होकर धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ रहा था। सहसा उसे कराहने का शब्द सुन पड़ा। उसने ऊँट रोककर सलीम से पूछा—"क्या है भाई? तू कौन है?"

सलीम ने कहा—"भूखा परदेशी हूँ। चल भी नहीं सकता। एक रोटी और दो घूँट पानी!"

नन्दराम ने ऊँट बैठाकर उसे अच्छी तरह देखते हुए फिर पूछा—"तुम यहाँ कैसे आ गये?"

"मैं हिन्दुस्तान से हिजरत करके चला आया हूँ।"

"अहो! भले आदमी, ऐसी बातों से भी कोई अपना घर छोड़ देता है? अच्छा, आओ, मेरे ऊँट पर बैठ जाओ।"

सलीम बैठ गया। दिन ढलने लगा था। नन्दराम के ऊँट के गले के बड़े-बड़े घुँघरू उस निस्तब्ध शांति में सजीवता उत्पन्न करते हुए बज रहे थे। उल्लास से भरा हुआ नन्दराम उसी की ताल पर कुछ गुनगुनाता जा रहा था। उधर सलीम कुढ़कर मन-ही-मन भुनभुनाता जा रहा था; परन्तु ऊँट चुपचाप अपना पथ अतिक्रमण कर रहा था। धीरे-धीरे बढ़ने वाले अन्धकार में वह अपनी गति से चल रहा था।

सलीम सोचता था—'न हुआ पास में एक छुरा, नहीं तो यहीं अपने साथियों का बदला चुका लेता!' फिर वह अपनी मूर्खता पर झुंझला कर विचारने लगा—'पागल सलीम! तू उसके घर का पता लगाने आया है न।' इसी उधेड़बुन में कभी वह अपने को पक्का धार्मिक, कभी सत्य में विश्वास करनेवाला, कभी शरण-देनेवाले सहधर्मियों का पक्षपाती बन रहा था। सहसा ऊँट रुका और घर का

किवाड़ खुल पड़ा। भीतर से जलते हुए दीपक के प्रकाश के साथ एक सुन्दर मुख दिखाई पड़ा। नन्दराम ऊँट बैठाकर उतर पड़ा। उसने उल्लास से कहा—"प्रेमो!" प्रेमकुमारी का गला भर आया था। बिना बोले ही उसने लपककर नन्दराम के दोनों हाथ पकड़ लिये।

सलीम ने आश्चर्य से प्रेमा को देखकर चीत्कार करना चाहा; पर वह सहसा रुक गया। उधर प्यार से प्रेमा के कन्धों को हिलाते हुए नन्दराम ने उसका चौंकना देख लिया।

नन्दराम ने कहा—"प्रेमा! हम दोनों के लिए रोटियाँ चाहिए! यह एक भूखा परदेशी है। हाँ, पहले थोड़ा-सा पानी और एक कपड़ा तो देना।"

प्रेमा ने चकित होकर पूछा—"क्यों?"

"यों ही कुछ चमड़ा छिल गया है। उसे बाँध लूँ?"

"अरे, तो क्या कहीं लड़ाई भी हुई है?"

"हाँ, तीन-चार वजीरी मिल गये थे।"

"और यह?"—कहकर प्रेमा ने सलीम को देखा। सलीम भय और क्रोध से सूख रहा था! घृणा से उसका मुख विवर्ण हो रहा था।

"एक हिन्दू है।" नन्दराम ने कहा।

"नहीं, मुसलमान हूँ।"

'ओहो, हिन्दुस्तानी भाई! हम लोग हिन्दुस्तान के रहनेवालों को हिन्दू ही-सा देखते हैं। तुम बुरा न मानना।"—कहते हुए नन्दराम ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह झुँझला उठा और प्रेमाकुमारी हँस पड़ी। आज की हँसी कुछ दूसरी थी। उसकी हँसी में हृदय की प्रसन्नता साकार थी। एक दिन और प्रेमा का मुसकाना सलीम ने देखा था, तब जैसे उसमें स्नेह था। आज थी उसमें मादकता, नन्दराम के ऊपर अनुराग की वर्षा! वह और भी जल उठा। उसने कहा—"काफिर, क्या यहाँ कोई मुसलमान नहीं है?"

"है तो, आज तो तुमको मेरे ही यहाँ रहना होगा।" दृढ़ता से नन्दराम ने कहा।

सलीम सोच रहा था, घर देखकर लौट आने की बात! परन्तु यह प्रेमा! ओह, कितनी सुन्दर! कितना प्यार-भरा हृदय! इतना सुख! काफिर के पास यह विभूति! तो वह क्यों न यहीं रहे? अपने भाग्य की परीक्षा कर देखे!

सलीम वहीं खा-पीकर एक कोठरी में सो रहा और सपने देखने लगा—उसके हाथ में रक्त से भरा हुआ छुरा है। नन्दराम मरा पड़ा है। वजीरियों का सरदार उसके ऊपर प्रसन्न है। लूट में पकड़ी हुई प्रेमा उसे मिल रही है। वजीरियों का बदला लेने में उसने पूरी सहायता की है। सलीम ने प्रेमा का हाथ पकड़ना चाहा। साथ ही प्रेमा का भरपूर थप्पड़ उसके गाल पर पड़ा। उसने तिलमिला कर आँखें

दीं। सूर्य की किरणें उसकी आँखों में घुसने लगीं।

बाहर अमीर चिलम भर रहा था। उसने कहा—"नन्द भाई, तूने मेरे लिए पोस्तीन लाने के लिए कहा था। वह कहाँ है?" वह उछल रहा था। उसका ऊधमी शरीर प्रसन्नता से नाच रहा था।

नन्दराम मुलायम बालों वाली चमड़े की सदरी—जिस पर रेशमी सुनहरा काम था—लिये हुए बाहर निकला। अमीर को पहना कर उसके गालों पर चपत जड़ते हुए कहा—"नटखट, ले तू अभी छोटा ही रहा। मैंने तो समझा था कि तीन महीनों में तू बहुत बढ़ गया होगा।"

वह पोस्तीन पहनकर उछलता हुआ प्रेमा के पास चला गया। उसका नाचना देखकर वह खिलखिला पड़ी। गुलमुहम्मद भी आ गया था। उसने पूछा—"नन्द-राम' तू अच्छी तरह रहा?"

"हाँ जी! यहीं आते हुए कुछ वजीरियों से सामना हो गया। दो को तो ठिकाने लगा दिया। थोड़ी-सी चोट मेरे पैर में भी आ गयी।"

"वजीरी!"—कहकर बूढ़ा एक बार चिन्ता में पड़ गया। तब तक नन्दराम ने उसके सामने रुपये की थैली उलट दी। बूढ़ा अपने घोड़े का दाम सहेजने लगा।

प्रेमा ने कहा—"बाबा! तुमने कुछ और भी कहा था। वह तो नहीं आया!"

बूढ़ा त्योरी बदलकर नन्दराम को देखने लगा। नन्दराम ने कहा—"मुझे घर में अस्तबल के लिए एक दालान बनाना है। इसलिए बालियाँ नहीं ला सका।"

"नहीं नन्दराम! तुझको पेशावर फिर से जाना होगा। प्रेमा के लिए बालियाँ बनवा ला! तू अपनी बात रखता है।"

"अच्छा चाचा? अबकी बार जाऊँगा, को...ले ही आऊँगा।"

हिज़रती सलीम आश्चर्य से उनकी बातें सुन रहा था। सलीम जैसे पागल होने लगा था। मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है। उसके भीतर की कोमल भावना, शायरों की प्रेम-कल्पना, चुटकी लेने लगी! वह प्रेम को 'काफिर' कहता था। आज उसने चपाती खाते हुए मन-ही-मन कहा—"बुते-काफिर!"

3

सलीम घुमक्कड़ी-जीवन की लालसाओं से सन्तप्त, व्यक्तिगत आवश्यकताओं से असन्तुष्ट युक्तप्रांत का मुसलमान था। कुछ-न-कुछ करते रहने का उसका स्वभाव था। जब वह चारों ओर से असफल हो रहा था, तभी तुर्की की सहानुभूति में हिजरत का आन्दोलन खड़ा हुआ था। सलीम भी उसी में जुट पड़ा। मुसलमानी देशों का आतिथ्य कड़वा होने का अनुभव उसे अफगानिस्तान में हुआ। वह

भटकता हुआ नन्दराम के घर पहुँचा था।

मुसलिम उत्कर्ष का उबाल जब ठण्डा हो चला, तब उसके मन में एक स्वार्थ-पूर्ण कोमल कल्पना का उदय हुआ। वह सूफी कवियों-सा सौन्दर्योपासक बन गया। नन्दराम के घर का काम करता हुआ वह जीवन बिताने लगा। उसमें भी 'बुते-काफिर' को उसने अपनी संसार-यात्रा का चरम लक्ष्य बना लिया।

प्रेमा उससे साधारणतः हँसती-बोलती और काम के लिए कहती। सलीम उसके लिए खिलौना था। दो मन दो विरुद्ध दिशाओं में चलकर भी नियति से बाध्य थे, एकत्र रहने के लिए।

अमीर ने एक दिन नन्दराम से कहा—"उस पाजी सलीम को अपने यहाँ से भाग दो क्योंकि उसके ऊपर सन्देह करने का पूरा कारण है।"

नन्दराम ने हँसकर कहा—"भाई अमीर! वह परदेश में बिना सहारे आया है। उसके ऊपर सबको दया करनी चाहिए।"

अमीर के निष्कपट हृदय में यह बात न जँची। वह रूठ गया। तब भी नन्द-राम ने सलीम को अपने यहाँ रहने दिया।

सलीम अब कभी-कभी दूर-दूर घूमने के लिए भी चला जाता। उसके हृदय में सौंदर्य के कारण जो स्निग्धता आ गयी थी, वह लालसा में परिणत होने लगी। प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। एक दिन उसे लँगड़ा वजीरी मिला। सलीम की उससे कुछ बातें हुईं। वह फिर से कट्टर मुसलमान हो उठा। धर्म की प्रेरणा से नहीं; लालसा की ज्वाला से!

वह रात बड़ी भयानक थी। कुछ बूँदें पड़ रही थीं। सलीम अभी सशंक होकर जाग रहा था। उसकी आँखें भविष्य का दृश्य देख रही थीं। घोड़ों के पद-शब्द धीरे-धीरे उस निर्जनता को भेदकर समीप आ रहे थे। सलीम ने किवाड़ खोलकर बाहर झाँका। अँधेरी उसके कलुष-सी फैल रही थी। वह ठठाकर हँस पड़ा।

भीतर नन्दराम और प्रेमा का स्नेहालाप बन्द हो चुका था। दोनों तन्द्रालस हो रहे थे। सहसा गोलियों की कड़कड़ाहट सुन पड़ी। सारे गाँव में आतंक फैल गया।

"वजीरी! वजीरी!"

उन दस घरों में जो कोई अस्त्र चला सकता था, बाहर निकल पड़ा। अस्सी वजीरियों का दल चारों ओर से गाँव को घेरे में करके भीषण गोलियों की बौछार कर रहा था।

अमीर और नन्दराम बगल में खड़े होकर गोली चला रहे थे। कारतूसों की परतल्ली उनके कन्धों पर थी। नन्दराम और अमीर दोनों के निशाने अचूक थे। अमीर ने देखा कि सलीम पागलों-सा घर में घुसा जा रहा है। वह भी भरी गोली चलाकर उसके पीछे नन्दराम के घर में घुसा। बीसों वजीरी मारे जा चुके थे।

गाँववाले भी घायल और मृतक हो रहे थे। उधर नन्दराम की मार से वजीरियों ने मोरचा छोड़ दिया था। सब भागने की धुन में थे। सहसा घर में चिल्लाहट सुनाई पड़ी।

नन्दराम भीतर चला गया। उसने देखा; प्रेमा के बाल खुले हैं। उसके हाथ में रक्त से रञ्जित एक छुरा है। एक वजीरी वहीं घायल पड़ा है। और अमीर सलीम की छाती पर चढ़ा हुआ कमर से छुरा निकाल रहा है। नन्दराम ने कहा—"यह क्या है, अमीर?"

"चुप रहो भाई! इस पाजी को पहले...।"

"ठहरो अमीर! यह हम लोगों का शरणागत है।"—कहते हुए नन्दराम ने उसका छुरा छीन लिया; किन्तु दुर्दान्त युवक पठान कटकटा कर बोला—

"इस सूअर के हाथ! नहीं नन्दराम! तुम हट जाओ, नहीं तो मैं तुमको ही गोली मार दूँगा। मेरी बहन, पड़ोसिन का हाथ पकड़कर खींच रहा था। इसके हाथ..."

नन्दराम आश्चर्य से देख रहा था। अमीर ने सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़ ही दी। सलीम चिल्लाकर मूर्च्छित हो गया। प्रेमा ने अमीर को पकड़-कर खींच लिया। उसका रणचण्डी-वेश शिथिल हो गया था। सहज नारी-सुलभ दया का आविर्भाव हो रहा था। नन्दराम और अमीर बाहर आये।

वजीरी चले गये।

*   *   *

एक दिन टूटे हाथ को सिर से लगाकर जब प्रेमा को सलाम करते हुए सलीम उस गाँव से बिदा हो रहा था, तब प्रेमा को न जाने क्यों उस अभागे पर ममता हो आयी। उसने कहा—"सलीम, तुम्हारे घर पर कोई और नहीं है, तो वहाँ जाकर क्या करोगे? यहीं पड़े रहो।"

सलीम रो रहा था। वह अब भी हिन्दुस्तान जाने के लिए इच्छुक नहीं था;

परन्तु अमीर ने कड़कड़र कहा—"प्रेमा! इसे जाने दे! इस गाँव में ऐसे पाजियों का काम नहीं।"

सलीम पेशावर में बहुत दिनों तक भीख माँगकर खाता और जीता रहा। उसके 'बुते-काफिर' वाले गीत को लोग बढ़े चाव से सुनते थे।

□□

छोटा जादूगर

कार्निवल के मैदान में बिजली जगमगा रही थी। हँसी और विनोद का कल-नाद गूँज रहा था। मैं खड़ा था। उस छोटे फुहारे के पास, जहाँ एक लड़का चुपचाप शराब पीनेवालों को देख रहा था। उसके गले में फटे कुरते के ऊपर से एक मोटी-सी सूत की रस्सी पड़ी थी और जेब में कुछ ताश के पत्ते थे। उसके मुँह पर गंभीर विषाद के साथ धैर्य की रेखा थी। मैं उसकी ओर न जाने क्यों आकर्षित हुआ। उसके अभाव में भी सम्पूर्णता थी। मैंने पूछा—"क्यों जी, तुमने इसमें क्या देखा ?"

"मैंने सब देखा है। यहाँ चूड़ी फेंकते हैं। खिलौनों पर निशाना लगाते हैं। तीर से नम्बर छेदते हैं। मुझे तो खिलौनों पर निशाना लगाना अच्छा मालूम हुआ। जादूगर तो बिलकुल निकम्मा है। उससे अच्छा तो ताश का खेल मैं ही दिखा सकता हूँ।"—उसने बड़ी प्रगल्भता से कहा। उसकी वाणी में कहीं रुकावट न थी ?

मैंने पूछा—"और उस परदे में क्या है ? वहाँ तुम गये थे।"

"नहीं, वहाँ मैं नहीं जा सका। टिकट लगता है।"

मैंने कहा—"तो चल, में वहाँ पर तुमको लिवा चलूँ।" मैंने मन-ही-मन कहा—"भाई ! आज के तुम्हीं मित्र रहे।"

उसने कहा—"वहाँ जाकर क्या कीजिएगा ? चलिए, निशाना लगाया जाय।"

मैंने उससे सहमत होकर कहा—"तो फिर चलो, पहिले शरबत पी लिया जाय।" उसने स्वीकार-सूचक सिर हिला दिया।

मनुष्यों की भीड़ से जाड़े की संध्या भी वहाँ गर्म हो रही थी। हम दोनों शरबत पीकर निशाना लगाने चले। राह में ही उससे पूछा—"तुम्हारे और कौन हैं ?"

"माँ और बाबूजी।"

"उन्होंने तुमको यहाँ आने के लिए मना नहीं किया ?"

"बाबूजी जेल में हैं।"

"क्यों ?"

"देश के लिए।"—वह गर्व से बोला।

"और तुम्हारी माँ ?"

"वह बीमार हैं।"

"और तुम तमाशा देख रहे हो ?"

उसके मुँह पर तिरस्कार की हँसी फूट पड़ी। उसने कहा—"तमाशा देखने नहीं, दिखाने निकला हूँ। कुछ पैसे ले आऊँगा, तो माँ को पथ्य दूँगा। मुझे शरबत न पिलाकर आपने मेरा खेल देखकर मुझे कुछ दे दिया होता, तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती!"

मैं आश्चर्य से उस तेरह-चौदह वर्ष के लड़के को देखने लगा।

"हाँ, मैं सच कहता हूँ बाबूजी! माँ जी बीमार हैं; इसलिए मैं नहीं गया।"

"कहाँ?"

"जेल में! जब कुछ लोग खेल-तमाशा देखते ही हैं, तो मैं क्यों न दिखाकर माँ की दवा करूँ और अपना पेट भरूँ।"

मैंने दीर्घ निश्वास लिया। चारों ओर बिजली के लट्टू नाच रहे थे। मन व्यग्र हो उठा। मैंने उससे कहा—"अच्छा चलो, निशाना लगाया जाय।"

हम दोनों उस जगह पर पहुँचे, जहाँ खिलौने को गेंद से गिराया जाता था। मैंने बारह टिकट खरीदकर उस लड़के को दिये।

वह निकला पक्का निशानेबाज। उसका कोई गेंद खाली नहीं गया। देखने-वाले दंग रह गये। उसने बारह खिलौनों को बटोर लिया; लेकिन उठाता कैसे? कुछ मेरी रूमाल में बँधे, कुछ जेब में रख लिए गये।

लड़के ने कहा—"बाबूजी, आपको तमाशा दिखाऊँगा। बाहर आइए, मैं चलता हूँ।" वह नौ-दो ग्यारह हो गया। मैंने मन-ही-मन कहा—"इतनी जल्दी आँख बदल गयी।"

मैं घूमकर पान की दूकान पर आ गया। पान खाकर बड़ी देर तक इधर-उधर टहलता देखता रहा। झूले के पास लोगों का ऊपर-नीचे आना देखने लगा। अकस्मात् किसी ने ऊपर के हिंडोले से पुकारा—"बाबूजी!"

मैंने पूछा—"कौन?"

"मैं हूँ छोटा जादूगर।"

* * *

कलकत्ते के सुरम्य बोटानिकल-उद्यान में लाल कमलिनी से भरी हुई एक छोटी-सी-झील के किनारे घने वृक्षों की छाया में अपनी मंडली के साथ बैठा हुआ मैं जलपान कर रहा था। बातें हो रही थीं। इतने में वही छोटा जादूगर दिखाई पड़ा। हाथ में चारखाने की खादी का झोला। साफ जाँघिया और आधी बाँहों का कुरता। सिर पर मेरी रूमाल सूत की रस्सी से बँधी हुई थी। मस्तानी चाल से झूमता हुआ आकर कहने लगा—

"बाबूजी, नमस्ते! आज कहिए, तो खेल दिखाऊँ।"

"नहीं जी, अभी हम लोग जलपान कर रहे हैं।"

"फिर इसके बाद क्या गाना-बजाना होगा, बाबूजी?"

"नहीं जी—तुमको...", क्रोध से मैं कुछ और कहने जा रहा था। श्रीमती ने कहा—"दिखलाओ जी, तुम तो अच्छे आये। भला, कुछ मन तो बहले।" मैं चुप हो गया; क्योंकि श्रीमती की वाणी में वह माँ की-सी मिठास थी, जिसके सामने किसी भी लड़के को रोका जा नहीं सकता। उसने खेल आरम्भ किया।

उस दिन कार्निवल के सब खिलौने उसके खेल में अपना अभिनय करने लगे। भालू मनाने लगा। बिल्ली रूठने लगी। बन्दर घुड़कने लगा।

गुड़िया का व्याह हुआ। गुड्डा वर काना निकला। लड़के की वाचालता से ही अभिनय हो रहा था। सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

मैं सोच रहा था। बालक को आवश्यकता ने कितना शीघ्र चतुर बना दिया। यही तो संसार है।

ताश के सब पत्ते लाल हो गये। फिर सब काले हो गये। गले की सूत की डोरी टुकड़े-टुकड़े होकर जुट गयी। लट्टू अपने से नाच रहे थे। मैंने कहा—"अब हो चुका। अपना खेल बटोर लो, हम लोग भी अब जायँगे।"

श्रीमती जी ने धीरे से उसे एक रुपया दे दिया। वह उछल उठा।

मैंने कहा—"लड़के!"

"छोटा जादूगर कहिए। यही मेरा नाम है। इसी से मेरी जीविका है।"

मैं कुछ बोलना ही चाहता था कि श्रीमती ने कहा—"अच्छा, तुम इस रुपये से क्या करोगे?"

"पहले भर पेट पकौड़ी खाऊँगा। फिर एक सूती कम्बल लूँगा।"

मेरा क्रोध अब लौट आया। मैं अपने पर बहुत क्रुद्ध होकर सोचने लगा—'ओह! कितना स्वार्थी हूँ मैं। उसके एक रुपये पाने पर मैं ईर्ष्या करने लगा था न!'

वह नमस्कार करके चला गया। हम लोग लता-कुंज देखने के लिए चले।

उस छोटे-से बनावटी जँगल में संध्या साँय-साँय करने लगी थी। अस्ताचलगामी सूर्य की अंतिम किरण वृक्षों की पत्तियों से बिदाई ले रही थी। एक शांत वातावरण था। हम लोग धीरे-धीरे मोटर से हबड़ा की ओर आ रहे थे।

रह-रहकर छोटा जादूगर स्मरण होता था। सचमुच वह एक झोपड़ी के पास कम्बल कन्धे पर डाले खड़ा था। मैंने मोटर रोककर उससे पूछा—"तुम यहाँ कहाँ?"

"मेरी माँ यहीं है न। अब उसे अस्पताल वालों ने निकाल दिया है।" मैं उतर गया। उस झोपड़ी में देखा, तो एक स्त्री चिथड़ों से लदी हुई काँप रही थी।

छोटे जादूगर ने कम्बल ऊपर से डालकर उसके शरीर से चिमटते हुए कहा "माँ।"

मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े ।

*　　　　*　　　　*

बड़े दिन की छुट्टी बीत चली थी । मुझे अपने आफिस में समय से पहुँचना था । कलकत्ते से मन ऊब गया था । फिर भी चलते-चलते एक बार उस उद्यान को देखने की इच्छा हुई । साथ-ही-साथ जादूगर भी दिखाई पड़ जाता, तो और भी... मैं उस दिन अकेले ही चल पड़ा । जल्द लौट आना था ।

दस बज चुका था । मैंने देखा कि उस निर्मल धूप में सड़क के किनारे एक कपड़े पर छोटे जादूगर का रंगमंच सजा था । मोटर रोककर उतर पड़ा । वहाँ बिल्ली रूठ रही थी । भालू मनाने चला था । ब्याह की तैयारी थी; यह सब होते हुए भी जादूगर की वाणी में वह प्रसन्नता की तरी नहीं थी । जब वह औरों को हँसाने की चेष्टा कर रहा था, तब जैसे स्वयं कँप जाता था । मानो उसके रोएँ रो रहे थे । मैं आश्चर्य से देख रहा था । खेल हो जाने पर पैसा बटोरकर उसने भीड़ में मुझे देखा । वह जैसे क्षण-भर के लिए स्फूर्तिमान हो गया । मैंने उसकी पीठ थपथपाते हुए पूछा—"आज तुम्हारा खेल जमा क्यों नहीं ?"

"माँ ने कहा है कि आज तुरन्त चले आना । मेरी घड़ी समीप है ।"—अविचल भाव से उसने कहा ।

"तब भी तुम खेल दिखलाने चले आये !" मैंने कुछ क्रोध से कहा । मनुष्य के सुख-दुःख का माप अपना ही साधन तो है । उसी के अनुपात से वह तुलना करता है ।

उसके मुँह पर वही परिचित तिरस्कार की रेखा फूट पड़ी ।

उसने कहा—"न क्यों आता !"

और कुछ अधिक कहने में जैसे वह अपमान का अनुभव कर रहा था ।

क्षण-भर में मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी । उसके झोले को गाड़ी में फककर उसे भी बैठाते हुए मैंने कहा—"जल्दी चलो ।" मोटरवाला मेरे बताये हुए पथ पर चल पड़ा ।

कुछ ही मिनटों में मैं झोपड़े के पास पहुँचा । जादूगर दौड़कर झोपड़े में माँ-माँ पुकारते हुए घुसा । मैं भी पीछे था; किन्तु स्त्री के मुँह से, 'बे...'निकलकर रह गया । उसके दुर्बल हाथ उठकर गिरे । जादूगर उससे लिपटा रो रहा था, मैं स्तब्ध था । उस उज्ज्वल धूप में समग्र संसार जैसे जादू-सा मेरे चारों ओर नृत्य करने लगा ।

□□

नूरी

"ऐ ; तुम कौन ?

"......"

"बोलते नहीं ?"

"......"

" तो मैं बुलाऊँ किसी को—" कहते हुए उसने छोटा-सा मुँह खोला ही था कि युवक ने एक हाथ उसके मुँह पर रखकर उसे दूसरे हाथ से दबा लिया। वह विवश होकर चुप होगयी। और भी, आज पहला ही अवसर था, जब उसने केसर, कस्तूरी और अम्बर से बसा हुआ यौवन पूर्ण उद्वेलित आलिंगन पाया था। उधर किरण भी पवन के एक झोंके के साथ किसलयों को हटा कर घुस पड़ी। दूसरे ही क्षण उस कुंज के भीतर छनकर आती हुई चाँदनी में जौहर से भरी कटार चमचमा उठी। भयभीत मृग-शावक-सी काली आँखें अपनी निरीहता में दया की—प्राणों की भीख माँग रही थी। युवक का हाथ रुक गया। उसने मुँह पर उँगली रखकर चुप रहने का संकेत किया। नूरी काश्मीर की कली थी। सिकरी के महलों में उसके कोमल चरणों की नृत्य-कला प्रसिद्ध थी। उस कलिका का आमोद-मकरन्द अपनी सीमा में मचल रहा था। उसने समझा, कोई मेरा साहसी प्रेमी है; जो महाबली अकबर की आँख-मिचौनी-क्रीड़ा के समय पतंग-सा प्राण देने आ गया है। नूरी ने इस कल्पना के सुख में अपने को धन्य समझा और चुप रहने का संकेत पाकर युवक के मधुर अधरों पर अपने अधर रख दिये। युवक भी आत्म-विस्मृत-सा उस सुख में पल-भर के लिए तल्लीन हो गया। नूरी ने धीरे से कहा—"यहाँ से जल्द चले जाओ। कल बाँध पर पहले पहर की नौबत बजने के समय मौलसिरी के नीचे मिलूँगी।"

युवक धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गया। नूरी शिथिल चरण से लड़खड़ाती हुई दूसरे कुंज की ओर चली; जैसे कई प्याले अंगूरी चढ़ा ली हो! उसकी जैसी कितनी ही सुन्दरियाँ अकबर को खोज रही थीं। सम्पूर्ण चन्द्र इस खेल को देखकर हँस रहा था। नूरी अब किसी कुंज में घुसने का साहस नहीं रखती थी। नरगिस कुंज से निकलकर आ रही थी। उसने नूरी से पूछा—

"क्यों, उधर देख आयी ?"

"नहीं, मुझे तो नहीं मिले।"

"तो फिर चल, इधर कामिनी के झाड़ों में देखूँ।"

"तू ही जा, मैं थक गयी हूँ।"

नरगिस चली गयी। मालती की झुकी हुई डाल की अँधेरी छाया में धड़कते

हुए हृदय को हाथों से दबाये नूरी खड़ी थी ! पीछे से किसी ने उसकी आँखों को बन्द कर लिया। नूरी की धड़कन और बढ़ गयी। उसने साहस से कहा—

"मैं पहचान गयी !"

"......"

'जहाँपनाह' उसके मुँह से निकला ही था कि अकबर ने उसका मुँह बन्द कर लिया और धीरे से उसके कानों में कहा —

"मरियम को बता देना, सुलताना को नहीं; समझी न ! मैं उस कुञ्ज में जाता हूं।"

अकबर के जाने के बाद ही सुलताना वहाँ आयी। नूरी उसी की छत्र-छाया में रहती थी; पर अकबर की आज्ञा ! उसने दूसरी ओर सुलताना को बहका दिया। मरियम धीरे-धीरे वहाँ आयी। वह ईसाई बेगम इस आमोद-प्रमोद से परिचित न थी। तो भी यह मनोरंजन उसे अच्छा लगा। नूरी ने अकबर वाला कुञ्ज उसे बता दिया।

घंटों के बाद जब सब सुन्दरियाँ थक गयी थीं, तब मरियम का हाथ पकड़े अकबर बाहर आये। उस समय नौबतखाने से मीठी-मीठी सोहनी बज रही थी। अकबर ने एक बार नूरी को अच्छी तरह देखा। उसके कपोलों को थपथपाकर उसको पुरस्कार दिया। आँख-मिचौनी हो गयी !

2

सिकरी की झील जैसे लहरा रही है, वैसा ही आन्दोलन नूरी के हृदय में हो रहा है। वसन्त की चाँदनी में भ्रम हुआ कि उसका प्रेमी युवक आया है। उसने चौंककर देखा; किन्तु कोई नहीं था। मौलसिरी के नीचे बैठे हुए उसे एक घड़ी से अधिक हो गया। जीवन में आज पहले ही वह अभिसार का साहस कर सकी है। भय से उसका मन काँप रहा है,; पर लौट जाने का मन नहीं चाहता। उत्कंठा और प्रतीक्षा कितनी पागल सहेलियाँ हैं ! दोनों उसे उछालने लगीं।

किसी ने पीछे से आकर कहा—"मैं आ गया।"

नूरी ने घूमकर देखा, लम्बा-सा, गौर वर्ण का युवक उसकी बगल में खड़ा है। वह चाँदनी रात में उसे पहचान गयी। उसने कहा—"शाहजादा याकूब खाँ ?"

"हाँ, मैं ही हूँ ! कहो, तुमने क्यों बुलाया है ?"

नूरी सन्नाटे में आ गयी। इस प्रश्न में प्रेम की गंध भी नहीं थी। वह भी महलों में रह चुकी थी। उसने भी पैंतरा बदल दिया।

"आप वहाँ क्यों गये थे ?"

"मैं इसका जवाब न दूँ, तो ?"

नूरी चुप रही। याकूब खाँ ने कहा—"तुम जानना चाहती हो ?"

"न बताइए ।"

"बताऊँ तो मुझे..."

"आप डरते हैं, तो न बताइए ।"

"अच्छा, तो तुम सच बताओ कि कहाँ की रहनेवाली हो ?"

"मैं काश्मीर में पैदा हुई हूँ ।"

याकूब खाँ अब उसके समीप ही बैठ गया । उसने पूछा—"कहाँ ?"

"श्रीनगर के पास ही मेरा घर है ।"

"यहाँ क्या करती हो ?"

"नाचती हूँ । मेरा नाम नूरी है ।"

"काश्मीर जाने को मन नहीं करता ?"

"नहीं ।"

"क्यों ?"

"वहाँ जाकर क्या करूँगी ? सुलतान यूसुफ खाँ ने मेरा घर-बार छीन लिया है । मेरी माँ बेड़ियों में जकड़ी हुई दम तोड़ती होगी या मर गयी होगी ।"

"मैं कहकर छुड़वा दूँगा, तुम यहाँ से चलो ।"

"नहीं, मैं यहाँ से नहीं जा सकती; पर शाहजादा साहब, आप वहाँ क्यों गये थे, मैं जान गयी ।"

"नूरी, तुम जान गयी हो, तो अच्छी बात है । मैं भी बेड़ियों में पड़ा हूँ । यहाँ अकबर के चंगुल में छटपटा रहा हूँ । मैं कल रात को उसी के कलेजे में कटार भोंक देने के लिए गया था ।"

"शाहंशाह को मारने के लिए ?"—भय से चौंककर नूरी ने कहा ।

"हाँ नूरी, वहाँ तुम न आती, तो मेरा काम न बिगड़ता । काश्मीर को हड़पने की उसकी..." याकूब रुककर पीछे देखने लगा । दूर कोई चला जा रहा था । नूरी भी उठ खड़ी हुई । दोनों और नीचे झील की ओर उतर गये । जल के किनारे बैठकर नूरी ने कहा—"अब ऐसा न करना ।"

"क्यों न करूँ ? मुझे काश्मीर से बढ़कर और कौन प्यारा है ? मैं उसके लिए क्या नहीं कर सकता ?" यह कहकर याकूब ने लम्बी साँस ली । उसका सुन्दर मुख वेदना से विवर्ण हो गया । नूरी ने देखा, वह प्यार की प्रतिमा है । उसके हृदय में प्रेम-लीला करने की वासना बलवती हो चली थी । फिर यह एकान्त और वसन्त की नशीली रात ! उसने कहा—"आप चाहे काश्मीर को प्यार करते हों । पर कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जो आपको प्यार करते हों !"

"पागल ! मेरे सामने एक ही तसवीर है । फूलों से भरी, फलों से लदी हुई, सिन्ध और झेलम की घाटियों की हरियाली ! मैं इस प्यार को छोड़कर दूसरी ओर...?"

"चुप रहिए, शाहजादा साहब ! आप धीरे से नहीं बोल सकते, तो चुप रहिए ।"

यह कहकर नूरी ने एक बार फिर पीछे की ओर देखा । वह चंचल हो रही थी, मानो आज ही उसके वसन्त-पूर्ण यौवन की सार्थकता है। और वह विद्रोही युवक सम्राट् अकबर के प्राण लेने और अपने प्राण देने पर तुला है । कहते हैं कि तपस्वी को डिगाने के लिए स्वर्ग की अप्सराएँ आती हैं। आज नूरी अप्सरा बन रही थी। उसने कहा—"तो मुझे काश्मीर ले चलिएगा ?" याकूब के समीप और सटकर भयभीत-सी होकर वह बोली—"बोलिए, मुझे ले चलिएगा। मैं भी इन सुनहरी बेड़ियों को तोड़ना चाहती हूँ ।"

"तुम मुझको प्यार करती हो, नूरी ?"

"दोनों लोकों से बढ़कर ?" नूरी उन्मादिनी हो रही थी ।

"पर मुझे तो अभी एक बार फिर वही करना है, जिसके लिए तुम मना करती हो। बच जाऊँगा, तो देखा जायगा !"—यह कहकर याकूब ने उसका हाथ पकड़ लिया । नूरी नीचे से ऊपर तक थरथराने लगी । उसने अपना सुन्दर मुख याकूब के कन्धे पर रखकर कहा—"नहीं, अब ऐसा न करो, तुमको मेरी कसम !"

सहसा चौंककर युवक फुर्ती से उठ खड़ा हुआ । और नूरी जब तक सँभली, तब तक याकूब वहाँ न था । अभी नूरी दो पग भी बढ़ने न पायी थी कि मादम तातारी का कठोर हाथ उसके कन्धों पर आ पहुँचा । तातारी ने कहा—"सुलताना तुमको कब से खोज रही है ?"

3

सुलताना बेगम और बादशाह चौसरी खेल रहे थे । उधर पचीसी के मैदान में सुन्दरियाँ गोटें बनकर चाल चल रही थीं। नौबतखाने से पहले पहर की सुरीली शहनाई बज रही थी । नगाड़े पर अकबर की बाँधी हुई गति में लड़की थिरक रही थी, जिसकी धुन में अकबर चाल भूल गये । उनकी गोट पिट गयी ।

पिटी हुई गोट दूसरी न थी, वह थी नूरी । उस दिन की थपकियों ने उसको साहसी बना दिया था। वह मचलती हुई बिसात के बाहर तिबारी में चली आयी । पाँसे हाथ में लिए हुए अकबर उसकी ओर देखने लगे । नूरी ने अल्हड़पन से कहा "तो मैं मर गयी ?

"तू जीती रह, मरेगी क्यों ?" फिर दक्षिण नायक की तरह उसका मनोरंजन करने में चतुर अकबर ने सुलताना की ओर देखकर कहा—"इसका नाम क्या है ?" मन में सोच रहे थे, उस रात की आँख-मिचौनी वाली घटना !

"यह काश्मीर की रहनेवाली है। इसका नाम नूरी है। बहुत अच्छा नाचती है।"—सुलताना ने कहा।

"मैंने तो कभी नहीं देखा।"

"तो देखिए न।"

"नूरी ? तू इसी शहनाई की गत पर नाच सकेगी ?"

"क्यों नहीं, जहाँपनाह !"

गोटें अपने-अपने घर में जहाँ-की-तहाँ बैठी रहीं। नूरी का वासना और उन्माद से भरा हुआ नृत्य आरंभ हुआ। उसके नूपुर खुले हुए बोल रहे थे। वह नाचने लगी, जैसे जलतरंग। वागीश्वरी के विलम्बित स्वरों में अंगों के अनेक मरोड़ों के बाद जब कभी वह चुन-चुनकर एक-दो घुँघरू बजा देती, तब अकबर "वाह ! वाह !" कह उठता। घड़ी-भर नाचने के बाद जब शहनाई बन्द हुई, तब अकबर ने उसे बुलाकर कहा—"नूरी ! तू कुछ चाहती है ?"

"नहीं, जहाँपनाह !"

"कुछ भी ?"

"मैं अपनी माँ को देखना चाहती हूँ। छुट्टी मिले, तो !"—सिर नीचे किये हुए नूरी ने कहा।

"दुत्—और कुछ नहीं ?"

"और कुछ नहीं !"

"अच्छा, तो जब मैं काबुल चलने लगूँगा, तब तू भी वहाँ चल सकेगी।"

फिर गोटें चलने लगीं। खेल होने लगा। सुलताना और शाहंशाह दोनों ही इस चिन्ता में थे कि दूसरा हारे। यही तो बात है, संसार चाहता है कि तुम मेरे साथ खेलो; पर सदा तुम्हीं हारते रहो। नूरी फिर गोट बन गयी थी। अब की वही फिर पिटी। उसने कहा—"मैं मर गयी।"

अकबर ने कहा—"तू अलग जा बैठ।" छुट्टी पाते ही थकी हुई नूरी पचीसी के समीप अमराई में जा घुसी। अभी वह नाचने की थकावट से अँगड़ाई ले रही थी। सहसा याकूब ने आकर उसे पकड़ लिया। उसके शिथिल सुकुमार अंगों को दबाकर उसने कहा—"नूरी, मैं तुम्हारे प्यार को लौटा देने के लिए आया हूँ।"

व्याकुल होकर नूरी ने कहा—"नहीं, नहीं, ऐसा न करो।"

"मैं आज मरने-मारने पर तुला हूँ।"

"तो क्या फिर तुम आज उसी काम के लिए..."

"हाँ नूरी !"

"नहीं, शाहजादा याकूब ! ऐसा न करो। मुझे आज शाहंशाह ने काश्मीर जाने की छुट्टी दे दी है। मैं तुम्हारे साथ भी चल सकती हूँ।"

"पर मैं वहाँ न जाऊँगा। नूरी ! मुझे भूल जाओ।"

नूरी उसे अपने हाथों में जकड़े थी; किन्तु याकूब का देश-प्रेम उसकी प्रतिज्ञा की पूर्ति माँग रहा था। याकूब ने कहा—"नूरी! अकबर सिर झुकाने से मान जाय सो नहीं। वह तो झुके हुए सिर पर भी चढ़ बैठना चाहता है। मुझे छुट्टी दो। मैं यही सोचकर सुख से मर सकूँगा कि कोई मुझे प्यार करता है।"

नूरी सिसककर रोने लगी। याकूब का कन्धा उसके आँसुओं की धारा से भीगने लगा। अपनी कठोर भावनाओं से उन्मत्त और विद्रोही युवक शाहजादा ने बलपूर्वक अभी अपने को रमणी के बाहुपाश से छुड़ाया ही था कि चार तातारी दासियों ने अमराई के अन्धकार से निकलकर दोनों को पकड़ लिया।

अकबर की विसात अभी बिछी थी। पासे अकबर के हाथ में थे। दोनों अपराधी सामने लाये गये। अकबर ने आश्चर्य से पूछा—"याकूब खाँ?"

याकूब के नतमस्तक की रेखाएँ ऐंठी जा रही थीं। वह चुप था। फिर नूरी की ओर देखकर शाहंशाह ने कहा—"तो इसीलिए तू काश्मीर जाने की छुट्टी माँग रही थी?"

वह भी चुप।

"याकूब! तुम्हारा यह लड़कपन यूसुफ खाँ भी न सहते; लेकिन मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ। जाने की तैयारी करो। मैं काबुल से लौटकर काश्मीर जाऊँगा।"

संकेत पाते ही तातारियाँ याकूब को ले चलीं। नूरी खड़ी रही। अकबर ने उसकी ओर देखकर कहा—"इसे बुर्ज में ले जाओ।"

नूरी बुर्ज के तहखाने में बन्दिनी हुई।

अट्ठारह बरस बाद!

जब अकबर की नवरत्न-सभा उजड़ चुकी थी, उसके प्रताप की ज्योति आनेवाले अन्तिम दिन की उदास और धुंधली छाया में विलीन हो रही थी, हिन्दू और मुस्लिम-एकता का उत्साह शीतल हो रहा था, तब अकबर को अपने पुत्र सलीम से भी भय उत्पन्न हुआ। सलीम ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी, इसी लिए पिता-पुत्र में मेल होने पर भी आगरा में रहने के लिए सलीम को जगह नहीं थी। उसने दुखी होकर अपनी जन्म-भूमि में रहने की आज्ञा माँगी।

सलीम फतहपुर-सीकरी आया। मुगल साम्राज्य का वह अलौकिक इंद्रजाल! अकबर की यौवन-निशा का सुनहरा स्वप्न—सीकरी का महल—पथरीली चट्टानों पर बिखरा पड़ा था। इतना आकस्मिक उत्थान और पतन! जहाँ एक विश्वजनीन धर्म की उत्पत्ति की सूचना हुई, जहाँ उस धर्मान्धता के युग में एक छत के नीचे ईसाई, पारसी, जैन, इस्लाम और हिन्दू आदि धर्मों पर वाद-विवाद हो रहा था, जहाँ सन्त सलीम की समाधि थी, जहाँ शाह सलीम का जन्म हुआ था, वहीं अपनी अपूर्णता और खंडहरों में अस्त-व्यस्त सीकरी का महल अकबर के जीवन-काल में ही, निर्वासिता सुन्दरी की तरह दया का पात्र, श्रृंगारविहीन और

उजड़ा पड़ा था। अभी तक अकबर के शून्य शयन-मन्दिर में विक्रमादित्य के नव-रत्नों का छायापूर्ण अभिनय चल रहा था। अभी तक सराय में कोई यात्री संत की समाधि का दर्शन करने को आता ही रहता! अभी तक बुर्जों के तहखानों में कैदियों का अभाव न था!

सीकरी की दशा देखकर सलीम का हृदय व्यथित हो उठा। अपूर्ण शिल्प बिलख रहे थे। गिरे हुए कँगूरे चरणों में लौट रहे थे। अपनी माता के महल में जाकर सलीम भरपेट रोया। वहाँ जो इने-गिने दास और दासियाँ और उनके दारोगे बच रहे थे, भिखमंगों की-सी दशा में फटे-चीथड़ों में उसके सामने आये। सब समाधि के लंगरखाने से भोजन पाते थे। सलीम ने समाधि का दर्शन करके पहले आज्ञा दी कि तहखानों में जितने बन्दी हैं, सब छोड़ दिये जायँ। सलीम को मालूम था कि यहाँ कोई राजनैतिक बन्दी नहीं हैं। दुर्गन्ध से सने हुए कितने ही नर-कंकाल संत सलीम की समाधि पर आकर प्रसन्नता से हिचकी लेने लगे और युवराज सलीम के चरणों को चूमने लगे।

उन्हीं में एक नूरी भी थी। उसका यौवन कारागार की कठिनाइयों से कुचल गया था। सौन्दर्य अपने दो-चार रेखा-चिह्न छोड़कर समय के पंखों पर बैठकर उड़ गया था।

सब लोगों को जीविका बँटने लगी। लंगरखाने का नया प्रबन्ध हुआ। उसमें से नूरी को सराय में आये हुये यात्रियों को भोजन देने का कार्य मिला।

वैशाख की चाँदनी थी। झील के किनारे मौलसिरी के नीचे कौवालों का जमघट था। लोग मस्ती में झूम-झूमकर गा रहे थे।

"मैंने अपने प्रियतम को देखा था।"

"वह सौन्दर्य, मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी-सा उज्ज्वल, तरंगों-सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल था।"

"किन्तु हलाहल भरी उसकी अपांगधारा! आह निर्दय!"

"मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था।"

"आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ।"

"कुंजों में फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे। तुम्हारा वह चिर विकास-मय सौन्दर्य! वह दिगन्तव्यापी सौरभ! तुमको छिपने देगा?"

"मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होने वाले! मैं बलिहारी!"

नूरी वहीं खड़ी होकर सुन रही थी। वह कौवालों के लिए भोजन लिवाकर आयी थी। गाढ़े का पायजामा और कुर्ता, उस पर गाढ़े की ओढ़नी। उदास और दयनीय मुख पर निरीहता की शान्ति! नूरी में विचित्र परिवर्तन था। उसका हृदय अपनी विवश पराधीनता भोगते-भोगते शीतल और भगवान् की करुणा का अवलम्बी बन गया था। जब सन्त सलीम की समाधि पर वह बैठकर भगवान् की

प्रार्थना करती थी, तब उसके हृदय में किसी प्रकार की सांसारिक वासना या अभाव-अभियोग का योग न रहता।

आज न जाने क्यों, इस संगीत ने उसकी सोयी हुई मनोवृत्ति को जगा दिया। वही मौलसिरी का वृक्ष था। संगीत का वह अर्थ चाहे किसी अज्ञात लोक की परम सीमा तक पहुँचता हो; किन्तु आज तो नूरी अपने संकेतस्थल की वही घटना स्मरण कर रही थी, जिसमें एक सुन्दर युवक से अपने हृदय की बातों के खोल देने का रहस्य था।

वह काश्मीर का शाहजादा आज कहाँ होगा? नूरी ने चंचल होकर वहीं थालों को रखवा दिया और स्वयं धीरे-धीरे अपने उत्तेजित हृदय को दबाये हुए सन्त की समाधि की ओर चल पड़ी।

संगमरमर की जालियों से टिककर वह बैठ गयी। सामने चन्द्रमा की किरणों का समारोह था। वह ध्यान में निमग्न थी। उसकी निश्चल तन्मयता के सुख को नष्ट करते हुए किसी ने कहा—"नूरी! क्या अभी सराय में खाना न जायगा?"

वह सावधान होकर उठ खड़ी हुई। लंगरखाने से रोटियों का थाल लेकर सराय की ओर चल पड़ी। सराय के फाटक पर पहुँचकर वह निराश्रित भूखों को खोज-खोजकर रोटियाँ देने लगी।

एक कोठरी के समीप पहुँचकर उसने देखा कि एक युवक टूटी हुई खाट पर पड़ा कराह रहा है। उसने पूछा—"क्या है? भाई, तुम बीमार हो क्या? मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकती हूँ तो बताओ।"

"बहुत कुछ"—टूटे स्वर से युवक ने कहा।

नूरी भीतर चली गयी। उसने पूछा—"क्या है, कहिए?"

"पास में पैसा न होने से ये लोग मेरी खोज नहीं लेते। आज सवेरे से मैंने जल नहीं पिया। पैर इतने दुख रहे हैं कि मैं उठ नहीं सकता।"

"कुछ खाया भी न होगा।"

"कल रात को यहाँ पहुँचने पर थोड़ा-सा खा लिया था। पैदल चलने से पैर सूज आये हैं। तब से यों ही पड़ा हूँ।"

नूरी थाल रखकर बाहर चली गयी। पानी लेकर आयी। उसने कहा—"लो, अब उठकर कुछ रोटियाँ खाकर पानी पी लो।"

युवक उठ बैठा। कुछ अन्न-जल पेट में जाने के बाद जैसे उसे चेतना आ गयी। उसने पूछा—"तुम कौन हो?"

"मैं लंगरखाने में रोटियाँ बाँटती हूँ। मेरा नाम नूरी है। जब तक तुम्हारी पीड़ा अच्छी न होगी, मैं तुम्हारी सेवा करूँगी। रोटियाँ पहुँचाऊँगी। जल रख जाऊँगी। घबराओ नहीं। यह मालिक सबको देखता है।"

युवक की विवर्ण आँखें प्रार्थना में ऊपर की ओर उठ गयीं। फिर दीर्घ

निःश्वास लेकर उसने पूछा—"क्या नाम बतलाया ? नुरी न ?"

"हाँ, यही तो !"

"अच्छा, तुम यहाँ महलों में जाती होगी।"

"महल ! हाँ, महलों की दीवारें तो खड़ी हैं।"

"तब तुम नहीं जानती होगी। उसका भी नाम नूरी था ! वह काश्मीर की रहने वाली थी।"

"उससे आपको क्या काम है ?"—मन-ही-मन काँप कर नूरी ने पूछा।

"मिले तो कह देना कि एक अभागे ने तुम्हारे प्यार को ठुकरा दिया था। वह काश्मीर का शाहजादा था। पर अब तो भिखमंगे से भी..."—कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

नूरी ने उसके आँसू पोंछकर पूछा—"क्या अब भी उससे मिलने का मन करता है ?"

वह सिसककर कहने लगा—"मेरा नाम याकूब खाँ है। मैंने अकबर के सामने तलवार उठायी और लड़ा भी। जो कुछ मुझसे हो सकता था, वह काश्मीर के लिए मैंने किया। इसके बाद बिहार के भयानक तहखाने में बेड़ियों से जकड़ा हुआ कितने दिनों तक पड़ा रहा। सुना है कि सुल्तान सलीम ने वहाँ के अभागों को फिर से धूप देखने के लिए छोड़ दिया है। मैं वहीं से ठोकरें खाता हुआ चला आ रहा हूँ। हथकड़ियों से छूटने पर किसी अपने प्यार करनेवाले को देखना चाहता था। इसी से सीकरी चला आया। देखता हूँ कि मुझे वह भी न मिलेगा।"

याकूब अपनी उखड़ी हुई साँसों को सँभालने लगा था और नूरी के मन में विगतकाल की घटना, अपने प्रेम-समर्पण का उत्साह, फिर उस मनस्वी युवक की अवहेलना सजीव हो उठी।

आज जीवन का क्या रूप होता ? आशा से भरी संसार-यात्रा किस सुन्दर विश्राम-भवन में पहुँचाती ? अब तक संसार के कितने सुन्दर रहस्य फूलों की तरह अपनी पंखुड़ियाँ खोल चुके होते ? अब प्रेम करने का दिन तो नहीं रहा। हृदय में इतना प्यार कहाँ रहा, जो दूँगी, जिससे यह ठूँठ हरा हो जायगा। नहीं, नूरी ने मोह का जाल छिन्न कर दिया है। वह अब उसमें न पड़ेगी। तो भी इस दयनीय मनुष्य की सेवा; किन्तु यह क्या ! याकूब हिचकियाँ ले रहा था। उसकी पुकार का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। निर्मम-हृदय नूरी ने विलम्ब कर दिया। वह विचार करने लगी थी और याकूब को इतना अवसर नहीं था !

नूरी उसका सिर हाथों पर लेकर उसे लिटाने लगी। साथ ही अभागे याकूब के खुले हुए प्यासे मुँह में, नूरी की आँखों के आँसू टपाटप गिरने लगे !

□□

परिवर्तन

1

चन्द्रदेव ने एक दिन इस जनाकीर्ण संसार में अपने को अकस्मात् ही समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक मनुष्य समझ लिया और समाज भी उसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगा। छोटे-से उपनगर में, प्रयाग विश्वविद्यालय से लौटकर, जब उसने अपनी ज्ञान-गरिमा का प्रभाव, वहाँ के सीधे-सादे निवासियों पर डाला, तो लोग आश्चर्य-चकित होकर सम्भ्रम से उसकी ओर देखने लगे, जैसे कोई जौहरी हीरा-पन्ना परखता हो। उसकी थोड़ी-सी सम्पत्ति, बिसातखाने की दूकान और रुपयों का लेन-देन, और उसका शारीरिक गठन सौन्दर्य का सहायक बन गया था।

कुछ लोग तो आश्चर्य करते थे कि वह कहीं का जज और कलेक्टर न होकर यह छोटी-सी दुकानदारी क्यों चला रहा है, किन्तु बातों में चन्द्रदेव स्वतन्त्र व्यवसाय की प्रशंसा के पुल बाँध देता और नौकरी की नरक से उपमा दे देता, तब उसकी कर्त्तव्य-परायणता का वास्तविक मूल्य लोगों की समझ में आ जाता।

यह तो हुई बाहर की बात। भीतर अपने अन्तःकरण में चन्द्रदेव इस बात को अच्छी तरह तोल चुका था कि जज-कलेक्टर तो क्या, वह कहीं 'किरानी' होने की भी क्षमता नहीं रखता था। तब थोडा-सा विनय और त्याग का यश लेते हुए संसार के सहज-लब्ध सुख को वह क्यों छोड़ दे? अध्यापकों के रटे हुए व्याख्यान उसके कानों में अभी गूँज रहे थे। पवित्रता, मलिनता, पुण्य और पाप उसके लिए गम्भीर प्रश्न न थे। वह तर्कों के बल पर उनसे नित्य खिलवाड़ किया करता और भीतर घर में जो एक सुन्दरी स्त्री थी, उसके प्रति अपने सम्पूर्ण असन्तोष को दार्शनिक वातावरण में ढँककर निर्मल वैराग्य की, संसार से निर्लिप्त रहने की चर्चा भी उन भोले-भाले सहयोगियों में किया ही करता।

चन्द्रदेव की इस प्रकृति से ऊबकर उसकी पत्नी मालती प्रायः अपनी माँ के पास अधिक रहने लगी; किन्तु जब लौटकर आती, तो गृहस्थी में उसी कृत्रिम वैराग्य का अभिनय उसे खला करता। चन्द्रदेव ग्यारह बजे तक दूकान का काम देखकर, गप लड़ाकर, उपदेश देखकर और व्याख्यान सुनाकर जब घर में आता; तब एक बड़ी दयनीय परिस्थिति उत्पन्न होकर उस साधारणतः सजे हुए मालती के कमरे को और भी मलिन बना देती। फिर तो मालती मुँह ढँककर आँसू गिराने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकती थी? यद्यपि चन्द्रदेव का बाह्य आचरण उसके चरित्र के सम्बन्ध में सशंक होने का किसी को अवसर नहीं देता था, तथापि

मालती अपनी चादर से ढँके हुए अन्धकार में अपनी मौत की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र थी ही।

वह धीरे-धीरे रुग्णा हो गयी।

2

एक दिन चन्द्रदेव के पास बैठनेवालों ने सुना कि वह कहीं बाहर जानेवाला है। दूसरे दिन चन्द्रदेव की स्त्री-भक्ति की चर्चा छिड़ी। सब लोग कहने लगे—"चन्द्रदेव कितना उदार, सहृदय व्यक्ति है। स्त्री के स्वस्थ्य के लिए कौन इतना रुपया खर्च करके पहाड़ जाता है। कम-से-कम...नगर में तो कोई भी नहीं।"

चन्द्रदेव ने बहुत गम्भीरता से मित्रों में कहा—"भाई, क्या करूँ, मालती को जब यक्ष्मा हो गया है, तब तो पहाड़ लिवा जाना अनिवार्य है। रुपया-पैसा तो आता-जाता रहेगा।" सब लोगों ने इसका समर्थन किया।

चन्द्रदेव पहाड़ चलने को प्रस्तुत हुआ। विवश होकर मालती को भी जाना ही पड़ा। लोक-लाज भी तो कुछ है। और जब कि सम्मानपूर्वक पति अपना कर्तव्य पालन कर रहा हो तो स्त्री अस्वीकार कैसे कर सकती?

इस एकान्त में जब कि पति और पत्नी दोनों ही एक-दूसरे के सामने चौबीसों घंटे रहने लगे, तब आवरण का व्यापार अधिक नहीं चल सकता था। बाध्य होकर चन्द्रदेव को सहायता-तत्पर बनना पड़ा। सहायता में तत्पर होना सामाजिक प्राणी का जन्म-सिद्ध स्वभाव, संभवत: मनुष्यता का पूर्ण निदर्शन है। परन्तु चन्द्रदेव के पास तो दूसरा उपाय ही नहीं था; इसलिए सहायता का बाह्य प्रदर्शन धीरे-धीरे वास्तविक होने लगा।

एक दिन मालती चीड़ के वृक्ष की छाया में बैठी हुई बादलों की दौड़-धूप देख रही थी और मन-ही-मन विचार कर रही थी चन्द्रदेव के सेवा-अभिनय पर। सहसा उसका जी भर आया। वह पहाड़ी रंगीन संध्या की तरह किसी मानसिक वेदना से लाल-पीली हो उठी। उसे अपने ऊपर क्रोध आया। उसी समय चन्द्रदेव ने जो उससे कुछ दूर बैठा था, पुकार कर कहा—"मालती अब चलो न! थक गयी हो न!"

"वहीं सामने तो पहुंचना है, तुम्हें जल्दी हो चले जाओ, 'बूटी' को भेज दो, मैं उसके साथ चली आऊँगी।"

"अच्छा", कहकर चन्द्रदेव आज्ञाकारी अनुचर की तरह चला। वह तनिक भी विरोध करके अपने स्नेह-प्रदर्शन में कमी करना नहीं चाहता था। मालती अविचल बैठी रही। थोड़ी देर में बूटी आयी; परन्तु मालती को उसके आने में विलम्ब समझ पड़ा। वह इसके पहले भी पहुँच सकती थी। मालती के लिए पहाड़ी युवती बूटी, परिचारिका के रूप में रख ली गयी थी। यह नाटी-सी गोल-

मटोल स्त्री गेंद की तरह उछलती चलती थी। बात-बात पर हँसती और फिर उस हँसी को छिपाने का प्रयत्न करती रहती। बूटी ने कहा—

"चलिए, अब तो किरनें डूब रही हैं, और मुझे भी काम निपटाकर छुट्टी पर जाना है"

"छुट्टी!" आश्चर्य से झल्लाकर मालती ने कहा।

"हाँ, अब मैं काम न करूँगी!"

"क्यों? तुझे क्या हो गया बूटी!"

"मेरा ब्याह इसी महीने में हो जायगा।"—कहते हुए उस स्वतन्त्र युवती ने हँस दिया। 'वन की हरिणी अपने आप जाल में फँसने क्यों जा रही है?' मालती को आश्चर्य हुआ। उसने चलते-चलते पूछा—"भला, तुझे दूल्हा कहाँ से मिल गया?"

"ओहो, तब आप क्या जानें कि हम लोगों के ब्याह की बात पक्की हुए आठ बरस ही गये? नीलधर चला गया था, लखनऊ कमाने, और मैंने भी हर साल यहीं नौकरी करके कुछ-न-कुछ यही पाँच सौ रुपये बचा लिए हैं। अब वह भी एक हजार और गहने लेकर परसों पहुँच जायगा। फिर हम लोग ऊँचे पहाड़ पर अपने गाँव में चले जायँगे। वहीं हम लोगों का घर बसेगा। खेती कर लूँगी। बाल-बच्चों के लिए भी तो कुछ चाहिए। फिर चाहिए बुढ़ापे के लिए, जो इन पहाड़ों में कष्ट-पूर्वक जीवन-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।"

वह प्रसन्नता से बातें करती, उछलती हुई चली जा रही थी और मालती हाँफने लगी थी। मालती ने कहा—"तो क्यों दौड़ी जा रही है? अभी ही तेरा दूल्हा नहीं मिला जा रहा है।"

3

कमरे के दोनों ओर पलँग बिछे थे। मच्छरदानी में दो व्यक्ति सोने का अभिनय कर रहे थे। चन्द्रदेव सोच रहे थे—'यह बूटी! अपनी कमाई से घर बसाने जा रही है। कितना प्रगाढ़ प्रेम इन दोनों में होगा? और मालती! बिना कुछ हाथ-पैर हिलाये-डुलाये अपनी सम्पूर्ण शक्ति से निष्क्रिय प्रतिरोध करती हुई, सुखभोग करने पर भी असन्तुष्ट!' चन्द्रदेव था तार्किक। वह सोचने लगा, 'तब क्या मुझे इसे प्रसन्न करने की चेष्टा छोड़ देनी चाहिए? मरे चाहे जिये! मैंने क्या नहीं किया इसके लिए, फिर भी भौंहें चढ़ी ही रहें, तो मैं क्या करूँ? मुझे क्या मिलता है इस हृदयहीन बोझ को ढोने से! बस, अब मैं घर चलूँगा। फिर—मालती के...बाद एक दूसरी स्त्री। अरे! वह कितनी आज्ञाकारिणी—किन्तु क्या यह मर जायगी! मनुष्य कितना स्वार्थी है। फिर मैं ही क्यों नहीं मर जाऊँ। किन्तु पहले कौन मरे? मेरे मर जाने पर वह जीती रहेगी। इसके लिए

लोग कितने तरह के कलंक, कितनी बुराई की बातें सोचेंगे। और यही जाने क्या कर बैठे ! तब इसे तो लज्जित होना ही पड़ेगा। मुझे भी स्वर्ग में कितना अपमान भोगना पड़ेगा ! मालती के मरने पर लोकापवाद से मुक्त मैं दूसरा ब्याह करूँगा। और पतिव्रता मालती स्वर्ग में भी मेरी शुभ-कामना करेगी। तो फिर यही ठीक रहा। मान की रक्षा के लिए लोग कितने बड़े-बड़े बलिदान कर चुके हैं। क्या मैं उनका अनुकरण नहीं कर सकता ! मालती सम्मान की वेदी पर बलि चढ़े। वही—पहले मरे—फिर देखा जायगा ! राम की तरह एक पत्नीव्रत कर सकूँगा, तो कर लूँगा, नहीं तो उँहूँ—'

चन्द्रदेव की खुली आँखों के सामने मच्छरदानी के जालीदार कपड़े पर एक चित्र खिचा—एक युवती मुस्कराती हुई चाय की प्याली बढ़ा रही है। चन्द्रदेव ने न पीने की सूचना पहले ही दे दी थी। फिर भी उसके अनुनय में बड़ी तरावट थी। उस युवती के रोम-रोम कहते थे, 'ले लो !'

चन्द्रदेव यह स्वप्न देखकर निश्चिन्त सो गया। उसने अपने बनावटी उपचार का—सेवा-भाव का अन्त कर लिया था।

दूसरी मच्छरदानी में थकी हुई मालती थी। सोने के पहले उसे अपने ही ऊपर रोष आ गया था—'वह क्यों न ऐसी हुई कि चन्द्रदेव उसके चरणों में लोटता, उसके मान को, उसके प्रणयरोष को धीरे-धीरे सहलाया करता ! तब क्या वैसी होने की चेष्टा करे; किन्तु अब करके क्या होगा ? जब यौवन का उल्लास था, कुसुम में मकरन्द था, चाँदनी पर मेघ की छाया न थी, तब न कर सकी, तो अब क्या ? बूटी साधारण मजूरी करके स्वस्थ, सुन्दर, आकर्षण और आदर की पात्र बन सकती है। उसका यौवन ढालवें पथ की ओर मुँह किये है, फिर भी उसमें कितना उल्लास है !

'यह आत्म-विश्वास ! यही तो जीवन है; किन्तु, क्या मैं पा सकती हूँ ! क्या मेरे अंग फिर से गुदगुदे हो जायँगे। लाली दौड़ आवेगी ? हृदय में उच्छृंखल उल्लास, हँसी से भरा आनन्द नाचने लगेगा ?' उसने एक बार अपने दुर्बल हाथों को उठाकर देखा कि चूड़ियाँ कलाई से बहुत नीचे खिसक आयी थीं सहसा उसे स्मरण हुआ कि वह बूटी से अभी दो बरस छोटी है। दो बरस में वह स्वस्थ, सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और हँसमुख हो सकती है, होकर रहेगी। वह मरेगी नहीं। ना, कभी नहीं, चन्द्रदेव को दूसरे का न होने देगी। विचार करते-करते फिर सो गयी।

सवेरे दोनों मच्छरदानियां उठीं। चन्द्रदेव ने मालती को देखा—वह प्रसन्न थी। उसके कपोलों का रंग बदल गया था। उसे भ्रम हुआ, 'क्या ?' उसने आँखें मिच-मिचाकर फिर देखा ! इस क्रिया पर मालती हँस पड़ी। चन्द्रदेव झल्लाकर उठ बैठा। वह कहना चाहता था कि "मैं चलना चाहता हूँ। रुपये का अभाव है ! कब तक यहाँ पहाड़ पर पड़ा रहूँगा ? तुम्हारा अच्छा होना असम्भव है। मजूरनी

भी छोड़कर चली गयी। और भी अनेक असुविधाएँ हैं। मैं तो चलूंगा !"

परन्तु वह कह न पाया। कुछ सोच रहा था। निष्ठुर प्रहार करने में हिचक रहा था। सहसा मालती पास चली आयी। मच्छरदानी उठाकर मुस्कराती हुई बोली—"चलो, घर चलें ! अब तो मैं अच्छी हूँ ?"

चन्द्रदेव ने आश्चर्य से देखा कि—मालती दुर्बल है—किन्तु रोग के लक्षण नहीं रहे। उसके अंग-अंग पर स्वाभाविक रंग प्रसन्नता बनकर खेल रहा था !

□□

संदेह

रामनिहाल अपना बिखरा हुआ सामान बाँधने में लगा। जँगले से धूप आकर उसके छोटे-से शीशे पर तड़प रही थी। अपना उज्ज्वल आलोक-खंड, वह छोटा-सा दर्पण बुद्ध की सुन्दर प्रतिमा को अर्पण कर रहा था। किन्तु प्रतिमा ध्यानमग्न थी। उसकी आँखें धूप से चौंधियाती न थीं। प्रतिमा का शान्त गम्भीर मुख और भी प्रसन्न हो रहा था। किन्तु रामनिहाल उधर देखता न था। उसके हाथों में था एक कागजों का बंडल, जिसे सन्दूक में रखने के पहले वह खोलना चाहता था। पढ़ने की इच्छा थी, फिर भी जाने क्यों हिचक रहा था और अपने को मना कर रहा था जैसे किसी भयानक वस्तु से बचने के लिए कोई बालक को रोकता हो।

बंडल तो रख दिया पर दूसरा बड़ा-सा लिफाफा खोल ही डाला। एक चित्र उसके हाथों में था और आँखों में न थे आँसू। कमरे में अब दो प्रतिमा थीं। बुद्धदेव अपनी विराग-महिमा में निमग्न। रामनिहाल रागशैल-सा अचल, जिसमें से हृदय का द्रव आँसुओं की निर्झरिणी बनकर धीरे-धीरे बह रहा था।

किशोरी ने आकर हल्ला मचा दिया—"भाभी, अरे भाभी ! देखा नहीं तूने, न ! निहाल बाबू रो रहे हैं। अरे, तू चल भी !"

श्यामा वहाँ आकर खड़ी हो गयी। उसके आने पर भी रामनिहाल उसी भाव में विस्मृत-सा अपनी करुणा-धारा बहा रहा था। श्यामा ने कहा—"निहाल बाबू !"

निहाल ने आँखें खोलकर कहा—"क्या है ?···अरे, मुझे क्षमा कीजिए।" फिर आँसू पोंछने लगा।

"बात क्या है, कुछ सुनूँ भी। तुम क्यों जाने के समय ऐसे दुखी हो रहे हो ?

क्या हम लोगों से कुछ अपराध हुआ ?"

"तुमसे अपराध होगा ? यह क्या कह रही हो ? मैं रोता हूँ, इसमें मेरी ही भूल है। प्रायश्चित करने का यह ढंग ठीक नहीं, यह मैं धीरे-धीरे समझ रहा हूँ। किन्तु करूँ क्या ? यह मन नहीं मानता।"

श्यामा जैसे सावधान हो गयी। उसने पीछे फिर कर देखा किशोरी खड़ी है। श्यामा ने कहा—"जा बेटी ! कपड़े धूप में फैले हैं, वहीं बैठ।" किशोरी चली गई। अब जैसे सुनने के लिए प्रस्तुत होकर श्यामा एक चटाई खींचकर बैठ गयी। उसके सामने छोटी-सी बुद्धप्रतिमा सागवान की सुन्दर मेज पर धूप के प्रतिबिम्ब में हँस रही थी। रामनिहाल कहने लगा—

"श्यामा ! तुम्हारा कठोर व्रत, वैधव्य का आदर्श देखकर मेरे हृदय में विश्वास हुआ कि मनुष्य अपनी वासनाओं का दमन कर सकता है। किन्तु तुम्हारा अवलम्ब बड़ा दृढ़ है। तुम्हारे सामने बालकों का झुण्ड हँसता, खेलता, लड़ता, झगड़ता है। और तुमने जैसे बहुत-सी देव-प्रतिमाएँ, शृंगार से सजाकर हृदय की कोठरी को मन्दिर बना दिया। किन्तु मुझको वह कहाँ मिलता। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में, छोटा-मोटा व्यवसाय, नौकरी और पेट पालने की सुविधाओं को खोजता हुआ जब तुम्हारे घर में आया, तो मुझे विश्वास हुआ कि मैंने घर पाया। मैं जब से संसार को जानने लगा, तभी से मैं गृहहीन था। मेरा सन्दूक और ये थोड़े-से सामान, जो मेरे उत्तराधिकार का अंश था, अपनी पीठ पर लादे हुए घूमता रहा। ठीक उसी तरह, जैसे कंजर अपनी गृहस्थी टट्टू पर लादे हुए घूमता है।

"मैं चतुर था, इतना चतुर जितना मनुष्य को न होना चाहिए; क्योंकि मुझे विश्वास हो गया है कि मनुष्य अधिक चतुर बनकर अपने को अभागा बना लेता है, और भगवान् की दया से वंचित हो जाता है।

"मेरी महत्त्वाकांक्षा, मेरे उन्नतिशील विचार मुझे बराबर दौड़ाते रहे। मैं अपनी कुशलता से अपने भाग्य को धोखा देता रहा। यह भी मेरा पेट भर देता था। कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता कि यह दाँव बैठा कि मैं अपने आप पर विजयी हुआ। और, मैं सुखी होकर, सन्तुष्ट होकर चैन से संसार के एक कोने में बैठ जाऊँगा; किन्तु वह मृग-मरीचिका थी।

"मैं जिनके यहाँ नौकरी अब तक करता रहा, वे लोग बड़े ही सुशिक्षित और सज्जन हैं। मुझे मानते भी बहुत हैं। तुम्हारे यहाँ घर का-सा सुख है; किन्तु यह सब मुझे छोड़ना पड़ेगा ही।"—इतनी बात कहकर रामनिहाल चुप हो गया।

"तो तुम काम की एक बात न कहोगे। व्यर्थ ही इतनी..." श्यामा और कुछ कहना चाहती थी कि उसे रोककर रामनिहाल कहने लगा—"तुमको मैं अपना शुभचिन्तक, मित्र और रक्षक समझता हूँ, फिर तुमसे न कहूँगा, तो यह भार कब तक ढोता रहूँगा ? लो सुनो। यह चैत है न, हाँ ठीक ! कार्तिक की

पूर्णिमा थी। मैं काम-काज से छुट्टी पाकर संध्या की शोभा देखने के लिए दशाश्व-मेध घाट पर जाने के लिए तैयार था कि ब्रजकिशोर बाबू ने कहा—'तुम तो गंगा-किनारे टहलने जाते ही हो। आज मेरे एक सम्बन्धी आ गए हैं, इन्हें भी एक बजरे पर बैठाकर घुमाते आओ, मुझे आज छुट्टी नहीं है।'

"मैंने स्वीकार कर लिया। आफिस में बैठा रहा। थोड़ी देर में भीतर से एक पुरुष के साथ एक सुन्दरी स्त्री निकली और मैं समझ गया कि मुझे इन्हीं लोगों के साथ जाना होगा। ब्रजकिशोर बाबू ने कहा—'मानमन्दिर घाट पर बजरा ठीक है। निहाल आपके साथ जा रहे हैं। कोई असुविधा न होगी। इस समय मुझे क्षमा कीजिए। आवश्यक काम है।'

"पुरुष के मुँह पर की रेखाएँ कुछ तन गयीं। स्त्री ने कहा—'अच्छा है। आप अपना काम कीजिए। हम लोग तब तक घूम आते हैं।'

"हम लोग मानमन्दिर पहुँचे। बजरे पर चाँदनी बिछी थी। पुरुष—'मोहन बाबू' जाकर ऊपर बैठ गये। पैड़ी लगी थी। मनोरमा को चढ़ने में जैसे डर लग रहा था। मैं बजरे के कोने पर खड़ा था। हाथ बढ़ाकर मैंने कहा, आप चली आइए, कोई डर नहीं। उसने हाथ पकड़ लिया। ऊपर आते ही मेरे कान में धीरे से उसने कहा—'मेरे पति पागल बनाये जा रहे हैं। कुछ-कुछ हैं भी। तनिक सावधान रहिएगा। नाव की बात है।'

"मैंने कह दिया—'कोई चिन्ता नहीं' किन्तु ऊपर जाकर बैठ जाने पर भी मेरे कानों के समीप उस सुन्दर मुख का सुरभित निश्वास अपनी अनुभूति दे रहा था। मैंने मन को शांत किया। चाँदनी निकल आयी थी। घाट पर आकाश-दीप जल रहे थे और गंगा की धारा में भी छोटे-छोटे दीपक बहते हुए दिखाई देते थे।

"मोहन बाबू की बड़ी-बड़ी गोल आँखें और भी फैल गयीं। उन्होंने कहा—'मनोरमा, देखो, इस दीपदान का क्या अर्थ है, तुम समझती हो?'

'गंगाजी की पूजा, और क्या?'—मनोरमा ने कहा।

'यही तो मेरा और तुम्हारा मतभेद है। जीवन के लघु दीप को अनन्त की धारा में बहा देने का यह संकेत है। आह! कितनी सुन्दर कल्पना!'—कहकर मोहन बाबू जैसे उच्छ्वसित हो उठे। उनकी शारीरिक चेतना मानसिक अनुभूति से मिलकर उत्तेजित हो उठी। मनोरमा ने मेरे कानों में धीरे से कहा—'देखा न आपने!'

"मैं चकित हो रहा था। बजरा पंचगंगा घाट के समीप पहुँच गया था। तब हँसते हुए मनोरमा ने अपने पति से कहा—'और यह बाँसों में जो टंगे हुए दीपक हैं, उन्हें आप क्या कहेंगे?'

"तुरन्त ही मोहन बाबू ने कहा—'आकाश भी असीम है न। जीवन-दीप को उसी ओर जाने के लिए यह भी संकेत है।' फिर हाँफते हुए उन्होंने कहना

आरम्भ किया—'तुम लोगों ने मुझे पागल समझ लिया है, यह मैं जानता हूँ। ओह ! संसार की विश्वासघात की ठोकरों ने मेरे हृदय को विक्षिप्त बना दिया है। मुझे उससे विमुख कर दिया है किसी ने मेरे मानसिक विप्लवों में मुझे सहायता नहीं दी। मैं ही सबके लिए मरा करूँ। यह अब मैं नहीं सह सकता। मुझे अकपट प्यार की आवश्यकता है। जीवन में वह कभी नहीं मिला ! तुमने भी मनोरमा ! तुमने भी, मुझे—'

मनोरमा घबरा उठी थी। उसने कहा—'चुप रहिए, आपकी तबीयत बिगड़ रही है, शांत हो जाइए !'

'क्यों शान्त हो जाऊँ ? रामनिहाल को देख कर चुप रहूँ। वह जान जायँ, इसमें मुझे कोई भय नहीं। तुम लोग छिपाकर सत्य को छलना क्यों बनाती हो ?' मोहन बाबू के श्वासों की गति तीव्र हो उठी। मनोरमा ने हताश भाव से मेरी ओर देखा। वह चाँदनी रात में विशुद्ध प्रतिमा-सी निश्चेष्ट हो रही थी।

"मैंने सावधान होकर कहा—'माँझी, अब घूम चलो।' कार्तिक की रात चाँदनी से शीतल हो चली थी। नाव मानमन्दिर की ओर घूम चली। मैं मोहन बाबू के मनोविकार के सम्बन्ध में सोच रहा था। कुछ देर चुप रहने के बाद मोहन बाबू फिर अपने आप कहने लगे—

'ब्रजकिशोर को मैं पहचानता हूँ। मनोरमा, उसने तुम्हारे साथ मिलकर जो षड्यन्त्र रचा है, मुझे पागल बना देने का जो उपाय हो रहा है, उसे मैं समझ रहा हूँ। तो—'

'ओह ! आप चुप न रहेंगे ? मैं कहती हूँ न ! यह व्यर्थ का सन्देह आप मन से निकाल दीजिए या मेरे लिए संखिया मँगा दीजिए। छुट्टी हो।'

"स्वस्थ होकर बड़ी कोमलता से मोहन बाबू कहने लगे—'तुम्हारा अपमान होता है ! सबके सामने मुझे यह बातें न कहनी चाहिएं। यह मेरा अपराध है। मुझे क्षमा करो, मनोरमा !' सचमुच मनोरमा के कोमल चरण मोहन बाबू के हाथ में थे ! वह पैर छुड़ाती हुई पीछे खिसकी। मेरे शरीर से उसका स्पर्श हो गया। वह क्षुब्ध और संकोच में ऊभ-चूभ रमणी जैसे किसी का आश्रय पाने के लिए व्याकुल हो गयी थी। मनोरमा ने दीनता से मेरी ओर देखते हुए कहा—'आप देखते हैं ?'

"सचमुच मैं देख रहा था। गंगा की घोर धारा पर बजरा फिसल रहा था। नक्षत्र बिखर रहे थे। और एक सुन्दरी युवती मेरा आश्रय खोज रही थी। अपनी सब लज्जा और अपमान लेकर वह दुर्वह सन्देह-भार से पीड़ित स्त्री जब कहती थी कि 'आप देखते हैं न', तब वह मानो मुझसे प्रार्थना करती थी कि कुछ मत देखो, मेरा व्यंग्य-उपहास देखने की वस्तु नहीं।

"मैं चुप था। घाट पर बजरा लगा। फिर वह युवती मेरा हाथ पकड़कर

पैड़ी पर से सम्हलती हुई उतरी । और मैंने एक बार न जाने क्यों धृष्टता से मन में सोचा कि 'मैं धन्य हूँ ।' मोहन बाबू ऊपर चढ़ने लगे । मैं मनोरमा के पीछे-पीछे था । अपने पर भारी बोझ डालकर धीरे-धीरे सीढ़ियों पर चढ़ रहा था ।

"उसने धीरे से मुझसे कहा, 'रामनिहालजी, मेरी विपत्ति में आप सहायता न कीजिएगा !' मैं अवाक् था ।

श्यामा ने एक बार गहरी दृष्टि से रामनिहाल को देखा । वह चुप हो गया । श्यामा ने आज्ञा भरे स्वर में कहा, "आगे और भी कुछ है या बस ?"

रामनिहाल ने सिर झुकाकर कहा, "हाँ, और भी कुछ है ।"

"वही कहो न ! !"

"कहता हूँ । मुझे धीरे-धीरे मालूम हुआ कि ब्रजकिशोर बाबू यह चाहते हैं कि मोहनलाल अदालत से पागल मान लिए जायँ और ब्रजकिशोर उनकी सम्पत्ति के प्रबन्धक बना दिए जायँ, क्योंकि वे ही मोहनलाल के निकट सम्बन्धी थे । भगवान् जाने इसमें क्या रहस्य है, किन्तु संसार तो दूसरे को मूर्ख बनाने के व्यवसाय पर चल रहा है । मोहन अपने सन्देह के कारण पूरा पागल बन गया है । तुम जो यह चिट्ठियों का बण्डल देख रही हो, वह मनोरमा का है ।"

रामनिहाल फिर रुक गया । श्यामा ने फिर तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा । रामनिहाल कहने लगा, "तुमको भी सन्देह हो रहा है । सो ठीक ही है । मुझे भी कुछ सन्देह हो रहा है, मनोरमा क्यों मुझे इस समय बुला रही है ।"

अब श्यामा ने हँसकर कहा, 'तो क्या तुम समझते हो कि मनोरमा तुमको प्यार करती है और वह दुश्चरित्रा है ? छि: रामनिहाल, वह तुम क्यों सोच रहे हो ? देखूँ तो, तुम्हारे हाथ में यह कौन-सा चित्र है, क्या मनोरमा का ही ?" कहते-कहते श्यामा ने रामनिहाल के हाथ से चित्र ले लिया । उसने आश्चर्य-भरे स्वर में कहा, "अरे, यह तो मेरा ही है ? तो क्या तुम मुझसे प्रेम करने का लड़कपन करते हो ? यह अच्छी फाँसी लगी है तुमको । मनोरमा तुमको प्यार करती है और तुम मुझको । मन के विनोद के लिए तुमने अच्छा साधन जुटाया है । तभी कायरों की तरह यहाँ से बोरिया-बँधना लेकर भागने की तैयारी कर ली है !"

रामनिहाल हतबुद्धि अपराधी-सी श्यामा को देखने लगा । जैसे उसे कहीं भागने की राह न हो । श्यामा दृढ़ स्वर में कहने लगी —

"निहाल बाबू ! प्यार करना बड़ा कठिन है । तुम इस खेल को नहीं जानते । इसके चक्कर में पड़ना भी मत । हाँ, एक दुखिया स्त्री तुमको अपनी सहायता के लिए बुला रही है । जाओ, उसकी सहायता करके लौट आओ । तुम्हारा सामान यहीं रहेगा । तुमको अभी यहीं रहना होगा । समझे । अभी तुमको मेरी संरक्षता की आवश्यकता है । उठो । नहा-धो लो । जो ट्रेन मिले, उससे पटने जाकर

ब्रजकिशोर की चालाकियों से मनोरमा की रक्षा करो। और फिर मेरे यहाँ चले आना। यह सब तुम्हारा भ्रम था। सन्देह था।"

रामनिहाल धीरे से उठकर नहाने चला गया।

□□

भीख में

खपरल दालान में, कम्बल पर मिन्ना के साथ बैठा हुआ ब्रजराज मन लगाकर बातें कर रहा था। सामने ताल में कमल खिल रहे थे। उस पर से भीनी-भीनी महक लिए हुए पवन धीरे-धीरे उस झोंपड़ी में आता और चला जाता था।

"क्या कहती थी...", मिन्ना ने कमल की केसरों को बिखराते हुए कहा।

"क्या कहती थीं?"

"बाबूजी परदेश जायँगे। तेरे लिए नैपाली टट्टू लायँगे।"

"तू घोड़े पर चढ़ेगा कि टट्टू पर! पागल कहीं का!"

"नहीं, मैं टट्टू पर चढ़ूँगा। वह गिरता नहीं।"

"तो फिर मैं नहीं जाऊँगा?"

"क्यों नहीं जाओगे? ऊँ-ऊँ-ऊँ, मैं अब रोता हूँ।"

"अच्छा, पहले यह बताओ कि जब तुम कमाने लगोगे, तो हमारे लिए क्या लाओगे?"

"खूब ढेर-सा रुपया"—कहकर मिन्ना ने अपना छोटा-सा हाथ जितना ऊँचा हो सकता था, उठा दिया।

"सब रुपया, मुझको ही दोगे न!"

"नहीं, माँ को भी दूँगा।"

"मुझको कितना दोगे?"

"थैली-भर!"

"और माँ को?"

"वही बड़ी काठवाली सन्दूक में जितना भरेगा।"

"तब फिर माँ से कहो; वही नैपाली टट्टू ला देगी।"

मिन्ना ने झुँझलाकर ब्रजराज को ही टट्टू बना लिया। उसी के कंधों पर चढ़कर अपनी साध मिटाने लगा। भीतर दरवाजे में से इन्दो झाँककर पिता-पुत्र

का विनोद देख रही थी। उसने कहा—"मिन्ना! यह टट्टू बड़ा अड़ियल है।"

ब्रजराज़ को यह विसंवादी स्वर की-सी हँसी खटकने लगी। आज ही सवेरे इन्दो से कड़ी फटकार सुनी थी। इन्दो अपने गृहिणी-पद की मर्यादा के अनुसार जब दो-चार खरी-खोटी सुना देती, तो उनका मन विरक्ति से भर जाता। उसे मिन्ना के साथ खेलने में, झगड़ा करने में और सलाह करने में ही संसार की पूर्ण भावमयी उपस्थिति हो जाती। फिर कुछ और करने की आवश्यकता ही क्या है? यही बात उसकी समझ में नहीं आती। रोटी-बिना भूखों मरने की सम्भावना न थी। किन्तु इन्दो को उतने ही से संतोष नहीं। इधर ब्रजराज को निठल्ले बैठे हुए माली के साथ कभी-कभी चुहल करते देखकर तो वह और भी जल उठती। ब्रजराज यह सब समझता हुआ भी अनजान बन रहा था। उसे तो अपनी खपरेल में मिन्ना के साथ सन्तोष-ही-सन्तोष था; किन्तु आज वह न जाने क्यों भिन्ना उठता—

"मिन्ना! अड़ियल टट्टू भागते हैं, तो रुकते नहीं। और राह-कराह भी नहीं देखते। तेरी माँ अपने भीगे चने पर रोब गाँठती है। कहीं इस टट्टू को हरी-हरी दूब की चाट लगी, तो...।"

"नहीं मिन्ना! रूखी-सूखी पर निभा लेनेवाले ऐसा नहीं कर सकते!"

"कर सकते हैं मिन्ना! कह दो, हाँ!"

मिन्ना घबरा उठा था। यह तो बातों का नया ढंग था। वह समझ न सका। उसने कह दिया—"हाँ, कर सकते हैं।"

"चल, देख लिया। ऐसे ही करने वाले!"—कहकर जोर से किवाड़ बन्द करती हुई इन्दो चली गयी। ब्रजराज के हृदय में विरक्ति चमकी। बिजली की तरह कौंध उठी घृणा। उसे अपने अस्तित्व पर सन्देह हुआ। वह पुरुष है या नहीं? इतना कशाघात! इतना सन्देह और चतुर संचालन! उसका मन घर से विद्रोही हो रहा था। आज तक बड़ी सावधानी से कुशल महाजन की तरह वह अपना सूद बढ़ाता रहा। कभी स्नेह का प्रतिदान लेकर उसने इन्दो को हलका नहीं होने दिया था। इसी घड़ी सूद-दर-सूद लेने के लिए उसने अपनी विरक्ति की थैली का मुँह खोल दिया।

मिन्ना को एक बार गोद में चिपका कर वह खड़ा हो गया। जब गाँव के लोग हलों को कंधों पर लिए घर लौट रहे थे, उसी समय ब्रजराज ने घर छोड़ने का निश्चय कर लिया।

जालंधर से जो सड़क ज्वालामुखी को जाती है, उस पर इसी साल से एक सिक्ख पेन्शनर ने लारी चलाना आरम्भ किया। उसका ड्राइवर कलकत्ते से सीखा हुआ फुर्तीला आदमी है। सीधे-सादे देहाती उछल पड़े। जिनकी मनौती कई साल से रुकी थी, बैल-गाड़ी की यात्रा के कारण जो अब तक टाल-मटोल करते थे, वे

उत्साह से भर कर ज्वालामुखी के दर्शन के लिए प्रस्तुत होने लगे।

गोटेदार ओढ़नियों, अच्छी काट की शलवारों, किमख्वाब की झकाझक सदरियों की बहार, आये दिन उसकी लारी में दिखलाई पड़ती। किन्तु वह मशीन का प्रेमी ड्राइवर किसी ओर देखता नहीं। अपनी मोटर, उसका हार्न, ब्रेक और मडगार्ड पर उसका मन टिका रहता। चक्का हाथ में लिए हुए जब उस पहाड़ी-प्रान्त में वह अपनी लारी चलाता, तो अपनी धुन में मस्त किसी की ओर देखने का विचार भी न कर पाता। उसके सामान में एक बड़ा-सा कोट, एक कम्बल और एक लोटा। हाँ, बैठने की जगह में जो छिपा हुआ बक्स था, उसी में कुल रुपये-पैसे बचाकर वह फेंकता जाता। किसी पहाड़ी पर ऊँचे वृक्षों से लिपटी हुई जंगली गुलाब की लता को वह देखना नहीं चाहता। उसकी कोसों तक फैलनेवाली सुगन्ध ब्रजराज के मन को भय देती; परन्तु वह शीघ्र ही अपनी लारी में मन को उलझा देता और तब निर्विकार भाव से उस जनविरल प्रान्त में लारी की चाल तीव्र कर देता। इसी तरह कई बरस बीत गये।

बूढ़ा सिख उससे बहुत प्रसन्न रहता; क्योंकि ड्राइवर कभी बीड़ी-तम्बाखू नहीं पीता और किसी काम में व्यर्थ पैसा नहीं खर्च करता। उस दिन बादल उमड़ रहे थे। थोड़ी-थोड़ी झीसी पड़ रही थी। वह अपनी लारी दौड़ाये पहाड़ी प्रदेश के बीचों-बीच निर्जन सड़क पर चला जा रहा था, कहीं-कहीं दो-चार घरों के गाँव दिखाई पड़ते थे। आज उसकी लारी में भीड़ नहीं थी। सिख पेंशनर की जान-पहचान का एक परिवार उस दिन ज्वालामुखी का दर्शन करने जा रहा था। उन लोगों ने पूरी लारी भाड़े पर कर ली थी, किन्तु अभी तक उसे यह जानने की आवश्यकता न हुई थी कि उसमें कितने आदमी थे। उसे इंजिन में पानी की कमी मालूम हुई कि लारी रोक दी गयी। ब्रजराज बाल्टी लेकर पानी लाने गया। उसे पानी लाते देखकर लारी के यात्रियों को भी प्यास लग गयी। सिख ने कहा—

"ब्रजराज! इन लोगों को भी थोड़ा पानी दे देना।"

जब बाल्टी लिये हुए वह यात्रियों की ओर गया, तो उसको भ्रम हुआ कि जो सुन्दरी स्त्री पानी के लिए लोटा बढ़ा रही है, वह कुछ पहचानी-सी है। उसने लोटे में पानी उँड़ेलते हुए अन्यमनस्क की तरह कुछ जल गिरा भी दिया, जिससे स्त्री की ओढ़नी का कुछ अंश भींग गया। यात्री ने झिड़ककर कहा—

"भाई, जरा देखकर।"

किन्तु वह स्त्री भी उसे कनखियों से देख रही थी। 'ब्रजराज?' शब्द उसके भी कानों में गूँज उठा था। ब्रजराज अपनी सीट पर जा बैठा।

बूढ़े सिख और यात्री दोनों को ही उसका यह व्यवहार अशिष्ट-सा मालूम हुआ; पर कोई कुछ बोला नहीं। लारी चलने लगी। काँगड़ा की तराई का यह

पहाड़ी दृश्य, चित्रपटों की तरह क्षण-क्षण पर बदल रहा था। उधर ब्रजराज की आँखें कुछ दूसरे ही दृश्य को देख रही थीं।

गाँव का वह ताल, जिसमें कमल खिल रहे थे, मिन्ना ने निर्मल प्यार की तरह तरंगायित हो रहा था। और उस प्यार में विश्राम की लालसा, बीच-बीच में उसे देखते ही, मालती का पैर के अँगूठों के चाँदी के मोटे छल्लों को खटखटाना, सहसा उसकी स्त्री का सन्दिग्ध भाव से उसको बाहर भेजने की प्रेरणा, साधारण जीवन में बालक के प्यार से जो सुख और सन्तोष मिल रहा था, वह भी छिन गया; क्यों सन्देह न हो ! इन्दो को विश्वास हो चला था कि ब्रजराज मालो को प्यार करता है। और गाँव में एक ही सुन्दरी, चंचल, हँसमुख और मनचली भी थी, उसका ब्याह नहीं हुआ था। हाँ, वही तो मालो ?—और यह ओढ़नीवाली ! ऐं, पंजाबी में ? असम्भव ! नहीं तो—वही है—ठीक-ठीक वही है। वह चक्का पकड़े हुए पीछे घूमकर अपने स्मृतिधारा पर विश्वास कर लेना चाहता था। ओह ! कितनी भूली हुई बातें इस मुख ने स्मरण दिला दीं। वही तो—वह अपने को न रोक सका। पीछे घूम ही पड़ा और देखने लगा।

लारी टकरा गई एक वृक्ष से। कुछ अधिक हानि न होने पर भी, किसी को कहीं चोट न लगने पर भी सिख झल्ला उठा। ब्रजराज भी फिर लारी पर न चढ़ा। किसी को किसी से सहानुभूति नहीं। तनिक-सी भूल भी कोई सह नहीं सकता, यही न ! ब्रजराज ने सोचा कि मैं ही क्यों न रूठ जाऊँ ? उसने नौकरी को नमस्कार किया।

* * *

ब्रजराज को वैराग्य हो गया हो, सो तो बात नहीं। हाँ, उसे गार्हस्थ्य-जीवन के सुख के आरंभ में ही ठोकर लगी। उसकी सीधी-सादी गृहस्थी में कोई विशेष आनन्द न था। केवल मिन्ना की अटपटी बातों से और राह चलते-चलते कभी-कभी मालती की चुहल से, हलके शरबत में, दो बूँद हरे नीबू के रस की-सी सुगन्ध तरावट में मिल जाती थी।

वह सब गया, इधर कलकत्ते के कोलाहल में रहकर उसने ड्राइवरी सीखी। पहाड़ियों की गोद में उसे एक प्रकार की शान्ति मिली। दो-चार घरों के छोटे-छोटे से गाँवों को देखकर उसके मन में विरागपूर्ण दुलार होता था। वह अपनी लारी पर बैठा हुआ उपेक्षा से एक दृष्टि डालता हुआ निकल जाता। तब वह अपने गाँव पर मानो प्रत्यक्ष रूप से प्रतिशोध ले लेता; किन्तु नौकरी छोड़कर वह क्या जाने कैसा हो गया। ज्वालामुखी के समीप ही पंडों की बस्ती में जाकर रहने लगा।

पास में कुछ रुपये बचे थे। उन्हें वह धीरे-धीरे खर्च करने लगा। उधर उसके मन का निश्चित भाव और शरीर का बल धीरे-धीरे क्षीण होने लगा। कोई कहता, तो उसका काम कर देता; पर उसके बदले में पैसा न लेता। लोग कहते—बड़ा

भलामानुस है। उससे बहुत-से लोगों की मित्रता हो गयी। उसका दिन ढलने लगा। वह घर की कभी चिन्ता न करता। हाँ, भूलने का प्रयत्न करता; किन्तु मिन्ना? फिर सोचता 'अब बड़ा हो गया होगा ही, जिसने मुझे काम करने के लिए परदेश भेज दिया, वह मिन्ना को ठीक कर लेगी। खेती-बारी से काम चल ही जायगा। मैं ही गृहस्थी में अतिरिक्त व्यक्ति था और मालती! न, न! पहले उसके कारण संदिग्ध बनकर मुझे घर छोड़ना पड़ा। उसी का फिर से स्मरण करते ही मैं नौकरी से छुड़ाया गया। कहाँ से उस दिन मुझे फिर उसका सन्देह हुआ। वह पंजाब में कहाँ आती! उसका नाम भी न लूँ!"

"इन्दो तो मुझे परदेश भेजकर सुख से नींद लेगी ही।"

पर यह नशा दो-ही-तीन बरसों में उड़ गया। इस अर्थयुग में सब संबल जिसका है, वही उठ्ठी बोल गया। आज ब्रजराज अकिंचन कंगाल था। आज ही से उसे भीख माँगना चाहिए। नौकरी न करेगा, हाँ भीख माँग लेगा। किसी का काम कर देगा, तो यह देगा वह अपनी भीख। उसकी मानसिक धारा इसी तरह चल रही थी।

वह सवेरे ही आज मन्दिर के समीप ही जा बैठा। आज उसके हृदय से भी वैसी ही एक ज्वाला भक् से निकल कर बुझ जाती है। और कभी विलम्ब तक लपलपाती रहती है; किन्तु कभी उसकी ओर कोई नहीं देखता। और उधर तो यात्रियों के झुंड जा रहे थे।

चैत्र का महीना था। आज बहुत-से यात्री आये थे। उसने भी भीख के लिए हाथ फैलाया। एक सज्जन गोद में छोटा-सा बालक लिये बढ़ गये, पीछे एक सुन्दरी अपनी ओढ़नी सम्हालती हुई क्षणभर के लिए रुक गयी थी। स्त्रियाँ स्वभाव की कोमल होती हैं। पहली ही बार पसारा हुआ हाथ खाली न रह जाय, इसी से ब्रजराज ने सुन्दरी से याचना की।

वह खड़ी हो गयी। उसने पूछा—"क्या तुम अब लारी नहीं चलाते?"

अरे, वही तो ठीक मालती का-सा स्वर!

हाथ बटोर कर ब्रजराज ने कहा—"कौन, मालो?"

"तो यह तुम्हीं हो, ब्रजराज!"

"हाँ हो"—कहकर ब्रजराज ने एक लम्बी साँस ली।

मालती खड़ी रही। उसने कहा—"भीख माँगते हो?"

"हाँ, पहले मैं सुख का भिखारी था। थोड़ा-सा मिन्ना का स्नेह, इन्दो का प्रणय, दस-पाँच बीघों की कामचलाऊ उपज और कहे जानेवाले मित्रों की चिकनी-चुपड़ी बातों से संतोष की भीख माँगकर अपने चिथड़ों में बाँधकर मैं सुखी बन रहा था। कंगाल की तरह कोलाहल से दूर एक कोने में उसे अपनी छाती से लगाये पड़ा

था; किन्तु तुमने बीच में थोड़ा-सा प्रसन्न-विनोद मेरे ऊपर ढाल दिया, वही तो मेरे लिए..."

"ओहो, पागल इन्दो ! मुझ पर सन्देह करने लगी। तुम्हारे चले आने पर मुझसे कई बार लड़ी भी। मैं तो अब यहाँ आ गयी हूँ।"—कहते-कहते वह भय से आगे चले जानेवाले सज्जन को देखने लगी।

"तो, वह तुम्हारा ही बच्चा है न ! अच्छा-अच्छा !" 'हूँ' कहती हुई मालो ने कुछ निकाला उसे देने के लिए। ब्रजराज ने कहा—"मालो ! तुम जाओ। देखो, वह तुम्हारे पति आ रहे हैं !" बच्चे को गोद में लिये हुए मालो को पंजाबी पति लौट आये। मालती उस समय अन्यमनस्क, क्षुब्ध और चंचल हो रही थी। उसके मुँह पर क्षोभ, भय और कुतूहल से मिली हुई करुणा थी। पति ने डाँट कर पूछा—"क्यों, वह भिखमंगा तंग कर रहा था ?"

पंडाजी की ओर घूमकर मालो के पति ने कहा—"ऐसे उचक्कों को आप लोग मन्दिर के पास बैठने देते हैं !"

धनी जजमान का अपमान भला वह पंडा कैसे सहता ! उसने ब्रजराज का हाथ पकड़कर घसीटते हुए कहा—

"उठ वे, यहाँ फिर दिखाई पड़ा, तो तेरी टाँग ही लँगड़ी कर दूँगा !"

वेचारा ब्रजराज यहाँ धक्के खाकर सोचने लगा—"फिर मालती ! क्या सचमुच मैंने कभी उससे कुछ ..और मेरा दुर्भाग्य ! यही तो आज तक अयाचित भाव से वह देती आयी है। आज उसने पहले दिन की भीख में भी वही दिया।

□□

चित्रवाले पत्थर

मैं 'संगमहाल' का कर्मचारी था। उन दिनों मुझे विन्ध्य शैल-माला के एक उजाड़ स्थान में सरकारी काम से जाना पड़ा। भयानक वन-खंड के बीच, पहाड़ी से हटकर एक छोटी-सी डाक बँगलिया थी। मैं उसी में ठहरा था। वहीं की एक पहाड़ी में एक प्रकार का रंगीन पत्थर निकला था। मैं उनकी जाँच करने और तब तक पत्थर की कटाई बन्द करने के लिए वहाँ गया था। उस झाड़-खंड में छोटी-सी सन्दूक की तरह मनुष्य-जीवन की रक्षा के लिए बनी हुई बँगलिया मुझे विलक्षण

मालूम हुई; क्योंकि वहाँ पर प्रकृति की निर्जन शून्यता, पथरीली चट्टानों से टकराती हुई हवा के झोंके के दीर्घ-निःश्वास, उस रात्रि में मुझे सोने न देते थे। मैं छोटी-सी खिड़की से सिर निकाल कर जब कभी उस सृष्टि के खँडहर को देखने लगता, तो भय और उद्वेग मेरे मन पर इतना बोझ डालते कि मैं कहानियों में पढ़ी हुई अतिरञ्जित घटनाओं की संभावना से ठीक संकुचित होकर भीतर अपने तकिये पर पड़ा रहता था। अंतरिक्ष के गह्वर में न-जाने कितनी ही आश्चर्यजनक लीलाएँ करके मानवी आत्माओं ने अपना निवास बना लिया है। मैं कभी-कभी आवेश में सोचता कि भत्ते के लोभ से मैं ही क्यों यहाँ चला आया? क्या वैसे ही कोई अद्भुत घटना होनेवाली है? मैं फिर जब अपने साथी नौकर की ओर देखता, तो मुझे साहस हो जाता और क्षण-भर के लिए स्वस्थ होकर नींद को बुलाने लगता; किन्तु कहाँ, वह तो सपना हो रही थी।

रात कट गयी। मुझे कुछ झपकी आने लगी। किसी ने बाहर से खटखटाया और मैं घबरा उठा। खिड़की खुली हुई थी। पूरब की पहाड़ी के ऊपर आकाश में लाली फैल रही थी। मैं निडर होकर बोला—"कौन है? इधर खिड़की के पास आओ।"

जो व्यक्ति मेरे पास आया, उसे देखकर मैं दंग रह गया। कभी वह सुन्दर रहा होगा; किन्तु आज तो उसके अंग-अंग से, मुँह की एक-एक रेखा से उदासीनता और कुरूपता टपक रही थी। आँखें गड्ढ में जलते हुए अंगारे की तरह धक्धक् कर रही थीं। उसने कहा—"मुझे कुछ खिलाओ।"

मैंने मन-ही-मन सोचा कि यह आपत्ति कहाँ से आयी! वह भी रात बीत जाने पर! मैंने कहा—"भले आदमी! तुमको इतने सवेरे भूख लग गयी?"

उसकी दाढ़ी और मूँछों के भीतर छिपी हुई दाँतों की पंक्ति रगड़ उठी। वह हँसी थी या थी किसी कोने की मर्मान्तिक पीड़ा की अभिव्यक्ति, कह नहीं सकता। वह कहने लगा—"व्यवहारकुशल मनुष्य, संसार के भाग्य से उसकी रक्षा के लिए, बहुत थोड़े-से उत्पन्न होते हैं। वे भूख पर संदेह करते हैं। एक पैसा देने के साथ नौकर से कह देते हैं, देखो इसे चना दिला देना। वह समझते हैं, एक पैसे की मलाई से पेट न भरेगा। तुम ऐसे ही व्यवहार-कुशल मनुष्य हो। जानते हो कि भूखे को कब भूख लगनी चाहिए। जब तुम्हारी मनुष्यता स्वाँग बनाती है, तो अपने पशु पर देवता की खाल चढ़ा देती है, और स्वयं दूर खड़ी हो जाती है।"

मैंने सोचा कि यह दार्शनिक भिखमंगा है। और कहा—"अच्छा, बाहर बैठो।"

बहुत शीघ्रता करने पर भी नौकर के उठने और उसके लिए भोजन बनाने में घण्टों लग गये। जब मैं नहा-धोकर पूजा-पाठ से निवृत्त होकर लौटा, तो वह मनुष्य एकान्त मन से अपने खाने पर जुटा हुआ था। अब मैं उसकी प्रतीक्षा करने लगा। वह भोजन समाप्त करके जब मेरे पास आया, तो मैंने पूछा—"तुम यहाँ

क्या कर रहे थे !" उसने स्थिर दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखकर कहा—"बस, इतना ही पूछिएगा या और भी कुछ ?" मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा—"मुझे अभी दो घण्टे का अवसर है। तुम जो कुछ कहना चाहो, कहो।"

वह कहने लगा—

"मेरे जीवन में उस दिन अनुभूतिमयी सरसता का संचार हुआ, मेरी छाती में कुसुमाकर की वनस्थली अंकुरित, पल्लवित, कुसुमित होकर सौरभ का प्रसार करने लगी। ब्याह के निमन्त्रण में मैंने देखा, उसे, जिसे देखने के लिए ही मेरा जन्म हुआ था। वह थी मंगला की यौवनमयी उषा। सारा संसार उन कपोलों की अरुणिमा की गुलाबी छटा के नीचे मधुर विश्राम करने लगा। वह मादकता विलक्षण थी। मंगला के अंग-कुसुम से मकरन्द छलका पड़ता था। मेरी धवल आँखें उसे देखकर ही गुलाबी होने लगीं।

ब्याह की भीड़भाड़ में इस ओर ध्यान देने की किसको आवश्यकता थी, किंतु हम दोनों को भी दूसरी ओर देखने का अवकाश नहीं था। सामना हुआ और एक घूँट। आँखें चढ़ जाती थीं। अधर मुसकराकर खिल जाते और हृदय-पिण्ड पारद के समान, वसन्त-कालीन चल-दल-किसलय की तरह काँप उठता।

देखते-ही-देखते उत्सव समाप्त हो गया। सब लोग अपने-अपने घर चलने की तैयारी करने लगे; परन्तु मेरा पैर तो उठता ही न था। मैं अपनी गठरी जितनी ही बाँधता, वह खुल जाती। मालूम होता था कि कुछ छूट गया है। मंगला ने कहा—"मुरली, तुम भी जाते हो ?"

"जाऊँगा ही—तो भी तुम जैसा कहो।"

"अच्छा, तो फिर कितने दिनों में आओगे ?"

"यह तो भाग्य जाने !"

"अच्छी बात है"—वह जाड़े की रात के समान ठण्डे स्वर में बोली। मेरे मन को ठेस लगी। मैंने भी सोचा कि फिर यहाँ क्यों ठहरूँ ? चल देने का निश्चय किया। फिर भी रात तो बितानी ही पड़ी। जाते हुए अतिथि को थोड़ा और ठहरने के लिए कहने से कोई भी चतुर गृहस्थ नहीं चूकता। मंगला की माँ ने कहा और मैं रात भर ठहर गया; पर जागकर रात बीती। मंगला ने चलने के समय कहा—"अच्छा तो—" इसके बाद नमस्कार के लिए दोनों सुन्दर हाथ जुड़ गये। चिढ़कर मन-ही-मन मैंने कहा—यही अच्छा है, तो बुरा ही क्या है ? मैं चल पड़ा। कहाँ—घर नहीं ! कहीं और !—मेरी कोई खोज लेनेवाला न था।

मैं चला जा रहा था। कहाँ जाने के लिए, यह न बताऊँगा। वहाँ पहुँचने पर संध्या हो गयी। चारों ओर वनस्थली साँय-साँय करने लगी। थका भी था, रात को पाला पड़ने की संभावना थी। किस छाया में बैठता ? सोच-विचार कर मैं सूखी झलासियों में झोपड़ी बनाने लगा। लतरों को काटकर उस पर छाजन हुई।

रात का बहुत-सा अंश बीत चुका था। परिश्रम की तुलना में विश्राम कहाँ मिला! प्रभात होने पर आगे बढ़ने की इच्छा न हुई। झोपड़ी की अधूरी रचना ने मुझे रोक लिया। जंगल तो था ही। लकड़ियों की कमी न थी। पास ही नाले की मिट्टी भी चिकनी थी। आगे बढ़कर नदी-तट से मुझे नाला ही अच्छा लगा। दूसरे दिन से झोपड़ी उजाड़कर अच्छी-सी कोठरी बनाने की धुन लगी। अहेर से पेट भरता और घर बनाता। कुछ ही दिनों में वह बन गया। जब घर बन चुका, तो मेरा मन उचटने लगा। घर की ममता और उसके प्रति छिपा हुआ अविश्वास दोनों का युद्ध मन में हुआ। मैं जाने की बात सोचता, फिर ममता कहती कि विश्राम करो। अपना परिश्रम था, छोड़ न सका। इसका और भी कारण था। समीप ही सफेद चट्टानों पर जलधारा के लहरीले प्रवाह में कितना संगीत था! चाँदनी में वह कितना सुन्दर हो जाता है! जैसे इस पृथ्वी का छाया-पथ। मेरी उस झोपड़ी से उसका सब रूप दिखाई पड़ता था न! मैं उसे देखकर सन्तोष का जीवन बिताने लगा। वह मेरे जीवन के सब रहस्यों की प्रतिमा थी। कभी उसे मैं आँसू की धारा समझता, जिसे निराश प्रेमी अपने आराध्य की कठोर छाती पर व्यर्थ ढुलकाता हो। कभी उसे अपने जीवन की तरह निर्मम संसार की कठोरता पर छटपटाते हुए देखता। दूसरे का दुःख देखकर मनुष्य को सन्तोष होता ही है। मैं भी वहीं पड़ा जीवन बिताने लगा।

कभी सोचता कि मैं क्यों पागल हो गया! उस स्त्री के सौंदर्य ने क्यों अपना प्रभाव मेरे हृदय पर जमा लिया? विधवा मंगला, वह गरल है या अमृत? अमृत है, तो उसमें इतनी ज्वाला क्यों है, ज्वाला है तो मैं जल क्यों नहीं गया? यौवन का विनोद! सौंदर्य की भ्रान्ति! वह क्या है? मेरा यही स्वाध्याय हो गया।

शरद की पूर्णिमा में बहुत-से लोग उस सुन्दर दृश्य को देखने के लिए दूर-दूर से आते। युवती और युवकों के रहस्यालाप करते हुए जोड़े, मित्रों की मंडलियाँ, परिवारों का दल, उनके आनन्द-कोलाहल को मैं उदास होकर देखता। डाह होती, जलन होती। तृष्णा जग जाती। मैं उस रमणीय दृश्य का उपभोग न करके पलकों को दबा लेता। कानों को बन्द कर लेता; क्यों? मंगला नहीं। और क्या एक दिन के लिए, एक क्षण के लिए मैं उस सुख का अधिकारी नहीं! विधाता का अभिशाप! मैं सोचता—अच्छा, दूसरों के ही साथ कभी वह शरद-पूर्णिमा के दृश्य को देखने के लिए क्यों नहीं आयी? क्या वह जानती है कि मैं यहीं हूँ? मैंने भी पूर्णिमा के दिन वहाँ जाना छोड़ दिया। और लोग जब वहाँ जाते, मैं न जाता। मैं रूठता था। यह मूर्खता थी मेरी! वहाँ किससे मान करता था मैं? उस दिन मैं नदी की ओर न जाने क्यों आकृष्ट हुआ।

मेरी नींद खुल गयी थी। चाँदनी रात का सवेरा था। अभी चन्द्रमा में फीका प्रकाश था। मैं वनस्थली की रहस्यमयी छाया को देखता हुआ नाले के किनारे-

किनारे चलने लगा। नदी के संगम पर पहुँच कर सहसा एक जगह रुक गया। देखा कि वहाँ पर एक स्त्री और पुरुष शिला पर सो रहे हैं। वहाँ तक तो घूमने वाले आते नहीं। मुझे कुतूहल हुआ। मैं वहीं स्नान करने के बहाने रुक गया। आलोक की किरणों से आँखें खुल गयीं। स्त्री ने गर्दन घुमाकर धारा की ओर देखा। मैं सन्न रह गया। उसकी धोती साधारण और मैली थी। सिराहने एक छोटी-सी पोटली थी। पुरुष अभी सो रहा था। मेरी-उसकी आँखें मिल गयीं। मैंने तो पहचान लिया कि वह मंगला थी। और उसने—नहीं, उसे भ्रान्ति बनी रही। वह सिमटकर बैठ गयी। और मैं उसे जानकर भी अनजान बनते हुए देखकर मन-ही-मन कुढ़ गया। मैं धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगा।

"सुनिए तो!" मैंने घूमकर देखा कि मंगला पुकार रही है। वह पुरुष भी उठ बैठा है। मैं वहीं खड़ा रह गया। कुछ बोलने पर भी मैं प्रश्न की प्रतीक्षा में यथास्थित रह गया। मंगला ने कहा—"महाशय, कहीं रहने की जगह मिलेगी?"

"महाशय!" ऐं! तो सचमुच मंगला ने मुझे नहीं पहचाना क्या? चलो अच्छा हुआ, मेरा चित्र भी बदल गया था। एकांतवास करते हुए और कठोर जीवन बिताते हुए जो रेखाएँ बन गयी थीं, वह मेरे मनोनुकूल ही हुईं। मन में क्रोध उमड़ रहा था, गला भर्राने लगा था। मैंने कहा—जंगलों में क्या आप कोई धर्मशाला खोज रही हैं?" वह कठोर व्यंग था। मंगला ने घायल होकर कहा—"नहीं, कोई गुफा—कोई झोपड़ी महाशय, धर्मशाला खोजने के लिए जंगल में क्यों आती?"

पुरुष कुछ कठोरता से सजग हो रहा था; किन्तु मैंने उसकी ओर न देखते हुए कहा—"झोपड़ी तो मेरी है। यदि विश्राम करना हो तो वहीं थोड़ी देर के लिए जगह मिल जायगी।"

"थोड़ी देर के लिए सही। मंगला, उठो? क्या सोच रही हो? देखो, रात भर यहाँ पड़े-पड़े मेरी सब नसें अकड़ गयी हैं।" पुरुष ने कहा। मैंने देखा कि वह कोई सुखी परिवार के प्यार में पला युवक है; परन्तु उसका रंग-रूप नष्ट हो गया है। कष्टों के कारण उसमें एक कटुता आ गयी है। मैंने कहा—"तो फिर चलो, भाई!"

दोनों मेरे पीछे-पीछे चलकर झोपड़ी में पहुँचे।

मंगला मुझे पहचान सकी कि नहीं, कह नहीं सकता। कितने बरस बीत गये। चार-पाँच दिनों की देखा-देखी। सम्भवत: मेरा चित्र उसकी आँखों में उतरते-उतरते किसी और छवि ने अपना आसन जमा लिया हो; किन्तु मैं कैसे भूल सकता था! घर पर और कोई था ही नहीं। जीवन जब किसी स्नेह-छाया की खोज में आगे बढ़ा, तो मंगला का हरा-भरा यौवन और सौन्दर्य दिखाई पड़ा। वहीं रम गया। मैं भावना के अतिवाद में पड़ कर निराश व्यक्ति-सा विरागी बन गया था, उसी के लिए। यह मेरी भूल हो; पर मैं तो उसे स्वीकार कर चुका था।

हाँ, तो वह बाल-विधवा मंगला ही थी। और पुरुष! वह कौन है? यही मैं सोचता हुआ झोपड़ी के बाहर साखू की छाया में बैठा हुआ था। झोपड़ी में दोनों विश्राम कर रहे थे। उन लोगों ने नहा-धोकर कुछ जल पीकर सोना आरम्भ किया। सोने की होड़ लग रही थी। वे इतने थके थे कि दिन-भर उठने का नाम नहीं लिया। मैं दूसरे दिन का धरा हुआ नमक लगा मांस का टुकड़ा निकालकर आग पर सेंकने की तैयारी में लगा क्योंकि अब दिन ढल रहा था। मैं अपने तीर से आज एक पक्षी मार सका था। सोचा कि ये लोग भी कुछ माँग बैठें तब क्या दूँगा? मन में तो रोष की मात्रा कुछ न थी, फिर भी वह मंगला थी न!

कभी जो भूले-भटके पथिक उधर से आ निकलते, उनसे नमक और आटा मिल जाता था। मेरी झोपड़ी में रात बिताने का किराया देकर लोग जाते। मुझे भी लालच लगा था! अच्छा, जाने दीजिए। वहाँ उस दिन जो कुछ बचा था वह सब लेकर बैठा मैं भोजन बनाने।

मैं अपने पर झुँझलाता भी था और उन लोगों के लिए भोजन भी बनाता जाता था। विरोध के सहस्र फणों की छाया में न जाने दुलार कब से सो रहा था! वह जग पड़ा।

जब सूर्य उन धवल शिलाओं पर बहती हुई जल-धारा को लाल बनाने लगा था, तब उन लोगों की आँखें खुलीं। मंगला ने मेरी सुलगायी हुई आग की शिखा को देखकर कहा—"आप क्या बना रहे हैं, भोजन! तो क्या यहाँ पास में कुछ मिल सकेगा?" मैंने सिर हिलाकर 'नहीं' कहा। न जाने क्यों! पुरुष अभी अँगड़ाई ले रहा था। उसने कहा—"तब क्या होगा, मंगला?" मंगला हताश होकर बोली—"क्या करूँ?" मैंने कहा—"इसी में जो कुछ अँटे-बँटे, वह खा-पीकर आज आप लोग विश्राम कीजिए न!"

पुरुष निकल आया। उसने सिकी हुई बाटियाँ और माँस के टुकड़ों को देखकर कहा—"तब और चाहिए क्या? मैं तो आपको धन्यवाद ही दूँगा।" मंगला जैसे व्यथित होकर अपने साथी को देखने लगी; उसकी यह बात उसे अच्छी न लगी; किन्तु अब वह द्विविधा में पड़ गयी। वह चुपचाप खड़ी रही। पुरुष ने झिड़ककर कहा—"तो आओ मंगला! मेरा अंग-अंग टूट रहा है। देखो तो बोतली में आज भर के लिए तो बची है?"

जलती हुई आग के धुँधले प्रकाश में वन-भोज का प्रसंग छिड़ा। सभी बातों पर मुझसे पूछा गया; पर शराब के लिए नहीं। मंगला को भी थोड़ी-सी मिली। मैं आश्चर्य से देख रहा था...मंगला का वह प्रगल्भ आचरण और पुरुष का निश्चिन्त शासन। दासी की तरह वह प्रत्येक बात मान लेने के लिए प्रस्तुत थी! और मैं तो जैसे किसी अद्‌भुत स्थिति में अपनेपन को भूल चुका था। क्रोध, क्षोभ और डाह सब जैसे मित्र बनने लगे थे। मन में एक विनीत प्यार—नहीं; आज्ञा-

कारिता-सी जग गयी थी।

पुरुष ने डटकर भोजन किया। तब एक बार मेरी ओर देखकर डकार ली। वही मानो मेरे लिए धन्यवाद था। मैं कुढ़ता हुआ भी वहीं साखू के नीचे आसन लगाने की बात सोचने लगा और पुरुष के साथ मंगला गहरी अँधियारी होने के पहले ही झोपड़ी में चली गयी। मैं बुझती हुई आग को सुलगाने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था, 'कल ही इन लोगों को यहाँ से चले जाना चाहिए। नहीं तो—' फिर नींद आ चली। रजनी की निस्तब्धता, टकराती हुई लहरों का कलनाद, विस्मृति में गीत की तरह कानों में गूँजने लगा।

दूसरे दिन मुझमें कोई कटुता का नाम नहीं—झिड़कने का साहस नहीं। आज्ञाकारी दास के समान मैं सविनय उनके सामने खड़ा हुआ।

"महाशय ! कई मील तो जाना पड़ेगा, परन्तु थोड़ा-सा कष्ट कीजिए न। कुछ सामना खरीद लाइए आज—" मंगला को अधिक कहने का अवसर न देकर मैं उसके हाथ से रुपया लेकर चल पड़ा। मुझे नौकर बनने में सुख प्रतीत हुआ और लीजिए, मैं उसी दिन से उनके आज्ञाकारी भृत्य की तरह अहेर कर लाता। मछली मारता। एक नाव पर जाकर दूर बाजार से आवश्यक सामग्री खरीद लाता। हाँ, उस पुरुष को मदिरा नित्य चाहिए। मैं उसका भी प्रबन्ध करता और यह सब प्रसन्नता के साथ। मनुष्य को जीवन में कुछ-न-कुछ काम करना चाहिए। वह मुझे मिल गया था। मैंने देखते-देखते एक छोटा-सा छप्पर अलग डाल दिया। प्याज-मेवा, जंगली शहद और फल-फूल सब जुटाता रहता। यह मेरा परिवर्तन निर्लिप्त भाव से मेरी आत्मा ने ग्रहण कर लिया। मंगला की उपासना थी।

कई महीने बीत गये; किन्तु छविनाथ—यही उस पुरुष का नाम था—को भोजन करके, मदिरा पिये पड़े रहने के अतिरिक्त कोई काम नहीं। मंगला की गाँठ खाली हो चली। जो दस-बीस रुपये थे वह सब खर्च हो गये, परन्तु छविनाथ की आनन्द-निद्रा टूटी नहीं। वह निरंकुश, स्वच्छ पान-भोजन में सन्तुष्ट व्यक्ति था। मंगला इधर कई दिनों से घबरायी हुई दीखती थी; परन्तु मैं चुपचाप अपनी उपासना में निरत था। एक सुन्दर चाँदनी रात थी। सरदी पड़ने लगी थी। वनस्थली सन्न-सन्न कर रही थी। मैं अपने छप्पर के नीचे दूर आनेवाली नदी का कलनाद सुन रहा था। मंगला सामने आकर खड़ी हो गयी। मैं चौंक उठा। उसने कहा—"मुरली !"

"बोलते क्यों नहीं ?"

मैं फिर भी चुप रहा।

"ओह ! तुम समझते हो कि मैं तुम्हें नहीं पहचानती। यह तुम्हारे बायें गाल पर जो दाढ़ी के पास चोट है, वह तुमको पहचानने से मुझे वञ्चित कर ले, ऐसा नहीं हो सकता। तुम मुरली हो न ! बोलो।"

"हाँ।" मुझसे कहते ही बना।

"अच्छा तो सुनो, मैं इस पशु से ऊब गयी हूँ। और अब मेरे पास कुछ नहीं बचा। जो कुछ लेकर मैं घर से चली थी, वह सब खर्च हो गया।"

"तब ?"—मैंने विरक्त होकर कहा।

"यही कि मुझे यहाँ से ले चलो। वह जितनी शराब थी, सब पीकर आज बेसुध-सा है। मैं तुमको इतने दिनों तक भी पहचान कर क्यों नहीं बोली, जानते हो ?"

"नहीं।"

"तुम्हारी परीक्षा ले रही थी। मुझे विश्वास हो गया कि तुम मेरे सच्चे चाहनेवाले हो।"

"इसकी भी परीक्षा कर ली थी तुमने ?" मैंने व्यंग से कहा।

"उसे भूल जाओ। वह सब बड़ी दुःखद कथा है। मैं किस तरह घरवालों की सहायता से इसके साथ भागने के लिए बाध्य हुई, उसे सुनकर क्या करोगे ? चलो, मैं अभी चलना चाहती हूँ। स्त्री-जीवन की भूख कब जग जाती है, इसको कोई नहीं जानता; जान लेने पर तो उसको बहाली देना असम्भव है। उसी क्षण को पकड़ना पुरुषार्थ है।"

भयानक स्त्री ! मेरा सिर चकराने लगा मैंने कहा —"आज तो मेरे पैरों में पीड़ा है। मैं उठ नहीं सकता।" उसने मेरा पैर पकड़कर कहा—"कहाँ दुखता है, लाओ मैं दाब दूँ।" मेरे शरीर में बिजली-सी दौड़ गयी। पैर खींचकर कहा—"नहीं-नहीं, तुम जाओ; सो रहो, कल देखा जायगा।"

"तुम डरते हो न ?"—यह कहकर उसने कमर में से छुरा निकाल लिया। मैंने कहा—"यह क्या ?"

"अभी झगड़ा छुड़ाये देती हूँ।" यह कहकर झोपड़ी की ओर चली। मैंने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—"आज ठहरो, मुझे सोच लेने दो।"

"सोच लो"—कहकर छुरा कमर में रख, वह झोपड़ी में चली गयी। मैं हवाई हिंडोले पर चक्कर खाने लगा। स्त्री ! यह स्त्री है ? यही मंगला है, मेरे प्यार की अमूल्य निधि ! मैं कैसा मूर्ख था ! मेरी आँखों में नींद नहीं। सवेरे होने के पहले ही जब दोनों सो रहे थे, मैं अपने पथ पर दूर भागा जा रहा था।

कई बरस के बाद, जब मेरा मन उस भावना को भुला चुका था, तो धुली हुई शिला के समान स्वच्छ हो गया। मैं उसी पथ से लौटा। नाले के पास नदी की धारा के समीप खड़ा होकर देखने लगा। वह अभी उसी तरह शिला-शय्या पर छटपटा रही थी। हाँ, कुछ व्याकुलता बढ़-सी गयी थी। वहाँ बहुत-से पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े लुढ़कते हुए दिखाई पड़े, जो घिसकर अनेक आकृति धारण कर चुके

थे। स्रोत से कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ होगा। उनमें रंगीन चित्रों की छाया दिखाई पड़ी। मैंने कुछ बटोरकर उनकी विचित्रता देखी, कुछ पास भी रख लिये। फिर ऊपर चला। अकस्मात् वहीं पर जा पहुँचा, जहाँ पर मेरी झोपड़ी थी। उसकी सब कड़ियाँ बिखर गयी थीं। एक लकड़ी के टुकड़े पर लोहे की नोक से लिखा था—

"देवता छाया बना देते हैं। मनुष्य उसमें रहता है। और मुझ-सी राक्षसी उसमें आश्रय पाकर भी उसे उजाड़कर ही फेंकती है।"

क्या यह मंगला का लिखा हुआ है? क्षण-भर के लिए सब बातें स्मरण हो आयीं। मैं नाले में उतरने लगा। वहीं पर यह पत्थर मिला।

"देखते हैं न बाबूजी!"—इतना कहकर मुरली ने एक बड़ा-सा और कुछ छोटे-छोटे पत्थर सामने रख दिये। वह फिर कहने लगा—"इसे घिसकर और भी साफ किये जाने पर वही चित्र दिखाई दे रहा है। एक स्त्री की धुँधली आकृति—राक्षसी-सी! यह देखिए, छुरा है हाथ में और वह साखू का पेड़ है, और यह हूँ मैं। थोड़ा-सा ही मेरे शरीर का भाग इसमें आ सका है। यह मेरी जीवनी का आंशिक चित्र है। मनुष्य का हृदय न जाने किस सामग्री से बना है! वह जन्म-जन्मान्तर की बात स्मरण कर सकता है, और एक क्षण में सब भूल सकता है; किन्तु जड़ पत्थर—उस पर तो जो रेखा बन गयी, सो बन गयी। वह कोई क्षण होता होगा, जिसमें अन्तरिक्ष-निवासी कोई नक्षत्र अपनी अन्तर्भेदिनी दृष्टि से देखता होगा और अपने अदृश्य करों से शून्य में से रंग आहरण करके वह चित्र बना देता है। इसे जितना घिसिए, रेखाएँ साफ होकर निकलेंगी। मैं भूल गया था। इसने मुझे स्मरण करा दिया। अब मैं इसे आपको देकर वह बात एक बार ही भूल जाना चाहता हूँ। छोटे पत्थरों से तो आप बटन इत्यादि बनाइए; पर यह बड़ा पत्थर आपकी चाँदी की पानवाली डिबिया पर ठीक बैठ जायगा। यह मेरी भेंट है। इसे आप लेकर मेरे मन का बोझ हलका कर दीजिए।"

*   *   *

मैं कहानी सुनने में तल्लीन हो रहा था और वह—मुरली—धीरे से मेरी आँखों के सामने से खिसक गया। मेरे सामने उसके दिये हुए चित्रवाले पत्थर बिखरे पड़े रह गये।

उस दिन जितने लोग आये, मैंने उन्हें उन पत्थरों को दिखलाया और पूछा कि यह कहाँ मिलते हैं? किसी ने कुछ ठीक-ठीक नहीं बतलाया। मैं कुछ काम न कर सका। मन उचट गया था। तीसरे पहर कुछ दूर घूमकर जब लौट आया, तो देखा कि एक स्त्री मेरी बँगलिया के पास खड़ी है। उसका अस्त-व्यस्त भाव, उन्मत्त-सी तीव्र आँखें देखकर मुझे डर लगा। मैंने कहा—"क्या है?" उसने कुछ माँगने के लिए हाथ फैला दिया। मैंने कहा—"भूखी हो क्या? भीतर आओ।" वह

भयाकुल और सशंक दृष्टि से मुझे देखती लौट पड़ी। मैंने कहा—"लेती जाओ।" किन्तु वह कब सुननेवाली थी!

चित्रवाला बड़ा पत्थर सामने दिखाई पड़ा। मुझे तुरन्त ही स्त्री की आकृति का ध्यान हुआ; किन्तु जब तक उसे खोजने के लिए नौकर जाय, वह पहाड़ियों की सन्ध्या की उदास छाया में छिप गयी थी।

□□

चित्र-मन्दिर

प्रकृति तब भी अपने निर्माण और विनाश में हँसती और रोती थी। पृथ्वी का पुरातन पर्वत विन्ध्य उसकी सृष्टि के विकास में सहायक था। प्राणियों का संचार उसकी गम्भीर हरियाली में बहुत धीरे-धीरे हो रहा था। मनुष्यों ने अपने हाथों की पृथ्वी से उठाकर अपने पैरों पर खड़े होने की सूचना दे दी थी। जीवन-देवता की आशीर्वाद-रश्मि उन्हें आलोक में आने के लिए आमन्त्रित कर चुकी थी।

यौवन-जल से भरी हुई कादम्बिनी-सी युवती नारी रीछ की खाल लपेटे एक वृक्ष की छाया में बैठी थी। उसके पास चकमक और सूखी लकड़ियों का ढेर था। छोटे-छोटे हिरनों का झुण्ड उसी स्रोत के पास जल पीने के लिए आता। उन्हें पकड़ने की ताक में युवती बड़ी देर से बैठी थी; क्योंकि उस काल में भी शस्त्रों से आखेट नर ही करते थे और उनकी नारियाँ कभी-कभी छोटे-मोटे जन्तुओं को पकड़ लेने में अभ्यस्त हो रही थीं।

स्रोत में जल कम था। वन्य कुसुम धीरे-धीरे बहते हुए एक के बाद एक आकर माला की लड़ी बना रहे थे। युवती ने उनकी विलक्षण पँखड़ियों को आश्चर्य से देखा। वे सुन्दर थे, किन्तु उसने इन्हें अपनी दो आरम्भिक आवश्यकताओं —काम और भूख —से बाहर की वस्तु समझा। वह फिर हिरनों की प्रतीक्षा करने लगी उनका झुण्ड आ रहा था। युवती की आँखें प्रलोभन की रंगभूमि बन रही थीं। उसने अपनी ही भुजाओं से छाती दबाकर आन्नद और उल्लास का प्रदर्शन किया।

दूर से एक कूक सुनाई पड़ी और एक भद्दे फलवाला भाला लक्ष्य से चूक कर उसी के पास वृक्ष के तने में धँसकर रह गया। हाँ, भाले के धँसने पर वह जैसे न जाने क्या सोचकर पुलकित हो उठी। हिरन उसके समीप आ रहे थे; परन्तु

भूख पर दूसरी प्रबल इच्छा विजयिनी हुई। पहाड़ी से उतरते हुए नर को वह सतृष्ण देखने लगी। नर अपने भाले के पीछे चला आ रहा था। नारी के अंग में कंप, पुलक और स्वेद का उद्गम हुआ।

'हाँ, वही तो है, जिसने उस दिन भयानक रीछ को अपने प्रचण्ड बल से परास्त किया था। और, उसी की खाल युवती आज लपेटे थी। कितनी ही बार तब से युवक और युवती की भेंट निर्जन कन्दराओं और लताओं के झुरमुट में हो चुकी थी। नारी के आकर्षण से खिचा हुआ वह युवा दूसरी शैलमाला से प्रायः इधर आया करता और तब उस जंगली जीवन में दोनों का सहयोग हुआ करता। आज नर ने देखा कि युवती की अन्यमनस्कता से उसका लक्ष्य पशु निकल गया। विहार के प्राथमिक उपचार की सम्भावना न रही उसे इस सन्ध्या में बिना आहार के ही लौटना पड़ेगा। "तो क्या जान-बूझकर उसने अहेर को बहका दिया, और केवल अपनी इच्छा की पूर्ति का अनुरोध लेकर चली आ रही है। लो, उसकी बाहें व्याकुलता से आलिंगन के लिए बुला रही हैं। नहीं, उसे इस समय अपना आहार चाहिए" उसके बाहुपाश से युवक निकल गया। नर के लिए दोनों ही अहेर थे, नारी हो या पशु। इस समय नर को नारी की आवश्यकता न थी। उसकी गुफा में मांस का अभाव था।

सन्ध्या आ गयी। नक्षत्र ऊँचे आकाश-गिरि पर चढ़ने लगे। आलिंगन के लिए उठी हुई बाँहें गिर गयीं। इस दृश्य जगत् के उस पार से, विश्व के गम्भीर अन्तस्थल से एक करुण और मधुर अन्तर्नाद गूँज उठा। नारी के हृदय में प्रत्याख्यान की पहली ठेस लगी थी। वह उस काल के साधारण जीवन से एक विलक्षण अनुभूति थी। वन-पथ में हिंस्र पशुओं का संचार बढ़ने लगा; परन्तु युवती उस नदी-तट से न उठी। नदी की धार में फूलों की श्रेणी बिगड़ चुकी थी और नारी की आकांक्षा की गति भी विच्छिन्न हो रही थी। आज उसके हृदय में एक अपूर्व परिचित भाव जग पड़ा, जिसे वह समझ नहीं पाती थी। अपने दलों के दूर गये हुए लोगों को बुलाने की पुकार वायुमण्डल में गूंज रही थी; किन्तु नारी ने अपनी बुलाहट को पहचानने का प्रयत्न किया। वह कभी नक्षत्र से चित्रित उस स्रोत के जल को देखती और कभी अपने समीप की उस तिकोनी और छोटी-सी गुफा को, जिसे वह अपना अधिवास समझ लेने के लिए बाध्य हो रही थी।

2

रजनी का अन्धकार क्रमशः सघन हो रहा था। नारी बारम्बार अँगड़ाई लेती हुई सो गयी। तब भी आलिंगन के लिए उसके हाथ नींद में उठते और गिरते थे।

*　　　*　　　*

जब नक्षत्रों की रश्मियाँ उज्जवल होने लगीं, और वे पुष्ट होकर पृथ्वी पर परस्पर चुम्बन करने लगीं, तब जैसे अन्तरिक्ष में बैठकर किसी ने अपने हाथों से उनकी डोरियाँ बट दीं और उस पर झूमती हुई दो देवकुमारियाँ उतरीं।

एक ने कहा—"सखि विधाता, तुम बड़ी निष्ठुर हो। मैं जिन प्राणियों की सृष्टि करती हूँ, तुम उनके लिए अलग-अलग विधान बना कर उसी के अनुसार कुछ दिनों तक जीने, अपने संकेत पर चलने और फिर मर जाने के लिए विवश कर देती हो।"

दूसरी ने कहा—"धाता, तुम भी बड़ी पगली हो। यदि समस्त प्राणियों की व्यवस्था एक-सी ही की जाती, तुम्हारी सृष्टि कैसी नीरस होती और फिर यह तुम्हारी क्रीड़ा कैसे चलती? देखो न, आज की ही रात है। गंधमादन में देव-बालाओं का नृत्य और असुरों के देश में राज्य-विप्लव हो रहा है। अतलान्त समुद्र सूख रहा है। महा मरुस्थल में जल की धाराएँ बहने लगी हैं, और आर्यावर्त के दक्षिण विन्ध्य के अंचल में एक हिरन न पाने पर एक युवा नर अपनी प्रेयसी नारी को छोड़कर चला जाता है। उसे है भूख, केवल भूख।"

धाता ने कहा—"हाँ बहन, इन्हें उत्पन्न हुए बहुत दिन हो चुके; पर ये अभी तक अपने सहचारी पशुओं की तरह रहते हैं।"

विधाता ने कहा—"नहीं जी, आज ही मैंने इस वर्ग के एक प्राणी के मन में ललित कोमल आन्दोलन का आरम्भ किया है। इनके हृदय में अब भावलोक की सृष्टि होगी।"

धाता ने प्रसन्न होकर पूछा—"तो अब इनकी जड़ता छूटेगी न?"

विधाता ने कहा—"हाँ, बहुत धीरे-धीरे। मनोभावों को अभिव्यक्त करने के लिए अभी इनके पास साधनों का अभाव है।"

धाता कुछ रूठ-सी गयी। उसने कहा—"चलो बहन, देवनृत्य देखें। मुझे तुम्हारी कठोरता के कारण अपनी ही सृष्टि अच्छी नहीं लगती। कभी-कभी तो ऊब जाती हूँ।"

विधाता ने कहा—"तो चुपचाप बैठ जाओ, अपना काम बन्द कर दो, मेरी भी जलन छूटे।"

धाता ने खिन्न होकर कहा—"अभ्यास क्या एक दिन में छूट जायगा, बहन?"

"तब क्या तुम्हारी सृष्टि एक दिन में स्वर्ग बन जायगी? चलो, सुर-बालाओं का सोमपान हो रहा है। एक-एक चषक हम लोग भी लें।"—कहकर विधाता ने किरनों की रस्सी पकड़ ली और धाता ने भी! दोनों पेंग बढ़ाने लगीं। ऊँचे जाते-जाते अन्तरिक्ष में वे छिप गयीं।

*　　　*　　　*

नारी जैसे सपना देखकर उठ बैठी। प्रभात हो रहा था। उसकी आंखों में मधुर स्वप्न की मस्ती भरी थी। नदी का जल धीरे-धीरे बह रहा था। पूर्व में लाली छिटक रही थी। मलयवात से बिखरे हुए केशपाश को युवती ने पीछे हटाया। हिरनों का झुण्ड फिर दिखाई पड़ा। उसका हृदय समवेदनशील हो रहा था। उस दृश्य को निःस्पृह देखने लगी।

उषा के मधुर प्रकाश में हिरनों का दल छलाँग भरता हुआ स्रोत लाँघ गया; किन्तु एक शावक चकित-सा वहीं खड़ा रह गया। पीछे आखेट करने वालों का दल आ रहा था। युवती ने शावक को गोद में उठा लिया। दल के और लोग तो स्रोत के संकीर्ण तट की ओर दौड़े; किन्तु वह परिचित युवक युवती के पास चला आया। नारी ने उसे देखने के लिए मुंह फिराया था कि शावक की बड़ी-बड़ी आँखों में उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा। क्षण-भर के लिए तन्मय होकर उन निरीह नयनों में नारी अपनी छाया देखने लगी।

नर की पाशव प्रवृत्ति जग पड़ी। वह अब भी सन्ध्या की घटना को भूल न सका था। उसने शावक छीन लेना चाहा। सहसा नारी में अद्भुत परिवर्तन हुआ। शावक को गोद में चिपकाये जिधर हिरन गये थे, उसी ओर वह भी दौड़ी। नर चकित-सा खड़ा रह गया।

नारी हिरनों का अनुसरण कर रही थी। नाले, खोह और छोटी पहाड़ियाँ, फिर नाला और समतल भूमि। वह दूर हिरनों का झुण्ड, वहीं कुछ दूर! बराबर आगे बढ़ी जा रही थी। आखेट के लिए उन आदिम नरों का झुण्ड बीच-बीच में मिलता। परन्तु उसे क्या? वह तो उस झुण्ड के पीछे चली जा रही थी, जिसमें काली पीठ वाले दो हिरन आगे-आगे चौकड़ी भर रहे थे।

एक बड़ी नदी के तट पर जिसे लाँघना असम्भव समझकर हिरनों का झुण्ड खड़ा हो गया था, नारी रुक गयी। शावक को उनके बीच में उसने छोड़ दिया। नर और पशुओं के जीवन में वह एक आश्चर्यपूर्ण घटना थी। शावक अपनी माता का स्तन-पान करने लगा। युवती पहले-पहल मुस्करा उठी। हिरनों ने सिर झुका दिए। उनका विरोध-भाव जैसे नष्ट हो चुका था। वह लौटकर अपनी गुफा में आयी। चुपचाप थकी-सी पड़ रही। उसके नेत्रों के सामने दो दृश्य थे। एक में प्रकाण्ड शरीर वाला प्रचण्ड बलशाली युवक चकमक के फल का भाला लिये पशुओं का अहेर कर रहा था। दूसरे में वह स्वयं हिरनों के झुण्ड में घिरी हुई खड़ी थी। एक में भय था, दूसरे में स्नेह। दोनों में कौन अच्छा है, वह निश्चय न कर सकी।

3

नारी की दिनचर्या बदल रही थी। उसके हृदय में एक ललित भाव की

सृष्टि हो रही थी। मानस में लहरें उठने लगी थीं। पहला युवक प्रायः आता; उसके पास बैठता और अनेक चेष्टाएँ करता; किन्तु युवती अचल पाषाण-प्रतिमा की तरह बैठी रहती। एक दूसरा युवक भी आने लगा था। वह भी अहेर का माँस या फल कुछ-न-कुछ रख ही जाता। पहला इसे देखकर दाँत पीसता, नस चटकाता, उछलता, कूदता और हाथ-पैर चलाता था। तब भी नारी न तो विरोध करती, न अनुरोध। उन क्रोधपूर्ण हुँकारों को जैसे वह सुनती ही न थी। यह लीला प्राय नित्य हुआ करती थी। वह एक प्रकार से अपने दल से निर्वासित उसी गुफा में अपनी कठोर साधना में जैसे निमग्न थी।

एक दिन उसी गुफा के नीचे नदी के पुलिन में एक वराह के पीछे पहला युवक अपना भाला लिए दौड़ता आ रहा था। सामने से दूसरा युवक भी आ गया और उसने अपना भाला चला ही दिया। चोट से विकल वराह पहले युवक की ओर लौट पड़ा, जिसके सामने दो अहेर थे। उसने भी अपना सुदीर्घ भाला कुछ-कुछ जान में और कुछ अनजान में फेंका। वह क्रोध-मूर्ति था। दूसरा युवक छाती ऊँची किये आ रहा था। भाला उसमें घुस गया। उधर वराह ने अपनी पैनी डाढ़ पहले युवक के शरीर में चुभो दी। दोनों युवक गिर पड़े। वराह निकल गया। युवती ने देखा, वह दौड़कर पहले युवक को उठाने लगी; किन्तु दल के लोग वहाँ पहुँच गये। उनकी घृणा पूर्ण दृष्टि से आहत होकर नारी अपनी गुफा में लौट गयी।

आज उसकी आँखों से पहले-पहल आँसू भी गिरे। एक दिन वह हँसी भी थी। मनुष्य-जीवन की ये दो प्रधान अभिव्यक्तियाँ उसके सामने क्रम से आयीं। वह रोती थी और हँसती थी, हँसती थी फिर रोती थी।

वसन्त बीत चुका था। प्रचंड ग्रीष्म का आरम्भ था। पहाड़ियों से लाल और काले धातुराग बहने लगे थे। युवती जैसे उस जड़ प्रकृति से अपनी तुलना करने लगी। उसकी एक आँख से हँसी और दूसरे से आँसू का उद्‌गम हुआ करता, और वे दोनों दृश्य उसे प्रेरित किये रहते।

नारी ने इन दोनों भावों की अभिव्यक्ति को स्थायी रूप देना चाहा। शावक की आँखों में उसने पहला चित्र देखा था। कुचली हुई वेतस की लता को उसने धातुराग में डुबोया और अपनी तिकोनी गुफा में पहली चितेरिन चित्र बनाने बैठी। उसके पास दो रंग थे, एक गैरिक, दूसरा कृष्ण। गैरिक से उसने अपना चित्र बनाया, जिसमें हिरनों के झुण्ड में स्वयं वही खड़ी थी, और कृष्ण धातुराग से आखेट का चित्र, जिसमें पशुओं के पीछे अपना भाला ऊँचा किए हुए ग्रीष्म आकृति का नर था।

नदी का वह तट, अमंगलजनक स्थान बहुत काल तक नर-संचार-वर्जित

रहा; किन्तु नारी वहीं अपने जीवनपर्यन्त उन दोनों चित्रों को देखती रहती और अपने को कृतकृत्य समझती।

* * *

विन्ध्य के अंचल में मनुष्यों के कितने ही दल वहाँ आये और गये। किसी ने पहले उस चित्र-मन्दिर को भय से देखा, किसी ने भक्ति से।

मानव-जीवन के उस काल का वह स्मृतिचिह्न—जबकि उसने अपने हृदय-लोक में संसार के दो प्रधान भावों की प्रतिष्ठा की थी—आज भी सुरक्षित है। उस प्रान्त के जंगली लोग उसे राजधानी की गुफा और ललितकला के खोजी उसे पहला चित्र-मन्दिर कहते हैं।

□□

गुण्डा

वह पचास से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूछें बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से ही ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे से फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता था। उसके घुंघराले बालों पर सुनहले पल्ले के सोफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा, यह थी उसकी धज! पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गयी थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान् ब्रह्मचारी आते थे। गौतमबुद्ध और शंकराचार्य के धर्म-दर्शन के वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मन्दिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण, प्राय: बन्द-से हो गये थे। यहाँ तक कि पवित्रता और छुआछूत में कट्टर वैष्णव-धर्म भी उस विशृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त

न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर, काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने, एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राण-भिक्षा माँगने वाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिये घूमना, उसका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुंडा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वंचित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने पर भी नन्हकूसिंह गुंडा हो गया था। दोनों हाथों से उसने अपनी सम्पत्ति लुटायी। नन्हकूसिंह ने बहुत-सा रुपया खर्च करके जैसा स्वाँग खेला था, उसे काशी वाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। वसन्त ऋतु में यह प्रहसनपूर्ण अभिनय खेलने के लिए उन दिनों प्रचुर धन, बल निर्भीकता और उच्छृंखलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नूपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूतों का तल्ला लटका कर, एक में जड़ाऊ मूठ की तलवार दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करने वाली प्रेमिका के कन्धे पर रख-कर गाया था—

"कहीं बैंगनवाली मिले तो बुला देना।"

प्रायः बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानी वाले कुओं पर, गंगा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर वह दिखलाई पड़ता था। कभी-कभी जुआ-खाने से निकल कर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रँगीली वेश्याएँ मुस्कराकर उसका स्वागत करतीं और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं। वह तमोली की ही दूकान पर बैठकर उनके गीत सुनता, ऊपर कभी नहीं जाता था। जूए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भर-भरकर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछालता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाने लगते, तब वह ठठाकर हँस देता। जब कभी लोग कोठे के ऊपर चलने के लिए कहते, तो वह उदासी की साँस खींचकर चुप हो जाता।

वह अभी वंशी के जूआखाने से निकला था। आज उसकी कौड़ी ने साथ न दिया। सोलह परियों के नृत्य में उसका मन न लगा। मन्नू तमोली की दूकान पर बैठते हुए उसने कहा—"आज सायत अच्छी नहीं रही, मन्नू!"

"क्यों मालिक! चिन्ता किस बात की है। हम लोग किस दिन के लिए हैं। सब आप ही का तो है।"

"अरे, बुद्ध ही रहे तुम! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जूआ खेलने

लगे उसी दिन समझना वह मर गये। तुम जानते नहीं कि मैं जूआ खेलने कब जाता हूँ। जब मेरे पास एक पैसा नहीं रहता; उसी दिन नाल पर पहुँचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है, उसी को बदता हूँ और फिर वही दाँव आता भी है। बाबा कीनाराम का यह वरदान है!"

"तब आज क्यों, मालिक?"

"पहला दाँव तो आया ही, फिर दो-चार हाथ बदने पर सब निकल गया। तब भी लो, यह पाँच रुपये बचे हैं। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी को, कह दो कि दुलारी से गाने के लिए कह दे। हाँ, वही एक गीत—

"विलमि विदेश रहे।"

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम पर रखने के लिए अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढ़ा, इसलिए चोट उसे भी लगी; पर नन्हकूसिंह की भृकुटी देखने की शक्ति उसमें कहाँ। उसे नन्हकूसिंह की वह मूर्ति न भूली थी, जब इसी पान की दूकान पर जूएखाने से जीता हुआ, रुपये से भरा हुआ तोड़ा लिए वह बैठा था "दूर से बोधीसिंह की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा—"यह किसकी बारात है?"

"ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की।"—मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओठ फड़कने लगे। उसने कहा—"मन्नू! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जायगी। बोधीसिंह हमसे निपट कर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।"

मन्नू ने कहा—"तब मालिक, मैं क्या करूँ?"

नन्हकू गँड़ासा कन्धे पर से और ऊँचा करके मलूकी से बोला—"मलुकिया देखता है, अभी जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिए खड़े हैं। समझ कर आवें, लड़के की बारात है।" मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह और नन्हकू से पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाल पर कुछ बातों में ही कहा-सुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होंने मलूकी से कहा—"जा बे, कह दे कि हमको क्या मालूम कि बाबू साहब वहाँ खड़े हैं। जब वह हैं ही, तो दो समधी जाने का क्या काम है।" बोधीसिंह लौट गये और मलूकी के कन्धे पर तोड़ा लाद कर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गये। ब्याह में जो कुछ लगा, खर्च किया। ब्याह कराकर तब, दूसरे दिन इसी दूकान पर आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकूसिंह की बात सुनकर बैठे रहना और यम को न्यौता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा—"हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ, तब तक बल्लू सारंगी वाला पानी पीकर आता है।"

"बाप रे, कोई आफत आयी है क्या बाबू साहब ? सलाम।"—कहकर दुलारी ने खिड़की से मुस्कराकर झाँका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखलाई दे रही थी, कुव्वेदार टोपी; छकलिया अँगरखा और साथ में लेसदार परत वाले दो सिपाही ! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा—"जाओ, दुलारी से कह दो कि आज रेजीडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी से चले, देखो तब तक हम जानअली से कुछ इत्र ले रहे हैं।" सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी ओर चले थे कि नन्हकू ने ललकार कर कहा—"दुलारी ! हम कब तक यहाँ बैठे रहें ! क्या अभी सरंगिया नहीं आया ?"

दुलारी ने कहा—"वाह बाबू साहब ! आप ही के लिए तो मैं यहाँ बैठी हूँ, सुनिए न ! आप तो कभी ऊपर···" मौलवी जल उठा। उसने कड़ककर कहा—"चोबदार ! अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं। जाओ, कोतवाल के पास मेरा नाम लेकर कहो कि मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ने बुलाया है। आकर उसकी मरम्मत करें। देखता हूँ तो जब से नवाबी गयी, इन काफिरों की मस्ती बढ़ गयी है।"

कुबरा मौलवी ! बाप रे—तमोली अपनी दूकान सम्हालने लगा। पास ही एक दूकान पर बैठकर ऊँघता हुआ बजाज चौंक कर सिर में चोट खा गया ! इसी मौलवी ने तो महाराज चेतसिंह से साढ़े तीन सेर चींटी के सिर का तेल माँगा था। मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ! बाजार में हलचल मच गयी। नन्हकूसिंह ने मन्नू से कहा—"क्यों, चुपचाप बैठोगे नहीं !" दुलारी ने कहा—"वहीं से बाई जी ! इधर-उधर हिलने का काम नहीं। तुम गाओ। हमने ऐसे घसियारे बहुत-से देखे हैं। अभी कल रमल के पासे फेंककर अधेला-अधेला माँगता था, आज चला है रोब गाँठने।"

अब कुबरा ने घूमकर उसकी ओर देखकर कहा—"कौन है यह पाजी !"

"तुम्हारे चाचा बाबू नन्हकूसिंह!"—के साथ ही पूरा बनारसी झापड़ पड़ा। कुबरा का सिर घूम गया। लैंस के परतले वाले सिपाही दूसरी ओर भाग चले

और मौलवी साहब चौंधिया कर जानअली की दूकान पर लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते किसी तरह पहुँच गये।

जानअली ने मौलवी से कहा—"मौलवी साहब ! भला आप भी उस गुंडे के मुँह लगने गये। यह तो कहिए कि उसने गँड़ासा नहीं तौल दिया।" कुबरा के मुँह से बोली नहीं निकल रही थी। उधर दुलारी गा रही थी "···विलमि विदेस रहे···" गाना पूरा हुआ, कोई आया-गया नहीं। तब नन्हकूसिंह धीरे-धीरे टहलता हुआ, दूसरी ओर चला गया। थोड़ी देर में एक डोली रेशमी परदे से ढँकी हुई आयी। साथ में चोबदार था। उसने दुलारी को राजमाता पन्ना की आज्ञा सुनायी।

दुलारी चुपचाप डोली पर जा बैठी। डोली धूल और सन्ध्याकाल के धुएँ से भरी हुई बनारस की तंग गलियों से होकर शिवालय घाट की ओर चली।

2

श्रावण का अन्तिम सोमवार था। राजमाता पन्ना शिवालय में बैठकर पूजन कर रही थीं। दुलारी बाहर बैठी कुछ अन्य गानेवालियों के साथ भजन गा रही थी। आरती हो जाने पर, फूलों की अंजलि बिखेरकर पन्ना ने भक्तिभाव से देवता के चरणों में प्रणाम किया। फिर प्रसाद लेकर बाहर आते ही उन्होंने दुलारी को देखा। उसने खड़ी होकर हाथ जोड़ते हुए कहा—"मैं पहले ही पहुँच जाती। क्या करूँ, वह कुबरा मौलवी निगोड़ा आकर रेजिडेण्ट की कोठी पर ले जाने लगा। घंटों इसी झंझट में बीत गया, सरकार !"

"कुबरा मौलवी ! जहाँ सुनती हूँ, उसी का नाम। सुना है कि उसने यहाँ भी आकर कुछ ··"—फिर न जाने क्या सोचकर बात बदलते हुए पन्ना ने कहा—"हाँ, तब फिर क्या हुआ ? तुम यहाँ कैसे आ सकीं ?"

"बाबू नन्हकूसिंह उधर से आ गये।" मैंने कहा—"सरकार की पूजा पर मुझे भजन गाने को जाना है। और यह जाने नहीं दे रहा है। उन्होंने मौलवी को ऐसा लगाया कि उसकी हेकड़ी भूल गयी। और तब जाकर मुझे किसी तरह यहाँ आने की छुट्टी मिली।"

"कौन बाबू नन्हकूसिंह !"

दुलारी ने सिर नीचा करके कहा—"अरे, क्या सरकार को नहीं मालूम ? बाबू निरंजनसिंह के लड़के ! उस दिन, जब मैं बहुत छोटी थी, आपकी बारी में झूला झूल रही थी, जब नवाब का हाथी बिगड़कर आ गया था, बाबू निरंजन-सिंह के कुँवर ने ही तो उस दिन हम लोगों की रक्षा की थी।"

राजमाता का मुख उस प्राचीन घटना को स्मरण करके न जाने क्यों विवर्ण

हो गया। फिर अपने को सम्हालकर उन्होंने पूछा—"तो बाबू नन्हकूसिंह उधर कैसे आ गये ?"

दुलारी ने मुस्कराकर सिर नीचा कर लिया ! दुलारी राजमाता पन्ना के पिता की जमींदारी में रहने वाली वेश्या की लड़की थी। उसके साथ ही कितनी बार झूले-हिंडोले अपने बचपन में पन्ना भूल चुकी थी। वह बचपन से ही गाने में सुरीली थी। सुन्दरी होने पर चंचल भी थी। पन्ना जब काशीराज की माता थी, तब दुलारी काशी की प्रसिद्ध गाने वाली थी। राजमहल में उसका गाना-बजाना हुआ ही करता। महाराज बलवन्तसिंह के समय से ही संगीत पन्ना के जीवन का आवश्यक अंश था। हाँ, अब प्रेम-दुःख और दर्द-भरी विरह-कल्पना के गीत की ओर अधिक रुचि न थी। अब सात्विक भावपूर्ण भजन होता था। राजमाता पन्ना का वैधव्य से दीप्त शान्त मुख-मण्डल कुछ मलिन हो गया।

बड़ी रानी का सापत्न्य ज्वाला बलवन्तसिंह के मर जाने पर भी नहीं बुझी। अन्तःपुर कलह का रंगमंच बना रहता, इसी से प्रायः पन्ना काशी के राजमन्दिर में आकर पूजा-पाठ में अपना मन लगाती। रामनगर में उसको चैन नहीं मिलता। नयी रानी होने के कारण बलवन्तसिंह की प्रेयसी होने का गौरव तो उसे था ही, साथ में पुत्र उत्पन्न करने का सौभाग्य भी मिला, फिर भी असवर्णता का सामाजिक दोष उसके हृदय को व्यथित किया करता। उसे अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आया।

छोटे-से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगी। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजाने में खिसक जाने वाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो; सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता बिगड़ता भी नहीं; परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी कहीं बैठता है, "कि यदि वह बात हो गयी होती तो ?" ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्तसिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनाये जाने के पहले की एक संभावना को सोचने लगी थी। सो भी बाबू नन्हकूसिंह का नाम सुन लेने पर। गेंदा मुँहलगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है, जिस दिन से पन्ना बलवन्तसिंह की प्रेयसी हुई। राज्य-भर का अनुसन्धान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिए कुछ कहना आवश्यक समझा।

"महारानी ! नन्हकूसिंह अपनी सब जमींदारी स्वाँग, भैंसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ाकर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सब में उसी का हाथ रहता है। जितनी···" उसे रोककर दुलारी ने कहा—"यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढँकती हैं। कितनी लड़कियों की ब्याह-शादी

होती है। कितने सताये हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है।"

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा—"दुलारी, वे तेरे यहाँ आते हैं न ? इसी से तू उनकी बड़ाई···।"

"नहीं सरकार ! शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठ पर पैर नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थीं। तब उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गयी। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँगकर डोली पर बैठ गयी। तब गेंदा ने कहा—"सरकार ! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिन दहाड़े लोग लूट लिये जाते हैं। सैंकड़ों जगह नाला पर जुए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरा चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती हैं। उधर रेजीडेण्ट साहब से महाराजा की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजिडेण्ट मार्कहेम की चिट्ठी आयी, जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुंडों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियंत्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवी वाली घटना का भी उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्ज के आने की भी सूचना थी। शिवालय-घाट और रामनगर में हलचल मच गयी ! कोतवाल हिम्मतसिंह, पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी, गड़ाँसा, बिछुआ और करौली देखते, उसी को पकड़ने लगे।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर, ऊँचे-से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दूधिया छान रहे थे। गंगा में, उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी इक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा—"मलूकी ! गाना जमता नहीं है। उलाँकी पर बैठकर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़कर इक्के पर जा बैठा। आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घंटे में दुलारी सामने आ गयी। उसने मुस्कराकर कहा—"क्या हुक्म है बाबू साहब ?"

"दुलारी ! आज गाना सुनने का मन कर रहा है।"

"इस जंगल में क्यों ?"—उसने सशंक हँसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।"—नन्हकूसिंह ने हँसकर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आयी हूँ।"

"क्या, किससे ?"

"राजमाता पन्नादेवी से"—फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं। गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे-से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता में निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकू के समीप धीरे-धीरे चली आयी। कुछ आहट पाते ही चौंककर नन्हकूसिंह के पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तब तक हँसकर दुलारी ने कहा—"बाबू साहब, यह क्या? स्त्रियों पर भी तलवार चलायी जाती है!"

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासना-भरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा—"क्यों बाईजी! क्या इसी समय जाने की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या?" दुलारी नन्हकू के पास बैठ गयी। नन्हकू ने कहा—"क्या तुमको डर लग रहा है?"

"नहीं, मैं कुछ कहने आयी हूँ।"

"क्या?"

"क्या,···यही कि···कभी तुम्हारे हृदय में···"

"उसे न पूछो दुलारी! हृदय को बेकार ही समझ कर तो उसे हाथ में लिये फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता—उछालता! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ, पर मरने नहीं पाता।"

"मरने के लिए भी कहीं खोजने जाना पड़ता है। आपको काशी का हाल क्या मालूम! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाय। उलट-पलट होने वाला है क्या बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती हैं।"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या?"

"कोई हेस्टिंग्स आया है। सुना है उसने शिवालयघाट पर तिलंगों की कंपनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़कर कलकत्ता भेजने···"

"क्या पन्ना भी···रनिवास भी वहीं है"—नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आपकी आँखों में आँसू क्यों आ गये?"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा! उसने कहा—"चुप रहो, तुम उसको जानकर क्या करोगी?" वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा फिर स्थिर होकर उसने कहा—"दुलारी! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलंग पर आकर बैठ गयी है,

मैं चिरकुमार ! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों ? तुम जानती हो ? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ और पन्ना ! ···किन्तु उसका क्या अपराध ! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुआ मैं न उतार सका। किन्तु पन्ना ! उसे पकड़कर गोरे कलकत्ता भेज देंगे ! वही···।"

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वट-वृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी—उसी घने अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

3

16 अगस्त सन् 1981 को काशी डाँवाडोल हो रही थी। शिवालयघाट में राजा चेतसिंह लेफ़्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दुकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी माँ से पूछते थे—"माँ, आज हलुए वाला नहीं आया।' वह कहती—'चुप बेटे !' सड़कें सूनी पड़ी थीं। तिलंगों की कम्पनी के आगे-आगे कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियाँ बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बन्द किये कोतवाल का अभिनय कर रही थी। इसी समय किसी ने पुकारा—"हिम्मतसिंह !"

खिड़की से सिर निकालकर हिम्मतसिंह ने पूछा—"कौन ?"

"बाबू नन्हकूसिंह !"

"अच्छा, तुम अब तक बाहर ही हो ?

"पागल ! राजा कैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को ! हम एक बार इनको लेकर शिवालयघाट पर जाएँ।"

"ठहरो"—कहकर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा—"नमक-हरामो ! चूड़ियाँ पहन लो।" लोगों के देखते-देखते नन्हकूसिंह चला गया। कोत-वाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े-से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिंह का क्या राजनैतिक अपराध है ? उसने कुछ सोचकर अपने थोड़े-से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा काटता हुआ पहुँचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी लटकाकर, उस चंचल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछलकर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और राजा चेतसिंह से बाबू मनिहार सिंह कह रहे

थे—"आपके यहाँ रहने से, हम लोग क्या करें, यह समझ में नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त करके आप रामनगर चली गयी होतीं, तो यह…"

तेजस्विनी पन्ना ने कहा—"अब मैं रामनगर कैसे चली जाऊँ ?"

मनिहार सिंह दुखी होकर बोले—"कैसे बताऊँ ? मेरे सिपाही तो बन्दी हैं।"

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मन्त्रणा में डूबा था कि नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकू सिंह ने एक बार गंगा की धारा को देखा—उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन्न हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा—"महारानी कहाँ हैं ?"

सबने घूमकर देखा—एक अपरिचित वीर-मूर्ति ! शस्त्रों से लदा हुआ पूरा देव !

चेतसिंह ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

"राज-परिवार का एक बिना दाम का सेवक !"

पन्ना के मुँह से हलकी-सी एक साँस निकल कर रह गयी। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों के बाद ! वही नन्हकूसिंह।

मनियारसिंह ने पूछा—"तुम क्या कर सकते हो ?"

"मैं मर सकता हूँ ! पहले महारानी को डोंगी पर बिठाइए। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे मल्लाह हैं। फिर बात कीजिए।"—मनियारसिंह ने देखा, जनानी ड्योढ़ी का दरोगा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की से नाव सटाकर प्रतीक्षा में है। उन्होंने पन्ना से कहा—"चलिए, मैं साथ चलता हूँ।"

"और..."—चेतसिंह को देखकर, पुत्रवत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा—"तब मैं यहीं ?" नन्हकू ने हँसकर कहा—"मेरे मालिक, आप नाव पर बैठें। जब तक राजा भी नाव पर न बैठ जायँगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।"

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा—"मालिक ! जल्दी कीजिए।"

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ। चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह को हाथ में दी। लेफ्टिनेण्ट ने कहा—"आप के आदमी गड़बड़ मचा रहे हैं। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नहीं रोक सकता।"

"मेरे सिपाही यहाँ कहाँ हैं, साहब ?"—मनियारसिंह ने हँसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा।

चेतराम ने कहा—"पहले चेतसिंह को कैद कीजिए।"

"कौन ऐसी हिम्मत करता है ?" कड़ककर कहते हुए बाबू मनियारसिंह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुँचा ! यहाँ मौलवी साहब की कलम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा—"देखते क्या हो चेतराम !"

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दी। इस्टाकर आगे बढ़े, मौलवी साहब चिल्लाने लगे। नन्हकूसिंह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियों को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते !

नन्हकूसिंह ने कहा—"क्यों, उस दिन के झापड़ ने तुमको समझाया नहीं ? पाजी !" कहकर ऐसा साफ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर हो गया। कुछ ही क्षणों में यह भीषण घटना हो गयी, जिसके लिए अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकार कर चेतसिंह से कहा—"आप क्या देखते हैं ? उतरिये डोंगी पर !"—उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिंह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों में वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान-सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंडे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था !

□□

अनबोला

उसके जाल में सीपियाँ उलझ गयी थीं। जग्गैया से उसने कहा—"इसे फैलाती हूँ, तू सुलझा दे।"

जग्गैया ने कहा—"मैं क्या तेरा नौकर हूँ ?"

कामैया ने तिनककर अपने खेलने का छोटा-सा जाल और भी बटोर लिया। समुद्र-तट के छोटे-से होटल के पास की गली से अपनी झोपड़ी की ओर चली गयी।

जग्गैया उस अनखाने का सुख लेता-सा गुनगुनाकर गाता हुआ, अपनी खजूर की टोपी और भी तिरछी करके, संध्या की शीतल बालुका को पैरों से उछालने लगा।

* * *

दूसरे दिन, जब समुद्र में स्नान करने के लिए यात्री लोग आ गये थे; सिन्दूर-पिण्ड-सा सूर्य समुद्र के नील जल में स्नान कर प्राची के आकाश में ऊपर उठ रहा था; तब कामैया अपने पिता के साथ धीवरों के झुण्ड में खड़ी थी; उसके पिता की नावें समुद्र की लहरों पर उछल रही थीं। महाजाल पड़ा था, उसे बहुत-से धीवर मिलकर खींच रहे थे। जग्गैया ने आकर कामैया की पीठ में उँगली गोद दी। कामैया कुछ खिसककर दूर जा खड़ी हुई; उसने जग्गैया की ओर देखा भी नहीं।

जग्गैया को केवल माँ थी, वह कामैया के पिता के यहाँ लगी-लिपटी रहती, अपना पेट पालती थी। वह बेंत की दौरी लिए वहीं खड़ी थी। कामैया की मछलियाँ ले जाकर बाजार में बेचना उसी का काम था।

जग्गैया नटखट था। वह अपनी माँ को वहीं देखकर और हट गया; किन्तु कामैया की ओर देखकर उसने मन-ही-मन कहा—अच्छा।

* * *

महाजाल खींचकर आया। कुछ तो मछलियाँ थीं ही; पर उसमें एक भीषण समुद्री बाघ भी था। दर्शकों के झुण्ड जुट पड़े। कामैया के पिता से कहा गया उसे जाल में से निकालने के लिए, जिसमें प्रकृति की उस भीषण कारीगरी को लोग भली-भाँति देख सकें।

लोभ संवरण न करके उसने समुद्री बाघ को जाल से निकाला। एक खूँटे से उसकी पूँछ बाँध दी गयी। जग्गैया की माँ अपना काम करने की धुन में जाल में मछलियाँ पकड़कर दौरी में रख रही थी। समुद्री बाघ बालू की विस्तृत बेला में एक बार उछला। जग्गैया की माता का हाथ उसके मुँह में चला गया। कोलाहल मचा; पर बेकार! बेचारी का एक हाथ वह चबा गया।

दर्शक लोग चले गये। जग्गैया अपनी मूर्छित माता को उठाकर झोपड़ी में जब ले चला, तब उसके मन में कामैया के पिता के लिए असीम क्रोध और दर्शकों के लिए घोर प्रतिहिंसा उद्वेलित हो रही थी। कामैया की आँखों से आँसू बह रहे थे। तब भी वह बोली नहीं।

* * *

कई सप्ताह से महाजाल में मछलियाँ नहीं के बराबर फँस रहीं थीं। चावलों की बोझाई तो बन्द थी ही, नावें बेकार पड़ी रहती थीं। मछलियों का व्यवसाय चल रहा था; वह भी डाँवाडोल हो रहा था। किसी देवता की अकृपा है क्या?

कामैया के पिता ने रात को पूजा की। बालू की देवियों के पास खजूर की डालियाँ गड़ी थीं। समुद्री बाघ के दाँत भी बिखरे थे। बोतलों में मदिरा भी पुजारियों के समीप प्रस्तुत थी। रात में समुद्र-देवता की पूजा आरम्भ हुई।

जग्गैया दूर—जहाँ तक समुद्र की लहरें आकर लौट जाती हैं, वहीं—बैठा हुआ चुपचाप उस अनन्त जलराशि की ओर देख रहा था, और मन में सोच रहा था— क्यों मेरे पास एक नाव न रही ? मैं कितनी मछलियाँ पकड़ता; आह ! फिर मेरी माता को इतना कष्ट क्यों होता। अरे ! वह तो मर रही है; मेरे लिए इसी अन्धकार-सा दारिद्रय छोड़कर ! तब भी देखें, भाग्य-देवता क्या करते हैं। इसी रग्गैया की मजूरी करने से तो वह रही है।

उसके क्रोध का उद्वेग समुद्र-सा गर्जन करने लगा।

* * *

पूजा समाप्त करके मदिरारुण नेत्रों से घूरते हुए पुजारी ने कहा---"रग्गैया ! तुम अपना भला चाहते हो, तो जग्गैया के कुटुम्ब से कोई सम्बन्ध न रखना। समझा न ?"

उधर जग्गैया का क्रोध अपनी सीमा पार कर रहा था। उसकी इच्छा होती थी कि रग्गैया का गला घोंट दे किन्तु वह था निर्बल बालक। उसके सामने से जैसे लहरें लौट जाती थीं, उसी तरह उसका क्रोध मूर्च्छित होकर गिरता-सा प्रत्यावर्तन करने लगा। वह दूर-ही-दूर अन्धकार में झोंपड़ी की ओर लौट रहा था।

सहसा किसी का कठोर हाथ उसके कन्धे पर पड़ा। उसने चौंककर कहा—"कौन ?"

मदिरा-विह्वल कण्ठ से रग्गैया ने कहा—"तुम मेरे घर कल से न आना।"

जग्गैया वहीं बैठ गया। वह फूट-फूटकर रोना चाहता था; परन्तु अन्धकार उसका गला घोंट रहा था। दारुण क्षोभ और निराशा उसके क्रोध को उत्तेजित करती रही। उसे अपनी माता के तत्काल न मर जाने पर झुँझलाहट-सी हो रही थी। समीर अधिक शीतल हो चला। प्राची का आकाश स्पष्ट होने लगा; पर जग्गैया का अदृष्ट तमसाच्छन्न था।

* * *

कामैया ने धीरे-धीरे आकर जग्गैया की पीठ पर हाथ रख दिया। उसने घूमकर देखा। कामैया की आँखों में आँसू भरा था। दोनों चुप थे।

कामैया की माता ने पुकारकर कहा—"जग्गैया ! तेरी माँ मर गयी। इसको अब ले जा।"

जग्गैया धीरे-धीरे उठा और अपनी माता के शव के पास खड़ा हो गया। अब उसके मुख पर हर्ष-विषाद, सुख-दुःख कुछ भी नहीं था। उससे कोई बोलता

न था और वह भी किसी से बोलना नहीं चाहता था; किन्तु कामैया भीतर-ही-भीतर फूट-फूटकर रो रही थी; पर बोले कैसे ? उससे तो अनबोला था न !

□□

देवरथ

दो-तीन रेखाएं भाल पर, काली पुतलियों के समीप मोटी और काली बरौनियों का घेरा, घनी आपस में मिली रहने वाली भवें और नासा-पुट के नीचे हलकी-हलकी हरियाली उस तापसी के गोरे मुँह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा प्रगट करती थी।

यौवन, काषाय से कहीं छिप सकता है ? संसार को दुःखपूर्ण समझकर ही तो वह संघ की शरण में आयी थी। उसके आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरें लगी थीं। तब भी यौवन ने साथ न छोड़ा। भिक्षुकी बनकर भी वह शांति न पा सकी थी। वह आज अत्यन्त अधीर थी।

चैत की अमावस्या का प्रभात था। अश्वत्थ वृक्ष की मिट्टी-सी सफेद डालों और तने पर ताम्र अरुण कोमल पत्तियाँ निकल आयी थीं। उन पर प्रभात की किरणें पकड़कर लोट-पोट हो जाती थीं। इतनी स्निग्ध शय्या उन्हें कहाँ मिली थी।

सुजात सोच रही थी। आज अमावस्या है। अमावस्या तो उसके हृदय में सवेरे से ही अन्धकार भर रही थी। दिन का आलोक उसके लिए नहीं के बराबर था। वह अपने विश्रृंखल विचारों को छोड़कर कहाँ भाग जाय। शिकारियों का झुण्ड और अकेली हरिणी ! उसकी आँखें बन्द थीं।

आर्य्यमित्र खड़ा रहा। उसने देख लिया कि सुजाता की समाधि अभी न खुलेगी। वह मुस्कुराने लगा। उसके कृत्रिम शील ने भी उसको वर्जित किया। संघ के नियमों ने उसके हृदय पर कोड़े लगाये; पर वह भिक्षु वहीं खड़ा रहा।

भीतर के अन्धकार से ऊबकर सुजाता ने आलोक के लिए आँखें खोल दीं। आर्य्यमित्र को देखकर आलोक की भीषणता उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। उसने शक्ति बटोरकर कहा—"वन्दे !"

आर्य्यमित्र पुरुष था। भिक्षुओं का उसके सामने नत होना संघ का नियम

था। आर्य्यमित्र ने हँसते हुए अभिवादन का उत्तर दिया, और पूछा—"सुजाता, आज तुम स्वस्थ हो ?"

सुजाता उत्तर देना चाहती थी। पर...आर्य्यमित्र के काषाय के नवीन रंग में उसका मन उलझ रहा था। वह चाहती थी कि आर्य्यमित्र चला जाय; चला जाय उसकी चेतना के घेरे के बाहर। इधर वह अस्वस्थ थी, आर्य्यमित्र उसे ओषधि देता था। संघ का वह वैद्य था। अब वह अच्छी हो गयी है। उसे आर्य्य-मित्र की आवश्यकता नहीं। किन्तु...है तो...हृदय को उपचार की अत्यन्त आव श्यकता है। तब भी आर्य्यमित्र ! वह क्या करे। बोलना ही पड़ा।

"हाँ, अब तो स्वस्थ हूँ।"

"अभी पथ्य सेवन करना होगा।"

"अच्छा।"

"मुझे और भी एक बात कहनी है।"

"क्या ? नहीं, क्षमा कीजिए। आपने कब से प्रव्रज्या ली है !"

"वह सुनकर तुम क्या करोगी ? संसार ही दुःखमय है।"

"ठीक तो...अच्छा, नमस्कार।"

आर्य्यमित्र चला गया; किन्तु उसके जाने से जो आंदोलन आलोक-तरंग में उठा, उसी में सुजाता झूमने लगी थी। उसे मालूम नहीं, कब से महास्थविर उसके समीप खड़े थे।

* * *

समुद्र का कोलाहल कुछ सुनने नहीं देता था। संध्या धीरे-धीरे विस्तृत नील जल-राशि पर उतर रही थी। तरंगें बिखर कर चूरहोरही थीं। सुजाता बालु का की शीतल वेदी पर बैठी हुई अपलक आँखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी; किन्तु नीलाम्बुधि का महान् संसार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की संपूर्णता धुँधली संध्या में मूर्तिमान् हो रही थी। सुजाता बोल उठी :

"जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं है।"

"सुजाता, यह क्या कह रही हो ?" पीछे से आर्य्यमित्र ने कहा।

"कौन, आर्य्यमित्र !"

'मैं भिक्षुणी क्यों हुई आर्य्यमित्र !"

"व्यर्थ सुजाता। मैंने अमावस्या की गम्भीर रजनी में संघ के सम्मुख पापी होना स्वीकार कर लिया है। अपने कृत्रिम शील के आवरण में सुरक्षित नहीं रह सका। मैंने महास्थविर से कह दिया कि संघमित्र का पुत्र आर्य्यमित्र सांसारिक विभूतियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। कई पुरुषों की संचित महौषधियाँ, कलिंग

के राजवैद्य पद का सम्मान, सहज में छोड़ा नहीं जा सकता। मैं केवल सुजाता के लिए ही भिक्षु बना था। उसी का पता लगाने के लिए मैं इस नील विहार में आया था। वह मेरी वाग्दत्ता भावी पत्नी है।"

"किन्तु आर्य्यमित्र, तुमने विलम्ब किया, मैं तुम्हारी पत्नी न हो सकूँगी।"—सुजाता ने बीच में रोककर कहा।

क्योंकि सुजाता ! यह कषाय क्या शृंखला है ? फेंक दो इसे। वाराणसी के स्वर्ण-खचित कसन ही तुम्हारे परिधान के लिए उपयुक्त हैं। रत्नमाला, मणि-कंकण और हेम कांची तुम्हारी कमल-कोमल अंग-लता को सजावेगी। तुम—राजरानी बनोगी।"

"किन्तु..."

"किन्तु क्या सुजाता ? मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, मैं संघ का बन्धन तोड़ चुका हूँ और तुम भी तो जीवन की, आत्मा की क्षणिकता में विश्वास नहीं करती हो ?"

"किन्तु आर्य्यमित्र ! मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं—कहाँ से लाऊँगी ? वह वरमाला जिसमें दूबा-सदृश कौमार्य्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा हृदय-रस भरा हो, कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूँगी ?"

"क्यों सुजाता ? उसमें कौन-सी बाधा है ?"—कहते-कहते आर्य्यमित्र का स्वर कुछ तीक्ष्ण हो गया। वह अगूंठे से बालू बिखेरने लगा !

"उसे सुनकर तुम क्या करोगे ? जाओ, राज-सुख भोगो। मुझ जन्म की दुखिया के पीछे अपना आनन्दपूर्ण भविष्य-संसार नष्ट न करो, आर्य्यमित्र ! जब तुमने संघ का बन्धन भी तोड़ दिया है, तब मुझ पामरी के मोह का बन्धन भी तोड़ डालो।"

सुजाता के वक्ष में श्वास भर रहा था।

आर्य्यमित्र ने निर्जन समुद्र-तट के उस मलिन सायंकाल में, सुजाता का हाथ पकड़कर तीव्र स्वर में पूछा—"सुजाता, स्पष्ट कहो; क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करती हो ?"

"करती हूँ आर्य्यमित्र ! इसी का दुःख है। नहीं तो भैरवी के लिए किस उपभोग की कमी है ?"

आर्य्यमित्र ने चौंककर सुजाता का हाथ छोड़ते हुए कहा—"क्या कहा, भैरवी !"

"हाँ आर्य्यमित्र। भैरवी हूँ, मेरी..."

आगे वह कुछ न कह सकी। आँखों से जल-बिन्दु ढुलक रहे थे, जिसमें वेदना के समुद्र ऊर्मिल हो रहे थे।

आर्य्यमित्र अधीर होकर सोचने लगा—"पारिवारिक पवित्र बन्धनों को तोड़कर जिस मुक्ति की—निर्वाण की—आशा में जनता दौड़ रही है, उस धर्म की यही सीमा है। यह अन्धेर—गृहस्थों का सुख न देख सकनेवालों का यह निर्मम दण्ड, समाज कब तक भोगेगा ?"

सहसा प्रकृतिस्थ होकर उसने कहा—"सुजाता ! मेरा सिर घूम रहा है, जैसे देवरथ का चक्र, परन्तु मैं तुमको अब भी पत्नी-रूप से ग्रहण करूँगा। सुजाता, चलो।"

"किन्तु मैं तुम्हें पति रूप से ग्रहण न कर सकूँगी। अपनी सारी लांछना तुम्हारे साथ बाँटकर जीवन-संगिनी बनने का दुस्साहस मैं न कर सकूँगी। आर्य्यमित्र, मुझे क्षमा करो ! मेरी वेदना रजनी से भी काली है और दुःख, समुद्र से भी विस्तृत है। स्मरण है ? इसी महोदधि के तट पर बैठकर, सिकता में हम लोग अपना नाम साथ-ही-साथ लिखते थे। चिर-रोदनकारी निष्ठुर समुद्र अपनी लहरों की उँगली से उसे मिटा देता था। मिट जाने दो हृदय की सिकता से प्रेम का नाम ! आर्य्यमित्र, इस रजनी के अन्धकार में उसे विलीन हो जाने दो।"

"सुजाता"—सहसा एक कठोर स्वर सुनाई पड़ा।

दोनों ने घूमकर देखा, अन्धकार-सी भीषण मूर्ति, संघस्थविर !

* * *

उसके जीवन में परमाणु बिखर रहे थे। निशा की कालिमा में सूजाता सिर झुकाये हुए बैठी, देव-प्रतिमा की रथयात्रा का समारोह देख रही थी; किन्तु दौड़ कर छिप जानेवाले मूक-दृश्य के समान वह किसी को समझ न पाती थी। स्थविर ने उसके सामने आकर कहा—"सुजाता, तुमने प्रायश्चित किया ?"

"किसके पाप का प्रायश्चित ! तुम्हारे या अपने ?"—तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा !

"अपने और आर्य्यमित्र के पापों का, सुजाता ! तुमने अविश्वासी हृदय से धर्मद्रोह किया है।"

"धर्मद्रोह ? आश्चर्य !!"

"तुम्हारा शरीर देवता को समर्पित था, सुजाता। तुमने..."

बीच ही में उसे रोककर तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा—"चुप रहो, असत्य-वादी। वज्रयानी नर-पिशाच..."

एक क्षण में इस भीषण मनुष्य की कृत्रिम शान्ति विलीन हो गयी। उसने दाँत किटकिटाकर कहा—"मृत्यु-दण्ड !"

सुजाता ने उसकी ओर देखते हुए कहा—"कठोर से भी कठोर मृत्यु-दण्ड मेरे लिए कोमल है। मेरे लिए इस स्नेहमयी धरणी पर बचा ही क्या है ? स्थविर तुम्हारा धर्मशासन घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि करता है—कुचक्र

में जीवन को फँसाता है। पवित्र गार्हस्थ बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र है और निम्न कोटि की है।"

"किन्तु सुजाता, तुमको मरना होगा।"

"तो मरूँगी स्थविर; किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बरपूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता!"

"कल ही!"

"हाँ, कल प्रभात में तुम देखोगे कि सुजाता कैसे मरती है!"

* * *

सुजाता मन्दिर के विशाल स्तम्भ से टिकी हुई, रात्रिव्यापी उत्सव को स्थिर दृष्टि से देखती रही। एक बार उसने धीरे से पूछा—

"देवता, यह उत्सव क्यों? क्या जीवन की यन्त्रणाओं से तुम्हारी पूजा का उपकरण संग्रह किया जाता है?"

प्रतिमा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

प्रभात की किरणें मन्दिर के शिखर पर हँसने लगीं।

देव-विग्रह ने रथ-यात्रा के लिए प्रयाण किया। जनता तुमुलनाद से जय-घोष करने लगी।

सुजाता ने देखा, पुजारियों के दल में कौशेय वसन पहने हुए आर्य्यमित्र भी भक्तिभाव से चला जा रहा है। उसकी इच्छा हुई कि आर्य्यमित्र को बुलाकर कहे कि वह उसके साथ चलने को प्रस्तुत है।

सम्पूर्ण बल से उसने पुकारा—"आर्य्यमित्र!"

किन्तु उस कोलाहल में कौन सुनता है? देवरथ विस्तीर्ण राज-पथ से चलने लगा। उसके दृढ़ चक्र धरणी की छाती में गहरी लीक डालते हुए आगे बढ़ने लगे। उस जन-समुद्र में सुजाता फाँद पड़ी और एक क्षण में उसका शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठा।

रथ खड़ा हो गया। स्थविर ने स्थिर दृष्टि से सुजाता के शव को देखा। अभी वह कुछ बोलना ही चाहता था कि दर्शकों और पुजारियों का दल, "काला पहाड़ काला पहाड़!!" चिल्लाता हुआ इधर-अधर भागने लगा। धूलि की घटा में बरछियों की बिजलियाँ चमकने लगीं।

देव-विग्रह एकाकी धर्मोन्मत 'काला पहाड़' के अश्वारोहियों से घिर गया—रथ पर था देव-विग्रह और नीचे सुजाता का शव।

□□

विराम-चिन्ह

देव-मंदिर के सिंहद्वार से कुछ दूर हट कर वह छोटी-सी दुकान थी। सुपारी के घने कुञ्ज के नीचे एक मैले कपड़े के टुकड़े पर सूखी हुई धार में तीन-चार केले, चार कच्चे पपीते, दो हरे नारियल और छः अंडे थे। मंदिर से दर्शन करके लौटते हुए भक्त लोग दोनों पट्टी में सजी हुई हरी-भरी दुकानों को देखकर उसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे।

अर्द्ध-नग्न वृद्धा दुकानवाली भी किसी को अपनी वस्तु लेने के लिए नहीं बुलाती थी। वह चुपचाप अपने केले और पपीतों को देख लेती। माध्याह्न बीत चला। उसकी कोई वस्तु न बिकी। मुँह की ही नहीं, उसके शरीर की भी झुर्रियाँ रूखी होकर ऐंठी जा रही थीं। मूल्य देखकर भात-दाल की हाँड़ियाँ लिए लोग चले जा रहे थे। मंदिर में भगवान् के विश्राम का समय हो गया था। उन हाँड़ियों को देखकर उसकी भूखी आँखों में लालच की चमक बढ़ी, किन्तु पैसे कहाँ थे? आज तीसरा दिन था, उसे दो-एक केले खाकर बिताते हुए। उसने एक बार भूख से भगवान् की भेंट कराकर क्षण-भर के लिए विश्राम पाया; किन्तु भूख की वह पतली लहर अभी दबाने में पूरी तरह समर्थ न हो सकी थी, कि राधे आकर उसे गुरेरने लगा। उसने भरपेट ताड़ी पी ली थी। आँखें लाल, मुँह से बात करने में झाग निकल रहा था। हाथ नचाकर वह कहने लगा—

"सब लोग जाकर खा-पीकर सो रहे हैं। तू यहाँ बैठी हुई देवता का दर्शन कर रही है। अच्छा, तो आज भी कुछ खाने को नहीं?"

"बेटा! एक पैसे का भी नहीं बिका, क्या करूँ? अरे, तो भी तू कितनी ताड़ी पी आया है।"

"वह सामने तेरे ठाकुर दिखाई पड़ रहे हैं। तू भी पीकर देख न!"

उस समय सिंहद्वार के सामने की विस्तृत भूमि निर्जन हो रही थी। केवल जलती हुई धूप उस पर किलोल कर रही थी। बाजार बन्द था। राधे ने देखा, दो-चार कौए काँव-काँव करते हुए सामने नारियल-कुंज की हरियाली में घुस रहे थे। उसे अपना ताड़ीखाना स्मरण हो आया। उसने अण्डों को बटोर लिया।

बुढ़िया 'हाँ, हाँ' करती ही रह गयी, वह चला गया। दुकानवाली ने अँगूठे और तर्जनी से दोनों आँखों का कीचड़ साफ किया, और फिर मिट्टी के पात्र से जल लेकर मुँह धोया।

बहुत सोच-विचार कर अधिक उतरा हुआ एक केला उसने छीलकर अपनी अञ्जलि में रख उसे मन्दिर की ओर नैवेद्य लगाने के लिए बढ़ाकर आँख बन्द कर

लीं। भगवान् ने उस अछूत का नैवेद्य ग्रहण किया या नहीं, कौन जाने; किन्तु बुढ़िया ने उसे प्रसाद समझकर ही ग्रहण किया।

अपनी दुकान झोली में समेटे हुए, जिस कुँज में कौए घुसे थे, उसी में वह भी घुसी। पुआल से छायी हुई टट्टरों की झोंपड़ी में विश्राम लिया।

* * *

उसकी स्थावर सम्पति में वही नारियल का कुँज, चार पेड़ पपीते और छोटी-सी पोखरी के किनारे पर के कुछ केले के वृक्ष थे। उसकी पोखरी में एक छोटा-सा झुण्ड बत्तखों का भी था, जो अंडे देकर बुढ़िया की आय में वृद्धि करता। राधे अत्यन्त मद्यप था। उसकी स्त्री ने उसे बहुत दिन हुए छोड़ दिया था।

बुढ़िया को भगवान् का भरोसा था, उसी देव-मन्दिर के भगवान् का, जिसमें वह कभी नहीं जाने पायी थी!

अभी वह विश्राम की झपकी ही लेती थी कि महन्तजी के जमादार कुँज ने कड़े स्वर में पुकारा—"राधे, अरे रधवा, बोलता क्यों नहीं रे!"

बुढ़िया ने आकर हाथ जोड़ते हुए कहा—"क्या है महाराज?"

"सुना है कि कल तेरा लड़का अछूतों के साथ मन्दिर में घुसकर दर्शन करने जायगा?"

"नहीं, नहीं, कौन कहता है महाराज! वह शराबी, भला मन्दिर में उसे कब से भक्ति हुई है?"

"नहीं, मैं तुझसे कहे देता हूँ, अपनी खोपड़ी सँभालकर रखने के लिए उसे समझा देना। नहीं तो तेरी और उसकी; दोनों की दुर्दशा हो जायगी।"

राधे ने पीछे से आते हुए क्रूर स्वर में कहा—"जाऊँगा, तब तेरे बाप के भगवान् हैं! तू होता कौन है रे!"

"अरे, चुप रे राधे! ऐसा भी कोई कहता है रे। अरे, तू जायगा, मन्दिर में? भगवान् का कोप कैसे रोकेगा, रे?" बुढ़िया गिड़गिड़ा कर कहने लगी। कुँज-बिहारी जमादार ने राधे की लाठी देखते ही ढीली बोल दी। उसने कहा—"जाना राधे कल, देखा जायगा।"—जमादार धीरे-धीरे खिसकने लगा।

"अकेले-अकेले बैठकर भोग-प्रसाद खाते-खाते बच्चू लोगों को चरबी चढ़ गयी है दरशन नहीं रे—तेरा भात छीनकर खाऊँगा। देखूँगा, कौन रोकता है।"—राधे गुर्राने लगा। कुंज तो चला गया, बुढ़िया ने कहा—"राधे बेटा, आज तक तूने कौन-से अच्छे काम किये हैं, जिनके बल पर मंदिर में जाने का साहस करता है? ना बेटा, यह काम कभी मत करना। अरे, ऐसा भी कोई करता है।"

"तूने भात बनाया है आज?"

"नहीं बेटा! आज तीन दिन से पैसे नहीं मिले। चावल हैं नहीं।"

"इन मन्दिर वालों ने अपनी जूठन भी तुझे दी ?"

"मैं क्यों लेती, उन्होंने दी भी नहीं।"

"तब तू कहती है कि मन्दिर में हम लोग न जाएं! जायँगे; सब अछूत जायँगे।"

"न बेटा, किसी ने तुझको बहका दिया है। भगवान् के पवित्र मंदिर में हम लोग आज तक कभी नहीं गये। वहाँ जाने के लिए तपस्या करनी चाहिए।"

"हम लोग तो जायँगे।"

"ना, ऐसा कभी न होगा।"

"होगा, फिर होगा। जाता हूँ ताड़ीखाने, वहीं पर सबकी राय से कल क्या होगा, यह देखना।"—राधे ऐंठता हुआ चला गया। बुढ़िया एकटक मन्दिर की ओर विचारने लगी —

"भगवान्, क्या होने वाला है!"

* * *

दूसरे दिन मन्दिर के द्वार पर भारी जमघट था। आस्तिक भक्तों का झुण्ड अपवित्रता से भगवान् की रक्षा करने के लिए दृढ़ होकर खड़ा था। उधर सैकड़ों अछूतों के साथ राधे मन्दिर में प्रवेश करने के लिए तत्पर था।

लट्ठ चले, सिर फूटे। राधे आगे बढ़ ही रहा था। कुंजबिहारी ने बगल से घूमकर राधे के सिर पर करारी चोट दी। वह लहू से लथपथ वहीं लोटने लगा। प्रवेशार्थी भागे। उनका सरदार गिर गया था। पुलिस भी पहुँच गयी थी। राधे के अन्तरंग मित्र गिनती में 10-12 थे। वे ही रह गये।

क्षण भर के लिए वहाँ शिथिलता छा गयी थी। सहसा बुढ़िया भीड़ चीर कर वहीं पहुँच गयी। उसने राधे को रक्त में सना हुआ देखा। उसकी आँखें लहू से भर गयीं। उसने कहा—"राधे की लोथ मन्दिर में जायगी।" वह अपने निर्बल हाथों से राधे को उठाने लगी।

उसके साथी बढ़े। मन्दिर का दल भी हुंकार करने लगा; किन्तु बुढ़िया की आँखों के सामने ठहरने का किसी को साहस न रहा। वह आगे बढ़ी; पर सिंह-द्वार की देहली पर जाकर सहसा रुक गयी। उसकी आँखों की पुतली में जो मूर्ति-भंजक छाया-चित्र था, वही गलकर बहने लगा।

राधे का शव देहली के समीप रख दिया गया। बुढ़िया ने देहली पर सिर झुकाया; पर वह सिर उठा न सकी। मन्दिर में घुसने वाले अछूतों के आगे बुढ़िया विराम-चिह्न-सी पड़ी थी।

□□

सालवती

सदानीरा अपनी गम्भीर गति से, उस घने साल के जंगल से कतरा कर चली जा रही है। सालों की श्यामल छाया उसके जल को और भी नीला बना रही है; परन्तु वह इस छायावाद को अपनी छोटी-छोटी वीचियों से मुसकुरा कर टाल देती है। उसे तो ज्योत्सना से खेलना है। चैत की मतवाली चाँदनी परिमल से लदी थी। उसके वैभव की यह उदारता थी कि उसकी कुछ किरणों को जंगल के किनारे की फूस की झोंपड़ी पर भी बिखरना पड़ा।

उसी झोंपड़ी के बाहर नदी के जल को पैर से छूती हुई एक युवती चुपचाप बैठी आकाश के दूरवर्ती नक्षत्रों को देख रही थी। उसके पास ही सत्तू का पिंड रक्खा था। भीतर के दुर्बल कण्ठ से किसी ने पुकारा—"बेटी !"

परन्तु युवती तो आज एक अद्‌भुत गौरव—नारी-जीवन की सार्थकता देख-कर आयी है ! पुष्करिणी के भीतर से कुछ मिट्टी, रात में ढोकर फेंकने का पारि-श्रमिक चुकाने के लिए, रत्नाभरणों से लदी हुई एक महालक्ष्मी बैठी थी। उसने पारिश्रमिक देते हुए पूछा—"बहन ! तुम कहाँ रहती हो ? कल फिर आना।" उन शब्दों में कितना स्नेह था। वह महत्व !...क्या इन नक्षत्रों से भी दूर की वस्तु नहीं ? विशेषत: उसके लिए...वह तल्लीन थी। भीतर से फिर पुकार हुई।

"बेटी !...सालवती !...रात को नहा मत ! सुनती नहीं !...बेटी !"

"पिता जी !" सालवती की तन्द्रा टूटी। वह उठ खड़ी हुई। उसने देखा कि वृद्ध छड़ी टेकता हुआ झोपड़ी के बाहर आ रहा है। वृद्ध ने सालवती की पीठ पर हाथ रखकर उसके बालों को टटोला ! वे रूखे थे। वृद्ध ने संतोष की साँस लेकर कहा—"अच्छा है बेटी ! तूने स्नान नहीं किया न ! मैं तनिक सो गया था। आज तू कहाँ चली गयी थी ? अरे, रात को प्रहरी से अधिक बीत चुकी। बेटी ! तूने आज कुछ भोजन नहीं बनाया ?"

"पिता जी ! आज मैं नगर की ओर चली गयी थी। वहाँ पुष्करिणी बन रही है। उसी को देखने।"

"तभी तो बेटी ! तुझे विलम्ब हो गया। अच्छा, तो बना ले कुछ। मुझे भी भूख लगी है। ज्वर तो अब नहीं है। थोड़ा-सा मूँग का सूप...हाँ रे ! मूँग तो नहीं है ! अरे, यह क्या है रे ?"

"पिता जी ! मैंने पुष्करिणी में से कुछ मिट्टी निकाली है। उसी का यह पारिश्रमिक है। मैं मूँग लेने ही तो गयी थी; परन्तु पुष्करिणी देखने की धुन में उसे लेना भूल गयी।"

"भूल गयी न बेटी ! अच्छा हुआ; पर तूने यह क्या किया ! वज्जियों के कुल में किस बालिका ने आज तक...अरे...यह तो लज्जापिंड है ! बेटी ! इसे मैं न खा सकूँगा। किसी कुल पुत्र के लिए इससे बढ़कर अपमान की ओर कोई वस्तु नहीं। इसे फोड़ तो !"

सालवती ने उसे पटककर तोड़ दिया। पिंड टूटते ही वैशाली की मुद्रा से अंकित एक स्वर्ण-खंड उसमें से निकल पड़ा। सालवती का मुँह खिल उठा; किन्तु वृद्ध ने कहा—"बेटी ! इसे सदानीरा में फेंक दे।' सालवती विषाद से भरी उस स्वर्णखंड को हाथ में लिए खड़ी रही। वृद्ध ने कहा—"पागल लड़की ! आज उपवास न करना होगा। तेरे मिट्टी ढोने के उचित पारिश्रमिक केवल यह सत्तू है। वह स्वर्ण का चमकीला टुकड़ा नहीं।"

"पिता जी ! फिर आप ?"

"मैं...? आज रात को भी ज्वर का लंघन समझूँगा ! जा, यह सत्तू खाकर सदानीरा का जल पीकर सो रह !"

"पिता जी ! मैं भी आज की रात बिना खाये बिता सकती हूँ; परन्तु मेरा एक सन्देह..."

"पहले उसको फेंक दे, तब मुझसे कुछ पूछ !"

सालवती ने उसे फेंक दिया। तब एक निःश्वास छोड़कर बुड्ढे ने कहना आरम्भ किया :

"आर्यों का वह दल, जो माधव के साथ ज्ञान की अग्नि मुँह में रखकर सदानीरा के इस पार पहले-पहल आया, विचारों की स्वतंत्रता का समर्थक था। कर्मकाण्डियों की महत्ता और उनकी पाखण्डप्रियता का विरोधी वह दल, सब प्रकार की मानसिक या नैतिक पराधीनता का कट्टर शत्रु था।

"जीवन पर उसने नये ढंग से विचार करना आरम्भ किया। धर्म का ढोंग उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता था। वह आर्यों का दल दार्शनिक था। उसने मनुष्यों की स्वतंत्रता का मूल्य चारों ओर से आँकना चाहा। और आज गंगा के उत्तरी तट पर विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लों का जो गणतंत्र अपनी ख्याति से सर्वोन्नत है वह उन्हीं पूर्वजों की कीर्तिलेखा है।

"मैं भी उन्हीं का कुलपुत्र हूँ। मैंने भी तीर्थंकरों के मुख से आत्मवाद-अनात्मवाद के व्याख्यान सुने हैं। संघों के शास्त्रार्थ कराये हैं। उनको चातुर्मास कराया हैं। मैं भी दार्शनिकों में प्रसिद्ध था। बेटी ! तू उसी धवलयश की दुहिता होकर किसी की दया पर अपना जीवन-निर्वाह करे, यह मैं नहीं सहन कर सकता।

"बेटी, गणराज में जिन लोगों के पास प्रभूत धन है, उन लोगों ने निर्धन कुलीनों के निर्वाह के लिए यह गुप्तदान की प्रथा चलायी है कि अँधेरे में किसी से थोड़ा काम कराकर उसे कुछ स्वर्ण दे देना। क्या यह अनुग्रह नहीं है बेटी ?"

"है तो पिता जी !"

"फिर यह कृतज्ञता और दया का भार तू उठावेगी। वही हम लोगों की संतान जिन्होंने देवता और स्वर्ग का भी तिरस्कार किया था, मनुष्य की पूर्णता और समता का मंगलघोष किया था, उसी की सन्तान अनुग्रह का आश्रय ले ?"

"नहीं पिता जी ! मैं अनुग्रह नहीं चाहूँगी।"

'तू मेरी प्यारी बेटी है। जानती है बेटी ! मैंने दार्शनिकवादों में सर्वस्व उड़ाकर अपना कौन-सा सिद्धान्त स्थिर किया है ?"

"नहीं पिता जी !"

"आर्थिक पराधीनता ही संसार में दुःख का कारण है। मनुष्य को उससे मुक्ति पानी चाहिए; मेरा इसलिए उपास्य है स्वर्ण।"

"किन्तु आपका देवता कहाँ है ?"

वृद्ध ठठाकर हँस पड़ा। उसने कहा—"मेरा उपास्य मेरी झोपड़ी में है; इस सदानीरा में है; और है मेरे परिश्रम में !"

सालवती चकित होकर देखने लगी।

वृद्ध ने कहा—"चौंक मत बेटी ! मैं हिरण्यगर्भ का उपासक हूँ। देख, सदानीरा की शिलाओं में स्वर्ण की प्रचुर मात्रा है।"

"तो क्या पिता जी ! तुमने इसलिए इन काले पत्थरों से झोपड़ी भर रक्खी है ?"—सालवती ने उत्साह से कहा।

वृद्ध ने सिर हिलाते हुए फिर अपनी झोपड़ी में प्रवेश किया। और सालवती ! उसने घूमकर लज्जापिण्ड को देखा भी नहीं। वह दरिद्रता का प्रसाद यों ही बिखरा पड़ा रहा। सालवती की आँखों के सामने चन्द्रमा सुनहला होकर सदानीरा की जलधारा को स्वर्णमयी बनाने लगा। साल के एकान्त कानन से मर-मर की ध्वनि उठती थी। सदानीरा की लहरें पुलिन से टकराकर गम्भीर कलनाद का सृजन कर रही थीं; किन्तु वह लावण्यमयी युवती अचेतन अवस्था में चुपचाप बैठी हुई वज्जियों की—विदेहों की अद्‌भुत स्वतंत्रता पर विचार कर रही थी। उसने झुँझलाकर कहा—"ठीक ! मैं अनुग्रह नहीं चाहती। अनुग्रह लेने से मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतन्त्र बनाती है।"

लज्जापिण्ड से मछलियों की उदरपूर्ति कराकर वह भूखी ही जाकर सो रही।

* * *

दूसरे दिन से वृद्ध शिला-खण्डों से स्वर्ण निकालता और सालवती उसे बेचकर आवश्यकता की पूर्ति करती। उसके साल-कानन में चहल-पहल रहती। अतिथि, आजीवक और अभ्यागत आते, आदर-सत्कार पाते, परन्तु यह कोई न जान सका कि यह सब होता कहाँ से है। वैशाली में धूम मच गयी। कुतूहल से

कुलपुत्र चञ्चल हुए ! परन्तु एक दिन धवलयश अपनी गरिमा में हँसता हुआ संसार से उठ गया।

सालवती अकेली रह गयी। उसे तो स्वर्ण का मालूम था। वह अपनी जीवन-चर्या में स्वतन्त्र बनी रही। उसका रूप और यौवन मानसिक स्वतंत्रता के साथ सदानीरा की धारा की तरह वेग-पूर्ण था।

* * *

वसन्त की मञ्जरियों से पराग बरसने लगा। किसलय के कर-पल्लव से युवकों को आमन्त्रण मिला। वैशाली के स्वतन्त्र नागरिक आमोद-प्रमोद के लिए उन्मत्त हो उठे। अशोक के लाल स्तवकों में मधुपों का मादक गुंजार नगर-प्रान्त को संगीतमय बना रहा था। तब कलशों में आसव लिये दासों के वृन्द, वसन्त-कुसुमालंकृत युवतियों के दल, कुलपुत्रों के साथ वसन्तोत्सव के लिए, वनों उपवनों में फैल गये।

कुछ मनचले उस दूरवर्ती साल-कानन में भी पहुंचे। सदानीरा के तट पर साल की निर्जन छाया में उनकी गोष्ठी जमी। इस दल में अन्य लोगों की अपेक्षा एक विशेषता थी, कि उनके साथ कोई स्त्री न थी।

दासों ने आसन बिछा दिये। खाने-पीने की सामग्री रख दी गयी। ये लोग सम्भ्रान्त कुलपुत्र थे। कुछ गम्भीर विचारक-से वे युवक देव-गन्धर्व की तरह रूपवान् थे। लम्बी-चौड़ी हड्डियों वाले व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो-एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न-जटित कटिबन्ध में कृपाणी। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहरे पतले-पटबन्ध और वसन्तोत्सव के प्रधान चिन्ह-स्वरूप दूर्वा और मधूक-पुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदण्ड, कुछ-कुछ आसव-पान से अरूणनेत्र, ताम्बूलरंजित सुन्दर अधर, उस काल के भारतीय शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे।

वे बोलने से पहले थोड़ा मुसकराते, फिर मधुर शब्दों में अपने भावों को अभिव्यक्त करते थे। गिनती में वे आठ थे उनके रथ दूर खड़े थे। दासों ने आवश्यक वस्तु सजाकर रथों के समीप आश्रय लिया। कुलपुत्रों का पान, भोजन और विनोद चला।

एक ने कहा—"भद्र ! अभिनन्द ! अपनी बीणा सुनाओ"

दूसरों ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अभिनन्द के संकेत पर दास ने उसकी वीणा सामने लाकर रख दी। अभिनन्द बजाने लगा। सब आनन्द-मग्न होकर सुनने लगे।

अभिनन्द ने एक विश्राम लिया। लोगों ने 'साधु-साधु' कहकर उसे अभिनन्दित किया। सहसा अश्वों के पद-शब्द सुनाई पड़े।

सिन्धुदेश के दो धवल अश्वों पर, जिनके स्वर्णालंकार चमक रहे थे, चामर

हिल रहे थे, पैरों में झाँझें मधुर शब्द कर रही थीं, दो उच्च पदाधिकारी माननीय व्यक्तियों ने वहाँ पहुँच कर उस गोष्ठी के लोगों को चंचल कर दिया।

उनके साथ अन्य अश्वारोही रथों के समीप हो खड़े रहे; किंतु वे दोनों गोष्ठी के समीप आ गये।

कुलपुत्रों ने एक को पहचाना। वह था उपराजा अभय कुमार। उन लोगों ने उठकर स्वागत और नमस्कार किया।

उपराजा ने अश्व पर से ही पूछा—"कुलपुत्रों की शुभकामना करते हुए मैं पूछ सकता हूँ कि क्या कुलपुत्रों की प्रसन्नता इसी में है, कि वे लोग अन्य नागरिकों से अलग अपने वसन्तोत्सव का आनन्द आप ही लें?"

"उपराजा के हम लोग कृतज्ञ हैं। हम लोगों की गोष्ठी को वे प्रसन्नता से सुशोभित कर सकते हैं। हम लोग अनुग्रहीत होंगे।"

"किन्तु मेरे साथ एक माननीय अतिथि हैं। पहले इनका परिचय करा दूं?"

"बड़ी कृपा होगी।"

"ये हैं मगधराज के महामन्त्री! वैशाली का वसन्तोत्सव देखने आये हैं।"

कुलपुत्रों ने मन में सोचा—महामन्त्री चतुर है। रथ पर न चढ़कर अश्व की वल्गा अपने हाथ में रक्खी है। विनय के साथ कुलपुत्रों ने दोनों अतिथियों को घोड़ों से उतरने में सहायता दी। दासों ने दोनों अश्वों को रथ के समीप पहुँचाया और वैशाली के उपराजा तथा मगध के महामन्त्री कुलपुत्रों के अतिथि हुए।

महामन्त्री गूढ़ राजनीतिज्ञ था। वह किसी विशेष सिद्धि के लिए वैशाली आया था। वह संस्थागार के राजकों की मनोवृति का गम्भीर अध्ययन कर रहा था। उनकी एक-एक बातों, आचारणों और विनयों को वह तीव्र दृष्टि से देखता। उसने पुछा—"कुलपुत्रों से मैं एक बात पूछूँ, यदि वे मुझे प्रसन्नता से ऐसी आज्ञा दें?"

अभिनन्द ने कहा—"अपने माननीय अतिथि को यदि हम लोग प्रसन्न कर सकें, तो अनुगृहीत होंगे।"

"वैशाली के 7707 राजकों में आप लोग भी हैं। फिर आपके उत्सव में वैराग्य क्यों? अन्य नागरिकों से आप लोगों का उत्सव विभिन्न क्यों है? आपकी गोष्ठी में ललनाएँ नहीं! वह उल्लास नहीं, परिहास नहीं, आनन्द-उमंग नहीं। सबसे दूर अलग, संगीत आपानक से शुन्य आपकी गोष्ठी विलक्षण है।"

अभयकुमार ने सोचा, कि कुलपुत्र इस प्रश्न को अपमान न समझ लें। कहीं कड़वा उत्तर न दे दें। उसने कहा—"महामन्त्री! यह जानकर प्रसन्न होंगे, कि वैशाली गणतन्त्र के कुलपूत्र अपनी विशेषताओं और व्यक्तित्व सदैव स्वतन्त्र रखते हैं।"

अभिनन्द ने कहा—"और भी एक बात है। हम लोग आठ स्वतन्त्र तीर्थंकरों

के अनुयायी हैं और परस्पर मित्र हैं। हम लोगों ने साधारण नागरिकों से असमान उत्सव मनाने का निश्चय किया था। मैं तो तीर्थंकर पूरण कश्यप के सिद्धान्त अक्रियवाद को मानता हूँ। यज्ञ आदि कर्मों में न पुण्य है, न पाप। मनुष्य को इन पचड़ों में न पड़ना चाहिए।"

दूसरे ने कहा—"आर्य, मेरा नाम सुभद्र है। मैं यह मानता हूँ, कि मृत्यु के साथ ही सब झगड़ों का अन्त हो जाता है।"

तीसरे ने कहा—"मेरा नाम वसन्तक है। मैं संजय वेलठिपुत्त का अनुयायी हूँ। जीवन में हम उन्हीं बातों को जानते हैं, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारे संवेदनों से है। हम किसी अनुभवातीत वस्तु को नहीं कर सकते।"

चौथे ने कहा—"मेरा नाम मणिकंठ है। मैं तीर्थंकर प्रबुध कात्यायन का अनुगत हूँ। मैं समझता हूँ कि मनुष्य कोई सुनिश्चित वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकता।"

पांचवें ने कहा—"मैं आनन्द हूँ, आर्य! तीर्थंकर मस्करी गोशाल के नियतिवाद में मेरा पूर्ण विश्वास है। मनुष्य में कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं। उसके लिए जो कुछ होना है वह होकर ही रहेगा। वह अपनी ही गति से गन्तव्य स्थान तक पहुँच जायगा।"

छठे ने कहा—"मैं तीर्थंकर नाथ-पुत्र का अन्तेवासी हूँ। मैं कहता हूँ, कि वस्तु है भी, नहीं भी है। दोनों हो सकती हैं।"

सातवें ने कहा—"मैं तीर्थंकर गौतम का अनुयायी सुमङ्गल हूँ, किसी वास्तविक सत्ता में विश्वास नहीं करता। आत्मन् जैसा कोई पदार्थ ही नहीं है।"

आठवें ने किंचित् मुस्कुराकर कहा—"आर्य! मैं मैत्रायण विदेहों के सुनिश्चित आत्मवाद का मानने वाला हूँ। ये जितनी भावनाएँ हैं, सबका उद्गम आत्मन् ही है।"

अभिनन्दन ने कहा—"तब हम लोगों की विलक्षणता पर महामन्त्री को आश्चर्य होना स्वाभाविक है।"

अभयकुमार कुछ प्रकृतिस्थ हो रहा था। उसने देखा कि महामन्त्री बड़े कुतूहल और मनोनिवेश से कुलपुत्रों का परिचय सुन रहा है। महामन्त्री ने कुछ व्यंग्य से कहा—"आश्चर्य है! मानवीय कुलपुत्रों ने अपने विभिन्न विचारों का परिचय देकर मुझे तो चकित कर दिया है। तब आप लोगों का कोई एक मन्तव्य नहीं हो सकता!"

"क्यों नहीं; वज्जियों का एक तो स्थिर सिद्धान्त है ही। अर्थात् हम लोग वज्जिसंघ के सदस्य हैं। राष्ट्रनीति में हम लोगों का मतभेद तीव्र नहीं होता।" कुलपुत्रों को चुप देखकर किसी ने साल के अन्तराल से सुकोमल कंठ से यह कहा और नदी की ओर चली गयी।

उन लोगों की आँखें उधर उस कहने वाले को खोज रही थीं कि सामने से कलश लिये हुए सालवती सदानीरा का जल भरने के लिए आती दिखलायी पड़ी।

मगध के महामन्त्री को उस रूप-लावण्यमयी युवती का यह उत्तर थप्पड़-सा लगा। उसने कहा—"अद्‌भुत।"

प्रसन्नता से महामन्त्री की विमूढ़ता का आनन्द लेते हुए अभयकुमार ने कहा —"आश्चर्य्य कैसा आर्य्य ?"

"ऐसा सौन्दर्य तो मगध में मैंने कोई देखा ही नहीं। वज्जियों का संघ सब विभूतियों से सम्पन्न है। अम्ब्रापाली, जिसके रूप पर हम लोगों को गर्व है, इस लावण्य के सामने तुच्छ है। और इसकी वाक्‌पटुता भी···!"

"किन्तु मैंने सुना है कि अम्बापाली वेश्या है। और यह तो ?" इतना कहकर अभयकुमार रुक-सा गया।

महामन्त्री ने गम्भीरता से कहा—"तब यह भी कोई कुलवधू होगी! मुझे क्षमा कीजिए।"

"यह तो पूछने से मालूम होगा!"

क्षण भर के लिए सब चुप हो गये थे। सालवती अपना पूर्ण घट लेकर करारे पर चढ़ रही थी। अभिनन्द ने कहा—"कल्याणी! हम लोग आपका परिचय पाने के लिए उत्सुक हैं!"

"स्वर्गीय कुलपुत्र आर्य्य धवलयश की दुहिता सालवती के परिचय में कोई विचित्रता नहीं है!" सालवती ने गम्भीरता से कहा—वह दुर्बल कटि पर पूर्ण कलश लिए कुछ रुक-सी गयी थी।

मैत्रायण ने कहा—"धन्य है कुलपुत्रों का वंश! आज हमलोगों का प्रतिनिधि बनकर जो उचित उत्तर आपने मगध के मानवीय महामन्त्री को दिया है, वह कुलीनता के अनुरूप ही है। हम लोगों का साधुवाद ग्रहण कीजिए!"

"क्या कहूँ आर्य्य! मैं उतनी सम्पन्न नहीं हूँ कि आप जैसे माननीय अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सकूँ। फिर भी जल-फल-फूल से मैं दरिद्र भी नहीं। मेरे साल-कानन में आने के लिए मैं आप लोगों का हार्दिक स्वागत करती हूँ। जो आज्ञा हो मैं सेवा करूँ।"

"शुभे, हम लोगों को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। हम लोग आपकी उदारता के लिए कृतज्ञ हैं।" अभिनन्द ने कहा।

"किन्तु मैं एक प्रार्थना करूँगा।" महामन्त्री ने सविनय कहा।

"आज्ञा दीजिए।"

"यदि आप अन्यथा न समझें।"

"कहिए भी।"

"अभिनन्द के हाथ में वीणा है। एक सुन्दर आलाप की पूर्ति कैसे होगी ?" धृष्ट महामन्त्री ने कहा।

"मुझे तो संगीत की वैसी शिक्षा नहीं मिली जिससे आप प्रसन्न होंगे। फिर भी कलश रखकर आती हूँ।" निस्संकोच भाव से कहकर सालवती चली गयी। सब चकित थे।

वेत से बुनी हुई डाली में थोड़े-से फल लिए सालवती आयी। और आसन के एक भाग में वह बैठ गयी। कुलपुत्रों ने फल चखे और थोड़ी मात्रा में आसव भी। अभिनन्द ने वीणा उठा ली। अभयकुमार प्यासी आँखों से उस सौन्दर्य को देख रहा था। सालवती ने अपने गोत्र की छाप से अंकित अपने पिता से सीखा पद मधुर स्वर से गाना आरम्भ किया। श्रोता मुग्ध थे। उस संगीत का विषय था—जंगल, उसमें विचरने की प्राकृतिक स्वतंत्रता। वह अकृत्रिम संगीत किसी डाल पर बैठी हुई कोकिल के गान से भी विलक्षण था। सब मुग्ध थे। संगीत समाप्त हुआ, किन्तु उसका स्वर मण्डल अभी उस प्रदेश को अपनी माया से आच्छन्न किये था। सालवती उठ खड़ी हुई। अभयकुमार ने एक क्षण में अपने गले से मुक्ता की एकावली निकाल कर अंजलि में ले ली और कहा—"देवि, यह उपहार है।" सालवती ने गम्भीर भाव से सिर झुकाकर कहा—"बड़ी कृपा है; किन्तु मैं किसी के अनुग्रह का दान नहीं ग्रहण करती।" और वह चली भी गयी।

सब लोगों ने आश्चर्य से एक-दूसरे को देखा।

3

अभयकुमार को उस रात्रि में निद्रा नहीं आयी। वह सालवती का चित्र अपनी पुतलियों पर बनाता रहा। प्रणय का जीवन अपने छोटे-छोटे क्षणों में भी बहुत दीर्घजीवी होता है। रात किसी तरह कटी। अभयकुमार वास्तव में कुमार था और था वैशाली का उपराजा। नगर के उत्सव का प्रबन्ध उसी के हाथ में था। दूसरा प्रभात अपनी तृष्णा में लाल हो रहा था। अभय के हृदय में निदारुण अपमान भी चुभ रहा था 'और चुभ रहा था उन दार्शनिक कुलपुत्रों का सव्यंग्य परिहास, जो सालवती के अनुग्रह न लेने पर उसकी स्वतन्त्रता की विजय समझ कर और भी तीव्र हो उठा था।

*   *   *

उन कुलपुत्रों की गोष्ठी उसी साल-कानन में जमी रही। अभी उन लोगों ने स्नान आदि से निवृत्त होकर भोजन भी नहीं किया था कि दूर से तूर्यनाद सुनाई पड़ा। साथ में एक राजपुरुष उच्च कण्ठ से पुकारता था—

"आज अनंग-पूजा के लिए वज्जियों के संघ में से सबसे सुन्दरी कुमारी चुनी

जायगी। जिसको चुनाव में आना हो, संस्थागार में एक प्रहर के भीतर आ जाय।"

अभिनन्द उछल पड़ा। उसने कहा—"मैत्रायण! सालवती को लिवा ले चलना चाहिए। ऐसा न हो कि वैशाली के सबसे उत्तम सौन्दर्य का अपमान हो जाय।"

"किन्तु वह अभिमानिनी चलेगी?"

"यही तो विकट प्रश्न है।"

"हम सब चलकर प्रार्थना करें।"

"तो चलो।"

सब अपना दुकूल सँभालते हुए सालवती की झोंपड़ी की ओर चल पड़े। सालवती अपना नियमित भोज्य चावल बना रही थी। उसके पास थोड़ा दूध और फल रक्खा था। उसने इन लोगों को आते देखकर सहज प्रसन्नता से मुसकराकर कहा "स्वागत! माननीय कुलपुत्रों को आतिथ्य ग्रहण करने के लिए मैं निमन्त्रित करती हूँ।" उसने एक शुभ्र कम्बल बिछा दिया।

युवकों ने बैठते हुए कहा—

"किन्तु हम लोग भी एक निमन्त्रण देने आये हैं।"

सालवती कुछ सोचने लगी।

"हम लोगों की प्रार्थना अनुचित न होगी।" आनन्द ने कहा।

"कहिए।"

"वैशाली के नागरिकों ने एक नया निर्णय लिया है—कि इस बार वसन्तोत्सव की अनंगपूजा वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के हाथों से करायी जाय। इसके लिए संस्थागार में चुनाव होगा।"

"तो इसमें क्या मैं परिवर्तन कर सकती हूँ?" सालवती ने सरलता से पूछा।

"नहीं शुभे! आपको भी इसमें भाग लेना होगा। हम लोग आपको संस्थागार में ले चलेंगे, और पूर्ण विश्वास है कि हम लोगों का पक्ष विजयी होगा।"

"किन्तु क्या आप लोगों का यह मुझ पर अनुग्रह न होगा, जिसे मैं कदापि न ग्रहण करूँगी।"

"नहीं भद्रे! यदि मेरे प्रस्ताव को बहुमत मिला, तो क्या हम लोगों की विजय न होगी, और तब क्या हमीं लोग आपके अनुगृहीत न होंगे?"

सालवती कुछ चुप-सी हो गयी।

मैत्रायण ने फिर कहा—"विचारों की स्वतन्त्रता इसी में है कि वे स्पष्ट रूप से प्रचारित किये जायँ, न कि वे सत्य होते हुए भी दबा दिये जायँ।"

सालवती इस सम्मान से अपने हृदय को अछूता न रख सकी। स्त्री के लिए उसके सौन्दर्य की प्रशंसा! कितनी बड़ी विजय है। उसने व्रीड़ा से कहा—"तो क्या मुझे चलना ही होगा?"

"यह हम लोगों के लिए अत्यन्त प्रिय—सन्देश है। आनन्द, तुम रथों को यहीं ले आओ, और मैं समझता हूँ कि सौन्दर्य-लक्ष्मी तुम्हारे रथ पर ही चलेंगी। तुम होगे उस रथ के सारथि।"

आनन्द सुनते ही उछल पड़ा। उसने कहा—"एक बात और भी···"

सालवती ने प्रश्न करने वाली आँखों से देखा!

आनन्द ने कहा—"सौन्दर्य्य का प्रसाधन!"

"मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं यों ही चलूँगी। और कुलपुत्रों के निर्णय की मैं भी परीक्षा करूँगी। कहीं वे भ्रम में तो नहीं हैं।"

थोड़ा जलपान करके सब लोग प्रस्तुत हो गये। तब सालवती ने कहा—"आप लोग चलें, मैं अभी आती हूँ।"

कुलपुत्र चले गये।

सालवती ने एक नवीन कौशेय पहना, जूड़े में फूलों की माला लगायी और रथ के समीप जा पहुँची।

सारथी को हटाकर आनन्द अपना रथ स्वयं हाँकने लगा। उस पर बैठी थी सालवती। पीछे उसके कुलपुत्रों के सात रथ थे। जब वे संस्थागार के राजपथ पर अग्रसर हो रहे थे तब भीड़ में आनन्द और आश्चर्य के शब्द सुनाई पड़े, सुन्दरियों का मुख अवनत हुआ। इन कुलपुत्रों को देखकर राजा ने पूछा—"मेरे माननीय दार्शनिक कुलपुत्रों ने यह रत्न कहाँ पाया?"

"कल्याणी सालवती कुलपुत्र धवलयश की एकमात्र दुहिता हैं।"

"मुझे आश्चर्य है कि किसी कुलपुत्र ने अब तक इस कन्यारत्न के परिणय की प्रार्थना क्यों नहीं की? अच्छा तो क्या मत लेने की आवश्यकता है?" राजा ने गम्भीर स्वर से पूछा!

"नहीं, नहीं, सालवती वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ कुमारी सुन्दरी है।" जनता का तुमुल शब्द सुनाई पड़ा।

राजा ने तीन बार इसी तरह प्रश्न किया। सबका उत्तर वही था। सालवती निर्विवाद विजयिनी हुई। तब अभयकुमार के संकेत पर पचीसों दास, थालों में रत्नों के अलंकार, काशी के बहुमूल्य कौशेय, अगंराग, ताम्बूल और कुसुम-मालिकाएँ लेकर उपस्थित हुए।

अभयकुमार ने खड़े होकर संघ से प्रार्थना की—"मैं इस कुलकुमारी के पाणिपीड़न का प्रार्थी हूँ। कन्या के पिता नहीं हैं, इसलिए संघ मुझे अनुमति प्रदान करे।"

सालवती के मुंह पर भय और रोष की रेखाएँ नाचने लगीं। वह प्रतिवाद करने जा रही थी कि मगध के महामन्त्री के समीप बैठा हुआ मणिधर उठ खड़ा हुआ। उसने तीव्र कंठ से कहा—"मेरी एक विज्ञप्ति है, यदि संघ प्रसन्नता से सुने।" यह अभय का प्रतिद्वन्द्वी सेनापति मणिधर उपराजा बनने का इच्छुक था। सब लोग किसी आशंका से उसी ओर देखने लगे।

राजा से बोलने की आज्ञा पाकर उसने कहा—"आज तक हम लोग कुलपुत्रों की समता का स्वप्न देखते हैं। उनके अधिकार ने, सम्पत्ति और स्वार्थों की समानता की रक्षा की है। तब क्या उचित होगा कि यह सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य किसी के अधिकार में दे दिया जाय? मैं चाहता हूँ कि राष्ट्र ऐसी सुन्दरी को स्वतंत्र रहने दे और वह अनंग की पुजारिन अपनी इच्छा से अपनी एक रात्रि की दक्षिणा 100 स्वर्ण-मुद्राएँ लिया करे।"

सालवती विपत्ति में पड़ गयी। उसने अपने दार्शनिक कुलपुत्रों की ओर रक्षा पाने के विचार से देखा। किन्तु उन लोगों ने घटना के इस आकस्मिक परिवर्तन को सोचा भी न था। इधर समानता का सिद्धान्त! संस्थागार में हलचल मच गयी। राजा ने इस विज्ञप्ति पर मत लेना आवश्यक समझा। शलाकायें बटीं। गणपूरक अपने कार्य में लगा। और सालवती प्रार्थना करने जा रही कि "मुझे इस उपद्रव से छुट्टी मिले।"

किन्तु समानता और प्रजातंत्र के सिद्धान्तों की लगन! कौन सुनता है किसकी? उधर एक व्यक्ति ने कहा—"हम लोग भी अम्बपाली के समान ही क्या वज्जिराष्ट्र में एक सौन्दर्य-प्रतिमा नहीं स्थापित कर सकते, जिसने अन्य देशों का धन इस राष्ट्र में आवे। अभयकुमार हतबुद्धि-सा क्षोभ और रोष से काँप रहा था।

उसने तीव्र दृष्टि से मगध के महामंत्री की ओर देखा। मंत्री ने मुस्करा दिया। गणपूरक ने विज्ञप्ति के पक्ष में बहुमत की घोषणा की। राजा ने विज्ञप्ति पर स्वीकृति दी।

जब मत लिया जा रहा था, तब सालवती के मन की अवस्था बड़ी विचित्र हो रही थी। कभी तो वह सोचती थी—"पिता हिरण्य के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार के प्रभु हैं—स्वतंत्रता का बीज है। वही 100 स्वर्ण-मुद्राएँ उसकी दक्षिणा हैं और अनुग्रह करेगी वही। तिस पर इतनी संवर्धना! इतना आदर? दूसरे क्षण उसके मन में यह बात खटकने लगी कि वह कितनी दयनीया है, कुलवधू का अधिकार उसके हाथ से छीन लिया गया और उसने ही तो अभय का अपमान किया था। किसलिए? अनुग्रह न लेने का अभिमान! तो क्या मनुष्य को प्रायः वही करना पड़ता है, जिसे वह नहीं चाहता। उसी ने मगध के महामंत्री के सामने प्रजातन्त्र का उत्कर्ष बताया था। वही एकराज मगध का प्रतिनिधि यहाँ बैठा

है ! तब बहुमत की जय हो । वह विरोध करना चाहती थी, परन्तु कर न सकी ।

उसने आनन्द के नियतिवाद का एक बार मन में स्मरण किया, और गन्तव्य पथ पर वेग से चली ।

तब सालवती को घेर कर कुलपुत्रों ने आनन्द से उसका जयघोष किया । देखते-देखते सालवती के चरणों में उपहार के ढेर लग गये । वह रथ पर अनङ्ग-पूजा के स्थान पर चली—ठीक जैसे अपराधी वध्यस्थल की ओर ! उसके पीछे सहस्रों रथों और घोड़ों पर कुलपुत्र, फिर जनःस्रोत । सब आज अपने गणतन्त्र के सिद्धान्त की विजय पर उन्मत्त थे ।

अभयकुमार जड़-सा वहीं खड़ा रहा । जब संस्थागार से निकलने के लिए मंत्री उसके पास आया, तब अभय का हाथ दबा कर उसने कहा—"उपराजा प्रसन्न हों···"

"महामन्त्री ! तुम्हारी कूटनीति सफल हुई ।"—कहकर अभय ने क्षोभ से उसकी ओर देखा ।

"आप लोगों का राष्ट्र सचमुच स्वतन्त्रता और समानता का उपासक है । मैं साधुवाद देता हूँ ।"

दोनों अपने रथों पर चढ़कर चले गये ।

4

सालवती, वैशाली की अप्सरा सालवती, अपने विभव और सौन्दर्य में अद्वितीय थी । उसके प्रमुख उपासक थे वैशाली के सेनापति मणिधर । सम्पत्ति का स्रोत उस सौन्दर्य-सरोवर में आकर भर रहा था । वहाँ अनेक कुलपुत्र आये, नहीं आया तो एक अभयकुमार ।

और सालवती का मान जैसे अभयकुमार को पदावनत किये बिना कुचला जा रहा था । वह उस दिन की एकावली पर आज अपना पूरा अधिकार समझती थी, किन्तु वह अब कहाँ मिलने की ।

उसका हृदय तीव्र भावों से भर गया था । आज वह चितामग्न थी । मगध का युद्ध वैशाली में भयानक समाचार भेज रहा था । मगध की पूर्ण विजय के साथ यह भी समाचार मिला कि सेनापति मणिधर उस युद्ध में मारे गये । वैशाली में रोष और उत्साह छा गया । नयी सेना का संचालन करने के लिए आज संस्थागार में चुनाव होने वाला है । नगर की मुख्य महिलाएँ, कुमारियाँ उस सेनापति का अभिनन्दन करने के लिए पुष्परथों पर चढ़कर चली आ रही हैं । उसे भी जाना चाहिए, क्या मणिधर के लिए दुखी होना मानसिक परतंत्रता का चिन्ह है, जिसे वह कभी स्वीकार न करेगी । वह भी उठी । आज उसके शृंगार का क्या कहना

है ! जिसके अभिमान पर वह जी रही थी, वही उसका सौन्दर्य कितने आदर और प्रदर्शन की वस्तु है। उसे सब प्रकार से सजाकर मणियों की झिलमिल में पुष्पों से सजे हुए रथ पर चढ़कर सालवती संस्थागार की ओर चली। कुछ मनचले नवयुवकों का जयघोष विरोध के स्वर में लुप्त हो गया। वह पीली पड़ गयी।

साधारण नागरिकों ने चिल्लाकर कहा—"इसी के संसर्ग-दोष से सेनापति मणिधर की पराजय हुई।"

एक ने कहा—"यह मणिधर की काल-भुजंगिनी है।" दूसरे ने कहा—"यह वैशाली का अभिशाप है।" तीसरे ने कहा—"यह विचार-स्वातन्त्र्य के समुद्र का हलाहल है।" सालवती ने सारथी से कहा—"रथ फेर दो।" किन्तु दूसरी ओर से अपार जनसमूह आ रहा था। बाध्य होकर सालवती को राजपथ में एक ओर रुकना पड़ा।

तूर्यनाद समीप आ रहा था। सैनिकों के शिरस्त्राण और भाले चमकने लगे। भालों के फलक उन्नत थे। और उनसे भी उन्नत थे उन वीरों के मस्तक, जो स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण देने जा रहे थे। उस वीर-वाहिनी में सिन्धुदेश के शुभ्र अश्वराज पर अभयकुमार आरूढ़ था। उसके मस्तक पर सेनापति का स्वर्णपट्ट सुशोभित था। दाहिनी भुजा उठी थी, जिसमें नग्न खग सारी जनता को अभिवादन कर रहा था। और वीरों को रण-निमन्त्रण दे रही थी उसके मुख पर की सहज मुसकान।

फूलों की वर्षा हो रही थी। "वज्जियों की जय" के रणनाद से वायुमण्डल गूंज रहा था। उस वीरश्री को देखने, उसका आदर करने के लिए कौन नहीं उत्सुक था। सालवती भी अपने रथ पर खड़ी हो गयी थी। उसने भी एक सुरचित माला लक्ष्य साधकर फेंकी और वह उस खंग से जाकर लिपट गयी।

जनता तो भावोन्माद की अमुचरी है। सैंकड़ों कण्ठ से 'साधु' की ध्वनि निकली। अभय ने फेंकने वाली को देखा। दोनों के नेत्र मिले। सालवती की आँखें नीची हो रहीं। और अभय ! तन्द्रालस-जैसा हो गया, निश्चेष्ट। उसकी तन्द्रा तब टूटी जब नवीन अश्वारोहियों का दल चतुष्पथ पर उसके स्वागत पर वीर गर्जन कर उठा। अभयकुमार ने देखा, वे आठों दार्शनिक कुलपुत्र एक-एक गुल्म के नायक हैं, उसका मन उत्साह से भर उठा। उसने क्षणभर में निश्चय किया कि जिस देश के दार्शनिक भी अस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, वह पराजित नहीं होगा।

अभयकुमार ने उच्च कंठ से कहा—"कुलपुत्रों की जय !"

"सेनापति अभयकुमार की जय !"—कुलपुत्रों ने प्रत्युत्तर दिया।

"वज्जियों की जय !"—जनता ने जयनाद किया।

वीर-सेना युद्ध-क्षेत्र की ओर चली और सालवती दीन-मलिन अपने उपवन

को लौटी। उसने सब शृंगार उतार कर फेंक दिये। आज वह सबसे अधिक तिरस्कृत थी। वह धरणी में लोटने लगी। वसुधा पर सुकुमार यौवनलता-सी वह जैसे निरवलम्ब पड़ी थी।

आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचन है। यह मुग्धा विलासिनी, अभी-अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या, माया सारहीन समझ कर आयी थी। वह अपने सुवासित अलकों को बिखराकर उसी में अपना मुंह छिपाये पड़ी थी। नीला उसकी मुँहलगी दासी थी। और वास्तव में सालवती को प्यार करती थी। उसने पास में बैठ कर धीरे-धीरे उसके बालों को हटाया, आँसू पोंछे, गोद में सिर रख लिया। सालवती ने प्रलय-भरी आँखों से उसकी ओर देखा नीला ने मधुर स्वर से कहा—"स्वालिनी! यह शोक क्यों?"

सालवती चुप रही।

"स्वामिनी! शय्या पर चलो। इससे तो और भी कष्ट बढ़ने की सम्भावना है।"

"कष्ट! नीले! मुझे सुख ही कब मिला था?"

"किन्तु आपके शरीर के भीतर एक अन्य प्राणी की जो सृष्टि हो रही है, उसे तो सँभालना ही होगा।"

सालवती जैसे नक्षत्र की तरह आकाश से गिर पड़ी। उसने कहा—"कहती क्या है?"

नीला हँसकर बोली—"स्वामिनी! अभी आपको अनुभव नहीं है। मैं जानती हूँ। यह मेरा मिथ्या प्रलोभन नहीं।"

सालवती सब तरह से लुट गयी। नीला ने उसे शैय्या पर लिटा दिया। उसने कहा—"नीले! आज से मेरे सामने कोई न आवे, मैं किसी को मुंह नहीं दिखाना चाहती। बस, केवल तुम मेरे पास बनी रहो।"

सुकोमल शय्या पर सालवती ने करवट ली। सहसा उसके सामने मणिधर का वह पत्र आया, जिसे उसने रणक्षेत्र से भेजा था। उसने उठाकर पढ़ना आरम्भ किया; "वैशाली की सौन्दर्य-लक्ष्मी!" वह रुक गयी। सोचने लगी। मणिधर कितना मिथ्यावादी था। उसने एक कल्पित सत्य को साकार बना दिया। वैशाली में जो कभी न था, उसने मुझे वही रूपाजीवा बनाकर क्या राष्ट्र का अनिष्ट नहीं किया! ···अवश्य···देखो आगे लिखता है—"मेरा मन युद्ध में नहीं लगता है।" लगता कैसे? रूप-ज्वाला के शुलभ! तुझे तो जल-मरना था। तो उसे अपराध का दण्ड मिला। और स्वतन्त्रता के नाम जो भ्रम का सृजन कर रही थी, उसका क्या हुआ! मैं सालवन की विहंगिनी! आज मेरा सौन्दर्य कहाँ है? और फिर प्रसव के बाद क्या होगा?

वह रोती रही।

सालवती के जीवन में रुदन का राज्य था। जितना ही वह अपनी स्वतन्त्रता पर पहले सहसा प्रसन्न हो रही थी, उतना ही उस मानिनी का जीवन दुःखपूर्ण हो गया।

वह गर्भवती थी।

उपवन से बाहर न निकलती थी और न कोई भीतर आने पाता। सालवती ने अपने को बन्दी बना लिया।

कई महीने बीत गये। फिर से मधुमास आया। पर सालवती का वसन्त जैसे सदा के लिए चला गया था। उसने उपवन की प्राचीर में से सुना जैसे कोई तूर्य-नाद के साथ पुकार रहा है : "वज्जियों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अनंग पूजा···" आगे वह कुछ न सुन सकी। वह रोष से मूर्छित थी। विषाद से उसकी प्रसव-पीड़ा भयानक हो रही थी। नीला ने उपचार किया। वैद्य के प्रयत्न से उस रात्रि में सालवती को एक सुन्दर सी सन्तान हुई।

सालवती ने अपने यौवन-वन के कुठार को देखा। द्वन्द्व से वह तड़सने लगी, मोह को मानने पराजित किया। उसने कोमल फूलों की टोकरी में अच्छे वस्त्रों में लपेट कर उस सुकुमार शिशु को एक ओर गोधूलि की शीतल छाया में रखवा दिया। वैद्य का मुँह सोने से बन्द कर दिया गया।

उसी दिन सालवती अपने सुविशाल भवन में लौट आयी।

और उसी दिन अभयकुमार विजयी होकर अपने पथ से लौट रहा था। तब उसे एक सुन्दर शिशु मिला। अभय उसे अपने साथ ले आया।

प्रतियोगिता का दिन था। सालवती का सौन्दर्य-दर्प जागरूक हो गया था। उसने द्राक्षासव का घूंट लेकर मुकुर में अपनी प्रतिच्छाया देखी। उसको जैसे अकारण सन्देह हुआ कि उसकी फूलों की ऋतु बीत चली है। वह अपने से भय-भीत होकर बैठ रही।

वैशाली विजय का उत्सव मना रही थी। उधर वसन्त का भी समारोह था। सालवती को सब लोग भूल गये। और अभयकुमार! वह कदाचित नहीं भूला— कुछ-कुछ क्रोध से, कुछ विषाद से, और कुछ स्नेह से। संस्थागार में चुनाव की भीड़ थी। उसमें जो सुन्दरी चुनी गयी, वह निर्विवाद नहीं चुनी जा सकी। अभयकुमार ने विरोध किया। आठों कुलपुत्रों ने उसका साथ देते हुए कहा— "जो अनुपम सौंदर्य नहीं, उसे वेश्या बनाना सौन्दर्य-बोध का अपमान करना है।" किन्तु बहुमत का शासन! चुनाव हो ही गया। वैशाली को अब वेश्याओं की अधिक आवश्यकता थी।

सालवती ने सब समाचार अपनी शय्या पर लेटे-लेटे सुना। वह हँस पड़ी। उसने नीला से कहा—"नीले! मेरे स्वर्ण-भण्डार में कमी तो नहीं है?"

"नहीं स्वामिनी !"

"इसका ध्यान रखना ! मुझे आर्थिक परतन्त्रता न भोगनी पड़े ।"

"इसकी संभावना नहीं । आप निश्चिन्त रहें ।"

किन्तु सालवती ! हाँ, वह स्वतन्त्र थी, एक कंगाल की तरह, जिसके पास कोई अधिकार, नियन्त्रण, अपने पर भी नहीं—दूसरे पर भी नहीं। ऐसे आठ वसन्त बीत गये ।

5

अभयकुमार अपने उद्यान में बैठा था। एक शुभ्र शिला पर उसकी वीणा रक्खी थी । दो दास उसके सुगठित शरीर में सुगंधित तेल मर्दन कर रहे थे। सामने मंच पर एक सुन्दर बालक अपनी क्रीड़ा-सामग्री लिये व्यस्त था। अभय अपनी बनाई हुई कविता गुनगुना रहा था। वह बालक की अकृत्रिम हँसी पर लिखी गयी थी। अभय के हृदय का समस्त संचित स्नेह उसी बालक में केन्द्रीभूत था। अभय ने पूछा---"आयुष्मान विजय ! तुम भी आज मल्ल-शाला में चलोगे न !"

बालक क्रीड़ा छोड़कर उठ खड़ा हुआ, जैसे वह सचमुच किसी से मल्लयुद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो । उसने कहा—"चलूँगा और लड़ूँगा भी ।"

अभय ठठाकर हँस पड़ा। बालक कुछ संकुचित हो गया। फिर सहसा अभय को स्मरण हो गया कि उसे और भी कई काम हैं। वह स्नान के लिए उठने लगा कि संस्थागार की सन्निपात भेरी बज उठी। एक बार तो उसने कान खड़े किये; पर फिर अपने में लीन हो गया। मगध-युद्ध के बाद उसने किसी विशेष पद के लिए कभी अपने को उपस्थित नहीं किया। वह जैसे वैशाली के शासन में भाग लेने से उदासीन हो रहा था ! स्वास्थ्य का बहाना करके उसने अवसर ग्रहण किया। उसके मगध-युद्ध के सहायक आठों दार्शनिक कुलपुत्र उसके अभिन्न मित्र थे। वे भी अविवाहित थे। अभयकुमार की गोष्ठी बिदा सुन्दरियों की जमात थी। वे भी आ गये। इन सबों के बलिष्ठ शरीरों पर मगध-युद्ध के वीर-चिह्न अंकित थे।

अभिनन्द ने पूछा—"आज संस्थागार में हम लोग चलेंगे कि नहीं ?"

अभय ने कहा—"मुझे तो मल्लशाला का निमन्त्रण है।"

अभिनन्द ने कहा—"तो सचमुच हम लोग वैशाली के शासन से उदासीन हो गये हैं क्या ?"

सब चुप हो गये। सुभद्र ने कहा—"अन्त में व्यवहार की दृष्टि से हम लोग पक्के नियतिवादी ही रहे। जो कुछ होना है, वह होने दिया जा रहा है।"

आनन्द हँस पड़ा। मणिकण्ठ ने कहा—"नहीं, हँसने से काम न चलेगा।

आज जब उपवन से आ रहा था तब मैंने देखा कि सालवती के तोरण पर बड़ी भीड़ है। पूछने से मालूम हुआ कि आठ बरस के दीर्घ एकांतवास के सौन्दर्य के चुनाव में भाग लेने के लिए सालवती बाहर आ रही है। मैं क्षण-भर रुका रहा। वह अपने पुष्परथ पर निकली। नागरिकों की भीड़ थी। कुलवधुओं का रथ रुक रहा था। उनमें कई तेजस्विनी महिलाएं थीं, जिनकी गोद में बच्चे थे। उन्होंने तीव्र स्वर में कहा—'यही पिशाचिनी हम लोगों के बच्चों से उनके पिताओं को, स्त्रियों से अपने पतियों को छीननेवाली है।' वह एक क्षण खड़ी रही। उसने कहा—'देवियो ! आठ बरस के बाद वैशाली के राजपथ पर दिखलाई पड़ी हूँ। इन दिनों मैंने किसी पुरुष का मुँह भी नहीं देखा। मुझे आप लोग क्यों कोस रही हैं !' वे बोलीं—'तूने वेश्यावृत्ति के पाप का आविष्कार किया है। तू कुलपुत्रों के वन की दावाग्नि की प्रथम चिनगारी है। तेरा मुँह देखने से भी पाप है ! राष्ट्र के इन अनाथ पुत्रों की ओर देख ! पिशाचिनी !' कई ने बच्चों को अपनी गोद से ऊँचा कर दिया। सालवती ने उन बालकों की ओर देखकर रो दिया।"

"रो दिया ?"—अभिनन्द ने पूछा।

"हाँ-हाँ, रो दिया और उसने कहा—"देवियो ! मुझे क्षमा करें। मैं प्रायश्चित करूँगी।" उसने अपना रथ बढ़वा दिया। मैं इधर चला आया; किन्तु कुलपुत्रों से मैं सत्य कहता हूँ कि सालवती आज भी सुन्दरियों की रानी है।"

अभयकुमार चुपचाप विजय को देख रहा था। उसने कहा—"तो क्या हम लोग चलेंगे ?"

"हाँ-हाँ—"

अभय ने दृढ़ स्वर में पूछा—"और आवश्यकता होगी तो सब प्रकार से प्रतिकार करने में पीछे न हटेंगे।"

"हाँ, न हटेंगे !"—दृढ़ता से कुलपुत्रों ने कहा।

"तो मैं स्नान करके अभी चला।"—रथों को प्रस्तुत होने के लिए कह दिया जाय।

जब अभय स्नान कर रहा था, तब कुलपुत्रों ने कहा—"आज अभय कुछ अद्भुत काम करेगा ?"

आनन्द ने कहा—"जो होना होगा, वह तो होगा ही। इतनी घबराहट से क्या ?"

अभय शीघ्र स्नानागार से लौट आया। उसने विजय को भी अपने रथ पर बिठाया।

कुलपुत्रों के नौ रथ संस्थागार की ओर चले। अभय के मुख पर गम्भीर चिन्ता थी और दुर्दमनीय दृढ़ता थी।

सिंहद्वार पर साधारण जनता की भीड़ थी और विशाल प्रांगल में कुलपुत्रों की और महिलाओं की। आज सौन्दर्य प्रतियोगिता थी। रूप की हाट सजी थी। आठ भिन्न आसनों पर वैशाली की वेश्याएँ भी बैठी थीं। नवा आसन सूना था। अभी तक नई प्रार्थिनी-सुन्दरियों में उत्साह था; किन्तु सालवती के आते ही जैसे नक्षत्रों का प्रकाश मन्द हो गया। पूर्ण चन्द्रोदय था। सालवती आज अपने सम्पूर्ण सौंदर्य में यौवनवती थी। सुन्दरियाँ हताश हो रही थीं। कर्मचारी ने प्रतियोगिता के लिए नाम पूछा। किसी ने नहीं बताया।

उसी समय कुलपुत्रों के साथ अभय ने प्रवेश किया। मगध-युद्ध विजेता का जय-जयकार हुआ। सालवती का हृदय काँप उठा। न जाने क्यों वह अभय से डरती थी। फिर भी वह अपने को संभाल कर अभय का स्वागत किया। युवक सौन्दर्य के चुनाव के लिए उत्कण्ठित थे। कोई कहता था—"आज होना असम्भव है।" कोई कहता—"नहीं आज सालवती के सामने इसका निर्णय होगा।" परन्तु कोई सुन्दरी अपना काम नहीं देना चाहती थी। सालवती ने विजय से मुस्करा दिया।

उसने खड़ी होकर विनीत स्वर से कहा—"यदि माननीय संघ को अवसर हो, वह मेरी विज्ञप्ति सुनना चाहे, तो मैं निवेदन करूँ।"

संस्थागार में सन्नाटा था।

उसने प्रतिज्ञा उपस्थित की।

"यदि संघ प्रसन्न हो, तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि "आज से कोई स्त्री वैशाली-राष्ट्र में वेश्या न होगी।"

कोलाहल मचा!

"और तुम अपने सिंहासन पर अचल बनी रहो। कुलवधुओं के सौभाग्य का अपहरण किया करो।"—महिलाओं के तिरस्कारपूर्ण शब्द अलिन्द से सुनाई पड़े!

"धैर्य धारण करो देवियो! हाँ, तो—इस पर संघ क्या आज्ञा देता है?"—सालवती ने साहस के साथ तीखे स्वर में कहा।

अभय ने प्रश्न किया—"क्या जो वेश्याएँ हैं, वे वैशाली में बनी रहेंगी? और क्या इस बार भी सौन्दर्य प्रतियोगिता में तुम अपने को विजयिनी नहीं समझती हो?"

"मुझे निर्वासन मिले—कारागार में रहना पड़े। जो भी संघ की आज्ञा हो, किन्तु अकल्याणकर और पराजय का मूल इस भयानक नियम को जो अभी थोड़े दिनों से वज्जिसंघ ने प्रचलित किया है, बन्द करना चाहिए।"

एक कुलपुत्र ने गम्भीर स्वर से कहा—"क्या राष्ट्र की आज्ञा से जिन स्त्रियों ने अपना सर्वस्व उसकी इच्छा पर लुटा दिया, उन्हें राष्ट्र निर्वासित करेगा, दण्ड देगा ? गणतन्त्र का यह पतन !"

एक ओर कोलाहल मचा—"ऐसा न होना चाहिए।"

"फिर इन लोगों का भाग्य किस संकेत पर चलेगा ?"—राजा ने गम्भीर स्वर में पूछा। "इनका कौमार्य, शील और सदाचार खण्डित है। इनके लिए राष्ट्र क्या व्यवस्था करता है ?"

"संघ यदि प्रसन्न हो उसे अवसर हो, तो मैं कुछ निवेदन करूँ।"—आनन्द ने मुस्कराते हुए कहा।

राजा का संकेत पाकर उसने फिर कहा—"हम आठ मगध-युद्ध के खण्डित शरीर विलांग कुलपुत्र हैं। और ये शील खण्डिता आठ नई अनंग की पुजारिनें हैं।"

कुछ लोग हँसने की चेष्टा करते हुए दिखाई पड़े। कर्मचारियों ने तूर्य बजाकर शान्त रहने के लिए कहा।

राजा-उपराजा-सेनापति-मन्त्रधर-सूत्रधर-अमात्य व्यावहारिक और कुलिकों ने इस जटिल प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना आरम्भ किया। संस्थागार मौन था।

कुछ काल के बाद सूत्रधर ने पूछा—"तो क्या आठों कुलपुत्रों ने निश्चय कर लिया है ? इन वेश्याओं को वे लोग पत्नी की तरह ग्रहण करेंगे ?"

अभय ने उनकी ओर संभ्रम देखा। वे उठ खड़े हुए। एक साथ स्पष्ट स्वर में उन लोगों ने कहा—"हाँ, यदि संघ वैसी आज्ञा देने की कृपा करें।"

'संघ मौन है; इसलिए मैं समझता हूँ उसे स्वीकार है।'—राजा ने कहा।

"सालवती ! सालवती !!" की पुकार उठी। वे आठों अभिनन्द आदि के पार्श्व में आकर खड़ी हो गई थीं; किन्तु सालवती अपने स्थान पर पाषणी प्रतिमा खड़ी थी। यही अवसर था, जब नौ बरस पहले उसने अभयकुमार का प्रत्याख्यान किया था। पृथ्वी ने उसके पैर पकड़ लिए थे, वायुमण्डल जड़ था, वह निर्जीव थी।

सहसा अभयकुमार ने विजय को अपनी गोद में उठाकर कहा—"मुझे पत्नी तो नहीं चाहिए। हाँ, इस बालक की माँ को खोज रहा हूँ, जिसको प्रसव-रात्रि में ही उसकी मानिनी माँ ने लज्जा पिण्ड की तरह अपनी सौंदर्य की रक्षा के लिए फेंक दिया था। उस चतुर वैद्य ने इसकी दक्षिण भुजा पर एक अमिट चिन्ह

अंकित कर दिया है। उसे यदि कोई पहचान सके, तो वह इसे अपनी गोद में ले।"

सालवती पागलों की तरह झपटी। उसने चिन्ह देखा। और देखा उस सुन्दर मुख को। वह अभय के चरणों में गिरकर बोली—"यह मेरा है देव। क्या तुम भी मेरे होगे? अभय ने उसका हाथ पकड़ कर उठा लिया।"

जयनाद से संस्थागार मुखरित हो रहा था।

□□

चित्राधार

उर्वशी

विलसत सान्ध्य दिवाकर की किरनैं माला सीं।
प्रकृति गले में जो खेलति है बनमाला सी ।।
तुंग लसैं गिरिश्रृंग भर्‌यो कानन तरुगन ते।
जिनके भुज मैं अरुझि पवनहू चलत जतन ते।।
निर्भय औ स्वच्छन्द जहाँ पै खग मृग डोलत।
करि नाना विधि खेल मेल मनमाने बोलत।।
कल-कल-नादिनि स्वच्छ सुधा सरिताहू सोहै।
गिरि के गरै लगी सी जो अति मन को मोहै।।
बरसत अमित अमन्द अनल सुखमा चहु ओरैं।
विकसत कुसुमन चितै तितै मधुकर गन दौरैं।।
कहूँ निकुञ्जन में कूजत कोकिल कलबानी।
पपिहा करत पुकार काहु को आगम जानी।।
कहूँ लोल लतिका पर निरतत मधुकरगन जुरि।
मञ्जु मञ्जरी ते बरसत मकरन्द गन्ध भरि।।
मलयानिल लहि नव मल्लिका परागहि सुख सों
बहत सदा आमोद सहित वा बन के रुख सों ।।

ऐसे रमणीक उद्यान-प्रदेश के घने कानन में एक छोटी-सी पहाड़ी पर खड़ा एक तेजस्वी युवक वनस्थली की सान्ध्य शोभा देख रहा है। सूर्य की सुनहली किरणें उसके मणि-मण्डित किरीट और स्वर्ण कवच पर रह-रह कर चमक उठती हैं। मृगया से थके हुए युवक को, चीड़ के बड़े वृक्षों की घनी छाया में आये अभी देर नहीं हुई है। उसके काले बालों के लच्छे अभी श्रमबिन्दु बहा रहे हैं। युवक बार-बार बालों को विशाल भाल से हटाता हुआ श्रमबिन्दु पोंछ रहा है। ढीली प्रत्यञ्चा करके धनुष को एक वृक्ष से टिका दिया है। थोड़ी दूर पर एक प्रकाण्ड अश्व हरी-हरी दूब चर रहा है। अकस्मात् रमणी-कण्ठ की क्रन्दन-ध्वनि सुन पड़ी। सुनते ही आर्त्त-त्राण-परायण आर्य युवक का हृदय वेग से भर उठा। युवक उसी शब्द की ओर चलते हुए बोला—'सुग्रीव'। संकेत सुनते ही अश्व भी पीछे चला।

कुछ दूर जाने पर देखा, झरने के किनारे एक सुन्दरी—

धरि कोमल कर कमल मुख, पग जल बीच ललाम ।
थल जल कमल इकत्र करि, बैठी शोभा धाम ।।
नैन भरे मद कै लसैं प्याले मधु परिपूर ।
गन्ध विधुर अलि पूतरी, मनहुँ नसे में चूर ।।
सरद चन्द की चाँदनी, सौरभ और सुहाग ।
मेलि बनायो अंग को, नव अरविन्द पराग ।।
सोधें सरोज की माल सी चारु अनंग भरे अंग हैं अरसोहैं ।
डोल कपोलन पै अरुनाई अमन्द छटा सुख की सरसोहैं ।।
दीरघ कञ्ज से लोचन माते रसीले उनीदे कहूक लजौहैं ।
छूटत बान धरे खरसान चढ़ी रहैं काम कमान सी भौहैं ।।
जेहि चितवत चित जात, बात सुने बिसरत सबै ।
नवल लता से गात, फांसि सकै जो तरुन को ।।

युवक उस नैसर्गिक सौन्दर्य-सागर से तटस्थ नहीं रह सका । समीप जाकर पूछा—"शुभे ! यहाँ कोई पीड़ित स्त्री थी ? जिसका क्रन्दन सुन कर मैं यहाँ आया हूँ ।"

सुन्दरी ने सरल भाव से कहा—"भद्र ! यहाँ तो और कोई नहीं है । मैं ही यहाँ पर कुछ घना कानन देख कर छाया सेवन कर रही थी । छाया में मुझे व्यक्ति का भ्रम हुआ । स्त्रीजन-सुलभ भय से आक्रान्त होकर मैं ही चीख उठी थी । क्षमा कीजिए, आपको कष्ट हुआ । आपके आने से रहा-सहा भय भी दूर हुआ ।"—इतना कह कर युवती ने युवक की शौर्य-व्यञ्जक मधुर मूर्ति को निर्निमेष देख कर एक स्मित कटाक्ष किया ।

युवक ने विचलित होकर कहा—"अच्छा, अब मैं जाता हूं ।"

2

उद्यान-देश की रमणीक शैल-माला, आर्यावर्त की उत्तर-सीमा के फल-फूल से लदे हुए कानन की शोभा, किस नेत्र को चलित नहीं करती । मृगयाविहारी युवक राजा पुरूरवा मुग्ध होकर एक शिलाखण्ड पर बैठे हुए वनश्री देख रहे हैं । मृगशावकों के समीप आ जाने पर भी भयानक धनुष की प्रत्यञ्चा ढीली पड़ी है ।

चन्द्रोदय हुआ । फिर वही सुन्दरी, वनदेवी की तरह मन्थर गति से उसी झरने के समीप आई, जहाँ पुरूरवा बैठे हैं । अब सुन्दरी के हाथ में एक छोटी-सी वीणा भी है । साथ में दो सुंदर मेषशावक भी हैं, जो कभी उस युवती के आगे कभी पीछे, कभी उसके चीनांशुक को खींच कर प्रेम जता रहे हैं । दोनों परस्पर सौन्दर्य का अनुभव करने लगे ।

सुमन होत सुन्दर छवि धाम ।
नैन तहाँ पावत विश्राम ।।

कर चञ्चल न अकारन होय ।।
परसि प्रसन्न होत सब कोय ।।
'सुमन न छूओ कठिन कर' कासों कहिये जाय ।
इनको सौरभ दूर ते, परस पाय कुम्हिलाय ।।

शान्त सन्ध्या, निर्जन प्रदेश; प्रकृति की सलोनी छटा और तिस पर दो उद्वेगपूर्ण हृदय ! भला कैसे स्थिर रह सकते हैं? सुन्दरी ने चञ्चल पवन से आन्दोलित अपने वसनों को सम्हालते हुए कहा—"भद्र ! यदि आप थोड़ी देर के लिए मेरे प्यारे मेषशावकों को सम्हालें, तो मैं अपना वसन सम्हाल लूं, फिर इन्हें जल पिला दूँ। अहा ! मेरे बच्चे प्यासे हैं। मैं आपकी अनुगृहीत हूँगी। उहँ, इस पवन ने तो मुझे और भी व्यस्त कर रखा है।"

"सन्यो स्वेद पराग सों वसि मञ्जु माधवि कुञ्ज ।
ललित वेलि कंपाइ, मुदभरि हिये मधुकर पुञ्ज ।।
मिलित परिमल परसि हिय को देत आनंद पूरि ।।
बसन देत उड़ाय बरसत है कुसुम कर धूरि ।।"

सुन्दरी ने इस स्वतन्त्रता से अपने ये असंयत वाक्य कहे कि युवक-हृदय स्पन्दित हो चला। पुरुरवा ने सोचा कि इस युवती का कैसा प्रगल्भ और पूर्ण व्यवहार है? घृणित संकोच छू नहीं गया है। क्षणिक विचार ने पुरूरवा को संसार भर की रमणियों के सामने उस सुन्दरी को उत्तम प्रमाणित कर दिया, और एकाएक वह नवीन हृदय-प्रगल्भा रमणी के रूप और भाव से भर गया। युवक ने मन्त्र-मुग्ध होकर कहा "सुन्दरी ! तुम्हारी इस आज्ञा को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।"

विजयिनी ने हंस कर कहा—"हमने इन दोनों को बच्चों की तरह पाला है। क्या मनुष्य ही के बच्चे सुन्दर होते हैं? क्या ये प्यार करने के योग्य नहीं हैं? हमारे देश के सब मेषशावक ऐसे ही कोमल और सुन्दर होते हैं।"

पुरूरवा ने आग्रह से एक मेषशावक को गोद में बैठा लिया। शिला-खण्ड पर वीणा रख कर सुन्दरी दूसरे को जल पिलाने लगी। सुन्दरी ने पुरूरवा पर क्षण-भर में अधिकार कर लिया।

चिर पराजित मनुज, कहु रे कौन सुख की आस ?
देत सरबस सौंपि, इन चिर विजयिनी गन पास।
जिन्हैं केवल है विनोद अहेर को दिनरैन,
काढ़ि कोमल लेत हिय निज नैन को करि पैन ।।
ताहि निज कर में निरखि हँसि करत विजय प्रकास,
फेरि फेंकत ताहि को जो सहत सहित हुलास।

बे निसाने तीर उनके धारि अमित अनन्द,
निज विलास विनोद बस जे करत केतिक छन्द ।।

पुरूरवा ने कहा—"सुन्दरी ! तुम्हारा परिचय प्राप्त करने के लिए चित चञ्चल हो रहा है।"

रमणी ने कहा—"चित्त चिर चञ्चल है। उसी की गति रोकने के लिए गन्धर्व देश से चल कर सीमा कानन में चली आई हूँ। मैं गन्धर्व-कुमारी हूँ। मुझे लोग अप्सरा उर्वशी कहते हैं।"

मेषशावस जल पी चुके थे। गन्धर्व कुमारी पुरूरवा के समीप ही शिला-खण्ड पर बैठ गयी। आकृत्रिम विभ्रम से उसने कहना आरम्भ किया—"सुन्दर युवक, क्या तुम्हीं इस देश के राजा हो ? जैसा कि तुम्हारा यह मणि-जटित धनुष और स्वर्ण-किरीट बतला रहा है। मैंने अपने देश में सुना था कि आर्यावर्त्त के राजकुमारों में पुरूरवा-सा बलशाली और सुन्दर कोई नहीं है। क्या तुम्हारी मुखश्री तुम्हारे पुरूरवा होने में संदेह दिलाती है ? नहीं। मैंने सोचा था कि तुम्हें देखने के लिए शैलमाला से उतर कर दूर जाना पड़ेगा; पर तुम मुझे यहीं मिले। सचमुच तुम्हें देखने के लिए परिश्रम करना व्यर्थ न था। सुन्दर राजकुमार ! मेवों से लदे हुए, फूलों से खिले हुए गन्धर्वदेश के कानन में वीणा बजाते हुए, मुझे ऐसा ध्यान होता था कि मेरे जन्म का उद्देश्य हृदय की प्रबल वासना की तृप्ति आर्यावर्त्त के किसी प्रान्त में है। प्रिय ! कहो, बोलो, मेरी शंका दूर करो ! नहीं न करना।"

पुरू०—"गन्धर्वकुमारी ! तुमने ठीक सोचा। मैं ही पुरूरवा हूँ। मृगया के लिए अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा के कानन में चला आया हूँ। किन्तु सुन्दरी, तुम अकेली क्यों हो ? कैसे यहाँ आ गयीं ?"

"राजन् ! मेरा देश, प्रकृति का रमणीक उद्यान है। मैं उसमें वीणा बजाती हुई स्वतन्त्र घूमा करती हूँ। देश के राजा का दौरात्म्य बढ़ा देख कर और तुम्हारी रूप-कथा सुन कर, मुझे इधर चले आने का साहस हुआ ! राजन् ! क्या मैं सामान्य नर्त्तकी होने योग्य हूँ ? मैं क्या दूसरों के विलास की सामग्री बनूँगी ? क्या मेरे हृदय में अपना कुछ नहीं है। क्या वह दूसरों से कम है ?"—कहते-कहते उर्वशी के मुख पर भीषण सुन्दरता झलकने लगी।

पुरू०—"क्या तुम दुस्तर शैल-मार्ग में भयभीत नहीं हुई।"

उर्व०—"राजकुमार ! स्त्रियों को भय कहाँ। उस समय मेरा क्रन्दन अपरिचित होने के कारण तुम्हें बुलाने का बहाना था। और हमारे यहाँ के द्राक्षा में रस अधिक होता है। रस में मादकता बड़ी तीव्र होती है। और मैं जिसे अपने

हाथ से देने लगूँ, वह जब तक बोलने की सामर्थ्य रहे, नहीं कर सकता। समझे।"

पुरूरवा ने देखा 'भयानक सौन्दर्य', हृदय अब नहीं सम्हल सकता। व्याकुल होकर कहा—"सुन्दरी ! क्या मेरी सेवा स्वीकार होगी ?"

युवती अब पूर्णविजय पा चुकी थी। अब उसकी परीक्षा और भोग का समय आया। हँसकर बोली—"राजन्, स्मरण रहे कि मेरी स्वतन्त्रता नहीं छीनी जा सकती। तुम्हारा विस्तृत राज्य है। मेरी इच्छा तुम्हें देखने की थी, सो देख लिया। देखो, तुम्हारा भयानक धनुष किसी काम का नहीं। अब तुम्हारे ऊपर दया आती है। जाओ, अप्सरी के फेर में मत पड़ो। मैं भी तुम्हारे रूप और शील का गीत वीणा पर गाती और बजाती हुई चली जाऊँगी।"

पुरूरवा ने व्यग्र होकर कहा—"प्रिये ! अब दया की आवश्यकता नहीं। अब तुम्हारा साथ मैं नहीं छोड़ सकता।"

उर्वशी ने इस बात को अनसुनी करके गाना आरम्भ कर दिया। वीणा बजने लगी।

तुम्हारी सबहि निराली बात।
फरकत रहत मिलन आशा में पलकन में न समात।
रूप सुधा सरवर की सफरी बसत नहीं दिनरात ;
प्यासे ही तउ रहत नैन तुम यह कैसी है बात ?
देखते ही देखते दिन बीतत तउ न नेक अघात ;
प्यासो पय पीवत है मूरख डूबन को नहि जात।

आकाश के झरोखे से अन्धकार का पर्दा हटा कर सुरसुन्दरियों की तरह तारागण झांकने लगे कि चन्द्रमा आज क्यों इतना हँस रहा है ?

3

प्रमोद भरी ये सुपदि्मनी वृन्द भरी मकरन्द लगी ललचान।
चितौन लगी निज पीतम ओर रह्यो नहिं धीर छुट्यो सकुचान।
वियोगिनी पीत कपोल सों चन्द्रकला अब सेस लगी दरसान।
पराग के पुंज से धूसर अंग कली रस लैके करैं गान।
प्यारी ऊषा के सुकेश कलाप में सोहत भूषण कैधों मनी को।
कै रति कामिनी को भर्यो लाल सु हाला ते प्याला है नीलमनी को।
प्राची दिशा बरबाल के भाल में लाग्यो गुलाल को मंगल टीको।।
खेलि के होरी निशंक निशा ते मयंक कढ़्यो हुलसाइकै जी को।

मरीचिमाली अपनी स्वर्णमयी धाराओं से धरा को सींचने लगे हैं। सुखद समीर अपनी मन्थर गति से गिरिशृंगों तथा वृक्षों पर पड़ती हुई भुवनभास्कर की किरणों को विचलित करने का उद्योग कर रहा है। कुसुमित डालों पर बैठे हुए

पक्षीगण अपने मृदुल कण्ठ से प्रभात का यशोगान कर रहे हैं।

नवयौवन, नवीन समागम ने पुलकित, भोग में डूबे हुए, विलास-सागर में तैरते हुए, एक-दूसरे के सहारे झरना के तट पर बैठे हुए पुरूरवा और उर्वशी हँसती हुई सृष्टि का आनन्द ले रहे हैं। उर्वशी के सामने चुने हुए फूलों का ढेर है। पुरूरवा उसे उठा कर देते हैं। वह उन फूलों से एक सुन्दर माला गूँथ रही है माला बनने पर उर्वशी से उस पुरूरवा को पहना दिया। प्रसन्नता करते हुए उन्होंने उस माला को उर्वशी के गले में पहनना चाहा, किन्तु उसने पहनने में अपनी अनिच्छा प्रकट की। पुरूरवा विरक्त हुए। कभी कुञ्जों में, कभी शृंगों पर, कभी झरने पर, वर्षा, शरद् और वसन्त की मनोहर रात्रियों में उर्वशी का कुसुम शृंगार करते हुए पुरूरवा ने बरसों बिता दिये। आज तक दोनों की इच्छा एक थी। एक के चित्त में किसी कार्य को करने की प्रेरणा होती, जो दूसरे के मनोनीत होता। उसी एकाग्र वृत्ति में ठोकर लगने का यह पहला अवसर है। फिर भी पुरूरवा ने कहा—"प्रिये! यह माला तुम्हारे गले में बड़ी सुन्दर मालूम होगी, पहिन क्यों नहीं लेती हो?"

उर्वशी ने कहा—"वस्तु के सुन्दर होने ही से हम उसे गले लगाने को बाध्य नहीं हैं।"

पुरूरवा ने उत्तेजित होकर कहा—"तो फिर हम इसे नदी में फेंके देते हैं। जब तुम्हें पहनना ही नहीं था, तो इतने परिश्रम से माला बनाने की क्या आवश्यकता थी?"

उर्वशी ने हँस कर कहा—"फूलों को सुन्दर देख कर इकट्ठा किया। उनका उपयोग करने के लिए माला बनाई। फिर ध्यान में आया कि माला टिकाऊ नहीं है। फूल छूने से कुम्हलाते हैं, उनमें कीट होते हैं, उसे मैं पहन कर क्या करूँगी। तुम्हें पहना दिया, क्योंकि फूल डाल में ही अच्छे मालूम होते हैं।"

पुरूरवा अप्रतिभ-से हो गये। उनका वह सब सुन्दर लीलामय भाव तिरोहित हो चला। उर्वशी यह देखकर हँसी और उसने माला लेकर अपने गले में पहन ली। क्षणिक कलह के बाद प्रेम का नूतन संस्करण उन्हें बड़ा मनोरम मालूम होने लगा।

4

शैल शृंग को परिस मेघ मण्डली सुहावै;
करि गम्भीर निनाद नवीन मृदंग सुनावे।
हरी भई सब भूमि हरे तरुवरगन सोहैं;
हरी लतायें लपटि तरुन ते मन को मोहैं।
सुखद सुहावन लगत अतिहि प्रफुलित धन कानन;
शीतल बहत समीर अहो परसत जो प्रानन।
बढ़ी कान्ति जग बीच युवा ह्वै प्रकृति दिखानी;
खिले कुसुम के मिस मानहूँ सुन्दरि मुसुक्यानी।

मनोहर गुफा पहाड़ी में प्रेमी की तरह हृदय खोले बैठी है। द्राक्षा की लता उसे घेरे है। शिल्पी के हाथों से बने हुए चित्रित रंगमहल में भी वर्षा का ऐसा सुख नहीं मिल सकता, जैसा कि यह पार्वतीय गुफा दे रही है। पुरूरवा इकटक उस पार्वतीय पावस की शोभा देख रहे हैं। हृदय कुछ अनमना है। उर्वशी के हाथ में वीणा है, जो सुरीली बज रही है। और उर्वशी की कोकिल-कण्ठ-ध्वनि भी उससे मिलकर अपूर्व समां बाँध रही है।

हियो यह भयो नदी बरसाती,
उमड़ि पड़यो कुल-कूल छोड़िके भूले सबै संघाती।
निसदिन वेग बढ़यो बहिबे को हौंस न हिये समाती
लपटि तरुन ते पतित कियो वह विकल भयो लगि छाती।
पायो सुख न मलिनता बाढ़ी वही दिवस वहि राती
भवसागर के प्रबल लहर में धारा नितहि समाती। हियो०।

अकस्मात् गन्धर्व कुमारी चौंक पड़ी। वीणा उसके हाथ से छूट पड़ी। पुरूरवा ने देखा, तो सामने एक गन्धर्व युवक चला आ रहा है! युवक के हृदय का वेग उसके मुख पर लक्षित हो रहा है। युवक सीधा उर्वशी के सामने आकर खड़ा हो गया, और पर्णसम्पुट में से एक वन्यकुसुम की माला निकाल, बिना रुके हुए उर्वशी को पहना दी और बोला—"आह! उर्वशी! कितने दिनों पर तुम्हें देख पाया। ऐसी मालाएँ मैं कहाँ नित्य तुम्हें पहनाता था, कहाँ तुम्हें खोजते-खोजते मेरे पैरों में छाले पड़ गये। निर्दय! आज की माला बड़े चाव की वन-फूलों से बनी हुई तुम्हें अर्पण करता हूँ। क्या यह स्वीकार होगी?"

पुरूरवा ने प्रिया के नीलेन्दीवर नेत्रों को तामरस रूप धारण करते हुए देखकर अपमान समझा। उसी क्षण तड़िल्लता के समान असि कोशधन से बाहर करके कड़क कर कहा—"अबोध युवक! तू कौन है जो अपनी मृत्यु को आप ही बुलाता है?"

उर्वशी की ओर देखते हुए हँस कर युवक गंधर्व ने कहा--"आह! क्या आप ही यमराज हैं? इतना क्रोध करने का कारण क्या है?"

पुरूरवा ने कहा—"तुम्हें माला पहनाने का क्या अधिकार था? क्या यह तुमने रमणी का अपमान नहीं किया?"

युवक ने कहा—"फूलों की माला से तो उर्वशी को मूर्छा नहीं आ सकती। और मैं तो ऐसी माला नित्य पहनाता था। क्यों उर्वशी! क्या इसमें तुम्हारा अपमान हुआ?"

उर्वशी से इस तरह बातें करते हुए देखकर पुरूरवा अपने क्रोध को संवरण नहीं कर सके। "सावधान" कहते हुए असि-प्रहारोद्यत हो गये। युवा भी सुदृढ़ हस्त में असि ग्रहण करके युद्ध में सन्नद्ध हुआ। घात-प्रत्याघात होने लगे।

भरे क्रोध जल जलद युग, भिरत करत आघात ;
बिज्जुलता सी असि युगल, लपटि-लपटि छुटि जात ।

आर्यवीर के प्रबल हाथों का वेग गन्धर्व युवक सहन नहीं कर सका। कंधे पर गहरा हाथ बैठने पर वह गिर पड़ा। उर्वशी से अब नहीं रहा गया। "बेचारा केयूरक!" कहकर उसे उठाने लगी। तलवार पोंछते हुए पुरूरवा विरक्त होकर वहाँ से चल पड़े। शीघ्रता के कारण समीप के मेषशावक का ध्यान न रहा। पैर से उसकी पूँछ दब गई। शावक चिल्ला उठा। कुछ ध्यान न करके पुरूरवा चले गये। गन्धर्व-बाला का उन्नत हृदय तीव्रतर हो गया। वह केयूरक का घाव धोने लगी।

□ □ □ □

पुरूरवा को शैल-शिलाएँ कोमल या कठोर नहीं मालूम होती हैं। जिधर पैर उठता है, चले जा रहे हैं। मेघमण्डली-मण्डित एक ऊँचे श्रृंग पर, जहाँ से इन्द्र-धनुष निकला हुआ है, एक सुन्दरी का सजीव चित्र दिखाई पड़ा। धीरे-धीरे उसकी स्वर-लहरी गूँजने लगी—

"क्यों बिराग धारत अनुरागी मिलो भयो सुख क्यों त्यागै ?
खा ले पी ले मौज मना ले मोह नींद ते क्यों जागै ?
सुमन कुंज में वीणा सुन्दर मुख जो प्रेम सहित बोलै ;
मूरख है जो स्वप्न लोक हित ताहि छाविने कौ डोलै ।

पुरूरवा का हृदय कुछ नरम हो चला। वे पलटे। देखा तो अपने पार्वतीय प्रकोष्ठ में गन्धर्व-कुमारी बैठी है। उसका कौशेय वसन अस्त-व्यस्त है। कुन्तल बिखरे हुए हैं। पुरूरवा पास बैठ कर उसे सुलझाने लगे।

आज द्राक्षा-मण्डप में गन्धर्व-बाला पुष्पाभरण-भूषिता हो कर बैठी है। हाथ में छोटी वीणा है। केयूरक के घाव अच्छे हो चले हैं। वह भी सामने बैठा है। उर्वशी की ओर देखकर निश्वास लेकर बोला—"प्रिये! शैशव-सहचर को क्या तुम ऐसा भूल जाओगी ? क्या तुम्हें कुछ दया नहीं है ?"

"हे रस मेघ न द्रवत वारि क्यों मीत ;
आशालता निरखि हम होत सभीत ।
तोहि न आवत दया सुहिया कठोर ;
विरह तपावत अंगहि निशि अरु भोर ।
प्रेम-तीर्थ में करिके मज्जन आसु ;
भये तृप्त नहिं अजहूँ, बुझी न प्यास ।"

उर्वशी ने वीणा पर ठोकर मारते हु उसी छन्द में गाना आरम्भ किया—

"अरे पथिक यह सोई उपवन कुञ्ज ;
जामें भूलि धरै नहिं पग अलिपुञ्ज ।

चित्त कल्पने ! अलिसम मत गुञ्जार ;
यहि तरु में नहिं होत सुकुसुमित डार ।
चन्द्र वहै, यह अहै लखै न चकोर ;
कुमुदिनि बिकसित होय न लखि यहि ओर ।
यह वह चुम्बक अहै जो निज ते दौर ;
लपटत लोहा के संग अति बरजोर ।
अलंकार यह वहै रहै धुनि हीन ;
यह वह नव रस अहै जु सब रस छीन ।
यहि उपवन में रहै पवन कहुँ नाहिं ;
या मारुत के लगे कली मुरझाहिं ।
प्रियहिं चहै तो सीखै नेहु सुनीति ;
सुख दुख सबही सहै लहै तव प्रीति ।
पथिक धीर धरि चलिये पथ अति दूर ;
ह्वै कटिबद्ध सदा सनेह में चूर ।"

गीत बन्द हो चुका हैं; किन्तु स्वरलहरी अभी गूँज रही है । निर्निमेष केयूरक और उर्वशी अन्योन्य देख रहे हैं । पुरूरवा ने वहाँ आकर इस नवीन लीला को देखा । केयूरक को देकते ही तलवार अपने कोश में झनझना उठी; पर हृदय ने उसे रोक दिया । पुरूरवा ने कहा — "उर्वशी ! आज तो अद्‌भुत रूप है । और, सामान भी सब नये हैं । तुम्हारी यह छटा ! युगल जोड़ी की मनोहर लीला दर्शनीय है ।"

उर्वशी तन कर खड़ी हो गई । कहा—"हाँ राजकुमार ! यह मेरा शैशव सहचर है । एक दिन मैं इसे चाहती थी । आज यह तुम्हारे हाथों से आहत हुआ है, तो क्या मैं इसकी थोड़ी-सी शुश्रुषा भी नहीं कर सकती । सैकड़ों बार इसने मेरे लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी है ।" कहते-कहते उर्वशी का कण्ठ-स्वर सबल हो चला । फिरकर उसमें केयूरक से कहा —"केयूरक, तुम यहाँ से हट जाओ ।" मन्त्रमुग्ध की तरह केयूरक वहाँ से चला । पुरूरवा वहीं बैठ गये । उर्वशी भी थोड़ी देर में उठ कर समीप के आराम में चली गई ।

पुरूरवा उसी द्राक्षा-मण्डप में बैठे हुए हैं । भयानक धनुष की प्रत्यंचा ढीली हो गई है, बेचारी की कौन खोज करे । पुरूरवा को अभी तक उर्वशी के बालों के सुलझाने से अवसर ही नहीं मिला । वर्षा की रात्रि ने अपना अधिकार धीरे-धीरे फैलाया । पुरूरवा के भीतर भी अन्धेरा है और बाहर भी; उन्हें परिणाम चिन्ता-व्यग्र किये हैं । अप्सरा उर्वशी के फेर में पड़े हुए पुरूरवा को अब निकलना दुस्तर है । अभी तक वह इनकी वासना के प्रत्येक वेग को सरलता से एक ओर बहा देती थी । पुरूरवा को उनकी अवस्था सचेत कर रही है, फिर भी वे लाचार हैं । गर्वित-हृदय को एकाधिपत्य से वंचित होने का अनुभव होने लगा । फिर भी वे सुख की

आशा में हृदय को सुखाने लगे। ज्यों-ज्यों अन्तरात्मा विरक्त होने लगी, अपने आनन्द में विश्वास घटने लगा। लालसा बढ़ने लगी। अब उन्हें बंक भौंह वाली अप्सरा उर्वशी को अपने वश में रखने की उत्कण्ठा व्यग्र किये है। विचार करते-करते निशीथिनी और गाढ़ी नीलिमा में रंग गई।

अकस्मात् उर्वशी दौड़ी आई और बोली—"इस भीरु मनुष्य के भरोसे मैं मारी गई। अब मैं क्या करूँ?"

पुरूरवा उठ खड़े हुए और बोले—"बात क्या है? सुनूँ भी?"

उर्वशी ने कहा—"मेरे प्यारे बच्चे···।"

शीघ्रता से पुरूरवा बोले—"हाँ हाँ, तो उन्हें क्या हुआ?"

उर्वशी ने सिसकते हुए कहा—'गन्धर्व केयूरक दोनों को उठा ले गया।"

पुरूरवा ने पूछा – "वह किधर गया?"

उर्वशी ने जिधर संकेत किया, तलवार खींच कर पुरूरवा उधर ही चल पड़े।

उत्तरीय पर्वतों का प्रभात, उषा की अस्पष्ट मूर्ति, पुरूरवा के रमणीक विलास-कानन में आज कुछ अद्‌भुत प्रतीत होती है। चिन्ता-जागरण से उर्वशी की अलस-कलित छटा दर्शनीय है, प्रभात-कल्पा रजनी की तरह वह भी क्षीण-प्रभा हो रही है। फिर भी कभी-कभी आन्तरिक भावों से उसका मुख प्राची की तरह आरक्तिम हो जाता है।

अपनी वीणा बजाकर वह गाने लगी—

"मधुकर! बीत चली अब रात,
शिशिर कलित यह कुंदकली हूँ फूलि न अंग समात।
अब तो छोड़ दुःख गुंजारन अवसर की सब बात;
आशा अरुण किरन माला सी प्राची में दरसात।"

विपंची स्वर में मोहित मृग की तरह पुरूरवा आ पहुँचे, उन्हें देखते ही उर्वशी ने पूछा—"मिले?"

उदास होकर धनुष और तूणीर फेंकते हुए पुरूरवा ने कहा—"अभी तक नहीं।"

अभी वे बैठे भी नहीं थे कि उर्वशी तमक कर खड़ी हो गई और बोली—"अच्छा तो अब मैं ही जाती हूँ, केयूरक और अपने प्यारे बच्चों को खोज लूँगी?"

पुरूरवा ने कहा—"क्या मुझसे भी वे मेष-शावक प्यारे हैं? जो तुम उनके लिए मुझे छोड़कर चली जाओगी?

उर्वशी ने दृढ़ होकर कहा—"मैं तो उन्हें देखे बिना नहीं रह सकती। अवश्य जाऊँगी।"

"समुझ लई सब बात, प्रेम नीति निबही भली।
और न कीजे घात, करी सुनी की ही करी।"

पुरूरवा ने गद्‌गद कण्ठ से कहा—"क्या मेरे और तुम्हारे प्रेम का यही परिणाम था?"

उर्वशी ने गम्भीर हँसी के साथ कहा—

"दीपक और पतंग के, प्रेम किये फल कौन?
जरि निज जारत पास में, आवत औरहुँ जौन।"

और भी—

"नेह जरावत दुहुन को, दीपक और पतंग;
जरिबो और जराइबो, याही रहत उमंग।

पुरूरवा ने व्याकुल होकर—"क्या तुम्हें मेरे प्रेम का विश्वास नहीं? तीखी सुर की तरह तुम्हारी चाह "और लाओ" की पुकार मचा रही है, भला तुम्हारी तृप्ति कैसे हो?"

उर्वशी ने कहा—"तुम्हें धोखा हुआ और मेरी भूल थी। मैंने समझा कि तुम्हें मनोनुकूल बना लूंगी और तुम्हें प्रेम का लालच था।"

पुरूरवा ने कहा—"गन्धर्व-कुमारी! हमने तुम्हें बड़े प्यारे आधे गाये हुए गीत की तरह स्मरण किया है।"

उर्वशी ने तीखेपन ने कहा—'उसे भूल जाओ।"

निःश्वास लेते हुए पुरूरवा ने कहा—"जीवन की पहली गर्मी में तुम्हें हिम-जल का पात्र समझा था।"

"वह भ्रम था"—उसी स्वर में उर्वशी ने कहा।

पुरूरवा ने उत्तेजित होकर कहा—"तो यह भ्रम सदा के लिए फैलेगा। कितनी कुमारी और कुमारों का इससे नाश होगा।"

उर्वशी और तन गई और बोली—"यह होवेगा ही। मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं स्वतन्त्र हूँ। इसी स्वतन्त्रता को छीनने के लिए आगे चलकर अनेक कठोर नियम बनेंगे, बड़े-बड़े प्रलोभन और बड़ी-बड़ी धमकियाँ होंगी, फिर भी यह हमारा दल बना रहेगा और स्वतन्त्र रहेगा। मैं भी स्वतन्त्र रहूँगी। मेरे पीछे न पड़ो। हम लोगों का हृदय भेड़ियों से भी भयानक है। अब जाओ, राज्य में बहुत से सुख तुम्हारी आशा में हैं।"

पुरूरवा ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—"निर्दय, निष्ठुर, क्या यही प्रणय-परिणाम है।"

उर्वशी झटके से हाथ छुड़ा कर मोह-निशा की तरह चली गई। अन्धकार की तरह केशभार पीछे पड़े थे। पुरूरवा ने क्षणिक व्यामोह के बाद देखा कि भगवान् भुवन-भास्कर अरुण राग से सारी धरा को प्लावित कर रहे हैं। प्रकृति सुषमासहेली को साथ लेकर मकरन्द और फूलों का अर्घ दे रही है। पुरूरवा सब भूल गये। उनका हृदय, भीतर भी उसी आलोक से आलोकित हो गया। विश्व-भर उस सौन्दर्य से भर उठा। □□

बभ्रु वाहन

प्रथम परिच्छेद

मणि-प्रभापूर मणिपुर नगर के प्रान्त में एक उद्यान के द्वार पर प्रतीची दिशा-नायिकानुकूल तरणि के अरुण-किरणकी प्रभा पड़ रहीहै। वासंतिक सांध्य वायु का प्रताप क्रमशः उदय हो रहा है, पूर्व दिशा में अपूर्व सुन्दर चन्द्र की मलिन आभा दिखाई दे रही है। अहा! नीलाम्बरवृत विधुबदनी के वदन के समान स्वच्छ नीलाम्बर में यह चन्द्र कैसा सुन्दर दिखाई दे रहा है—

धवल मनोहर दृष्टि सुख दायक हिय अनुराग ;
मनहु सुधा के बिम्ब में, लपट्यो नलिन-पराग।
नव घन, सुन्दर श्यामा उर, मनहुँ हीरकाभास ;
कालिन्दी जल नील में कै अरविन्द विकास।

अन्धकार का अधिकार तो सर्वत्र हो गया है; परन्तु चन्द्रमुख के समीप कृष्ण केश-भार के अन्धकार के समान ज्योत्स्ना-सम्मिलित अन्धकार में एक पथिक उसी द्वार पर आया और स्थान के लिए इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगा।

अकस्मात् एक मनुष्य उसी द्वार से बाहर हुआ और एकअपरिचित मनुष्य को देख कर पूछा—"आप कौन हैं ?"—उत्तर मिला—"भ्रांत पथिक" किन्तु साथ ही उसके—

आयत उज्ज्वल भाल, करिकर गञ्जन कर युगल ;
विलुलित कुन्तल जाल, वृषभ-कंध राजीव चरू।
अति ही सुभग सरूप, राजत कोटिहुँ मार-छवि ;
मुख बिधु को प्रतिरूप, मिश्रित वीर-शृंङ्गार-रस।
देखत जन हरषाहिं, कलित कलेवर कलभ सम ;
अरिगण हिये डराहिं बिकट भृकुटि तट लखे जेहि।
वीर वेश सज्जित कृपाण कटि माहिं सुछाजत ;
अमित स्वेत-कण अंग मांहि मुक्ता झलकावत ;
किधौं नीरधर नीरविन्दु भरि अति सुख पावत।
सकल सुजनता खान सों शील निवास प्रकाश युत ;
मुख विनोद बरसत अमल, ममता लहै न सिन्धु सुत।

देखकर उपवन-रक्षक ने प्रणामोपरान्त कहा—"यदि विश्राम करने की इच्छा हो, तो उपवन में चलिए।"

यह सुनकर पथिक मालाकार अनुगामी हुआ।

उपवन में प्रवेश करते मकरन्द-लोभी माहत ने पथिक के मुख-कमल से मधुरालिंगन करके श्रमल व मकरन्दबिन्दु का आहरण कर लिया। फिर वह युवक उपवन की शोभा देखने लगा—

लसै लोनी लता लपटी तरु ते, सुमनावली भारझुकी-सी परै;
छकि मोद मधू त्यों मिलिन्द बधू लूरि फूलन पै अरसी-सी परै।
कल कोकिल कीरन को कलनाद विपंची सुचारु बची-सी करै;
मकरन्द सों पूरि रही पुहुमी सुख सौरभ सीरी खसी-सी परै।

यों ही पद-संचालन करते तथा चन्द्रिका में चमत्कृत चंचरीक मंज गुंजित प्रफुल्ल पुष्पावली पर दृष्टिपात करते हुए युवक पथिक मालाकार के बताये स्थान पर सब वस्त्र और शस्त्र उतार कर संध्यावन्दन के लिए सरोवर के मुख्य तीर पर गया। नित्य कृत्य से कृतकृत्य होकर पथिक प्राकृत सुषमा निरखने लगा—

नील सरसी सलिल कंच, सुनील प्रफुलित चारु;
नील नल उज्ज्वल अनन्त, गंभीर तासु अगारु।
निशाच्छादित राजही, अति नील तरुवर पुंज;
कोकिला कलरव कलापी, कीर कूजत कुंज।
कौमुदी प्रतिबिम्ब सरसी जल करत सुकलोल;
पवन विचलित जल लहरि, लीला धरति इमि लोल।
मनहु रतनाकर लुटावत रतन गन एहि भाँति;
कबहुँ हीरक पांति पारत कबहुँ नीलम पाँति।
व्योम वारिधि मीन फाँसन निशा महिषी हाल;
तारकावलि ज्यों बिखेर्यो तोरि मुकता-माल।
निशाकर निज कर पसारि सुधा मधुर परिपूर!
प्रकृति-लीला को हँसावत छिरकि रजत सुचूर।

युवक पथिक दृश्य के सौन्दर्य-सागर में निमग्न था और प्रसन्न मन से देख रहा था कि अकस्मात् उसके कर्ण-कुहर में किसी कामिनी का कण्ठरव सुनाई पड़ा—

बिकसहु कमलिनि कली-निकर निज सौरभ सो भरि;
उठहु कुसुम कर साधि कुसुम धनु निज कटि दृढ़ करि।
मुदित होहु चकई के युगल दृगञ्चल चञ्चल;
उदय भयो है प्रिय दर्शन दर्शन अवसर भल।

त्रिपंचीध्वनि विमोहित मन्त्र मृग के समान उसी मधुर स्वर का अनुसरण करके वह युवक एक मत्त मिलिन्द-मिलित मालती-लता-मन्दिर के समीप पहुँचा, और लता की ओट से देखने लगा, तो उसे दो सुन्दरी उसमें बैठी दिखाई दीं, जो

परस्पर कुछ हँस-हँस कर वार्तालाप कर रही थीं।

एक बोली—सखि ! चन्द्रमा क्यों इतना सुन्दर है ? और उसी से रात्रि की शोभा क्यों होती है ? देख—

मल्लिकादिक सुमन ते सुचि रच्यो धरनि वितान ;
जटित हीरक-तार नभ पट सखी ओढ़ि समान।
शीत सुरभित मलय मारुत विजन साचि चचैंन ;
सुधाकर सों मिलन बैठी स्वच्छ राका रैन।

दूसरी, जो कुछ उससे वयस्क थी, बोली—सखि ! तुम्हें अभी इसका पूर्ण ज्ञान नहीं है। अभी तुम्हारे लिए सब वस्तु आनन्दमय है। देख—

शीतलाई सुधाकर में है नहीं सुनु साँच ;
सखी ! याके किरण में सुअनोखिये है आँच।
जौं न ऐसी होय तो क्यों विमल सरवर वारि ;
बीच सरसिजि मुरक्षि के गिरि जाय लखु सुकुमारि।

अब तो युवक से न रहा गया ! वह बोल उठा—

सुमुखि सुन्दर शील रूप सवाल सुनु धरि कान ;
यहै तो सबही कहै निज भाग्य है जु प्रधान।
सुधा सों परितृप्त हिय जाकी रहै अविराम ;
ताहि निशि में निशानाथ अमन्द देत अराम।

इस अपरिचित शब्द को सुनकर प्रौढ़ा बाहर आई; परन्तु युवक को देखकर सहम कर खड़ी हो गयी और कुछ क्रोधित होकर बोली—आप कौन हैं ?

युवक—एक भ्रान्त पथिक।

प्रौढ़ा—इस उपवन में कैसे आये ? क्या आपको यह नहीं ज्ञात था कि राजकुमारी इस समय यहाँ हैं ?

युवक—क्या यह मणिपुर की राजकुमारी हैं ? यदि ऐसा हो, तो क्षमा कीजिए। सरले ! भ्रांत पथिक इस संवाद से अवगत नहीं था।

प्रौढ़ा—नहीं, आप अवश्य दण्डनीय हैं।

युवक (हँस कर) – यदि ऐसा है, तो अधिकारी के समक्ष ले चलिए।

प्रौढ़ा—यह वाक्चातुरी रहने दीजिए…

राजकुमारी से न रहा गया, वह बोल उठी—सखी क्या है ?

युवक को साथ में लेकर प्रौढ़ा उस लता-मन्दिर के द्वार पर पहुँची। वास्तव में अधिष्ठात्री लता-मन्दिर ही की नहीं,—सुन्दरी सौन्दर्य-उपवन की अधिष्ठात्री वनदेवी के समान थी।

उसका यौवन निविड़ कादम्बिनी में सौदामिनी के समान, अलक-पाक में हरि-

खण्ड के समान, मधुकर निकर अनास्वादित प्रफुल्लराजीव के समान, उज्ज्वल मधुर तथा मनोहर था।

किन्तु युवक का मनोहर अवयव भी अपनी समता न रखता था। जालबद्ध चकोर के समान सुन्दरी के युगल नेत्र निस्पन्द, निर्निमेष हो रहे थे। इधर मंत्रमुग्ध के समान युवक उस नैसर्गिक सौन्दर्यमयी बाला का मुख निरीक्षण कर रहा था। सखी दोनों का यह अपूर्व दृश्य देख कर चकित हो गई और हृदय दृढ़ करके बोली—राजकुमारी ! देखो, यह महाशय निर्भय इस स्थान तक चले आये हैं, हमें ज्ञात होता है कि यह कोई चतुर व्यक्ति हैं, क्योंकि—

सूधे देखन में बने करत अटपटी बात।
कपटी नाहर के मनहुँ छिपी नखन की पाँत।

यदि आपकी आज्ञा हो, तो इन्हें प्रहरी की आज्ञा में भेज दिया जाय।

युवक (हँस कर) —

अलक-पाश सों बाँधि चहै राखि तो रहि सकै।
किधौं रखैं अवराधि नतु हम बन्धन योगु नहिं॥

सखी (सक्रोध)—राजकुमारी की आज्ञा हो, तो तुम्हारी प्रगल्भता का फल तुम्हें अभी मिले।

युवक—उन्हीं की आज्ञा की अपेक्षा तो मुझे भी है, क्योंकि अब हम विश्राम करना चाहते हैं।

राजकुमारी—सखी ! व्यर्थ वाद से क्या लाभ, पहले तुम्हें इनसे पूर्णरूप से परिचय ले लेना चाहिए।

युवक—राजकुमारी। जो कुछ पूछना हो, पूछा जाय, हम स्पष्ट उत्तर देंगे।

प्रौढ़ा—आप अपना वंश-परिचय दीजिए।

युवक—सुन्दरी ! समय के अनुरोध से हम केवल इतना कह सकते हैं कि यह तुम्हारा अतिथि पौरवंश का क्षत्रियकुमार है, तीर्थ-पर्यटन करते-करते यहाँ तक आ पहुँचा है।

प्रौढ़ा — आप हमारे अतिथि कैसे ? क्या आप यहीं पर ठहरे हैं ?

युवक—

कमलिनि-मधुलोभी मधुप लहि मरंद की आस।
कुमुद-काननहिं छोड़ि के कहाँ सकै करि बास॥

प्रौढ़ा—पुन: वे ही व्यर्थ की बातें !

युवक—तो आपने नहीं समझा, इसका तात्पर्य यह है कि उपवन-रक्षक ने श्रांत पथिक जान कर अपने गृह-समीप में मुझे रहने का स्थान दिया है, इसी से हम आप लोगों के अतिथि हैं। आवश्यक वस्तु सब प्रस्तुत है, अब यदि आज्ञा हो, तो हम विश्राम करें, क्योंकि हमने यहाँ तक आकर आप लोगों को बड़ा कष्ट

दिया।

राजकुमारी के इंगित करने पर सखी ने पूछा—आप कब तक ठहरेंगे ? क्या आप हम लोगों के आतिथ्य से असन्तुष्ट हैं ?

युवक—पथिक का क्या ठिकाना !

प्रौ०—तो भी कुछ दिन ठहरना होवेही गा ?

युवक—जैसी राजकुमारी की आज्ञा।

प्रौ०—अच्छा, अब कल भेंट होगी।

युवक—कल तो मेरी इच्छा है कि यहाँ का नर-निरीक्षण करें। और महाराज का भी दर्शन करें।

प्रौ०—अवश्य।

इतना कहकर राजप्रासाद की ओर, राजकुमारी के पीछे-पीछे चली। पर, युवक उस मरालगति में मुग्ध खड़ा था।

द्वितीय परिच्छेद

विस्तृत कुन्तल भार पूर श्रम अम्बु कनी के।
रति श्रम जल लव मंडित श्रांत वदन रमनी के।।
लखि सजाइ मन माँहि सहित तारा सहचर गन।
चहत छिपन पश्चिम में यह लाञ्छित शशि लाञ्छन।।
ऐरावत करि कुम्भ अरुण-सिन्दूर-विभूषित।
सम लखात प्राची में तरणि-विम्ब अरुणाञ्चित।।
मलिन चन्द्र सह नखत-पाँति पश्चिमहिं सिधारत।
नव ऊषापट ओढ़ि धरा नव रूप सुधारत।।
शिशिर-किरण सों पूरि रह्यो हरियाली उपवन।
विहरत वायु मनोहर लहि परिमल सरोज बन।।
तरणि-किरण करि करि प्रवेश सम्पुट सरोज में।
विकसावत हरषावत मधुकर गणहिं ओज में।।
मलयानिल सौरभित सुबरसत सुमन कली बहु।
मृदुल कंठ सों गावत द्विज कुल शाखा में कहुँ।।
सरिता मन्द प्रवाह लहर लै चलत लहर सों।
विकच नलिन सह नाल हिलत मकरंद झहर सों।।
काञ्चनीय रवि-किरन डारि निज आभा सुन्दर।
पीत करत है सित सरोज गण को अति मनहर।।
साँचहुँ कामी मधुप समान मधुप नलनी सह।
झूमि-झूमि गुंजार मधु आलाप मनहुँ कहं।

ऐसी प्राभतिाक शोभा देखता हुआ वह पथिक मणिपुर के राजमार्ग से चला

जा रहा है। इस युवा का वह वीरवेश नहीं है; किन्तु वह गायकवेश में राजकीय मन्दिर के समीप पहुँचा। वहाँ की शोभा में उसका मन मुग्ध हो गया। वहाँ उसे वीणा, मृदंग के साथ स्तुति स्वर सुनाई पड़ा।

युवक यह जानकर कि राजकीय शिवालय में प्राभातिक पूजन हो रहा है, उसी ओर चला। शिवालय के सविस्तृत प्रांगण में मनोहर मन्दिर मध्यवर्ती मूर्ति को प्रणाम कर युवक भी आन्नद से अपनी वीणा बजा कर गाने लना—

हे शिव, धन्य तुम्हारी माया।
जेहि बस भूलि भ्रमत हैं सबही सुर अरु असुर निकाया।
भानु भ्रमत अरु बहत समीरन प्रकट जीव समुदाया।।
तव महिमा को पार न पावत जेहि पर करहु न छाया।
दास दीनता देखि दयानिधि बेगि करहु अब दाया।।

युवक ने ऐसे भक्तिपूरित स्वर से गाया कि मन्दिर में के सब मनुष्य मोहित हो गये। युवक तो गा चुका; किन्तु वीणा की झंकार जो उसके कल-कण्ठ से मिश्रित गूँज रही थी, मन्दिर को स्वर-मय किये हुई थी।

इसी समय दो दीर्घकाय उज्ज्वल वर्ण पुरुष सामने से आते हुए दृष्टिगत हुए और क्षण भर में निकट आ पहुंचे। युवक को देखकर एक ने समीपस्थ व्यक्ति से पूछा—मंत्रिवर, यह कौन व्यक्ति है?

लै बीणा कर माँहि बजावत यदपि अहै यह।
तदपि कहत कर-चिह्न धनुष को आकर्षक यह।।
विद्याधर सम कान्ति जउ मुख सज्ज बतावत।
तबहु यह राजन्य कुमार सरिस मोहिं भावत।।

मंत्रि०—मणिपुर के राजवंश में प्रायः एक ही संतान होता हुआ आया है…

राजा० (जो वास्तव में मणिपुर के महाराज थे)—इससे क्या तात्पर्य है?

मंत्रि०—कुमारी चित्रांगदा जब उत्पन्न हुई थीं, उस समय आप बहुत दुःखी हुए थे। उस समय महर्षि ने आपसे कहा कि—राजन्, चिन्तिम मत हो, यह कुमारी बड़े उच्च राजवंश को स्वयं वरण करेगी, और उसका साक्षात् पहले उसी पुरुष से होगा, उससे एक सुन्दर पुत्र राजकुमारी को होगा, जो कि आपके वंश को उज्ज्वल करने वाला होगा—अस्तु, मुझे उन्हीं महर्षिजी के बताये हुए प्रत्येक लक्षण इस युवक में दिखाई पड़ते हैं।

यह सुनते ही महाराज को पूर्व की कथा का स्मरण हो आया। उन्होंने सहर्ष उस युवक के समीप आकर पूछा—

निज सुखमय आगमन सों दियो प्रमोद अनंद।
केहि कुल उडुगन के अहौ कहौ मनोहर चंद।।

युवक ने प्रणाम करके कहा—राजन्, इस समय तो मैं एक गायक हूँ।

कुछ विचार कर युवक को लिए हुए महाराज राजमन्दिर में आये और एक सुन्दर गृह में बैठ कर वार्त्तालाप करने लगे।

महाराज—वत्स, अब अधिक न छिपाओ।

धनु आकर्षण के युगल कर में चिन्ह लखात।
बिना सव्यसाची नहीं, दूजे में यह बात ॥

युवक (नम्रभाव से)—यदि आप जान गये कि मैं अर्जुन हूँ, तो वारम्वार क्यों लज्जित करते हैं?

महा०—केवल इसलिए कि इस वेश में आप कैसे यहाँ आये? धर्मराज तो सकुशल हैं न?

युवक—गोरक्षण के हेतु जब, बिप्रन करी पुकार।
हौंहूँ तब तुरते गयो, जहँ मम शस्त्रागार ॥
नृप कुल चूड़ामणि तहाँ, धर्मराज आसीन।
कृष्णा के संग लख्यो हम, कियो प्रतिज्ञाहीन ॥
करन हेतु तेहि पाप को, उत्कट प्रायश्चित।
तीरथ के पर्यटन में ठान्यो तब निज चित्त ॥

महा०—सहि के दुःख अनेक; तजत नाहिं निज धर्म को।
राखत को अस टेक, बिना चन्द्र कुल चन्द के ॥

तो यहाँ आप कहाँ निवास करते हैं और कब राज्य को पवित्र किया?

अर्जुन—राजन्, अभी कल ही तो मैं यहाँ आया हूँ, और नगर के समीप ही एक उद्यान में ठहरा हूँ।

महा०—पर अब मैं आपसे दो बातें चाहता हूँ, आशा है कि आप उसे मान लेंगे?

अ०—कौन कार्य है? यदि मेरे किये हो, तो मैं सहर्ष करने के लिए तैयार हूँ।

महा०—प्रथम आप हमारा अतिथ्य स्वीकार करें और दूसरे इस राज्य की रक्षा करें।

अ०—पहला तो हम सहर्ष स्वीकार करते हैं। और मणिपुर-राज्य पर मेरे रहते कोई आपत्ति नहीं आ सकती।

महा०—यह तो ठीक है; पर हम आपसे निवेदन करते हैं कि इस राजवंश में प्रायः एक सन्तति होती आई है, किन्तु अब केवल एक राजकुमारी ही है, फिर राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा? इसी हेतु मेरा विचार है कि—

जग जाहिर जग बन्द चन्दकुल को सब जानत।
ता कुल के तुम हौ कुमार लखि हिय सुख मानत ॥
तुमको कन्या देइ कौन बड़भागी अस।

सब विधि को सुख अहैं और यहि में है बहु यस ।।
पै शुल्क-रूप हम लेइहैं ता सुत को यह जानिहौं।
मणिपुर सुराज्य को वहै भावी राजा मानिहौं ।।

अ०—जैसी आपकी आज्ञा।

निदान महाराज के आज्ञानुसार शुभ समय में वैवाहिक आयोजन हुआ, और अर्जुन और चित्रांगदा विवाह-मण्डप में दिखाई देने लगे।

हवन धूम के ओट में जोड़ी भली लखाय।
मनहुँ जलद के पटल में युग थिर चंद लखाय ।।

यथा रीति वैवाहिक कार्य सम्पन्न होने पर ब्राह्मण लोग आशीर्वाद देने लगे—

युग-युग यह जोड़ी जिये, अविचल होवै राज।
प्रेमलता तुम दुहुँन की, फलै सुफल सुख साज ।।

तृतीय परिच्छेद

पिया बिसरायो कौने हेत ?
तन मन धन सर्बस जेहि सौंप्यो, सो करत नचेट ।।
जेहि के रंग रंग्यो है हिय-पट लियो सुखाय संवारि।
देखि परत नहिं जाहि उढ़ाओं कुसुम विसिख अनुहारि ।।
बिना मेघ दामिनि नहीं रहती चांदनिहु बिन चंद।
आओ जीवन मूरि मिलो अब भुज भरि-भरि स्वच्छन्द ।।

मणि-जटित पर्यंक पर लेटी हुई एक सुन्दरी दोनों हाथों से अपने वक्ष-स्थल को दबाये हुए कातर दृष्टि से आवरण-मुक्त द्वार की ओर निहार रही है। उसके कुंचित केशकलाप वातायन से आ रहे मलयानिल की प्रेरणा से उस रमणी के हृदय की भाँति कभी-कभी काँप उठते हैं।

सामने बैठी हुई एक स्त्री कोकिल-कण्ठ से अलापती हुई ऊपर लिखा गीत गा रही है और दूसरी, वीणा का स्वर, उसी संगीत की लय में मिला रही है। संगीत समाप्त होते-होते वह रमणी वातायान के समीप खड़े होकर कलनादिनी नदी के मंद प्रवाह को निरखने लगी। नदी की चंचल तरंगभंगी देखकर उसका चित्त और भी चंचल होने लगा। यद्यपि वह अपनी आंतरिक अभिलाषा को तलस्थायी मुक्ताफलों की भाँति गुप्त रखना चाहती है, तथापि वह अश्रुरूप से निकल ही पड़ती है। रमणी के नेत्रों से निकले हुए अश्रु-बिन्दुओं को कमल-क्रीड़ा करनेवाला मलय पवन मकरन्दबिन्दु जान कर हर ले जाता है।

वसंत की मनोहर सन्ध्या, उसकी तारा-मल-मण्डित मनोहर मूर्ति और तारा-पति की क्षीण दीप्ति चित्रांगदा को पूर्व स्मृति की झलक दिखा देती है।

स्रोतस्विनी के ऊपर तट के कुंजों से ऊपर उठता हुआ चन्द्र जगत् को रंजत-रञ्चित बना रहा है, परन्तु चित्रांगदा का हृदय अन्धकारमय है ।

अर्जुन से वियोग हुए कई वर्ष बीत गये, चित्रांगदा ने कभी दर्शन भी नहीं पाया ।

रहे बनबास सहे बहु कष्ट ।
कियो निज बैरिन को मन्द नष्ट ।।
लयो सुख राज मिले सब भ्रात ।
नहीं हिय माहिं अनन्द समात ।।
व्यतीत भये बहु बासर जात ।
न पारथ पूछत हैं इक बात ।।
सुधीरज हाय धरें किमि प्रान ।
लियो नहिं खोज अहो सुखदान ।।

इसी से चित्रांगदा का हृदय व्यथित हो रहा है। चित्रांगदा ने निश्वास ले कर सखी से कहा—सखी ! कुछ और ऐसा ही गाओ। सखी ने यह पद्य गाना प्रारम्भ किया—

मधुकर प्रीत की रीति नई ।
निज दिन देखत हौ गुलाब को कलियाँ कलित नई ।
काँटन से उरझत घूमत हो सुधि बुधि बिसरि गई ।
खिलत न मलयानिल सों जौ लौं तौ लौं ढिग ठहरावो ।
लेइ पुहुप रज निज स्वारथ रत फिर नाहिं मुंह दरसावो ।।

कोकिल-कण्ठ-विनिर्गत वह मधुर राग घर भर में गूँज गया और चित्रांगदा की हृदय-विपञ्ची पंच्चम स्वर से बज उठी। उसकी आनन्द-स्मृति-सुधा उसके नयन-निर्झर से अश्रुरूप होकर झरने लगी। उसने उसी आवेश में कहना प्रारम्भ किया।

सखि !

यौवन ऊषा प्रथम प्रकट जब हिये भई है।
शैशव तारानिकार मलिनता धाय लई है ।।
नवल राग सों रंग्यो गयो हियनभ-पट ऐसो।
सह्यो चण्डकर ताप तदपि संध्या में तैसो ।।
हाय प्रणय-स्मृति-सूर्य उदय नित हिय-नभ होवै ।
पूर्व राग बिस्तारि अलौकिक रंग संजोवै ।।
पुनि धरि तीछन किरन बरसि बिरहागिनि ज्वाला ।
शांत होत लहि अश्रु वारि धारहिं विशाला ।।

तव पुनि धारत राग वहै जो प्रथम भयो है।
मधुर करुण सुख-रूप हृदय सौरभित कियो है।।
नव बसन्त की सान्ध्य महा सुखमा-सी सोहै।
सहै यदपि बहु कष्ट तदपि मन वहि महं मोहै।।

"सखि ! देखो तो, इतने दिन हुए, प्राणनाथ से इस दासी का कुछ भी ध्यान नहीं किया। यद्यपि अपना चिन्ह-स्वरूप लोचनानन्ददायक हृदयमणि यह सुकुमार कुमार बभ्रुवाहन हमें दे गये हैं; पर, क्या उन्हें इसको भी देखने के लिए न आना चाहिए ! हाँ जीवनाधार ! तुमको कुछ भी दया नहीं है?"

ज्योंही इतना कहकर वह चुप हो रही कि मृगया-वेश से सुसज्जित एक सुन्दर कुमार आता हुआ दीख पड़ा। चित्रांगदा ने अंचल से आँसू पोंछते हुए उस कुमार को उठा कर गोद में ले लिया।

कुमार बभ्रुवाहन उस समय एक अनिवर्चनीय आनन्द से हँस रहा था, उसे यों हँसते देखकर चित्रांगदा ने पूछा—वत्स, आज क्या है, जो इतना हँस रहे हो ?

कुमार०—माता, आज बड़े आनन्द का समाचार है।

चित्रां०—वह क्या ?

कुमार—पाण्डवों के अश्वमेध-यज्ञ का घोड़ा हमारे राज्य के समीप पहुँच गया है, कल सवेरे हम उसे पकड़ लावेंगे।

चित्रां०—(प्रसन्न होकर)—अच्छा बेटा—

कुमार(अपनी धुन में)—माता, सुना है कि वह अश्व बहुत सुन्दर है।

चित्रां०—कैसा अश्व, ?

कुमार०—वही-वही, पाण्डवों के अश्वमेध का।

चित्रां०—(चिहुँक कर)—पाण्डवों का ? अश्वमेध का ?

कुमार—आपने नहीं सुना ? धर्मराज अश्वमेध कर रहे हैं।

चित्रां०—वत्स, उसमें युद्ध करना होगा।

कुमार—माता, फिर तुम्हारे पुत्र को और क्या करना चाहिए ?

चित्रां०—(हँसकर) अच्छा वत्स, यह तो कहो कि अश्व का रक्षक कौन है ?

कुमार—सो तो अभी नहीं मालूम। कोई भी हो, जो होगा उससे युद्ध कर अश्व को अवश्य ले आऊँगा।

चित्रां०—अच्छा, प्रातःकाल—

पुत्र, तुम्हें पहनाय कवच निज हाथन ही ते।
साजि वस्त्र सब अंग देइ आशीष सुही ते।।
गोरोचन को तिलक भाल मंगलमय दैके।
लखिहौं बीर प्रसूती ह्वै आनन्द हिय लैके।।

चतुर्थ परिच्छेद

चित्रांगदा उद्यान में घूम रही है। उद्यान की शोभा देखते-देखते चित्रांगदा ने सखी से कहा—सखी ! कुछ इस उद्यान का वर्णन कर ।

सखी कहने लगी—

दिनकर किरन प्रभात में। कुसुम कलिन की घात में।
निखरत ऊषा-ओट ते । अम्बर पट में लोटते ।।
तरु बहु कुसुमन भावते। भरि सुगन्ध रस-भार ते ।।
मोद भरे हैं झूमते । धरा धाय कै चूमते ।।
दूर्वादल अति श्यामले। शिशिर सिक्त छवि सों भले ।
पाँयन सों मिलि जात हैं। तब अति सुखद जनात हैं ।।
क्यारी कुसुमित कुंज की। पपिहा परिमल पुंज की ।।
मलयानिल मिलि मोहते। सुखद सरस ह्वै सोहते ।।

चित्रांगदा—वाह सखी, वाह ! (थोड़ी देर चुप रहकर) — हाँ सखी, यह तो बता कि अश्वरक्षक कौन है, कुछ पता लगा ?

सखी (सिर झुका कर) — महाराज धनञ्जय हैं।

चित्रां० — क्या प्राणनाथ ?

सखी—हाँ देवी, वह देखो कुमार भी चले आ रहे हैं।

चित्रां०—आह, अब मैं क्या करूँ ?

कुमार—माता के चरणों में प्रणाम। अब शीघ्र आज्ञा कीजिए, क्योंकि अनुचरों ने अश्व को बाँध लिया है और यह समाचार पाकर पाण्डवों ने युद्ध का उद्योग किया है। मैं युद्ध-यात्रा से पहले आपका आशीर्वाद लेने के लिए आया हूँ।

चित्रां० — (कंपित स्वर से) —अब तो तुमको यही आशीर्वाद देती हूँ कि तुम अपने पिता से भी आशीर्वाद पाओ ।

कुमार—क्या मां, क्या कहा ?

सखी—कुमार, आपके पिता मध्यम पाण्डव धनञ्जय ही उस घोड़े के रक्षक हैं।

कुमार—क्या पिताजी आये हैं ?

चित्रां०—हाँ वत्स, जाओ, देव-भक्ति से अपने पिता का पूजन कर प्रसन्न करो।

कुमार—जैसी आपकी आज्ञा।

यों कहकर कुमार चल दिए, और मांगलिक वस्तु व पूजनोपचार लेकर मंत्री के साथ युद्ध-भूमि में पहुंचे ।

सेना के मध्य से खड़े हुए अर्जुन ने उस तेजस्वी कुमार को आते हुए देखा—

वीर बदन महं विभा, गमन जनु केहरि शावक।
कर कृपाण झलमलैं, तेज जनु ज्वाला पावक।।
भृकुटी विकट विलोल, केश कंधर पै छाजै।
जनु ज्वाला कहँ धूम, घेरिकै अतिशय राजै।।

पूजन की सामग्री लिए हुए मंत्री और कुमार ने विजय को दण्डवत् किया और मंत्री से कहा—

राज्य आपको ही अहै या में संशय नाहिं।
छमहु चूक अनुचरन की जाते शंका जाहि।।

अर्जुन—अच्छा मन्त्रिवर, आपने यह अच्छा सोचा। ऐसे ही चतुर मन्त्रियों से राज्य की रक्षा होती है। पर, यह तो कहो, यह कुमार कौन है? इसका क्या नाम है?

मं०—महाराज, यह आपही के चिरंजीव बभ्रु वाहन हैं और यही मणिपुर राज्य के उत्तराधिकारी हैं।

अर्जुन—(चौंक कर) क्या चित्रांगदा का पुत्र?

कुमार—हाँ पिताजी।

इतना कह दौड़ कर कुमार अर्जुन के गले से लिपट गये और अर्जुन ने भी वात्सल्य-स्नेह से कुमार को अंक में ले लिया।

फिर सावधान होकर जब दोनों सामने खड़े हुए, तब अर्जुन ने मंत्री से कहा—मंत्री, तुम वास्तव में मणिपुर राज्य के मंत्री होने के योग्य हो। यदि तुम पाण्डवों के मंत्री होते, तो कुमार को कभी ऐसी शिक्षा न देते।

इस पर कुमार ने चिढ़ कर कहा—क्यों पिताजी, कैसी शिक्षा?

अर्जुन—

"क्षात्रधर्म महँ होय गुरुहुँ सों करी लड़ाई।
देवव्रत से गये जौन कुल लही बड़ाई।।
तेरो पितु हौं सोई धर्म महँ दिक्षित ह्वै कै।
करी लड़ाई महारुद्र सों साहस कै कै।।
तू सोई निज जनक को आरति कै रिझवन चहै।
धिक्कार अहै तव मातु को लाज अजौं तू ना गहै।।
सुनि कटु वचन अमरष-भरे, तब कोपि कठिन कुमार ने।
आज्ञाकरी रथ लावने को, तीर धनु जो दृढ़ बने।।
पुनि कहो टेरि सुपाण्डवहिं, "सन्नद्ध संगर को रहौ।
यद्यपि पिता तुम हो मदपि, हौं मैं तुम्हारो सुत अहौं।"

रथ आ गया। युद्धवेश से सज्जित कुमार ने अर्जुन के सामने आकर प्रणाम किया, और फिर धनुष टंकारा।

धाये धरि धनु सायक सपच्छ। सब नीर जुरे देखत सुलच्छ ॥
तब चले तीर तरवार भल्ल। करि दर्प दाबि भिड़ि गये मल्ल ॥
इत विजय और उनको कुमार। दौरे दुहुँ पै दुहुँ गक बार ॥
दुहुँ की सेना पूरन उमंग । तब करन लगी मिलि युद्ध रंग ॥
कह टेरि सारथी सों कुमार । दाबहुँ दुष्टन को एक बार ॥
हौं तुम्हें दिखाओ कला कोटि। नाचैं कबन्ध शिर परैं लोटि ॥
इमि कह्यौ जबै कोपित कुमार। सैनहिं दाव्यो सारथि सुधार ॥
लाग्यो पहिरावन तब हजार। बानन के बीरन-गले हार ॥
सो कपट मित्र से कण्ठ माहि। लगि कै काटत हिय सों उछाहि ॥
पुनि तीखे शर जालहि पसार। पाण्डव कुमार किय अन्धकार ॥
तब तिन्हैं काटि दीन्हों सुबीर। मध्यम पाण्डव बहु छोड़ि तीर ॥
तुरतहि शर जालहि दीन्ह छाय। पाण्डव कुमार पुनि पितहि धाय ॥
सब काटत हैं अर्जुन सुशस्त्र। शिर धारि अनुपम स्वर्ण-छत्र ॥
मनु जलद-पटल बेगिहि संवारि। दिननाथ प्रकट ह्वै जात टारि ॥
तुरतहि छावत शर जाल डारि। कौशल कुमार करिकै विचारि ॥
तब क्रोधित ह्वै के विजय वीर। मार्‌यो कुमार के कठिन तीर ॥
मूर्च्छित ह्वै बालक दण्ड एक। पुनि उठ्‌यो शस्त्र धरिकै सटेक ॥
छाड़्‌यो तीछन इक महाभल्ल। गिरि पर्‌यो धनंजय महा मल्ल ॥
तव कोलाहल भो कटक माहं । सव चकित भये यह दृश्य चाह ॥
तुरतहि इक सुन्दर रमणि रूप। लखि चकित भये दुहुँ दल अनूप ॥

विमुक्त-कुन्तला उज्ज्वल कान्तिमयी रमणी ने तत्काल आकर उस गिरे हुए वीर धनंजय को उठा लिया और रथ पर जारोहण कर सबके देखते-देखते उस सेना से निकल गई।

कुमार भी चकित होकर निहारने लगे। इतने में मंत्री ने आकर कहा कि चलिए, महारानी ने आपको बुलाया है।

कुमार और मंत्री दोनों राजभवन की ओर पधारे। सेनापतियों के न रहने के कारण सेनाएँ अपने-अपने स्थान को लौट गईं।

सुसज्जित प्रकोष्ठ में पर्यंक पर अर्जुन लेटे हुए हैं और चित्रांगदा उनके मुख पर सुगन्धित सलिल सिंचन कर रही है। कुमार ने भयभीत भाव से माता को प्रणाम किया।

धनंजय को चेत हुआ, उन्होंने अपने को एक विचित्र-मणिमय भवन में पाया, सामने देखा तो चित्रांगदा विराजमान है। अर्जुन ने गद्‌गद कण्ठ से कहा—प्रिये! क्षमा करना।

चित्रांगदा ने तत्काल प्रणाम करके कहा—आर्यपुत्र, यह आप क्या कहते हैं, इस बालक के अपराध को क्षमा कीजिए।

अर्जुन ने हँसकर कहा—

चिरजीवी सब भाँति यह,
रहे राज सुख पाइ॥
निज कुल कहँ उज्जल करै।
तीन लोक यश छाइ॥

□□

कथा-प्रबंध

ब्रह्मर्षि

नवीन कोमल किसलयों से लदे वृक्षों से हरा-भरा तपोवन वास्तव में शांति-निकेतन का मनोरम आकार धारण किए हुए है, चंचल पवन कुसुमसौरभ से दिगंत को परिपूर्ण कर रहा है; किन्तु, आनन्दमय वशिष्ठ भगवान् अपने गम्भीर मुख-मण्डल की गम्भीरमयी प्रभा से अग्निहोत्र-शाला को आलोकमय किये तथा ध्यान में नेत्र बंद किए हुए बैठे हैं। प्रशांत महासागर में सोते हुए मत्स्यराज के समान ही दोनों नेत्र अलौकिक आलोक से आलोकित हो रहे हैं।

रघुकुल-श्रेष्ठ महाराज त्रिशंकु सामने हाथ जोड़कर खड़े हैं, किन्तु सामर्थ्य किसकी जो उस आनन्द में बाधा डाले। ध्यान भंग हुआ, वशिष्ठजी को त्रिशंकु ने साष्टांग दण्डवत् किया, उन्होंने आशीर्वाद दिया। सबको बैठने की आज्ञा हुई, सविनय सब बैठे।

महाराज को कुछ कहते देखकर ब्रह्मर्षि ने ध्यान से सुनना आरम्भ किया। त्रिशंकु ने पूछा—"भगवन्! यज्ञ का क्या फल है?"

वशिष्ठ ने उत्तर दिया—"स्वर्ग।"

फिर प्रश्न किया गया—"मनुष्य शरीर से स्वर्ग प्राप्ति हो सकती है?"

उत्तर मिला—"नहीं।"

फिर प्रश्न किया गया—"आपकी कृपा से सब हो सकता है?"

उत्तर मिला—"राजन्, उसको तुम न तो पा सकते हो और न हम दिला सकते हैं।"

त्रिशंकु वहाँ से उठकर, प्रणामोपरांत दूसरी ओर चले।

थोड़ी ही दूर पर भगवान् वशिष्ठ के पुत्रगण आपस में शास्त्रवाद कर रहे थे। त्रिशंकु ने उन्हें प्रणाम किया और कहा—"आप मानव-शरीर से स्वर्ग जाने का फल देनेवाला यज्ञ करा सकते हैं ?

पुत्र शिष्य गण ने कहा—"भगवान् वशिष्ठ ने क्या कहा ?"

त्रिशंकु ने उत्तर दिया—"भगवान् वशिष्ठ ने असम्भव कहा है।"

यह सुनकर वशिष्ठ-पुत्रों को बड़ा क्रोध हुआ और बड़ी उग्रता से वे बोल उठे—"मतिमन्द त्रिशंकु, तुझे क्या हो गया, गुरु पर अविश्वास ! तुझे तो इस पाप के फल से चाण्डालत्व को प्राप्त होना चाहिए।"

इस श्राप से त्रिशंकु श्री-भ्रष्ट होकर चाण्डालत्व को प्राप्त हुआ; स्वर्ग के बदले चाण्डालत्व मिला—पुण्य करते पाप हुआ !

+ + +

श्री-भ्रष्ट होकर त्रिशंकु विलाप करता हुआ जा रहा है कि सहसा नारद का दर्शन हुआ। सार्वभौम महाराज की ऐसी अवस्था देखकर नारद ने पूछा—"राजन् ! यह क्या ?" बिलखते हुए त्रिशंकु ने सारी कथा कह सुनाई। नारद ने कहा—"आप क्यों हताश होते हैं; मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ, सुनिए—

"बहुत दिन हुए विश्वामित्र नामक एक राजा अपनी चतुरंगिनी सेना को लिए हुए, आखेट करता हुआ, वशिष्ठाश्रम में पहुँचा। वहाँ शान्तिमयी प्राकृतिक शोभा देखकर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के दर्शन की अभिलाषा उसके चित्त में उत्पन्न हुई। वहाँ के आतिथ्य से वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। अरण्यवासी ऋषिकल्पों की सरल अभ्यर्थना से वह आनन्दित हुआ; परन्तु जब उसे ससैन्य आमंत्रण मिला, तब बहुत ही चकित हुआ। जब उसने वहाँ जाकर देखा कि कुछ नहीं है, तब और भी आश्चर्यान्वित हुआ। भगवान् वशिष्ठ ने ब्रह्मविद्या-स्वरूपिणी 'कामधेनु' से सब वस्तुएँ माँग लीं और कई दिन तक उन सैनिकों के सहित विश्वामित्र को रखा।

"जब वह बिदा होने लगा, तब उनसे बिदाई के स्वरूप में उस कामधेनु को मांगने लगा। जब उन्होंने न दिया, तब उन्हें दुःख देने लगा। तपोवन को उसके सैनिकों ने चारों ओर से घेर लिया। किन्तु वशिष्ठ केवल शान्त होकर सहन करने लगे। अकस्मात् पल्लव-देशीय मनुष्यों की युद्ध-यात्रा हो रही थी, उन सबों ने देखा कि ब्रह्मर्षि, एक उन्मत्त क्षत्रिय से सताया जा रहा है, तो सबों ने लड़कर विश्वामित्र को ससैन्य भगा दिया और वशिष्ठ आश्रम में शान्ति विराजने लगी; किंतु विश्वामित्र को उस अपमान से परम दुःख हुआ और वह तपस्या से शंकर को प्रसन्न करने लगा।

"शंकर ने प्रसन्न होकर उसे सब धनुर्वेद का ज्ञान दिया। अब वह धनुर्विद्या से बली होकर फिर उसी वशिष्ठाश्रम पर पहुँचा और महात्मा वशिष्ठ को पीड़ा

देने लगा। जब वशिष्ठ को बहुत व्यथा हुई, तब वे उसके समीप पहुँचे और उसे समझाने लगे; किन्तु वलोन्मत्त क्षत्रिय उन पर शस्त्रों का प्रयोग करने लगा।

"वशिष्ठ ने केवल ब्रह्मतेजय-सहिष्णुतारूपी दण्ड से सबको सहन किया। ब्रह्मर्षि के मुखपर उद्विग्नता की छाया नहीं, ताप भी नहीं, केवल शान्ति ही विराज रही है। विश्वामित्र विचलित हुए। चित्त की चिन्ता-श्रोतस्विनी का प्रवाह दूसरी ओर फिरा और वह कह उठा—

"धिग्बलं क्षत्रियबलं"

"वह अब ब्रह्म-बल पाने की आशा से घोर तपस्या कर रहा है, अब उसमें कुछ शान्ति की छाया पड़ी है।"

इतना कहकर नारद अन्तर्भूत हुए। त्रिशंकु घोर चिन्ता में पड़ा। एक-एक करके वशिष्ठ तथा उनके पुत्रों की सब बातें हृदय में बजने लगीं। विषाद तथा क्रोध ने उसे विवेकहीन बना दिया, चित्त में प्रतिहिंसा जल उठी—बार-बार 'प्रतिहिंसा, की ध्वनि उसके कानों में गूँजने लगी। किंकर्तव्य-विमूढ़ हो कर मंत्र-मुग्ध की भांति विश्वामित्र की तपोभूमि की ओर चल पड़ा।

विश्वामित्र त्रिशंकु से प्रसन्न हुए। तपस्या कर रहे हैं, किंतु ईर्षा ने हृदय का अधिकार नहीं छोड़ा। वशिष्ठ के प्रतिकूल होकर कार्य करने में वह बहुत ही आनन्दित हुए और यज्ञ कराना स्वीकार किया। 'मधुच्छन्दा' इत्यादि पुत्रों को आज्ञा दी कि वे यज्ञ का समारोह करें। और, ब्रह्मवादियों को भी निमन्त्रण दिया गया। सब होने लगा। किन्तु, वहाँ जाता ही कौन है?

वशिष्ठ-पुत्रों ने सब से कह दिया था कि—"चाण्डाल यजमान और क्षत्रिय आचार्य द्वारा सम्पादित यज्ञ में कौन भाग लेगा!"

आवाहन करने पर भी पुरोडाश ग्रहण करने के लिए देवगण नहीं आये। विश्वामित्र क्रोधान्वित हुए, श्रुवा पटक कर कहा—"यज्ञ में विघ्न डालनेवाले वशिष्ठ-पुत्र भस्म हों, और त्रिशंकु विश्वामित्र के तपस्या-बल से सदेह स्वर्ग जाए।"

त्रिशंकु स्वर्ग की ओर चला, किन्तु, देवराज ने कहा—"तिष्ठ तिष्ठ"—त्रिशंकु अधःपतित हुआ। विश्वामित्र ने कहा—"अब हम नई सृष्टि करेंगे, और बर्बरों को सभ्य बनावेंगे।" देवगण चकित हुए, और उनके अनुरोध से त्रिशंकु पुनः नक्षत्र रूप में स्थित हुए। विश्वामित्र के नव-कल्पित एक नक्षत्र-गोलक में नव-सृष्टि से त्रिशंकु रहने लगे। उधर अग्न्यास्त्र-रूपी श्राप से वशिष्ठ-पुत्र भस्मीभूत हुए।

विश्वामित्र ऐसा उग्र कार्य कर के कुछ शांत हुए और तपस्या करने लगे।

लोग उन्हें 'ऋषि' कहने लगे। वह भी निरन्तर तपस्या से त्रैलोक्य को कम्पित करने लगे।

एक दिवस शुनःशेफ दौड़ विश्वामित्र के चरण में लिपट गया। जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ कि वह महाराज हरिश्चन्द्र के यज्ञ का यज्ञ-पशु बनाकर बलि दिया जायगा। उद्दण्ड राजर्षि को कुछ दया आई, और वह अपने शत पुत्रों में से एक को उसके प्रत्यावर्तन में देने के हेतु सन्नद्ध हुए। पुत्रगण ने आज्ञा न मानी। वे भी शापित तथा निर्वाचित हुए। भगवान् इन्द्र प्रसन्न हुए। महाराज हरिश्चन्द को बिना नरबलि किये ही यज्ञ-फल मिला और विश्वामित्र 'राजर्षि' कहलाने लगे। किन्तु, वे ब्रह्मबल-लाभ की आशा में फिर तपस्या और निराहार-भूखों को अन्नदान करने लगे।

बहुत दिनों तक स्वयं निराहार रहकर वे भूखों को अन्नदान करते रहे। जिस दिन उनका व्रत पूर्ण हुआ और उन्होंने पाक बनाया, भोजन के समय में एक भूखा ब्राह्मण आया। विश्वामित्र ने अपने व्रत का कुछ भी ध्यान न किया और सिद्धान्त ब्राह्मण को खिला दिया।

ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर कहा—"महर्षि, तुम बड़े दयामय हो।"

सौ पुत्रों को खोकर, और निराहार पर भी निराहार कर के विश्वामित्र ने 'महर्षि' पद को प्राप्त किया। किन्तु, उन्हें शान्ति न मिली। वशिष्ठ की ईर्ष्या से वे सदा ईर्षित रहते थे, और उसी ईर्षाग्नि में जलित उस ब्रह्मबल की आशा ने अभी उनकी एक परीक्षा और ली।

शर्वरीनाथ रमणी से पूर्ण कलायुक्त क्रीड़ा कर रहे हैं। राका प्रकाशमयी, प्रभामयी तथा आनन्दमयी प्रकृति का रूप धारण किये हुए है। बहुत दूर से कोकिल की मनोहर वाणी कभी शान्तिमयी राका की निस्तब्धता को भङ्ग कर देती है। समीरण भी अपना सरल रूप धारण किये है। पत्रों का मर्मर रव कभी-कभी सुनाई पड़ता है। भगवान् वशिष्ठ के आश्रम में शान्ति, रूपमयी होकर खेल रही है।

देवकल्प वशिष्ठजी और उनकी पत्नी अरुन्धती कुटीर-समीपस्थ एक शुभ्र शिला तल पर बैठ, कथनोपकथन कर रहे हैं।

अरुन्धती—भगवन् ! आज कैसी स्वच्छ राका है !

वशिष्ठ—जैसा तुम्हारा चरित्र।

अरु०—चन्द्रोदय कैसा उज्ज्वल है ?

व०—जैसे विश्वामित्र का तप-पुंज।

अरु०—भगवन् ! उसने तो आपके पुत्रों को मार डाला था ?

व०—चन्द्र क्या निष्कलंक है···

अभी भगवान् वशिष्ठजी के वचन पूर्ण भी नहीं हुए थे कि सहसा दौड़ता हुआ एक मनुष्य आकर उनके चरणों पर गिर पड़ा और कहने लगा—"भगवन् ! आप ही इस संसार में 'ब्रह्मर्षि' कहलाने के योग्य हैं, लोग मुझे वृथा ही महर्षि कहते हैं। मैं तो आपको मारने के वास्ते व्याध की नाईं छिपा हुआ था, आपकी अमृत-वाणी से मेरे हृदय का अन्धकार दूर हुआ। आज ज्ञात हुआ कि, ब्राह्मण होने के हेतु कितनी सहनशीलता चाहिए ! प्रभो ! मैं घोर भ्रम में था, मैंने कितने पाप-कर्म आपको नीचा दिखाने के हेतु किए और ब्रह्मर्षि बनने के हेतु कितनी हिंसा की, आज पर्याप्त हुआ। आज मैंने सब पाया। प्रभो, इस पापी को क्या आप क्षमा कीजिएगा ?

वशिष्ठजी ने पुलकित होकर विश्वामित्र को प्रियमित्र बनाया और पुनः कण्ठ से लगाकर सुधा-प्लाविता वाणी से कहा—"ब्रह्मर्षि, शान्त होवो। परम शिव तुम्हें क्षमा करेंगे।"

दोनों ब्रह्मर्षियों का महा सम्मेलन गंगा-जमुना के समान पवित्र-पुण्यमय था, ब्राह्मण और क्षत्रियों के हेतु वह एक चिरस्मरणीय शर्वरी थी।

□□

पंचायत

1

मन्दकिनी के तट पर रमणीक भवन में स्कंद और गणेश अपने-अपने वाहनों पर टहल रहे हैं।

नारद भगवान् ने अपनी वीणा को कलह-राग में बजाते-बजाते उस कानन को पवित्र किया, अभिवादन के उपरान्त स्कंद, गणेश और नारद में वार्ता होने लगी।

नारद—(स्कंद से) आप बुद्धि-स्वामी गणेश के साथ रहते हैं, यह अच्छी बात है, (फिर गणेश से) और आप देव-सेनापति कुमार के साथ घूमते हैं, इससे (तोंद दिखाकर) आपका भी कल्याण ही है।

गणेश—क्या आप मुझे स्थूल समझकर ऐसा कह रहे हैं ? आप नहीं जानते, हमने इसीलिए मूषक-वाहन रखा है, जिसमें देव-समाज में वाहन न होने की निन्दा कोई न करे, और नहीं तो बेचारा 'मूस' चलेगा कितना ? मैं तो चल-फिर कर काम चला लेता हूँ। देखिये, जब जननी ने द्वारपाल का कार्य मुझे सौंप रखा था, तब मैंने कितना पराक्रम दिखाया था, प्रथम गणों को अपनी पद-मर्य्यादा हमारे

सोंटे की चोट से भूल जाना पड़ा।

स्कन्द—बस रहने दो, यदि हम तुम्हें अपने साथ न टहलाते, तो भारत के आलसियों की तरह तुम भी हो जाते।

गणेश — (हंसकर) ह-ह-ह-ह-, नारदजी ! देखते हैं न आप ? लड़ाके लोगों से बुद्धि उतनी ही समीप रहती है, जितनी कि हिमालय से दक्षिणी समुद्र !

स्कन्द—और यह भी सुना है।—ढोल के भीतर पोल !

गणेश—अच्छा तो नारद ही इस बात का निर्णय करेंगे कि कौन बड़ा है।

नारद—भाई, मैं तो नहीं निर्णय करूँगा; पर, आप लोगों के लिए एक पञ्चायत करवा दूंगा, जिसमें आप ही निर्णय हो जायगा।

इतना कहकर नारदजी चलते बने।

2

वटवृक्ष-तल सुखासीन शंकर के सामने नारद हाथ जोड़कर खड़े हैं। दयानिधि शंकर ने हँसकर पूछा—क्यों वत्स नारद। आज अपना कुछ नित्य कार्य किया या नहीं ?

नारद ने विनीत होकर कहा—नाथ, वह कौन कार्य है ?

जननी ने हँसकर कहा—वही कलह-कार्य्य।

नारद—माता ! आप भी ऐसा कहेंगी, तो नारद हो चुके; यह तो लोग समझते ही नहीं कि यह महामाया ही की माया है, बस, हमारा नाम कलह-प्रिय रख दिया है।

महामाया सुनकर हँसने लगीं।

शंकर—(हँसकर)—कहो, आज का क्या समाचार है ?

नारद—और क्या, अभी तो आप यों ही मुझे कलहकारी समझे हुए बैठे हैं, मैं कुछ कहूँगा, तो कहेंगे कि बस तुम्हीं ने सब किया है। मैं जाता तो हूँ झगड़ा छुड़ाने, पर, लोग मुझी को कहते हैं।

शंकर—नहीं, नहीं, तुम निर्भय होकर कहो।

नारद—आज कुमार से और गणेशजी से डंडेबाजी हो चुकी थी। मैंने कहा—आप लोग ठहर जाइए, मैं पंचायत करके आप लोगों का कलह दूर कर दूंगा। इस पर वे लोग मान गये हैं। अब आप शीघ्र उन लोगों के पञ्च बनकर उनका निबटारा कीजिए।

शंकर—यहाँ तक ! अच्छा, झगड़ा किस बात का है ?

नारद—यही कि देवसेना-पति होने से कुमार अपने को बड़ा समझते हैं, और (जननी की ओर देखकर) बुद्धिमान होने से गणेश अपने को बड़ा समझते हैं।

जननी—हाँ-हाँ, ठीक ही तो है, गणेश बड़ा बुद्धिमान है।

शंकर ने देखा कि यह तो यहाँ भी कलह उत्पन्न किया चाहता है, इसलिए वे बोले—वत्स! तुम इसमें अपने पिता को ही पञ्च मानो, कारण कि जिसको हम बड़ा कहेंगे, दूसरा समझेगा कि पिता ने हमारा अनादर किया है—अस्तु, तुम शीघ्र ही इसका आयोजन करके दोनों को शान्त करो।

नारद ने देखा कि, यहाँ दाल नहीं गलती, तो जगत्पिता के चरण-रज लेकर विदा हुए।

3

नारद अपने पिता ब्रह्मा के पास पहुँचे। उन्होंने सब हाल सुनकर कहा—वत्स! तुझ क्या पड़ी रहती है, जो तू लड़ाई-झगड़ों में अग्रगामी बना रहता है, और व्यर्थ अपवाद सुनता है?

नारद—पिता! आप तो केवल संसार को बनाना जानते हैं, यह नहीं जानते कि संसार में कार्य किस प्रकार से चलता है। यदि दो-चार को लड़ाओ न और उनका निबटारा न करो, तो फिर कौन पूछता है? देखिए, इसी से देव-समाज में नारद-नारद हो रहा है और किसी भी अपने पुत्र की आपने देव-समाज में इतनी चर्चा सुनी है?

ब्रह्मा—तो क्या तुझे प्रसिद्धि का यही मार्ग मिला है?

नारद—मुझे तो इसमें सुख मिलता है—

"येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।"

ब्रह्मा—अब तो शंकर की आज्ञा हुई है, जैसे-तैसे इसको करना ही होगा, किंतु हम देखते हैं कि गणेशजी जननी को प्रिय हैं; अतएव यदि उनकी कुछ भी निचाई होगी, तो जननी दूसरी बात समझेंगी! अस्तु! अब कोई ऐसा उपाय करना होगा कि जिस में बुद्धि से जो जीते, वही विजयी हो। अच्छा, अब सबको शंकर के समीप में इकठ्ठा करो।

नारद यह सुनकर प्रणाम करके चले।

4

विशाल बटवृक्ष तले सब देवताओं से सुशोभित शंकर विराजमान हैं। पञ्चायत जम रही है। ब्रह्माजी कुछ सोचकर बोले—गणेशजी और कुमार में इस बात का झगड़ा हुआ है कि कौन बड़ा है? अस्तु, हम यह कहते हैं कि जो इन दोनों में से समग्र विश्व की परिक्रमा करके पहले आवेगा, वही बड़ा होगा।

स्कंद ने सोचा—चलो अच्छी भई, गणेश स्वयं तुन्दिल हैं—मूसक-वाहन

पर कहाँ तक दौड़ेंगे, और मोर पर मैं शीघ्र ही पृथ्वी की परिक्रमा कर आऊँगा।

फिर वह मोर पर सवार होकर दौड़े। गणेश ने सोचा कि भव और भवानी ही तो पिता-माता हैं, अब उनसे बढ़कर कौन विश्व होगा। अस्तु, यह विचारकर शीघ्र ही जगज्जनक, जननी की परिक्रमा करके बैठ गये।

जब कुमार जल्दी-जल्दी घूमकर आये, तो देखा, तुन्दिलजी अपने स्थान पर बैठे हैं।

ब्रह्मा ने कहा—देखो, गणेशजी आपके पहले घूमकर आ गये हैं !

स्कंद ने क्रोधित होकर कहा—सो कैसे ? मैंने तो पथ में इन्हें कहीं नहीं देखा !

ब्रह्मा ने कहा—क्या में मार्ग मूषक का पद-चिह्न आपको कहीं नहीं दिखाई पड़ा था ?

स्कंद ने कहा—हाँ, पद-चिह्न तो देखा था।

ब्रह्म ने कहा—उन्होंने विश्वरूप जगज्जनक, जननी ही की परिक्रमा कर ली है। सो भी तुम्हारे पहले ही।

स्कंद लज्जित होकर चुप हो रहे।

□□

प्रकृति-सौन्दर्य

प्रकृति-सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत समूह है, अथवा, उस बड़ शिल्पकार के शिल्प का एक छोटा-सा नमूना है, या इसी को अद्भुत रस की जन्मदातृ कहना चाहिए। सम्पूर्ण रूप से वर्णन करना तो मानो ईश्वर के गुण की समालोचना करना है।

हे प्रकृति देवी ! तुमको नमस्कार है, तुम्हारा स्वरूप अकथनीय है। द्वीप, महाद्वीप, प्रायद्वीप, समुद्र, नदी, पर्वत, नगर अथवा सम्पूर्ण जल-स्थल तुम्हारे उदर में हैं। उनमें स्थान-विशेष में ईश्वरीय शिल्क-कौशल के साथ तुम्हारी मनोहारिणी छटा अतीव सुन्दर दृष्टिगोचर होती है। अगाध जल के तल में, समुद्र के गर्भ में, कैसी अद्भुत रचना, कैसा आश्चर्य ! अहा ! यह विद्रुम-लता का जल-राशि में लहरों के साथ झूमना, सीपियों का तथा छोटे-छोटे जन्तुओं का इधर-उधर संचरण तथा विचित्र रूप की लताओं और वनस्पतियों के सन्निकट में अद्भुत जन्तुओं का समूह और उनका जलतरंग के साथ-साथ हिलती हुई झाड़ियों

में घूमना, अथाह जल के नीचे ऐसे-ऐसे अमूल्य रत्न ! और ऐसा सुन्दर मनोहारी दृश्य !

हिम-पूरित तराइयों में, तथा हिमावृत्त चोटियों पर अदभुत रंग के नील, पीत, ललित कुसुम-सहित लताओं का, शीतल वायु के झोंके से दोलायमान होना, पुनः प्रातः सूर्य्य की किरणों का छायाभास पड़ने से हिमावृत्त चोटियों का इन्द्र-धनुष-सा रंग जाना, कैसा सुन्दर जनाई पढ़ता है ! समयानुकूल उन पर बर्फ की झड़ी और कड़ा वायु का झोंका कैसा हृदय को कंपाये देता है ! शिखरों पर से वेग सहित बहती हुई नदियाँ, तथा उनके प्रवाह से अद्भुत शिलाखण्डों का बनाव, और उनकी अद्भुत स्थिति देखकर बोध होता है कि मानो कोई गुप्त बल अभी तक इनको रोके हुए है ! इसी प्रकार अनेक स्थानों, अनेक नगरों में, कतिपय पर्वतों पर तुम्हारा वही पूर्वकथित रूप दृष्टिगोचर होता है, जिनके पूर्ण वर्णन करने के लिए, मनुष्य को योग्यता और बुद्धि हो ही नहीं सकती।

तुम्हारा समयानुकूल परिवर्तन भी कैसा सुन्दर होता है। ऋतु विभाग के अनुसार 'बसंत' में कोमल कलित पत्तियों से सहकर वृक्षों को सहावना बनाती हुई, मधुर मंजरी तुम ही उत्पन्न करती हो। अहा ! उस समय में तुम्हारी अद्भुत छटा देखने ही योग्य होती है ! कहीं परिमित रूप से बहती हुई शैवालिनी में विकसे हुए अरविन्दों पर मधुव्रत-माला रस लेते हुए आनन्दोलन से गूँज रहे हैं। कहीं अर्द्ध-प्रस्फुटित रक्त तथा कोमल पत्तियों-सहित तरुण वृक्षों पर बैठे हुए रसमग्न कोकिल अपनी 'कुहुक' सुनाते हुए, कोमल डालियों को दोलायमान कर ते है ! सुरम्य वन, कुन्ज, लता, उपवन, पर्वत, तटी इत्यादि, जहाँ दृष्टिपात करो, उधर ही कुसुम-पूरित डालियाँ दिखाई देती हैं ! समय का तो कहना ही क्या है, प्रभात बाल-अरुणोदय, पक्षियों का उड़ते हुए कलरव, शीतल सुरभित मलयानिल भगवान् दिनकर की काञ्चनीय रश्मि, मनुष्यों का अपने कार्यों में लगने का कलरव तथा जन-शून्य स्थानों में तुम्हारी ही मनोहर शून्यता क्या ही अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है। फिर, वह मध्याह्न के अंशुमाली भगनान् का तप्त तेज, प्रचंड वायु, गर्मी की अधिकता का कैसा आतंक हृदय में उत्पन्न होता है। मधु-रात्रि के तारागण-मध्यस्थ पूर्ण-चन्द्रमण्डल का अपनी रजत-किरणों से जगत् को धवलित करना, चन्द्र-किरण-स्पर्शित मधुर मकरंद-पूरित वायु का सञ्चरण ! यह सब तुम्हारी ही अद्भुत छटा है।

पुनः ग्रीष्म के साथ-ही-साथ तुम्हारा परिवर्तन देखने में भी दुःसह होता है। सूर्य्य भगवान् की अविश्राम तप्त किरणें, लूह का सन्नाटा मारते हुए झपट, तेज-पूरित उष्ण निदाघ, कुसुवली-पूरित वृक्षों का मुरझना, नदियों का शुष्क होते हुए मन्द प्रवाह; धरणातल पर की अविरल शून्यता, विचित्र प्रभाव उत्पन्न करती है !

परन्तु प्रकृति ! तुम ग्रीष्म में भी अपनी नष्टप्राय वासंतिक शोभा को रजनी में एक बार उद्दीप्त कर देती हो ! वही शुष्क तथा मंद वाहिनी नदियाँ, वे ही उच्च-प्रासाद-वेष्टित नगरावली तथा सुरम्य पर्वत-तटी, जो दिनकर के तेज-पूरित दिन में दुर्दर्शनीय हो रहे थे, कुमुदिरीनायक की सुधाप्लावित किरणों से रजत-मार्ज्जित होने से, कैसे सुन्दर तथा मनोहारी दृश्य में परिवर्त्तित हो जाते हैं ! और वही विषम प्रचंड उष्णवायु, जो कि शरीर को झुलसाए देती थी, चन्द्रकिरण के स्पर्श से कुछ शीतल हुआ जाता है। यह सब क्या है ? केवल तुम्हारा ही अनियमित स्वरूप है।

अरे कहां निर्मलचन्द, कहां यह श्याम-सघन घन, कहाँ सुधा-कण-समान विकीर्ण तारागण का मंद प्रकाश, और कहाँ यह सौदामिदी-माला का बारम्बार चमकना ! कहां दिवाकर-तेज में वृक्षों की उदासीनता और कहाँ मेघावली के जलसिञ्चन से पत्र-पुञ्ज में हरियाली। वर्षा-ऋतु में भी प्रकृति का कैसा सुन्दर तथा मनोहर दृश्य होता है ! नवीन मेघमालाच्छादित गगन-मण्डल में दुर्जय वारिद-रूपी दानव के असित शरीर पर इन्द्र के वज्रपात से चिनगी छिटकने के समान विद्युल्लता का बारम्बार चमकना तथा सघन वृक्षाच्छादित हरित पर्वत-श्रेणी, सुन्दर निर्मल जलपूरित नदियों का हरियाली में छिपते हुए बहना, कतिपय स्थानों से प्रकटरूप से वेगसहित प्रवाह, हृदय की चञ्चल धारा को अपने साथ बहाए लिए जाता है ! मयूरों का उच्च कदम्ब-शिखर पर बैठे हुए कलनाद, कोकिल गण का कलरव, झिल्ली-समूह के झनकार के साथ पवन-वेग से गुञ्जित तथा कम्पित वृक्षावली शिर हिलाकर चित्त को अपनी ओर बुलाये लेती है ? तदुपरान्त सघन बुन्दियों की अविरल धारा; क्षितिज पर्यन्त हरियाली, रुकते हुए वर्षा-जल की श्वेत आभा; नेत्रों के सामने कैसा सुन्दर दृश्य उपस्थित करती है। तुम्हारा स्वरूप मनुष्य की कल्पना में नहीं आ सकता। पावस निशा में तुम्हारा वह भयावह दृश्य हृदय को कम्पायमान करता है। गंभीर तमावृत्त संसार, मेघाच्छन्न आकाश से सौदामिनी के चमकने के साथ घोर वजपात शब्द, वर्षा का गंभीर-रव, झिल्लियों की झन्कार के साथ-साथ बारम्बार जुगनू का चमकना हृदय को अधीर किए देता है।

और यह क्या ? देवि ! यह कैसा अद्भुत दृश्य ! कहाँ वह श्यामघन में सौदामिनी-माला, कहाँ स्वच्छ नील-गगन में पूर्णचन्द्र ! अहा, यह मुझे ही भ्रम हुआ, यही तो शारदीय स्वरूप है ! वह देखो— नगरों की सीमा के बाहर तथा नदी के तट पर कास का विकास और निर्मल जल-पूरित नदियों का मन्द प्रवाह, शारदीय चंद्र का पूर्ण प्रकाश, सरोवरों में सरोजगण का विकास, कुछ शीत वायु छिटकी हुई चंद्रिका का हरित वृक्ष, उच्च प्रासाद, नदी, पर्वत, कटे हुए खेत तथा मातृ-धरणी पर रजत मार्ज्जित आभास ! वाह ! यह कैसा नटी की तरह यवनिका,

परिवर्तन ! शीत का हृदय कंपानेवाला वेग, हिमपूरित वायु का संनाटा, शस्यक्षेत्र में मुक्ताफल समान ओस की बूँदें, उन पर प्रभात-सूर्य-किरण की छाया ! यह सब दृश्य कैसा आनंद देता है। पुनः कृष्णपक्ष के शिशिर में गंभीर शीतवायु का प्रचण्ड वेग, गाढ़ांधकार, जिसमें कि सामने की परिचित वस्तु देखने में भी चित्त भय से काँप जाता है।

यह सब क्या है ? हे देवि ! यह सब तुम्हारी ही आश्चर्यजनक लीला है, इससे तुम्हारे अनंत वर्ण-रञ्जित मनोहर रूप को देखकर कौन आश्चर्य-चकित नहीं हो जाता !

□▣

सरोज

संसार-कानन में जितने कुसुम हैं; उनमें सरोज का आसन सबसे ऊँचा है। उसका प्रवेश प्रायः सब देवदुर्लभ स्थानों में है। श्री का विलास-मंदिर सरोज ही है। यहाँ तक कि बनमाला भी बिना इसके नहीं बनती। निर्मल नील-सरोवर में तरंग-मालाएँ नृत्य कर रही हैं। सरोज का सुंदर विकास देखकर, मधुकर मलयानिल से दौड़-दौड़कर यही कहता है कि—"मित्र, तुम कहाँ थे, तुम्हारे बिना इस नव-प्रफुल्लित सरोज का आनंद नहीं मिलता, क्या तुम मलय से ही संतुष्ट हो गये ? पर यह नहीं जानते कि तोषामोदकारों ने तुम्हारा नाम मलयानिल रख दिया है। मित्र ! वास्तव में तुम्हारा नाम दक्षिण पवन है, तुम्हें किसी एक के अनुकूल न होना चाहिए। और यह भी तुम नहीं जानते कि सरोज-सौरभ के बिना तुम्हारी गति धीर न होगी; जब तक तुम सरोज-पराग-धूलि-धूसर न होगे, तब तक तुम यों ही दौड़ा करोगे !"

वास्तव में मधुकर का कथन सत्य है। यही समझकर तो पण्डितराज ने सरोज और पवन में मैत्री करा दी है, और उसी का अनुमोदन करते हुए कहा भी है—

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं ।
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृंगाः ।
दिशि-दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धको गंधवाहः ॥

अहा, जिस समय प्रभात की पहिली किरण प्रशांत गगन-सागर में दिखाई देती है, उसी समय सहस्रदल सरोज सहस्रकर की एक-एक किरण के साथ अपनी संवर्तिकाओं को प्रसारित करता है। उस समय गणना करते हुए गणितज्ञों के

समान वह भी ग्रहों में अपनी गति दिखाता है और सुरसिक मधुकरगण का तो आधार है, क्योंकि कुसुम-कानन में जैसा कमल उसे प्यारा है, वैसा अन्य नहीं अहा ! विरह-विधुर मधुकर का चित्र किसी कवि ने कैसा अच्छा खींचा है—

निरानंदः कौंदे मधुनि विधुरो बालवकुले
न साले सालम्बे लवमपि लवंगे न रमति ।
प्रियंगौ नासंगं क्षणमपि न चूते विचरति
स्मरं लक्ष्मीलीलाकलमलमधुपानं मधुकरः ।।

महाकवि कालिदास ने तो सरोज को इतना उच्च आसन दिया कि है दिवाकर को भी कहीं-कहीं उसे अपनी ऊपर की किरणों से प्रबोधित करना पड़ता है; क्योंकि उन्होंने कहा है कि—

सप्तर्षि हस्तावचितावशेषा—
ण्यधो विवस्वान् परिवर्धमानः ।।
पद्मा नियस्याग्र सरोरुहाणि
प्रबो धय त्यू र्ध्व मु खै र्म यू खैः ।।

सरोज ! साहित्य-सरोवर की तुम एक सुखद समीपस्थ सामग्री हो, कवि लोग तुम्हें इसीलिए नाना अलंकारों से सुसज्जित कर अहर्निश तुमसे खेला करते हैं । वास्तव में तुम कवि-कल्पना के कल्पद्रुम-कुसुम हो, मधुकर से अधिक कविगण तुम्हारे पराग-कण से रञ्जित रहते हैं । सरोज ! यदि तुम सरोवर में न होते, तो जल-क्रीड़ा के समय में कोई रमणी अपना मुख कैसे छिपा सकती, और भारवि को कौन-सी दूसरी सामग्री ऐसे कुहक रचने के लिए मिल सकती—

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे,
विवोलदृष्टेः स्विदमूविलोचने ।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसंतते—
र्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ।।
अगूढ हास स्फुट दन्त केसरं,
मुखं स्विदेतद्विक सन्नपंकजम् ।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखी,
विदां वभूवुः सुचिरेण योषितः ।।

इन पद्यों में भारवि ने ऐसा इन्द्रजाल रचा है कि वास्तव में उस सरोज-वन में रमणी का मुखमण्डल पहचानने में सखियों को देर हो सकती है ।

सरोज ! चंचल तरंगों में नृत्य करते हुए जब तुमने 'माघ' का हृदय हरण कर लिया था, तब वह भी तुम्हारी प्रशंसा करने से वञ्चित न रह सके और तभी उन्होंने कहा कि—

कान्तायाः कुवलयमप्यपास्तयक्ष्णेः
शोभाभिर्न मुखरुचाहमेक एव।
संहर्षादलिविरुतैरितीव गायँ—
ल्लोलोर्यौ सरसि महोत्पलं ननर्त ।।

सरोज ! साहित्य-सरोवर के सुन्दर सौरभित सरोज ! सौन्दर्यमयी सुंदरियों के चरण से लेकर, नेत्र, मुख, आदि को उपमा के लिए, कवियों के समीपस्थ सामग्री तुम्हीं हो, और श्रीहर्ष ने तुम्हें सहर्ष सम्राट बनाया है, जैसा कि इस श्लोक से व्यक्त होता है कि—

व्यधत्त धाता वदनाब्जमस्याः
सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेपि ।
सरोजराजौ सृजतोऽदसीयां
नेत्राभिधेयावत एव सेवाम् ।।

तब फिर तुम्हारे गुणों का उल्लेख हम कहाँ तक कर सकते हैं ? तुमसे बढ़कर संसार-कानन में अन्य कौन कुसुम है ?

□□

भक्ति

मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है, तब उसके चित्त में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उन्हीं भावों के पर्यालोचन में उसके हृदय में एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लोग चिंता कहते हैं। वह चिन्तित मनुष्य संसार में किसी "अघटन घटना पटीयसी" शक्ति की लीला देखते-देखते मुग्ध होकर उस शक्तिमान की खोज करता है। जब वह भ्रमता है, तब उसे उन पथ-दर्शकों की मधुर सान्त्वनामयी वाणी कर्णगोचर होती है—

"श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि"

अस्तु ! यदि उस सर्व-शक्तिमान को कोई ऊँची वस्तु मान लिया जाय, तो भक्ति उसे पाने का दूसरा सोपान है, नहीं तो ऐसा ही मान लिया जाय कि किसी निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने की, एक सहारे की शृंखला है, जिसमें कि ये चार कड़ियां हैं। इनमें ऐसा घना संबंध है कि वह किसी प्रकार से नहीं छूट सकता। मानव-सृष्टि धारा-प्रवाह की तरह उस महासागर की ओर जा रही है। उस धारा-प्रवाह में श्रद्धा जल है, भक्ति वेग है तथा उसका गमन ही ज्ञान है, और उसका योग हो जाना ही महासम्मेलन है। 'श्रद्धा' 'भक्ति' में केवल नामांतर है, श्रद्धा का पूर्ण स्वरूप भक्ति है, भक्ति बिना पहचान होती नहीं और बिना

मिले जाना भी नहीं जाता, इसी से कहते हैं कि इनका परस्पर घना सम्बन्ध है। इसे नामांतर अथवा भाव-भेद भी मान सकते हैं।

श्रद्धा के परिपाक में भक्ति से उसे मनुष्य कहता है—'सत्यं'। जब उसके मंगलमय स्वरूप को देखता है, तब उसके मुख से अनायास ही—'शिवं'—निकलता है, पुनः मनुष्य उस आलौकिक सौंदर्य से आनन्दित होकर कहता है—

"सत्यं शिवं सुन्दरम्।"

भक्ति क्या है? भक्ति ईश्वर में अनन्य प्रेम को कह सकते हैं और भक्ति को परीक्षा-ज्ञान भी कह सकते हैं। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। किंतु मुक्ति से क्या है? मुक्ति से मनुष्य ईश्वर में मिल सकता है और भक्ति से मनुष्य ईश्वर को अपने पास बुला सकता है। प्रजा यदि राज-राजेश्वर के समीप तक जाय, तो उसे आनंद मिलता है; किन्तु यदि राजराजेश्वर किसी प्रजा के घर पर जायँ, तो उसे कितना आनंद मिलेगा? यह विचारणीय है।

भक्तों की कथा को पढ़िए, क्या विश्वम्भर उनके आर्त्तनाद को सुनकर देर कर सकते थे? नहीं, कदापि नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि भक्ति से मनुष्य ईश्वर को बुला सकता है, और जब वह हमारे पास आ सकते हैं, तो कौन ऐसी वस्तु है कि जो वह हमको नहीं दे सकते? हां, भक्ति रूपी कल्पवृक्ष में अविश्वास का घुन न लगने देना चाहिए।

निराशा में, अशांति में, सुख में, उस अपूर्व सुंदर चंद्र की भक्तिरूपी किरण तुम्हें शांति प्रदान करेगी। और यदि तुम्हें कोई कष्ट हो, तो उस अशरण-शरण-चरण में लोटकर रोओ, वे अश्रु तुम्हें सुधा के समान सुखद होंगे और तुम्हारे सब संताप को हर लेंगे।

उस चरण-सरोज के सौरभ से तुम्हारी मस्तिष्क-निर्बलता दूर हो जायेगी, तुम्हारा घ्राण अपूर्व सुगंध से आमोदित हो जाएगा। तुम्हारे पास चिंता, निराशा, कभी फटकने न पावेगी। तुमको किसी की अपेक्षा न करनी पड़ेगी।

हम जो करते हैं, जो देखते हैं, जो समझते हैं, सब वही है। जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को आनंद-ही-आनंद मिलता है, संसार आनन्दमय प्रतीत होता है! विशेष क्या लिखें, महर्षि उपमन्यु की उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर, परमेश्वर ने स्वयं उपमन्यु से पूछा—

'क वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद् वत्स! कांक्षसे'

तब प्रेम सहित गद्गद होकर विनीत स्वर से—

"प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढ़ास्तु मे।"

□□

'इन्दु' में प्रकाशित निबन्ध

इन्दु—प्रस्तावना

चम्पू

कविता रसास्वाद

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

कवि और कविता

हिन्दी में नाटक का स्थान

इन्दु-प्रस्तावना

(श्रावण 1966)

यह सर्व सम्मति है कि जातीय उन्नति के लिये साहित्य की उन्नति की आवश्यकता होती है। और साहित्य ही के देखने से जातीय उन्नति की सीमा परिलक्षित या प्रमाणित की जा सकती है। जिस जाति ने जितना उन्नति किया है उसका उतना ऊँचा साहित्य देखने में आता है। जिस जाति का साहित्य नहीं है, उसका मानव-जाति से बहुत थोड़ा सम्बन्ध होता है। साहित्य साधारण मानव समूह की एक साधारण सम्पत्ति है, परन्तु साहित्य साधारण को सहज ही में प्राप्त होनेवाली सम्पदा नहीं है। पुण्य द्वारा प्राप्त प्रतिभा में साहित्य की उत्पत्ति है, और प्रतिभा के अनुशीलन करने के साहित्य की श्रीवृद्धि होती है, और उसी प्रतिभा के क्रम-विकास से साहित्य का क्रमशः परिपाक होता है। जब प्रतिभा का पूर्ण विकास होगा, तब मानव साहित्य भी अपने चरम उन्नति के उच्चतम पवित्र सोपान पर पदार्पण करेगा।

उदार तथा पवित्र साहित्य महान् होता है, वह मानव को विस्तृत तथा अनन्त उन्नति के पथ पर ले जाता है। साहित्य अनन्त उन्नति का सहाय होता है, महत्व ही उसका उपकरण क्षेत्र तथा आदर्श स्वरूप होता है। साहित्य में जहाँ क्षुद्रता देखी जाती है वह क्षुद्रता व संकीर्णता नहीं है, वहाँ पर साहित्य क्षुद्रता की तुलना करके महत्व की महिमा को परिस्फुट करता है। और इसी के द्वारा साहित्य महत्व का प्रवर्त्तक तथा क्षुद्रता का निवर्त्तक बनकर, अपना महत्व और मनुष्य के अनन्त उन्नति का पथ, सरल उपाय से दिखा देता है।

इसी उन्नत साहित्य के विमल कान्ति से मानव हृदय प्रकाशित होता है, और इसी प्रकाश से मनुष्य की प्रतिभा धीरे-धीरे विकसित होती जाती है, इसी प्रकाश साहित्य के प्रभाव से मनुष्य क्रमशः पूर्ण उन्नति को पाता है।

अतएव जो कुछ मनुष्य को प्रार्थनीय, उन्नति का सहाय, धर्म्म साधक तथा उपकारी है, सो केवल साहित्य है।

साहित्य का कोई लक्ष्य—विशेष नहीं होता है और उसके लिए कोई विधि का निबन्धन नहीं है, क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतोगामिनी प्रतिभा के प्रकाश का परिणाम है, वह किसी की परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकता; संसार में जो

कुछ सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौंदर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित, और सौन्दर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है, आनन्दमय हृदय के अनुशीलन में और स्वतन्त्र आलोचना से उसकी सत्ता देखी जाती है। सर्वसाधारण का अक्षय, क्रमशः उन्नति और सार्वजनिक प्रेम साहित्य का अमृतमय महान् फल है और यह सर्वव्यापी प्रेम ही मनुष्य का धर्म और मनुष्यत्व का आदर्श, अथवा लक्षण होता है; और यही क्रमशः उन्नति और विश्व-प्रेम मनुष्य को देवता बना देता है।

बहुत से प्रतिभाशाली मनुष्य --वाल्मीकि, कालिदास तथा शैक्सपियर इत्यादि लोगों ने इस साहित्य को, मनोनीत कल्पना रूपी सुमन से पूजित करके, आज दिन तक स्वयं भी देववत् पूजनीय हो गये हैं।

अतएव साहित्य ही प्रतिभाशाली मनुष्यों का प्रधान आराध्य देवता है। उन्नति के पथ में अग्रसर होने के पहले यह देवता अवश्य पूजनीय है।

अतएव इस भाषा को, साहित्य द्वारा पूजन करना, समस्त उदार तथा महान् व्यक्तियों को आवश्यक है। अतएव इसकी उत्कृष्ट सेवा करना शुभावह तथा मंगलप्रद है।

जगदीश्वर से सदैव यही प्रार्थना है कि भाषा के सेवकों की उन्नति के साथ, इसका साहित्य भी राकाशशी समान अपना मधुर प्रकाश फैलावे।

□□

चम्पू

चम्पू यह शब्द आप लोगों से अपरिचित नहीं है, क्योंकि नरहरि चम्पूकार ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि काव्य जो दृश्य तथा श्रव्य इन दो भागों में विभक्त हैं उन दोनों भागों में प्रत्येक भेद के तीन-तीन भेद हैं, प्रथम पद्य, द्वितीय गद्य, तृतीय गद्यपद्य चम्पू, अतः काव्य के छः भेद हुए, अब यह कवि की इच्छा पर निर्भर है कि चम्पू दृश्य बनावे वा श्रव्य। किन्तु हमारा कथन है कि चम्पू केवल श्रव्य ही होता है।

साहित्य दर्पण के षष्ठ परिच्छेच्द की पहिली कारिका 'दृश्य श्रव्यत्व भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।' काव्य का दो भाग करती है, दृश्य तथा श्रव्य। इसके अतिरिक्त साहित्याचार्य अम्बिकादत्तजी भी गद्यकाव्य की मीमांसा में अपनी कारिका

'दृश्य श्रव्यमिति द्वेधा तत्काव्यं परिकीर्त्तितम्। से उसी का समर्थन करते हैं। अथच दृश्य काव्य का साहित्यदर्पणकार षष्ट परिच्छेद के तृतीय श्लोक—

'नाटकमथ प्रकरणं भाग व्यायोगसमवकारडिमा:' इत्यादि से अट्ठाइस भेद मानते हैं और अग्निपुराण 338 वें अध्याय के श्लोक—

'नाटकसप्रकरणं डिम ईहामृगोपि वा'—इत्यादि से भी वही अट्ठाइस भेद सिद्ध हैं। श्री भारतेन्दुजी ने भी इन्हीं भेदों को अपने 'नाटक' नामक प्रबन्ध में स्थान दिया है, इन दृश्य काव्यों की गद्यपद्यमय प्रणाली ही है और अग्निपुराण में तो दृश्यकाव्य को मिश्र के ही भेद में माना है क्योंकि 330वें अध्याय के 8 श्लोक—

'गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यानि त्रिविधं स्मृतम्' आदि से काव्य को गद्य, पद्य तथा मिश्र इन तीन भागों में विभाजित किया है, और 330 अध्याय के 38वें श्लोक—'मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा श्रव्यं च वामिनेयं च प्रकीर्णं सलोकोक्तिभि:।' से दृश्य (अभिनय) को तो केवल मिश्र के ही भेद में माना है, और भारतेन्दुजी के 'नाटक' के मत से नाटक के एक-एक अंक के समाप्त होने पर गद्यगानमय चर्चरों की आवश्यकता होती है, अत: केवल गद्यमय नाटक दूषित होगा, और केवल पद्यमय होने से भी दृश्यकाव्य दूषित होगा, क्योंकि साहित्य-दर्पण के षष्ठ परिच्छेद के—

"भवेदगूढ़ शब्दार्थ: क्षुद्रचूर्णकसंयुत:।
नाना विधान संयुक्तो नातिप्रचुर पद्यवान्॥

इत्यादि से प्रमाणित होता है कि नाटक में क्षुद्रचूर्णक (गद्य-भेद) होना चाहिये, और बहुत से पद्य न होने चाहिएं। अत: अग्निपुराण मत सिद्ध दृश्यकाव्य मिश्र ही होता है।

अब, श्रव्यकाव्य को साहित्याचार्य की कारिका तीन भागों में विभाजित करती है (जिसके अर्थ पर ध्यान न देने से ही नरहरिचम्पूकर्ता चम्पू को दृश्य भी मानते हैं), वह यह है—

"गद्यं पद्यं तथा गद्यपद्यश्रव्यमिति त्रिधा"

गद्य, पद्य, तथा गद्यपद्य को साहित्य दर्पणकार श्रव्य भेद के अन्त में लिखते हैं अथ गद्यपद्यमयानि।

"गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूपरित्यभिधीयते" और टीकाकार तर्कवागीश महाशय ने भी लिखा है—

"गद्य पद्यमयानि श्रव्यकाव्यानि इत्यर्थः भेदाः श्रव्यकाव्य विशेषः"

इससे यह सिद्ध हुआ कि चम्पू दृश्य नहीं, किन्तु श्रव्य ही होता है, मिश्र होने ही से दृश्य काव्य चम्पू नहीं होता है।

संस्कृति में अद्यावधि चम्पू नामांकित जितने ग्रन्थ देखने में आते हैं, वे सब श्रव्य हैं। गद्यपद्यमय नाटक शाकुन्तलादि चम्पू नहीं कहे जाते हैं। यह भी एक दृष्टान्त है कि संस्कृति में अद्यावधि किसी नाटक को, जोकि प्रायः गद्य-पद्य-मय होते ही हैं, चम्पू नहीं कहते। अतः अग्निपुराण के मिश्रं वपुरिति ख्यातं इत्यादि में जो मिश्रश्रव्य है अथवा जिसको साहित्याचार्य ने अपनी कारिका "गद्यं पद्यं तथा गद्य-पद्य श्रव्यमिति त्रिधा" में श्रव्य गद्य गद्यमय माना है, उसी को साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है कि "गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूपरित्यभिधीयते" और टीकाकार ने भी लिखा है (गद्यपद्यमयानि श्रव्यकव्यानीत्यर्थः)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि चम्पू नामांकित गद्य-पद्य-मय श्रव्यकाव्य ही होता है, और दृश्य जिसकी कि मिश्र प्रणाली ही है चम्पू[1] नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में ऐसे गद्यपद्यमय दोनों के होने से इसमें दोनों का आनन्द मिलता है।

चम्पू में गद्य और पद्य समभाग से होना चाहिये, और भाषा उच्च होनी चाहिये और चरित्र उज्ज्वल तथा मनोहारी होना चाहिये। उसके विभागों का नाम स्तवक, उच्छ्वास और परिच्छेद होता है जैसी कि श्रव्यकाव्यों की प्रणाली है।

अब तक जितने हिन्दी चम्पू हैं उनकी एक संक्षिप्त तालिका हम नीचे देते हैं—

1. नृसिंह—चम्पू—ले० पं० रामप्रसाद तिवारी
2. नरहरि—चम्पू—ले० पं० देवादत्त त्रिपाठी।
3. उर्वशी—चम्पू—ले० जयशंकर प्रसाद
4. चित्रांगदा—चम्पू—ले० जयशंकर प्रसाद

---

1. नैषध-चरित्र-चर्चा में श्रव्यकाव्य तीन प्रकार का है गद्यपद्यात्मक, गद्यात्मक और पद्यात्मक। गद्यपद्यात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं—जैसे रामायणचम्पू, भारतचम्पू इत्यादि। नागरी में इस प्रकार का कोई अच्छा ग्रन्थ नहीं है, लल्लूलाल के प्रेमसागर को कथंचित् इस कक्षा में सन्निविष्ट कर सकते हैं किन्तु इसे यदि हम चम्पू मानें, तो राजा जगमोहन सिंह के श्याम स्वप्न को भी चम्पू क्यों न मानें पर नहीं, वह चम्पू नहीं हो सकते।

5. नरसिंह—चम्पू—ले० स्वा० श्रीरामकृष्णानन्द गिरि।
6. साम्बचरित्र—चम्पू—ले० पं० कमलाकर व्यास।
इनकी आलोचना हम फिर किसी समय करेंगे।

(इन्दु, कला 2, किरण 1, सं० 1967)

□□

कविता रसास्वाद

"कविता कोई मूर्तिमती देवी नहीं है, जो उसका दर्शन कर लिया जाय, पर तो भी श्रीहर्ष ने सरस्वती-वर्णन के समय सरस्वती के कुछ अङ्गों से इसकी समता की है, जैसे—

"जात्यावृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वममूद्यदीयम्।
श्लोकार्ध विश्रान्तिमयी भविष्णु पर्वद्वयीसन्धि सुचिह्नमध्यम्॥"

इसलिये सरस्वती के अङ्गों में इसकी गणना हो सकती है, पर नहीं यह तो उसके स्थूल रूप का मान है। रसात्मक कविता तो कुछ अलौकिक होती है, क्योंकि साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

"सत्वोद्रकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वाद सहोदरः

अस्तु, जब सतोगुण का हृदय में उद्रेक होता है तब उसका अलौकिक आलोक हृदय पट पर अङ्कित होता है। स्वप्रकाश और चिन्मय होने से उसका आस्वाद ब्रह्म-ज्ञान की समता में समझा जाता है, और वास्तव में 'शब्द ब्रह्म' है भी ठीक उसी तरह जैसे वीणा का कोमल स्वर अंगुली और तार के सम्मिलन से उत्पन्न होता है। शब्दों के मनोरम संगठन स्वरूपी अंगुली चालन हृदयतन्त्री को अपूर्व राग से भर देता है, पर वह राग कैसा है? और क्यों मनोहर है? उसका क्या परिणाम है? यह सब बातें उस मनोमुग्धकारी स्वर के सुनने के समय कुछ प्रतीत नहीं होता, केवल उसकी मोहिनी आकर्षण शक्ति में मनुष्य उसके अनुभव के समय

चेतना विहीन सा रहता है। यद्यपि उस गान के समाप्त होने पर यह सब धीरे-धीरे ध्यान में ले आ सकता है कि यह कौन राग था, और कौन स्वर था, पर सुनने में तो वह अलौकिक आनन्द में आत्मविस्तृत सा हो जाता है। अस्तु, उसी तरह कविता का भी आस्वाद अनोखा है।

कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है, और वह कैसा है? यह व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो भावुक है वह अपने अनुभवों के प्रतिवर्तन करने में वा तदनुकूल कविता पाठ करने के समय, अपने हृदय को बाह्यज्ञान शून्य कर एक अथाह आनन्द सिन्धु में छोड़ देता है। लक्ष्य उसका आह्लद ही रहता है, चाहे वह वीर रस की कविता पढ़े, वा श्रृंगार, वा करुण, यह उसके पद्य हैं। लक्ष्य केवल उसका वही "लोकोत्तर चमत्कार" ही है, क्योंकि अश्रू-पात करुण रस में होता है और विश्वेश्वर की अनन्त महिमा गान के समय भी भक्तों के हृदय में होता है। रोमांच भयानक वस्तु दर्शन में भी होता है, और प्रिय दर्शन में भी होता है, और उसी तरह सच्चे हृदय से ईश्वर के ध्यान में भी रोमांच हो जाता है।

परन्तु हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि उसके आस्वाद के लिए सहृदयता की आवश्यकता होती है। कविता मात्र के आस्वाद के समय केवल स्वप्रकाशानन्द ही रहता है। जब उसका मानव हृदय उपयोग लेता है, तब उसमें रस और उनके भाव-अनुभाव इत्यादि भिन्नतया प्रतीयमान होते है, जैसे बालमीकीय रामायण को लीजिए उसकी कविता में मुग्ध होकर आह्याद में भर कर किसी ने लिखा है—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कवितां शाखां वन्दे वालमीकि-कोकिलम्।

पर जब उसकी उपयोगिता का अवसर होता है तो तत्काल लोग कहते हैं कि—

'रामवदाचरणीयं न तु रावणवत्'

अस्तु, उसका आनन्द सत्य मय है। लक्षण उसका स्वप्रकाशनन्द ही है। इसी लिए कहा भी है—

पुण्यवन्तः विवृण्वन्ति योतिमद्रससंततिम्।
(इन्दु, किरण 4, कला 2, 1967)

□□

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

'हिन्दी' एक वह भाषा है जिसमें कि हम इस लेख को लिखते हैं अथवा वह संयुक्त प्रान्त, महाप्रदेश तथा बिहार में कुछ परिवर्तन के साथ भिन्न-भिन्न स्थानों में बोली जाने वाली भाषा है, जिसकी लिपि 'देवनागरी' है।

'साहित्य' यह एक बहुत ही गम्भीर विषय है, इसको मनन करने के लिए संस्कृत के विद्वानों ने दर्शन; तर्क न्याय आदि शास्त्रों का सहारा लिया है, फिर भी विवाद नहीं मिटा, और मिटे तो किस प्रकार, क्योंकि नवीन समय के साथ नवीन रुचि और नवीन आविष्कारों ने तो और भी भ्रम में डाल रखा है, अथवा बहुत से लोग 'विद्या विवादाय' समझे हुए हैं।

अस्तु, प्राचीन समय में साहित्य की अवधि केवल उसके अलंकार पिंगलादि दश अंगों तक समझी जाती थी। यद्यपि स्थानानुसार महाकवि लोग उसमें ज्योतिष तत्त्व, इतिहास, दर्शन, धर्म, वेदान्त, सामान्य नीति, राजनीति, कला शिल्प इत्यादि सब वस्तुओं का समावेश करते थे, तो भी प्राचीन साहित्य में अंगों का स्थान पाते थे, और अब भी सत्कवियों की कविता में अंश रूप से वे सब विद्यमान रहते हैं, क्योंकि उनके बिना सत्काव्य बन ही नहीं सकता। एक आदिकाव्य रामायण ही को लीजिए और देखिए कि उसमें के ऐतिहासिक चित्र किस सुन्दरता के साथ खींचे गये हैं। तत्त्व के विषय में उपनिषद् आदि कैसा अच्छा उपदेश देते हैं—

"पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा"
"हितं मनोहारि च दुर्लभं वच:"
"शमेन सिद्धि मुनयो न भूमृत:"

इत्यादि पद्यांश ज्योतिष तत्त्व, सामान्य नीति के उज्ज्वल टुकड़े हैं जिन्हें कालिदास, भारवि इत्यादि महाकवियों ने लिखा है, गवेषणा से उन महाकवियों की कविता में ऐसे असंख्य प्रमाण मिलेंगे। किन्तु वे अंग ही हैं। उसके वृहदाकार को लिए भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं। अस्तु, यहाँ हम नवीन साहित्य के विषय में लिख रहे हैं। नवीन साहित्य से हमारा यह मत नहीं कि वह वास्तव में कोई नवीन वस्तु है, किन्तु उनका स्वरूप नवीन है। जैसे " 'हिन्दी साहित्य' कह देने से केवल नायिकाभेद और शृंगार रस का अनुभव न करना चाहिए किन्तु भाषा तत्त्व, भूगर्भतत्त्व, पुरातत्त्व, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, काव्य, कोश आदि उसकी उपयोगी वस्तुओं को सबको समझना चाहिए।" इन सबों से उसका बहुत घना

सम्बन्ध है। साहित्य के उपयोगी सर्वशास्त्र, सब विद्याएँ, सब कलाएँ, समझी जा सकती हैं, अतः उन सबकी गणना साहित्य में है। "सबकी उन्नति करने से साहित्य की उन्नति होगी।"

अब फिर हम काव्य की ओर झुकते हैं। हम कह चुके हैं कि काव्य का प्रायः सब विद्याओं से सम्बन्ध है।

काव्य के अंग यद्यपि बहुत विस्तृत हैं तो भी हम उसके दो गुणों को लेते हैं जो प्रधान और मुख्यतम हैं। संसार को काव्य से दो तरह के लाभ पहुँचते हैं मनोरंजन और शिक्षा।

महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध 'मेघदूत' काव्य के सिवा मनोरंजन के शिक्षा विशेष रूप से नहीं दिखाई पड़ती, और यदि सूक्ष्मतया अन्वेषण किया जाय तो उसमें 'दूत प्रेरण करने में उसे कितना समझाना चाहिए' यह भी निकल सकता है; किन्तु इतनी बात के लिए इतना बड़ा प्रबन्ध लिखना, तथा ऐसी जटिलता से काव्य मर्म समझाने को नाट्यकार लोग गौण उपाय बतलाते हैं। अस्तु, बहुत लोगों का मत है कि वह केवल मनोरंजन के लिए लिखा गया है।

'शिक्षा' यह विशेष स्वतन्त्र रूप से कहीं दिखलाई नहीं पड़ती, क्योंकि सामान्य नीति इत्यादि शास्त्र इसी से भरे पड़े हुए हैं; किन्तु जब वह मिलेगा तो सत्कवियों की कविता में मिला हुआ मिलेगा। काव्य के पाठक और समालोचक-गण उसको अलग करके न देखें, तो उनका परिश्रम वृथा है। शिक्षा का अंश साहित्य के सब अंशों से सम्बन्ध रखता है, अतः यह अंश रूप से प्रायः सत्कविता में मिलेगा। वह नाटकों में विशेष रूप से रहता है, इसी से काव्यमात्र में इसकी बड़ी मर्यादा है।

'काव्येषु नाटकं रम्यं' कहा है। नाटक में जितनी शिक्षा हो सकती है उतनी प्रायः किसी में भी नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसके प्रबन्ध नियम और उद्देश्य बहुत उदार तथा महान् होते हैं। प्रायः कोई भी महाकवि ऐसा न मिलेगा जिसने कुछ-न-कुछ रामचरित न लिखा हो, ऐसा क्यों? इसलिए कि उसे सर्वांग-सुन्दर धीरोदात्त नायक ऐसा दूसरा नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि नाटक आदर्श का दर्शन करता है, क्योंकि श्रीरामचन्द्र जैसे नायक संसार में नहीं मिलेंगे, पर उनके चरित्र शिक्षा के योग्य हैं, इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। माधव के ऐसे पुरुष संसार में मिल सकते हैं, शकुन्तला-सी स्त्रियाँ संसार में उपलब्ध हो सकती हैं, पर जानकी के समान नहीं। क्यों फिर कवि व्यर्थ प्रयास करते है? नहीं, उनका अर्थ यह है कि उत्तम चरित्रों से मध्यम चरित्रवालों को सीखना ही उपयुक्त है।

'वेणीसंहार' के भीम के ऐसे चरित्रवाले मिल सकते हैं परन्तु युधिष्ठिर के ऐसे कम मिलेंगे। अस्तु, सारांश यह कि 'मनोरंजन और शिक्षा' काव्य के दो

उद्देश्य हैं, किन्तु ऐसे काव्यों में शिक्षा का वही अंश दृष्टिगोचर होता है जिसे समाज-शिक्षा कह सकते हैं, उसमें संसार-शिक्षा बहुत कम मिलती है। अस्तु, यह भी एक साहित्य का प्रधान अंग है इसलिए उनके शास्त्र अलग-अलग हैं, जैसे भाषातत्त्व, संसारतत्त्व, प्रश्नतत्त्व, विज्ञान, दर्शन आदि। इनमें बहुत से बाह्य और बहुत से आध्यात्मिक। शिक्षा देने वाले हैं, दोनों प्रकार की शिक्षा से संसार-समाज की उन्नति होती है।

अत: साहित्य के सब अंगों की उन्नति करना श्रेय विधायक है। हमारा यह मत नहीं है कि सब लोग रस वर्णन में लगे रहें, अथवा केवल विज्ञान ही बरसाया करें, नहीं, जो जिसके उपयुक्त हो वह उसको करे, और रचयिताओं, ग्रंथकारों, कवियों की कृतियों को पाठक-समालोचकगण "उन्हीं की दृष्टि से देखकर उनका अनुशीलन करें, क्योंकि ऐसा करने से उनका तत्त्व शीघ्र समझ में आ आता है", नहीं तो मतभेद के झगड़े में पड़कर अन्याय से कटाक्ष करना पड़ता है, इसलिए सब अपनी योग्यतानुसार अपने विषयों की उन्नति करते हुए, मिल करके कार्य करने के लिए सन्नद्ध हों।

इसीलिए यदि "हिन्दी साहित्य" का "सम्मेलन" यथार्थ रूप से होगा तो जन-समाज उसमें मज्जन करके बहुत सुख पावेगा।

(इन्दु—कला 1, किरण 11, सं० 1967)

□□

कवि और कविता

कवियों को लोगों ने सृष्टिकर्ता माना है, क्योंकि वे मनुष्य को जब कि यह कविता का अनुशीलन करने लगता है, तब एक अभिनव सृष्टि का दर्शन कराता है। "वह संसार के साँचे में नहीं ढलता, किन्तु संसार को अपने साँचे में ढालना चाहता है।" मनुष्य के हृदय के लिए वह बड़ी सुन्दर सृष्टि रचता है, जिसमें प्रवेश करने से कवितापाठक एक प्रकार से बाह्य-ज्ञान-शून्य होकर वसन्तमय कनक-कमल-मकरन्द-पूर-कानन में आनन्दमय समय व्यतीत करता है।

लोकोक्ति है कि 'रोना और गाना किसे नहीं आता' उसी तरह से कविता में भी कल्पना की जो लीलाएँ हैं, उन्हीं का अनुसरण करते हुए प्राय: सब मनुष्य कल्पना करते हैं; अपने विचारों को सोचते हैं, प्रकट करते हैं; पर कवि की तरह अपने विचार कौन प्रकट कर सकता है? उसके हरित सघनकुंज जिनके पत्र मरकत को भी लजाते हैं, जिन पर धूल के कणों का स्पर्श भी नहीं है, कौन

निर्मित कर सकता है ? उसके ऐसे आनन्दमय राज्य में जहाँ पाप, कलह, द्वेष, भय का लेश नहीं है, कौन राज्य कर सकता है ? वहाँ कवि सान्त्वनामयी राजाज्ञा का प्रचार करता है, वह फूलों को भी चिरस्थाई बनाता है, इसी से कहना पड़ता है कि उसकी सृष्टि विलक्षण चमत्कारिणी है, और सच्चा कवि अमरजीवन लाभ करता है।

सौन्दर्य की आलोचना आप कर सकते हैं, उसे अपने चित्त में स्थान दे सकते हैं, उसकी सुन्दरता का वर्णन कर सकते हैं; पर क्या कभी इतना कहने का साहस भी कर सकते हैं—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' ? अस्तु, इतना कहने का अधिकारी वही है।

कवि मानवस्वभाव के परिज्ञान के समान ही प्रकृतिज्ञान का भी उद्योग करता है, और वह उसके अनुशीलन में उसी तरह लगा रहता है। महाकवि बाल्मीकि के लिए कोई बड़ा भारी पुस्तकालय नहीं था, उन्होंने अपना महाकाव्य लिखने के लिए जो सुन्दर जाह्नवी तट पर कुसमित कानन निर्धारित किया था, वह क्यों ? वे प्रकृति का बाह्य तथा आन्तरिक चक्षु से अन्वेषण करते थे, तब उनकी प्रतिभा ऋतु-वर्णन में इतनी देखी जाती है, प्रकृति के एक-एक क्षुद्र अंश, यहाँ तक कि महान् वृक्ष की डालियों में की छोटी-छोटी पत्तियों की नसें भी उनसे बातें करती थीं। कवियों से जसा प्राभातिक पवन खेलता है, किसी देव-शिशु को भी वैसी क्रीड़ा नहीं आती।

राका की मधुरता जैसा उसके नेत्रों को सुन्दर दृश्य दिखाती है, विहग का कलरव जैसा उसके कर्ण में सुनाई पड़ता है, वैसा किसी को नहीं। हाँ, जब वह अपनी अभिनव सृष्टि में इनका समावेश करता है, तब उसके प्रेमी उसको देखते हैं, तथा सुनते हैं।

कवि में क्लीव को तलवार ग्रहण करा देने की शक्ति है, वह चिरःदुखी को सुखमय कर सकता है, पर तब जब वह सच्चा कवि हो। महादुर्द्धर्ष औरंगजेब का प्रतिपक्षी बनना शिवाजी जैसे सामान्य भूस्वामी का कार्य नहीं था, वह उस उत्तेजनामयी "त्यों मलेच्छ वंश पर शेर शिवराज है" कवि (भूषण की) वाणी का ही प्रताप था।

देखिए, महावीर विक्रमादित्य का केवल एक दुर्गद्वार, जो कि भग्नप्राय है, शेष चिह्न रूप है; किन्तु कालिदास की 'शकुन्तला' अभी भी सद्यः प्रस्फुटित बकुल-मुकुल की तरह अपने सौरभ से दिगन्त को व्याप्त कर रही है, उसकी एक मात्रा का भी ह्रास नहीं है, दिन-दिन उसकी सुगन्ध से मनुष्य का मस्तिष्क शीतल होता है, और हुआ करेगा। इस कारण से कवि अमरजीवन लाभ करता है।

इसी तरह सच्चे कवि की कविता भी अलौकिक आनन्द दान करती है, क्योंकि यह उसकी सृष्टि है। महान् कवि की कविता का बल, बुद्धि और आनन्द के

जलयन्त्र से तुलना कर सकते हैं, वह मनुष्य-जीवन में अलौकिक बल प्रदान करती है, उसकी प्रतिभा अपना मधुर प्रकाश जब मनुष्य-हृदय पर डालती है तब उसका अन्धकारमय हृदय भी उज्ज्वल आलोक से पूर्ण हो जाता है। यदि अनुकूल कविता कहीं मिल जाती है, तो चित्त की शंका भी दूर हो जाती है। कविता प्रथम में प्राय: सब भाषाओं में पद्यमय देखी जाती है, यहाँ तक कि हम लोगों का महा-मान्य वेद भी छन्दमय है, इसका कारण लोग बताते हैं कि—जब लिखने-पढ़ने की परिपाटी नहीं थी, तब लोग कण्ठस्थ करने के लिए वर्णक्रम से पद्योजना करके उसको कण्ठस्थ करते थे, किन्तु ध्यान से देखा जाय, तो इसका एक यही कारण नहीं था। पद्यमय रचना एक और भी उपयोग करती है, जैसे किसी कवि ने कहा है— "पूर्व काल में मन्त्र थे कड़खे रनके।" यदि विचार किया जाय तो यह सरलतया समझ में आ जाएगा कि कविता जहाँ ओज दान करती है वहाँ पद्य ही है, क्योंकि प्राय: संक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य रचना नहीं। इसी स्थान में हम संगीत की योजना कर सकते हैं, सद्य: प्रभावोत्पादत जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नहीं। चित्रकारी तथा कविता से लोग मिलान करते हैं, पर कविता एक अचिन्त्य पूर्व सुन्दर चित्र खींच देती है जो कि बोल भी सकता है, पर चित्र वैसा नहीं कर सकता, यद्यपि कविता और चित्रकारी का कार्य एक ही है, पर यह मलयज पवन का भी चित्र खींच सकता है, उसको बुला सकता है, और उसके साथ खेल सकता है, इससे कविता का एक जीवन चित्र प्रस्तुत कर सकती है। उसी प्रकार संगीत केवल स्वर ही प्रकट कर सकता है। यदि उसमें कुछ कविता न हो तो केवल वह गूँगे का चिल्लाना ही प्रतीत होगा। यदि उसमें कविता का अंश मिला होगा तो कर्ण के साथ ही हृदय को भी आनन्द देगा।

कविता जो भावपूर्ण होती है, वह बड़ी हृदयग्राहिणी होती है। चित्त की वृत्तियाँ जो मानव-हृदय में उदय हुआ करती हैं, उन्हें भाव कहते हैं। यद्यपि प्राचीन साहित्य में इनको रस से अन्तर्गत 'संचारी' तथा 'स्थायी' के नाम से स्थान मिला है, पर वे भाव उतने ही में पूरे नहीं हो सकते, वे केवल उनके स्थूल तथा प्रधान भेद हैं, और बहुत-से चित्त के विकास अच्छे और बुरे जो सूक्ष्म रूप से हैं, समयानुकूल, या कार्यवश उत्पन्न हुआ करते हैं, उनमें जो अच्छे हैं, उन्हें उत्कर्ष देना, तथा दुर्वृत्तियों को दमन करना भावमयी कविता का मुख्यतम कार्य है। यद्यपि ये प्राचीन साहित्य में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं, पर श्रृंगारी कवियों की कृपा से उनकी श्रृंगारी नायिकाओं में ही उन भावों को आश्रय मिला है।

'उन्माद' जो एक संचारी भाव है, यदि नायिका-विरही नायक को छोड़-कर किसी कुकर्मी के सन्तापमय चित्त में वह भाव अंकित किया जाए, तो कैसा प्रभावशाली होगा? इसका अनुभव जिन्होंने अंग्रेजी 'म्याकबेथ' नाटक में 'म्याक-

वेथ पत्नी' का पार्ट पढ़ा होगा या देखा होगा, वे ही कर सकते हैं। इसी तरह उन भावों का दुरुपयोग होने से भावमयी कविता मनोनीत नहीं मिलती। भावमयी कविता प्रायः दो प्रकार की दिखाई देती है, जैसे कि 'कथामूलक भाव' और 'भाव मूलक कविता'। कथामूलक भावों को प्रायः ऐतिहासिक वा पौराणिक काव्यों में समयानुकूल या आवश्यकतानुसार समावेश दिखाई पड़ता है। जैसे 'उत्तर रामचरित' में जब लक्ष्मण, श्रीरामचन्द्र को चित्र दिखाते हैं, तो उन वन-भूमियों के चित्र को देखकर उनके हृदय में पूर्वस्मृति जागरूक होती है, तब वह जानकी जी से कहते हैं—

> अलसललितमुग्धान्यध्वसम्पातखेदा-
> दशिथिलपरिरम्भैर्दत्त सम्वाहनानि।
> परिमृदितमृणाली दुर्बलान्यंगकानि।
> त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवासा॥
> किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
> दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
> अशिथिल परिरम्भव्यापृतैककदोष्णो-
> रविदित गतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्।

'शकुन्तला' में कण्वमहर्षि का भी कन्या की ओर प्राकृतिक प्रेम था; उसी का निदर्शन कराते हुए महाकवि कालिदास लिखते हैं—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> अन्तर्बाष्पभरापरोधिगदितं चिन्ताजड़ दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः।
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषु दुःखैर्नवैः?

और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में धनुष भंग के समय, जानकी के हृदय में भी एक अपूर्व शंकामय भाव उत्पन्न हुआ था—

> सो धनुराज कुंवर कहु देहीं।
> बाल मराल कि मन्दर लेहीं।

दूसरी भावमूलक कविता, जिसमें भाव को प्रधान मानकर कविता की जाती है, वह एक तो भाव के अनुकूल तथा बनाकर लिखी जाती है, जसे 'वेणीसंहार-

नाटक'; इसमें द्रौपदी का स्त्रीजन-सुलभ प्रतिहिंसामयी उत्तेजना से भीम का दु:शासन के हृदय का रक्तपान करना !

हिन्दी में भी श्रीधर पाठक का 'ऊजड़ ग्राम' इसी विभाग में आवेगा, जो कवि ने बहुत दिन पर उस गाँव को देखकर उसकी शोचनीय अवस्था का चित्र खींचा है, जन्मभूमि-प्रेमीमात्र में उस भाव का होना सम्भव है।

प्राय: भावमयी कविता स्फुट भी मिलती है, यथा—

जा थल कीन्हे बिहार अनेकिन,
ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं
जा रसना ते करी बहु बातन,
ता रसना ते चरित्र गुन्यो करैं
'आलम' जौन ते कुंजन में
करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यो करैं
नैनन में जो सदा बसते, तिनकी
अब कान कहानी सुन्यो करैं ।।

या मैथिलीशरण गुप्त की बनाई हुई 'कृष्णा के केशों की कथा' इत्यादि।

कुटिल, उदार, दुष्ट, क्रूर, दयावान, तथा चिन्ताशील हृदय आदि के भावों को दिखाने वाली कविता, संसार के व्यवहार की भावमयी कविताएँ, अपना प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर डालती हैं, जिससे वह सुधरता है।

हिन्दी में प्राय: शृंगार-रस की कविता के सामने ऐसी कविताओं का अभाव है। यद्यपि अब कुछ-कुछ इस ओर लोगों की रुचि फिरी है, पर कहाँ तक फिरेगी, जबकि उनके सामने केवल शृंगार-रस से भरे हुए 'नायिका भेद' की क्रिया, विदग्धा में अपनी क्रीड़ा दिखाया करेगी।

यहाँ हम कुछ शृंगार-रस के भी विषय में लिखना चाहते हैं। हिन्दी साहित्य में प्राय: वैष्णव कवि विशेष हुए हैं, और उन्हीं की कविता ब्रजभाषा की मूल है। सूर, केशव, तुलसी आदि सब वैष्णव कवि हैं और उनके बाद के भी प्राय: ब्रज-भाषा के कवि, जैसे तोषनिधि आदि वैष्णव हुए। इन लोगों को अपने उपास्य देवता में शृंगार भाया। जब प्रधान उपासकों की यह दशा थी, तो अनुयायी लोग भी उसी रंग में रंगे जाने लगे। श्रीयुत अम्बिकादत्त जी भी उसको नहीं छोड़ सके, स्फुट कविताएँ तो क्या, 'दृश्य ललिता नाटिका' भी इसी तरह के शृंगार वर्णन में लिखी गयी हैं। दृश्य काव्य में रसस्थापन आदि, तथा सामाजिक विषयों की बहुत ही विवेचना की जाती है, तो भी 'ललिता' को शृंगार-रस की नायिका बनाया है।

यद्यपि साहित्य के बहुत से आचार्यों ने, गणिका में रसाभास माना है, तो

भी लोगों ने 'वैशिक' नायक, तथा परकीया 'गणिका' आदि नायिकाओं में शृंगार रस का विशेष वर्णन किया है, जिससे उसकी अश्लीलता बढ़ गयी है। देखिए 'शकुन्तला' को शुद्ध शृंगार रस-प्रधान नाटक मानते हैं, पर उसमें तो कहीं भी रति वा ऐसे अश्लील शृंगार का विवरण नहीं है। तो उसे भी लोग बहुत आदरणीय दृष्टि से देखते हैं, इसका कारण यह है कि उसमें शृंगार-रस का वर्णन ऐसी पवित्रता के साथ किया गया है कि जिसे पढ़कर चित्त पुलकित हो जाता है। ऋषि-कन्या शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में जो आसक्ति उत्पन्न हुई उसे भी समाज के बन्धन में ले आने के लिए कवि कुलगुरु कालिदास कैसा अच्छा लिखते हैं—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्य्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः॥

अस्तु, शृंगार-रस दूषित नहीं है, पर उसकी वर्णन शैली जो हिन्दी में प्रचलित है, वह दूषित हो गयी। प्रायः इसके प्रथम लेखक जयदेवजी हैं, उन्होंने ही इस शृंगार का ग्रन्थ 'गीत गोविन्द' बनाया है, पर हिन्दी में तो शृंगार-रस के लक्षण भी विलक्षण बना डाले गये हैं। कवि तोषनिधि जी लिखते हैं—

दम्पति जहँ लौं सुख लहैं,
काम कला के फन्द।
सो शृंगार में प्रेम है,
थाई आनन्द कन्द॥

अब कहिए, इसका लक्षण विप्रलम्ब शृंगार में भी ठीक हो सकता है? अस्तु, इन्हीं महात्माओं की कृपा से हिन्दी साहित्य-प्रेमियों को शृंगार रस का नाम सुनते ही घृणा उत्पन्न होती है। और इसी कारण से प्रायः लोगों में अरुचि छन्दों ग्रंथ पढ़ने में हो रही है।

'सरस्वती' हिन्दी में एक बहुमूल्य पत्रिका है, और उसका आदर भी है, पर क्या उसके अंश सब के मनोनीत होते हैं? कोई उसके गद्य लेखों पर प्रसन्न हैं, तो कोई चित्रों पर, कोई उसके रूप पर प्रसन्न हैं तो कोई उसकी छपाई पर। अधिकाँश महाशय ऐसे हैं जो चित्र और गल्प तक ही रह जाते हैं, उसकी कविता का मर्म समझने की बात तो दूर है, उस पर ध्यान नहीं देते। यह क्यों, छन्द विषयक

अरुचि है ? इसका कारण यह है कि सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे हैं। उनके अनुकूल कविताएँ नहीं मिलतीं और पुरानी कविता को पढ़ना तो मानो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उस ढंग की कविता बहुतायत से हो गयी है।

पर नहीं, उनसे घबड़ाना नहीं चाहिए, उनके समय के वही भाव उज्ज्वल गिने जाते थे, और अब भी पुरातत्त्व की दृष्टि से उन काव्यों को पढ़ने में अलौकिक आनन्द मिलता है। अस्तु, पाठकों के अरुचि दिखलाने से कविता का बड़ा ह्रास हो सकता है। हमने प्राय: सुना है कि वह 'भटई' कविता है, किन्तु पाठको ! ध्यान से देखो, यदि भट्टीय काव्यों की जैसलमेर में स्थिति न होती, तो टाड साहब आज दिन इतना बड़ा राजस्थान बनाने में न समर्थ होते।

हिन्दी में वसन्त-कानन की मधुर शोभा है, "पर गम्भीर तरंगमय अनन्त महासागर की कल्लोल मालाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।" हम मानते हैं कि देव और तुलसी की कविता में आप मधुरता विशेष पाते हैं, पर उन्मादकारिणी तथा आपे से बाहर कर देने वाली कविता, आपको कभी नहीं दिखाई देती। किन्तु ठहरो, देखो जब मनुष्य की आन्तरिक शक्ति का ह्रास होता है, तब वह नशा इत्यादि से अपने हृदय को वेगवान बनाना चाहता है। 'शृंगाररस' की मधुरता पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल तथा अकुला गयी हैं; इस कारण अब आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी, वृत्ति स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करने वाली, आनन्द बरसाने वाली, धीर गम्भीर पद विक्षेपकारिणी, शान्तिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए। वह समय अब दूर नहीं है, सरस्वती अपनी मलिनता को त्याग कर रही है, और नवल-रूप धारण करके प्राभातिक उषा को भी लजावेंगी, एक बार वीणाधारिणी अपनीवीणा की पंचम स्वर में फिर ललकारेंगी, भारत की भारती फिर भी भारत ही की होगी।

(इन्दु—श्रावण 1967)

□□

हिन्दी में नाटक का स्थान

"काव्येषु नाटकं रम्यं" क्यों ? इसलिए कि उसमें सब ललित सुकुमार कलाओं

का समन्वय है। प्रचिलित अर्थ में काव्य से नाटक में कुछ विशेषता है। फिर भी वह (नाटक) काव्य का एक अवान्तर भेद है

काव्य एक कला है और ललित सुकुमार कलाओं में प्रधान कला है, तब यह मानना होगा कि नाटक का कला से सम्बध ही नहीं, परन्तु वह कला का विकसित रूप है। हृदय को अनुभूति कराने के लिए, कला के दो द्वार हैं; कान और आँख। इस काव्य की अनुभूति भी "दृश्य और श्रव्य" दोनों प्रकार से होती है।

ऊपर कह आए हैं कि काव्य प्रधान कला है, वह क्यों? यद्यपि सब कलाएँ अपनी सीमा में, अपने अधिकार क्षेत्र में पूर्ण होती हैं, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनमें भी तारतम्य हो सकता है। जिस प्रकार से आँख और कान इन दो इन्द्रियों के द्वारा कला का उपभोग होता है, उसी प्रकार से कला के दो भेद भी होंगे, मूर्त और अमूर्त। इनमें एक भेद और भी है इसे शिल्प कहते हैं जिसे स्थापत्य और मूर्ति निर्माण कला भी कह सकेंगे। यह मूर्त (शिल्प) कला का स्थूल रूप है जिसकी उपलब्धि आँखों से होती है। चित्रकला उसी का उच्च और सूक्ष्म रूप है। यद्यपि इनका विषय मानसिक भी है तब भी उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूर्त वा अभिभूत से है। किसी भावना की अभिव्यक्ति के लिए मूर्ति की अपेक्षा है। इसलिए कि उसमें अनन्त की उपलब्धि की आशा कम होती है। उनका क्षेत्र संकुचित है। संगीत केवल कान से सम्बन्ध रखता है और उसमें अनन्त का आनन्द भी मिलता है। किन्तु उसका सब काल में या कुछ विशेष समय तक उपभोग नहीं किया जा सकता। तानसेन की मनोहर तान अब कहीं सुनाई नहीं पड़ती। इधर काव्य पुस्तकों के रूप में मूर्त्त भी है और हृदयंगम हो जाने पर अमूर्त्त भी। कालिदास की शकुन्तला अपनी पूर्णता से आज भी 'तदेव रूपं रमणीयतायाः' का दर्शन कराती है, और आगे भी कराती रहेगी। अस्तु, काव्य, देश और काल के साथ ही अनन्त है। उसका क्षेत्र विस्तृत है। वह मानस और वाह्य प्रकृति के दोनों रूपों का स्वागत कर सकता है: और वस्तु सापेक्ष न होकर अध्यात्म का भी अधिकारी है। समस्त कलाओं में काव्य कला इसीलिए अधिक आदर की अधिकारिणी है।

अशिक्षित मानव स्वभाव, प्रकृति का 'कच्चा माल' है: जिसे वह समाज के उपयोग की वस्तु की तरह लनाव उत्पन्न करके, उपयोगी बनाती है। प्राणी मात्र का एक वर्ग है, उनमें अधिक उन्नत रूप मनुष्य का है। यहाँ भी अधूरापन है। इसी के लिए देवत्त्व की कल्पना है। इस उन्नत रूप का रहस्य मानसिक विकास है। प्रवृत्तियाँ प्राणी मात्र में हैं। मनोविकार के रूप में वे मानव हृदय में परिमार्जित होने पर भी अपूर्ण तथा असंस्कृत रहती हैं उनकी पूर्णता के लिए सत्य के प्रकाश के लिए, देवत्त्व के आदर्श की सृष्टि है। कला का उद्देश्य है कि वह इसकी सहायक हो, सौंदर्य से सत्य को प्रकटित करके विश्व का मंगल करे।

अब, जिस कला में मानसिक अवस्था का पूर्ण विकास हो, अच्छा विश्लेषण हो उसे ही पूर्ण कहेंगे। नाटक में काव्य के तीनों भेद दृश्य और श्रव्य तथा कला की दृष्टि से मूर्त्त और अमूर्त्त रूपों का उपयोग है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है : बहुत से विद्वान् कला की सफलता वहीं मानते हैं जहाँ मनुष्य अपने को भूल जाय और तल्लीन हो जाय, वह किसी आदर्श के लिए न हो— केवल अपने लिए अपनी स्थिति रहती हो। तब भी किसी अनुकरणीय वस्तु का ध्यान न होने दे, वह स्वयं इसी सिद्धान्त को सम्भवत: "कला केवल कला के लिए है" कह सकते हैं। क्या यह हृदय वृत्ति को (Sentiment) उत्तेजित करके मोह लेना मात्र ही न होगा ? क्या विवेक-शुद्ध, बुद्ध-सत्य (Reason) से उसका कुछ भी सम्बन्ध होगा ? नहीं : किन्तु यही आज भी शिक्षा का आदर्श है। कला पक्ष केवल नाटक, रूप में लोकोत्तर चमत्कार और आदर्श—दृश्य तथा श्रव्य, मूर्त्त और अमूर्त्त इत्यादि सब साधनों से वह मानसिक संसार को विकास देता है और उसके पास साधन भी प्रचुर परिमाण में हैं। शिल्प, संगीत, चित्र, कविता, आहार्य, भाव और अंग-भंगी से अभिनय पूर्ण होता है। एक नाटक में इन सभी पर विलास है, विकास है। इसी से कहते हैं "काव्येषु नाटकं रम्यं।"

जो नाटक मनोभाव का विश्लेषण करके चमत्कार के बल से मोहता हुआ, अन्त:करण में आदर्श सत्य को स्वयंमेव विकसित कर देता है उसे "प्लेटो के आदर्श प्रजातन्त्र" को छोड़ कर सभी सभ्य जातियों के साहित्य में सम्मान मिला है। दार्शनिक 'प्लेटो' ने इसका केवल इसलिए बहिष्कार किया है कि 'चरित्रहीनों से संगठित दल' जगत् में क्षणिक चारित्र्य का प्रचार करता है, किन्तु, यह बात न भुला देनी चाहिए कि 'प्लेटो' के परम अभीष्ट आदर्श का प्रचार व्यक्तियों से ही संगठित जाति में होगा : तब भी वह व्यक्ति को कोई विशिष्ट पद नहीं देता है। इधर, मानव समाज अनुकरणशील है, बिना व्यक्तित्व का आदर्श मिले वह सत्य का अनुभव नहीं कर सकता ओर उसे हृदयंगम करने को बहुत कम प्रस्तुत रहता है। प्रत्येक विज्ञान को आकार या विचार का नाम-रूप देना ही होगा, जिसे आदर्श कहेंगे। यही स्थूल रूप में व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व, स्वभाव से उत्पन्न चरित्रों का संकलन है। इसे ही बौद्ध शब्द में चेतसिक-संसार कहेंगे। जो अहम् का विषय है उसे व्यक्ति कहेंगे। यह स्वभाव-पूर्ण है उसका विश्लेषण करके सत्य को बतानेवाला दृश्य जड़ प्रकृति में कला के द्वारा चेतना की अनुभूति कराते हुए सौन्दर्य को विकसित करनेवाले वर्णनात्मक और भावात्मक साहित्य से पूर्ण, 'नाटक' को हिन्दी में कौन-सा स्थान है या मिलेगा : यह विद्वानों के विचार की वस्तु होनी चाहिए।

"हिन्दी और नाटक के सम्बन्ध में एक और विचित्र बात है कि इसके नवयुग का उत्थान नाटक से ही हुआ।" श्री हरिश्चन्द ने जिस काल में अपनी प्रतिभा से

और परिश्रम से हिन्दी की उन्नति की, उस काल का साहित्य नाटकों को अलग कर देने से बचता ही क्या है ? महाकवि, महात्मा तुलसीदास और सूरदास, कबीर और मीरा, देव और बिहारी इत्यादि ने साहित्य कथानक महाकाव्य, गीतिकाव्य, भावात्मक और प्रेममयी कविताओं से पूर्ण कर दिया था, "काव्य-कला विकसित हो चुकी थी। तब यह आवश्यक था कि जिसमें कलाओं की पूर्णता के साथ काव्य सर्वांगीण परिपाक होता है उस 'काव्येषु नाटकं रम्यं' की ओर समाज का ध्यान जाय।" इसी से नवयुग के उत्थान काल के साथ ही हिन्दी के नाटकों का विकास है। तब भी क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि हिन्दी में नाटकों का अब उपयुक्त और उच्च स्थान मिलना चाहिए ?

"प्रचार की दृष्टि से भी भाषा को जितनी सहायता नाटकों से मिलती है वह उपेक्षणीय कदापि नहीं !" आज दिन साधारण जनता जिस परिणाम में उर्दू की गजलों को हृदयंगम कर रही है, वह (परिणाम) जिन्होंने लिपि रूप में उर्दू का स्वप्न भी नहीं देखा, उनकी मुख-गुफा से शेरों को निकलते हुए देखकर समझा जा सकता है। कम-से-कम मेरा तो यही विश्वास है कि यह पारसी 'स्टेज' की कृपा है। हिन्दी के उत्तमोत्तम महाकवियों की वीणा इस विषय में अपना अधिकार खो रही है। यह रंगमंच से निकलने वाली उर्दू की पुकार है जो शिक्षित और अशिक्षित सब जनता को अभिनय भावभंगी द्वारा कठिन शब्दों का अर्थ बताकर आकर्षित कर रही है। और भी, उच्चकोटि के भावों के वाक्य-विन्यासों द्वारा प्रचारक भाषा को इससे सुलभ साधन नहीं है तब भी यह कहने में संकोच होगा कि "हिन्दी नाटकों के लिए एक सुरक्षित स्थान है और वह गौरवपूर्ण है।" कोई भी भाषा अपने विनय और शील तथा सदिच्छा की अभिव्यक्ति के लिये गौरव पा सकती है: और उस शिष्टाचार का प्रथम सोपान भावभंगी और कथोपकथन है जिससे नाटक का संगठन होता है। मानव इतिहास में, भाषा का इतिहास जो सहायता देता है वह कम मूल्य का नहीं है। समाज के कल्याण से यदि भाषा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है तो यह मानना होगा कि भाषा में शिष्टाचार का प्रचार करने में नाटक के कथोपकथन बहुत कुछ हाथ बटाते हैं। कथोपकथन के विषय में एक बात और कहनी है जो हमारे प्रधान विषय से बहुत दूर नही है। संस्कृत नाटकों के अनुसार हिन्दी में भी पात्रभेद से भाषा-सृष्टि की प्रथा चल पड़ी थी जैसे संस्कृत नाटकों में महरानी को भी संस्कृत बोलने का सम्मान नहीं प्राप्त था केवल देवी या विरला परिव्राजिका आदि ही इसकी अधिकारिणी थीं क्योंकि उस काल में राज्यभाषा यद्यपि संस्कृत थी तब भी प्रान्त भेद से मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि भाषायें व्यवहृत होती थीं। संस्कृत के नाटकों में एक यह भी समन्वय था। "पर हिन्दी का लक्ष्य दूसरा है: उसका उद्देश्य ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता की ओर बढ़ रहा है उसी प्रकार उसका क्षेत्र भी बढ़ रहा है", तब उसमें गँवार पात्रों के मुख से

प्रान्तीय (बोलियों) भाषाओं को कहलाकर कथोपकथन के उस तात्पर्य को हानि पहुँचाना होगा जहाँ उसका सम्बन्ध व्यवहार और शिष्टाचार से है। इधर, नाटक अभिनय के लिये तो हैं ही, वे सुपाठ्य भी होते हैं अथवा वे श्रव्य काव्य का भी अभिनय कर लेते हैं। प्रसंगवश यदि किसी सीमाप्रान्त के मनुष्य का अभिनय करने में भाषा भी पश्तो रही, तो उसे हिन्दी का नाटक कौन कहेगा? ऐसे भेदों का प्रदर्शन हमारी दृष्टि में अभिनय ही है। उसमें भावभंगी के द्वारा व्यवहार आचार के द्वारा भाषान्तर का काम अच्छे प्रकार से चल सकता है। इन कथोपकथनों से साहित्य के गूढ़ भावों का, शिष्टाचार की सभ्यता का अर्थ समझने में, भाषा का जो प्रौढ़ और पुष्ट कार्य नाटक करता है, वह कम महत्त्व का नहीं है। इस दृष्टि से भी नाटक हिन्दी में एक उच्च स्थान का अधिकारी है। तब भी हिन्दी का कोई अच्छा रंगमंच नहीं और उसको उत्तेजित करने के लिए हिन्दी भाषा समाज की ओर से कोई संस्था नहीं और न तो उसके उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाने वाला कोई पात्र ही है।

"यदि साहित्य अपने काल की सभ्यता का ज्ञापक है तो यह कहना ही होगा कि सभ्यता को नाटक से बड़ी सहायता मिलती है। वेशभूषा, आचार का समर्थन, हुए आचारों का तिरस्कार और शील, विनया इत्यादि का वह स्वतंत्र कोश है। नाटक अपने अभिनय के द्वारा समाज की मनोवृत्तियों को सांचे का काम देता है। एक बार हम फिर कहेंगे, समाज में नैतिक साहस आदि गुणों की जागृति में नाटक प्रचुरता से सहायक हो सकता है। जब हम देखते हैं कि समाज का या प्रान्त का विभाग भाषा से बड़ी सरलता के साथ किया जा रहा है तब यह कहना असंगत होगा कि पशुओं की वृत्ति से कुछ ही परिमार्जित 'मानव स्वभाव' का नग्न रूप दिखा कर अन्तः-जगत् को विकसित करके हिन्दी भाषा-भाषी समाज का मंगल करनेवाले नाटक को हिन्दी में वैसा ही स्थान मिलना चाहिए, जैसा कि शरीर में मस्तिष्क को।"

हिन्दी नाटकों के लिए स्थान और उपयुक्त एक स्थान देने के लिए हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध करते हुए यह भी कहना अनुचित न होगा कि इसे हृदय में भी स्थान दीजिए।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-विवरण में इसका उल्लेख बताया गया है।

□□

प्रसाद के निबंध

(काव्य और कला तथा अन्य निबंध)

प्राक्कथन

प्रसादजी हिंदी के युगप्रवर्त्तक कवि और साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। बुद्ध, मौर्य और गुप्तकाल के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अन्वेषणों पर प्रसाद जी के निबन्ध पाठक पढ़ चुके हैं। उनका महत्त्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है कि वे इतिहास की सूखी रूप-रेखा पर तत्कालीन व्यापक उन्नति या अवनति के कारणों और रहस्यों का रंग चढ़ा देते हैं। व्यक्तियों और समूहों की कृतियों का ही नहीं, उन विचारधाराओं का भी वे उल्लेख करते हैं, जिनका सामयिक जीवन के निर्माण में हाथ रहा है। इस प्रकार प्रसाद जी ने इतिहास के अस्पिंजर को कार्य-करण-युक्त दार्शनिक सजीवता प्रदान की है, जिससे उनका अध्ययन करने में एक अनोखा आनन्द प्राप्त होता है। वे इतिहास को मानवनिर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहन की पद्धतियों के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यों की इन सारी प्रगतियों का केन्द्र सम-सामयिक दर्शन को मानते हैं। इस प्रकार मानवजीवन का अन्तःप्रेरण दर्शन को और बहिर्विकास इतिहास को मानकर वे इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। कोरी भौतिक घटनाओं का इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन—उनके लिए कोई महत्व नहीं रखते। प्रसादजी की इस दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास और दर्शन दोनों ही राष्ट्रीय संस्कृति के अविच्छिन्न अंग बन गए हैं, कहीं भी इनका बिछोह नहीं होने पाया। जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन हैं, वहाँ मानव-जीवन और इतिहास की पृष्ठभूमि अवश्य है, और जहाँ कहीं किसी राष्ट्रीय मानवीय उद्योग का आकलन है, वहाँ भी दर्शन का साथ कभी नहीं छूटा। प्रस्तुत पुस्तक में प्रसाद जी की साहित्यिक समीक्षाओं का संग्रह है। साहित्य भी एक सांस्कृतिक प्रक्रिया ही है; इसलिए हम देखते हैं कि प्रसादजी ने इन निबन्धों में भारतीय दार्शनिक अनुक्रम का साहित्यिक अनुक्रम से युगपत् सम्बन्ध तो स्थापित किया ही है, प्रसंगवश दर्शन और साहित्य की समानता भी मानवात्मा के सम्बन्ध से सिद्ध की है। मुख्य-मुख्य दार्शनिक धाराओं के साथ मुख्य-मुख्य काव्य-धाराओं का समीकरण करके इन दोनों का एक इतिहास भी प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में हमारे सामने रक्खा है।

प्रसादजी की उद्भावनाएँ इतनी मार्मिक हैं, इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है, और साथ ही इनकी मनोवैज्ञानिक विवृति इतनी सुन्दर रीति से हृदय का स्पर्श करती है कि हम सहसा भूल जाते हैं कि ये अधिकांश एकदम नवीन हैं, किसी क्रमागत विचार-परिपाटी से इनका सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नवीन होना इनका दोष नहीं है, गुण ही है, क्योंकि परम्परागत शैली के अनुयायी तो केवल लीक पीट रहे थे। जब उन लीक पीटनेवालों से हिन्दी का कल्याण होता नहीं दीखा और नव शिक्षित समाज की तीव्र दार्शनिक पिपासा शांत नहीं हुई, तभी तो इस प्रकार की विचारधाराओं और व्याख्याशैलियों की ओर प्रसादजी जैसे दो-चार, इने-गिने विद्वानों की अभिरुचि हुई।

किन्तु परम्परागत व्याख्याशैली से दूर हट कर भी प्रसाद जी प्राचीन सांकेतिक शब्दावली का—वह साहित्यिक हो या दार्शनिक, त्याग कहीं नहीं किया; अपितु अपनी दृष्टि से उसकी तथातथ्य व्याख्या ही की है। न उन्होंने उन पारिभाषिक शब्दों का अनुचित या अन्यथा प्रयोग ही किया है, जैसा कि आधुनिक असंस्कृतज्ञ करने लगे हैं। इसका कारण यही है कि प्रसादजी ने दर्शन और साहित्य-शास्त्रों का विस्तृत अध्ययन किया था और कहीं भी शाब्दिक खींच-तान या अर्थ का अनर्थ करने की चेष्टा नहीं की। यह बात दूसरी है कि उनकी उपपत्तियाँ सबको एक-सी मान्य न हों; किन्तु जिन्हें वे मान्य न हों, वे भी उन्हें अशास्त्रीय नहीं कह सकते, क्योंकि उनका आधार शास्त्र ही है। शास्त्रीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और मानव-मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छानकर संग्रह किया है। इस छनी हुई वस्तु को अशुद्ध या अप्रामाणिक कहने के लिए साहस चाहिए।

अब मैं प्रसादजी की उन उपपत्तियों को, जो इस पुस्तक में हैं, संक्षेप में उपस्थित करके ही आगे बढ़ूँगा। 'काव्य और कला' निबन्ध में प्रसाद जी की सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण उद्भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं। साहित्य-शास्त्र में काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है और 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' यह श्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसमें कवि और मनीषी (अर्थात् आध्यात्मिक) समानार्थी कहे गये हैं। किन्तु जहाँ मान्यता की बात आती है, वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्रों में इसको अर्थवाद ही मानते हैं, सिद्धांत रूप में स्वीकार नहीं करते। किंतु प्रसादजी इसे सिद्धांत-रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि पश्चिमी विचार-प्रणाली के अनुसार जहाँ अमूर्त्त का आध्यात्मिक भेद प्रचलित है, काव्य को, मूर्त होने के कारण, आध्यात्मिक सीमा से, जिसमें अमूर्त्त के लिए ही स्थान है, अलग करने की चेष्टा भले ही की गयी हो, किन्तु भारतीय विचारधारा में ब्रह्म मूर्त्त भी हैं

और अमूर्त्त भी। अतः मूर्त्त होने के कारण काव्य को अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नहीं कह सकते।

यहीं प्रसादजी ने काव्य की मार्मिक व्याख्या की है—'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धाराएँ हैं—एक काव्यधारा और दूसरी वैज्ञानिक, शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। समझ रखना चाहिए कि इन दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों ही आत्मा के अखंड संकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलू-मात्र हैं। कुछ लोग श्रेय और प्रेय-भेद से विज्ञान और काव्य का विभाजन करते हैं; किन्तु प्रसाद जी का स्पष्ट मत है कि यद्यपि विज्ञान या दर्शन में श्रय रूप से ही सत्य का संकलन किया जाता है और काव्य में प्रेम की प्रधानता है, किन्तु श्रेय और प्रेय दोनों ही आत्मा के अभिन्न अंग हैं। काव्य के प्रेय में परोक्ष रूप से श्रेय निहित है। काव्य की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि काव्य को 'संकलपात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य हैं, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनशक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

इस प्रकार मूर्त्त और अमूर्त्त की द्विविधा हटा कर प्रसादजी ने श्रेय और प्रेय के झगड़े को भी साफ कर दिया है। इसका यह आशय नहीं कि वे काव्य और शास्त्र में कोई अन्तर नहीं मानते। उन्होंने केवल इनका व्यावहारिक अन्तर माना है, प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का भी विवरण दिया है, जिसमें इन दोनों विषयों की शिक्षा पृथक्-पृथक् दो केन्द्रों में दी जाती थी। शास्त्रीय व्यापार के सम्बन्ध में प्रसादजी स्वयं कहते हैं, "मन संकल्प और विकलपात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकलपात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धांत बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इनके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की, कमी हो जाती है।"

किंतु काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मान लेने और संकलपात्मक अनुभूति की उपर्युक्त व्याख्या कर देने भर से समस्या का समाधान नहीं होता; बल्कि यहीं से शंकाएँ आरम्भ होती हैं। सबसे पहली शंका प्रसादजी ने स्वयं उठायी है और उसका उत्तर भी दिया है। वे लिखते हैं "कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकलपात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है?" उत्तर वे यह देते हैं—"इसीलिए तो साथ-ही-साथ 'असाधारण अवस्था' का उल्लेख किया गया है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान

कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह शाश्वत चेतनता है या चिन्मयी ज्ञानधारा है जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।"

'असाधारण अवस्था' का इस प्रकार निर्वचन कर प्रसादजी ने काव्य और उसकी व्याख्या को रहस्यात्मक पुट दिया है। वह असाधारण अवस्था क्या है, उसके स्वरूप का अन्तिम निर्णय नहीं हो सकता। अवश्य वह अनुभवजन्य है, किंतु युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित होने के कारण वह इतिहास की वस्तु भी है। इतिहास ने अनुशीलन से उसका आभास हम पा सकते हैं।

प्रसादजी ने प्रस्तुत पुस्तक में उस असाधारण अवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन भी किया है। उनके इस अनुशीलन से आत्मा की उस असाधारण अवस्था का, जिसे मननशील संकल्पात्मक अनुभूति या काव्यावस्था कहते हैं, जो परिचय प्राप्त होता है, हम बहुत संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं। यह अवस्था आत्मा की है, इसलिए स्वभावत: अवस्था के साथ-साथ आत्मा-सम्बन्धी विभिन्न युगों की धारणाओं का परिचय प्रसादजी देते गये हैं। आत्मा का विशुद्ध अद्वय स्वरूप आनन्दमय है और उस अद्वयता में सम्पूर्ण प्रकृति संनिहित है, यह प्रसादजी की सुदृढ़ धारणा और उपपत्ति है। आदि वैदिक काल में इस आत्मवाद के प्रतीक इंद्र थे और यही धारा शैव और शाक्त आगमों में आगे चल कर बही। यही विशुद्ध आत्मदर्शन था, जिसमें प्रकृति और पुरुष की द्वयता विलीन हो गयी थी। शैव और शाक्त आगामों में जो अन्तर है, उसे भी प्रसादजी ने प्रकट किया है—'कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे, वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्ति-तरंग जगत् में लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए।' आत्मा का यही विशुद्ध अद्वय प्रवाह परवर्ती रहस्यात्मक काव्य में प्रसरित हुआ, इसीलिए प्रसादजी रहस्यात्मक काव्यधारा को ही आत्मा को संकलपात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शक्ति और आनन्दप्रधान धारा थी जिसमें आदर्शवाद, यथार्थवाद, दु:खवाद आदि बौद्धिक, विवेकात्मक आदि, प्रसादजी के मत से अनात्मवादों का, स्वीकार नहीं था। दु:ख या करुणा के लिए यहाँ भी स्थान था, किंतु यहाँ वेदना आनन्द की सहायक और साधक बनकर ही रह सकी।

इससे भिन्न दूसरी धाराओं के कई विभाग प्रसादजी ने किए हैं, स्थूल रूप से उन्हें हम विवेकवादी धारा या अनात्मवादी धारा के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं धाराओं के प्रतीक वैदिक काल में वरुण (जो एकेश्वरवाद के आधार हुए और जिनकी गणना असुरों में भी की गयी) और परवर्ती काल में अनात्म-

वादी बौद्ध थे जो चैत्यपूजक हुए। पौराणिक काल में इसी दुःखवादी विचारधारा की प्रधानता थी और राम इसी विवेक-पक्ष के प्रतिनिधि थे। कृष्ण के चरित्र में यद्यपि आनन्द की मात्रा कम न थीं; किन्तु मुख्य पौराणिक विचारधारा दुःखवाद —से उनकी चरित्र-सृष्टि भी आक्रांत है। शांकर वेदांत बौद्धों के दुःखवाद में संसार से अतीत सच्चिदानन्द-स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। यह आदिम आर्य आत्मवाद की दुःख से मिश्रित धारा है। यद्यपि इसमें आत्मा की अमरता और आनन्दमयता का सन्देश है, किंतु संसार मिथ्या और माया की आर्त पुकार भी है। परवर्त्ती भक्ति-संप्रदायों के सम्बन्ध में प्रसादजी की धारणा है कि ये अनात्मवादी बौद्धों के ही पौराणिक रूपांतर हैं। अपने ऊपर एक त्राणकर्त्ता की कल्पना और उसकी आवश्यकता दुःखसंभूत दर्शन का ही परिणाम है। यद्यपि प्रसादजी का यह मत है कि 'मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है' किंतु भक्ति-संप्रदायों में यह प्रेरणा दृढ़मूल नहीं हो सकी और दुःखवादी या रक्षावादी विचारों ने उस पर कब्जा कर लिया। कबीर आदि निर्गुण संत भी दुःखवादी ही थे, समय की आवश्यकता से सच्चे आनन्दवादी रहस्यवादियों को उनके लिए स्थान करना पड़ा।

प्रसादजी ने केवल ये आरोप ही नहीं किये, इनके लिए प्रमाणों की भी व्यवस्था की है। वैदिक-काल के सम्बन्ध में वे लिखते हैं— सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा (इन्द्र की उपासना) का अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्त्व के उपासक थे।···आत्मा में आनन्द भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। भारत के आर्यों ने कर्मकांड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लास-पूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इंद्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की कल्पनाएँ हुईं। किंतु इस आत्मवाद और यज्ञ वाली विचारधारा की वैदिक आर्यों में प्रधानता हो जाने पर भी, कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके। वे व्रात्य कहे जाने लगे।...उन व्रात्यों ने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्-भावन की।... वृष्णि-संघ व्रज में और मगध में अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पग दुःखवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की।...फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि वे बुद्धिवादी, अपरिग्रही, दिगंबर, नग्न, दिगम्बर, पानी गरम करके पीने वाले और मुँह पर कपड़ा बाँधकर चलने वाले हुए। इन लोगों के आचारण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे।'

इस प्रसंग को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है। पाठक मूल में

ही उसे पढ़ेंगे। यहाँ इसी के साथ अब भारतीय साहित्य की प्रमुख धाराओं और अंगों के संबंध में प्रसादजी की धारावाहिक समीक्षा का सारांश उपस्थित किया जाता है जो उन्होंने काव्य की अपनी मूल परिभाषा को स्पष्ट करते हुए की है। ऊपर कह चुके हैं कि प्रसादजी रहस्यवाद को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा मानते हैं। यह काव्यात्मक रहस्यवाद वैदिक-काल के 'ऊषा' और 'नासदीय' सूक्तों में, अधिकांश उपनिषदों में, शैव शाक्तादि आगमों में, आगमानुयायी स्पंदशास्त्रों में, सौंदर्य्य-लहरी आदि रहस्यकाव्य में तथा सहजानंद के उपासक नागप्पा, कन्हप्पा आदि आगमानुयायी सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। बीच में इन रहस्यवादी संप्रदायों के 'बौद्धिक गुप्त कर्मकांड' की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृंखलता से पार कर चुकी थी। यही अवसर रहस्यवादियों के ह्रास का था। किंतु फिर भी इस धारा का अत्यंताभाव कभी नहीं हुआ। पिछले खेवे भी तुकनगिरि और रसालगिरि आदि सिद्धों के रहस्य-संप्रदाय के शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनी में आनंद और अद्वयता की धारा बहाते रहे। प्रसादजी का यह भी स्पष्ट मत है कि 'वर्त्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, तथाप्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है'। उनके शब्दों में 'वर्त्तमान रहस्यवाद की धारा (जिसे छायावाद काव्य भी कहते हैं) भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं।'

यह न समझना चाहिए कि काव्यात्मक रहस्यवाद बस इतना ही है। इतना तो वह तब होता, जब प्रसादजी की दृष्टि पूर्ण साहित्यिक न होकर मुख्यत: सांप्रदायिक होती। काव्य में जहाँ कहीं वास्तविक आनंद या रस का प्रवाह है, वहीं आत्मा की संकल्पात्मक प्रेरणा है और वहीं वह 'असाधारण अवस्था' है जिसे काव्य की—विशेषकर रहस्यकाव्य की—जन्मदात्री माना गया है। जिन काव्यों का प्रवाह आनंद-स्रोत से उद्रिक्त है, दु:ख जिनमें निमित्त बनकर आया है, लक्ष्य नहीं—जो मुख्यत: प्रगतिशील सांस्कृतिक सृष्टियाँ हैं—वे सभी प्रसादजी की रहस्य-काव्य की व्याख्या के अंतर्गत आ जाती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटक एक प्रधान अंग है। नाटक में रस या आनंद की प्रधानता मानी गई है। साहित्य के अन्य अंग काव्य, उपन्यास आदि तो दु:खांत हो सकते हैं; किंतु नाटकों के लिए ऐसी व्यवस्था सर्वमान्य रही है कि उनमें दु:खांत सृष्टि नहीं होनी चाहिए। प्रसादजी ने इसका कारण यह बतलाया है कि नाटकों में आनंद या रस का साधारणीकरण होता है। प्रत्येक दर्शक अभिनीत वस्तु के साथ हृदय का तादात्म्य करके पूर्ण रस की अनुभूति करता है। वह अभिनीत दृश्यों से एकाकार हो जाता है, इसलिए अभिनीत वस्तु में न तो व्यक्ति-वैचित्र्य (अद्‌भुत चरित्र-सृष्टि) के लिए

अधिक स्थान माना गया है, न दु:खातिरेक के लिए। इसका आशय यह नहीं हैं कि नाटकों में दु:ख के दृश्यों के लिए स्थान ही नहीं है अथवा आनंद के, रस के, नाम पर श्रेयहीन प्रेय का ही प्राधान्य है। इसका आशय केवल इतना है कि नाटक में आत्मा की संकल्पात्मक, सांस्कृतिक प्रेरणाओं की प्रधानता होती है, क्योंकि वे मुख्यत: जनसमाज के मनोरंजन के साधन होते हैं। आये दिन सिनेमा की दृश्यावली में भी हम इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पाते हैं, यद्यपि उनमें सर्वत्र श्रेय और सुरुचि का ध्यान नहीं रक्खा जाता।

प्रसादजी की एक अन्य उपपत्ति यह भी है कि दार्शनिक रहस्यवाद का नाटकीय रस से घनिष्ट संबंध है। जिस प्रकार रहस्यवाद में आनंद के पक्ष की प्रधानता है, उसी प्रकार नाटक में भी। जिस प्रकार भक्ति आदि विवेक और उपासना-मूलक दर्शन को अद्वैत-रहस्य में स्थान नहीं है, उसी प्रकार भक्ति की रस में गणना नहीं हो सकती। यह स्पष्ट ही इसलिए कि भक्ति-काव्य के पात्रों और व्यवहारों का नाटक द्वारा रसरूप में साधारणीकरण नहीं हो सकता। वे पात्र तो उपासना के हैं, उनका साधरणीकरण हो कैसे? इसलिए वे साहित्यक अर्थ में नीरस हैं। साहित्यक रस तो तभी तक है जब तक तादात्म्य की पूर्ण सुविधा है।

इसी तादात्म्य या साधारणीकरण के प्रसंग को लेकर प्रसादजी ने वह अत्यंत मार्मिक दार्शनिक निष्पत्ति की है, जिसके आधार पर उनका सारा ऊर्ध्व-लिखित विवेचन स्थिर है। वह निष्पत्ति पूर्णत: मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थिर है। अभिनय देखते हुए दर्शक के हृदय में साधारणीकरण या तादात्म्य के आधार पर जो रसानुभूति होती है, वह साहितियक-शास्त्र से सर्वथा स्वीकृत है और ब्रह्मानंद-सहोदर कही गई है। किंतु साधारणीकरण होता किस वस्तु का है? अभिनीत पात्रों के प्राकृतिक व्यवहारों और वासनाओं का। इससे स्पष्ट है कि प्रकृतिक वासनाओं का आत्मस्वरूप में स्वीकार ही रस का हेतु है—वह रस जो ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्मानंद-सहोदर रस प्रकृति के उपादानों से ही बना है—उनका बहिष्कार करके किन्हीं अलौकिक उपादानों द्वारा नहीं। दार्शनिक क्षेत्र में यही उपपत्ति इस प्रकार ग्रहण की जायगी कि आनंद की सत्ता को प्रकृतिबाह्य मानने की आवश्यकता नहीं है, प्रकृति का आनंद-स्वरूप में स्वीकार ही वास्तविक अद्वैत है।

यहाँ फिर यह कहने की आवश्यकता है कि प्राकृतिक वासनाओं का जो साधारणीकरण रस-रूप में होता है, वह श्रेयहीन प्रेय नहीं है। श्रेयपूर्ण प्रेय है वह प्राकृतिक द्वैत से संयुक्त नहीं है, आत्मिक अद्वैत से निष्पन्न है। उपकरण प्रकृति है; कोई आत्म विरहित प्रकृति नहीं। यह रस आत्मा की मननशीलता का परिणाम है, कोई प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं। इसी अर्थ में प्रसादजी ने काव्य को

आध्यत्मिक वस्तु सिद्ध किया है और इसी अर्थ में वे प्राकृतिक सत्ता का आत्म-सत्ता में समन्वव करते हैं।

प्रसादजी का यह मन्तव्य है कि आत्मा की यह विशुद्ध अद्वय तरंग जैसी प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रवाहित है, वैसी अन्य साहित्यिक कृतियों में नहीं। उनका कथन यह है कि नाट्य-साहित्य में रस, या आनन्द अनिवार्य होने के कारण काव्य की मूल रहस्यात्मक धारा नाटकों में ही प्रवर्त्तित हुई। रामायण और महा-भारत जैसे महाकाव्य भी विवेकवाद से (जो दुःखवाद का ही एक रूप है) अभि-भूत हैं। उनमें से एक (रामायण) आदर्शात्मक विवेकवाद की पद्धति पर रचा गया है और दूसरा यथार्थवादात्मक पद्धति पर। दोनों के मूल में विवेक या विकल्प का अंश है। पूर्णतः संकल्पात्मक ये कृतियाँ नहीं हैं। आदर्शवाद और यथार्थवाद इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट रूप से इस प्रसंग में न करने पर भी प्रसाद-जी का आशय यही जान पड़ता है। ये शब्द प्रसादजी ने आधुनिक प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में व्यवहृत किये हैं, जिसे हम आगे देखेंगे। यहाँ समझने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि आदर्शवाद में लोकोत्तर चरित्रों और भावों का समा-वेश प्रसादजी ने माना है और यथार्थवाद में लोकसामान्य घटनाओं मनोवृत्तियों आदि का। किंतु ये दोनों ही वाद प्रसादजी की सम्मति में बौद्धिक या विवेकप्रसूत हैं। ये रसात्मक या आनन्दात्मक नहीं हैं।

यही नहीं, प्रसादजी का मत है कि पौराणिक साहित्य से लेकर अधिकाँश श्रव्य काव्य (जिन्हें प्रसादजी ने समयोपयोगी 'पाठ्य काव्य' नाम दिया है) जिनमें कथा-सरित्सागर और दशकुमार चरित् की 'यथार्थवादी' रचनाएँ और कालिदास अश्वघोष, दंडी, भवभूति और भारवि का काव्यकाल भी सम्मिलित है, बाहरी आक्रमण से हीनवीर्य हुई जाति की कृतियाँ हैं। इनमें प्रचीन अद्वैत-भावापन्न 'नाट्यरस' नहीं है। 'आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था (वह रहस्यात्मक प्रेरणा) नहीं है, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।'

संक्षेप में प्रसादजी की मुख्य विवेचना यहाँ समाप्त हो जाती है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि उन्होंने एक ओर आनन्दप्रधान, रहस्यात्मक या रसात्मक और दूसरी ओर विवेकप्रधान, बौद्धिक या आलंकारिक साहित्य की दो कोटियाँ स्थिर की हैं और उन्हें अद्वैत और द्वैत दर्शन से क्रमशः अनुप्राणित माना है। इस प्रकार का श्रेणी-विभाग नया, विचारोत्तेजक और प्रसादजी की प्रतिभा का परि-चायक है। हिंदी के साहित्यिक और दार्शनिक क्षेत्रों में यह प्रायः अभूतपूर्व है। अवश्य ही ये श्रेणियाँ बहुत दृष्टि से परस्पर नितांत विरोधिनी नहीं हैं, ऐसी भी संभावनाएँ ध्यान में आती हैं, जब ये दोनों ऊपर से एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाएँ, किन्तु इनके मूल स्रोतों, लक्षणों और प्रक्रियाओं में स्पष्ट अन्तर है। यद्यपि

प्रसादजी ने यह बात कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कही और ऐतिहासिक शैली से ही विवेचन किया है, तो भी यह कई स्थानों पर ध्वनित होता है कि प्रधान धारा का साहित्य ही वास्तव में प्रगतिशील साहित्य है और दूसरी धारा का साहित्य मुख्यत: ह्रासोन्मुख है। इस विचार से हिंदी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय, तो प्रचलित धारणाओं में बहुत अधिक फेर-फार करने की आवश्यकता प्रतीत होगी।

इसी प्रकार अद्वैत और द्वैत के सम्बन्ध की प्रसादजी की दार्शनिक उद्भावना —प्रकृति का आत्मा से पृथक्करण नहीं वरं उसमें पर्यवसान अद्वैत है और द्वैत आत्मा और जगत् की भिन्नता का विकल्प है—आधुनिक आध्यात्मिक क्षेत्रों में कम उत्तेजना नहीं उत्पन्न करेगी। यद्यपि विचारपूर्वक देखा जाय, तो इसमें प्राचीन प्रवृत्तिमार्ग अथवा आत्मा की छत्रछाया में निष्काम कर्म की, आधुनिक आध्यात्मिक उत्पत्ति में विशेष भिन्नता नहीं है, तो भी प्रकार भेद तो है ही।

प्रसादजी की संमति में अद्वयता की साधना ही मुख्य साहित्यिक और दार्शनिक साधना है तथा इन दोनों का ही हिन्दी-क्षेत्र में प्राय: अभाव है। साहित्य में वे आनन्द-सिद्धांत के पृष्ठपोषक हैं (हिंदी के भक्ति और शृंगार दोनों ही कालों में वास्तविक आनंद की न्यूनता थी) और दर्शन में शक्ति-अद्वैतवाद के संदेशवाहक। आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में इन दोनों का समन्वय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रसादजी के अन्य आनुषंगिक विचारों का अनुशीलन भी कम उपादेय नहीं है। उदाहरणार्थ रस के प्रसंग में उन्होंने प्रदर्शित किया है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि के साहित्य-संप्रदाय विवेकमत की उपज हैं, अकेला रसमत ही आनंद-उद्भूत है। एक अन्य निबंध में आधुनिक साहित्य का हवाला देते हुए आदर्शवाद, यथार्थवाद, छायावाद आदि कई पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि "श्री हरिश्चन्द्र ने वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण प्रारम्भ किया है। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो; परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय हुआ था। यद्यपि हिन्दी में पौराणिक युग की पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों में भी उसे सजाना आरम्भ किया; किंतु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा। यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेनना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख!"

यथार्थवाद की यह व्याख्या दार्शनिक की अपेक्षा ऐतिहासिक अधिक है और श्री

हरिश्चंद्र के समय की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों का संकेत करती है। अभाव के साथ-ही-साथ यथार्थवादी का एक भावपक्ष भी है, जिसमें दैनिक जीवन के यथातथ्य चित्रण काल्पनिक के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि, और फ्रायड की सुझाई मनो-वैज्ञानिकता का अनुसरण मुख्य है। इस यथार्थवाद के साथ ऐतिहासिक-भौतिक-विज्ञानवाद (Historical materialism) और नवीन कामविज्ञान का भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। सामाजिक समस्याओं का व्यावहारिक नहीं, बौद्धिक समाधान भी इस वाद की विशेषता है। यह वाद सामाजिक उत्थान की निचली सीढ़ी, नींव अथवा जड़ के समीप रह कर ही अपनी उपयोगिता प्रकट करता है, ऊँची सांस्कृतिक भूमियों में जाने का कष्ट नहीं करता। उनकी दृष्टि मुख्यतः भौतिक विज्ञान पर स्थित है।

प्रसादजी ने आदर्शवाद के सम्बन्ध में लिखा है—'आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वंद्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तंभ में किया जाता है।' यह आदर्शवाद की परिपाटी भी ऐतिहासिक है, सैद्धांतिक नहीं और मेरे विचार से आदर्शवाद की यह अवनतिशील (decadent) परिपाटी है। अपनी उन्नत अभिव्यक्तियों में आदर्शवाद अतिशय निस्पृह विज्ञान है; किन्तु प्रसादजी जिस ऐतिहासिक आदर्शवाद का उल्लेख करते हैं, अपने स्थान पर वही ठीक है। वाद के रूप में आदर्श को प्रसादजी दुःखवाद की ही सृष्टि मानते हैं। इसलिए वे कहते भी हैं—'सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। स्पष्ट ही यहाँ प्रसादजी ने यथार्थ और आदर्श दोनों ही वादों को विवेक-प्रसूत माना है, आनन्दोद्‌भूत, अद्वैत अथवा सच्चा सांस्कृतिक नहीं। इस-लिए प्रसादजी की ये व्याख्याएँ प्रचलित पारिभाषिक व्याख्याओं से कुछ भिन्न हो गई हैं।

प्रसादजी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि "सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्व और लघुत्व दोनों सीमांतों के बीच की वस्तु है; यहाँ महत्व और लघुत्व के दोनों सीमांतों से प्रसादजी का तात्पर्य ऐतिहासिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के सीमांतों से है। दार्शनिक सीमांतों की ओर यहाँ उनकी दृष्टि नहीं है।

इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसादजी सिद्धांततः मध्यवर्गीय थे। प्रसादजी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे। उसके रहस्यवाद या शक्ति-सिद्धांत में

दोनों के अंश हो सकते हैं; किन्तु दोनों की सीमाएँ नहीं हैं और दोनों की मूल दुखात्मकता का भी निषेध है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में इसका नाम छायावाद पड़ा और ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें उक्त दोनों वर्षों (आदर्शवाद और यथार्थवाद) की मध्यस्थता के चिह्न भी संभव है मिलें, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह अद्वैत पर स्थित है और वे दोनों वाद द्वैत पर। प्रसादजी ने इस अन्तर का ही अधिक आग्रह किया है। उनकी मीमांसा से प्रकट होता है कि छायावाद ऊपरी दृष्टि से तो यथार्थवाद के ही निकट है। (ऐसा कहते हुए उनका ध्यान आरम्भिक आदर्शवादी छायावादियों की ओर नहीं गया, जिनकी एक प्रतिनिधि रचना 'साधना' है) किन्तु प्रसादजी की संमति में यथार्थवाद श्री हरिश्चन्द्र के 'भारत-दुर्दशा आदि में स्थूल बाह्य वर्णनों तक ही सीमित रहा, और दुःखप्रधान था।' छायावाद में 'वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी।···ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था।'

यह प्रबल नवीन उत्थान किसी मध्यवर्ग के मान का नहीं था। इसके लिए नव्य दर्शन की आवश्यकता थी। यह नवीन दर्शन अद्वैत रहस्यवाद ही है, जिसके अनुसार 'विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद है, जिसकी सौंदर्यमयी व्यंजना वर्तमान हिंदी में हो रही है।' छायावाद एक ऐतिहासिक आवश्यकता भी है और दार्शनिक अभ्युत्थान भी। प्रसादजी का यह स्पष्ट मत है कि दार्शनिक दृष्टि से यह अभ्युत्थान प्रचीन रहस्यात्मक परम्परा में है जिसे भूले भारत को बहुत दिन हो गये थे।

'नाटकों का आरम्भ' और 'रंग-मंच' पर प्रसादजी के दो निबन्ध प्रस्तुत पुस्तक में हैं, जिन्हें मूल में ही अध्ययन करने की आवश्यकता है। यहाँ उनका विवरण अधूरा और अप्रासंगिक भी होगा, क्योंकि उनमें व्याख्येय कोई विशेष वस्तु नहीं है, सब-का-सब विवरणात्मक है।

चार प्रश्न और भी विचारणीय हैं—वे चारों पहले ही निबन्ध (काव्य और कला) के हैं। वे प्रस्तुत पुस्तक के मूल प्रश्नों में से नहीं हैं, इसलिए अब तक छूटे हुए थे; किन्तु अपने स्थान पर वे सभी महत्वपूर्ण हैं। पहला प्रश्न कला की परिभाषा और दूसरा मूर्त्त और अमूर्त्त आधार पर कलाओं के वर्गीकरण का है। तीसरा काव्य पर राष्ट्रीय संस्कृति का प्रभाव और अन्तिम प्रश्न काव्य में अनुभूति की प्रधानता पर है। 'कला' शब्द का भारतीय व्यवहार प्राश्चात्य व्यवहार से भिन्न है। यहाँ कला केवल छंद-रचना के अर्थ में व्यवहृत हुई, इसीलिए काव्य नहीं 'समस्यापूर्ति' की गणना कला में की गई। स्पष्ट ही काव्य केवल 'समस्यापूर्ति' नहीं है, समस्या-

पूर्ति या छंद तो उसका वाहनमात्र है—बिना सवार का घोड़ा। पाश्चात्य अर्थ में कला सवार-सहित घोड़ा है; इसलिए उसकी शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक संस्कृति में उसका स्थान स्वभावत: भिन्न होना ही चाहिए।

कलाओं के वर्गीकरण का प्रश्न कलाओं के पाश्चात्य अर्थ में है। चित्र, संगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि कलाओं के वर्गीकरण का कुछ क्रम आवश्यक है। हीगेल ने कलाओं के मूर्त्त आधार को लेकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के विभेद से वर्गीकरण किया है, जिसके अनुसार अत्यंत सूक्ष्म, भावमय होने के कारण साहित्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। और सबसे नीचे स्थापत्य का स्थान है, क्योंकि उसका उपकरण अपेक्षाकृत स्थूल है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यह विभाजन व्यावहारिक है और इन कलाओं की वास्तविक उच्चता या नीचता का परिचायक नहीं। काव्य भी निम्न कोटि का हो सकता है। सुन्दर मूर्ति उससे कहीं श्रेष्ठ कलावस्तु मानी जा सकती है। हीगेल का प्रयोजन इतना ही है कि और सब बातें बराबर हों, तो काव्य का स्थान उसके सूक्ष्मतर उपकरण के कारण सर्वोच्च होगा और उसके नीचे क्रमश: संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य कलाएं होंगी। कलाओं के उत्कर्ष-अपकर्ष की तुलना यहाँ नहीं है। वह तो एक-एक कलावस्तु की समीक्षा द्वारा ही हो सकती है। यहाँ तो केवल व्यावहारिक विभाग की चर्चा है। इस संबंध में मतभेद के लिए विशेष स्थान मुझे नहीं दिखलाई देता।

तीसरा प्रश्न काव्य-साहित्य पर राष्ट्रीय संस्कृति की छाप का है। यह निश्चय है कि काव्य में राष्ट्र की स्थायी सांस्कृतिक प्रवृतियों का प्रचुर प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी ने इसका एक सुन्दर उदाहरण भी दिया है—यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसक:' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्राथिनी बनाया गया है। देशांतर और जात्यंतर से इस प्रथा में भिन्नता भी पाई जाती है। इसीलिए काव्य के देश-जातिगत कुछ स्थाई उपलक्षण (Conventions) मानने पड़ते हैं।

अंतिम प्रश्न काव्य में अनुभूति या अभिव्यक्ति की प्रधानता विषयक है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यक्ति की प्रधानता स्वीकार करता है, किन्तु प्रसादजी अनुभूति की प्रधानता मानते हैं। उन्होंने इस संबंध में हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ कवियों का उदाहरण सामने रक्खा है—सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास का। वे पूछते हैं —'कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-

विन्यासपटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही ये वात्सल्य की संपूर्ण अभि-व्यक्ति नहीं कर सके ?' प्रश्न का उत्तर भी वे देते हैं 'मैं तो कहूँगा, यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण।···तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्रजी की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचंद की शिशु-मूर्ति का शुद्ध अद्वैतवाद नहीं।'

प्रसादजी का यह उत्तर सोलह आना सत्य है, किन्तु अभिव्यंजनावादियों का प्रश्न यह है कि अनुभूति है क्या वस्तु ? एक ओर तो कवि को अनुप्रेरित करने वाले सृष्टि के वस्तु-व्यापार हैं और दूसरी ओर है कवि का काव्य या अभिव्यक्ति। इन दोनों के बीच में अनुभूति है। यह अनुभूति काव्य-व्यापार में कहीं भी स्वतंत्र नहीं है। एक ओर वह बाह्य अभिव्यक्ति (संसार और उसके भावादियों) से प्रतिक्षण निर्मित होती है और दूसरी ओर काव्याभिव्यक्ति में परिणत होती है। केवल अनुभूति काव्य का कोई उपादान नहीं। अनुभूति चाहे जितनी हो, काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य-निर्माण के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही आवश्यक है। अभिव्यक्ति केवल रचना कौशल नहीं है, अनुभूतिपूर्ण रचना कौशल है।

प्रसादजी का इस मत से कोई विरोध नहीं है, किन्तु वे इसकी छान-बीन में उतरे नहीं हैं। हाँ, वे अभिव्यंजनावादियों की भाँति अनुभूति को गौणता न देकर उसे मूल्य मानते हैं। अनुभूति का निर्माण कैसे होता है, यह तो प्रश्न ही दूसरा है। वस्तुत: वे अनुभूति को मननशील आत्मा की असाधारण अवस्था मानते हैं, और अभिव्यंजनावादियों की व्यक्त बाह्य प्रक्रियाओं को विशेष महत्व नहीं देते। अभि-व्यंजनावादी 'क्रोस' और रहस्यवादी 'प्रसाद' में इतना ही मुख्य अंतर है।

अंत में यह कहते हुए पुस्तक पाठकों के हाथ में रक्खी जा रही है कि यह अपने ढंग की अकेली रचना है, जो हिन्दी की अपनी मानी जाय और साहित्य के सुयोग्य विद्यार्थियों को स्नेह और विश्वासपूर्व पढ़ने को दी जाय। निश्चय ही यह कहना मेरे लिए जितना सुखद है, आज उतना ही दुःखप्रद भी।

गीताप्रेस, गोरखपुर
11-3-39

—नंददुलारे वाजपेयी

□□

काव्य और कला

हिन्दी में साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण बदला हुआ-सा दिखाई पड़ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचारधारा जिस क्षेत्र में काम कर रही थी, वह वर्त्तमान आलोचनाओं के क्षेत्र से कुछ भिन्न था। इस युग की ज्ञान-संबंधिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचनशैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है; किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है, परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है। काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए संभवत: हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अंतर्गत किया जाने लगा है। यही वर्गीकरण परंपरागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौंदर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है। यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि इस विचार-धारा और सौन्दर्य्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्‌गम है या नहीं।

यह मानते हुए कि ज्ञान और सौन्दर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केन्द्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानत: संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्त्ती ज्योति-केन्द्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलमा में सौन्दर्य्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौन्दर्य-संबंधी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौंदर्य-अनुभूति की तुला बन जाती है, इसी से हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम अपने रहन-सहन, अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप से संस्कृत रूप में प्रदर्शन कर सकते हैं। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं; क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में, आरंभिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मंदिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रांतों में अंत:प्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य्य-बोध की बाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों

से मौलिक संबंध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। ईरान खलीफाओं के ही कला और विद्या-प्रेम तथा सौंदर्यानुभूति ने—जो उनकी मौलिक संस्कृति द्वारा उनमें विद्यमान थी—मरुभूमि के एकेश्वरवाद को सौंदर्य से सजा कर स्पेन और ईजिप्ट तक उसका प्रचार किया, जिससे वर्त्तमान यूरोपीय सौंदर्य-बोध अपने को अछूता न रख सका। संस्कृति सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।

इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौंदर्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, किन्तु आवश्यक है। साहित्य में सौंदर्य्य-बोध-संबंधी रुचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिसमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुसरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था, जिसका तात्पर्य एक खंडिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालंभ था। जहाँगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझ कर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रुचि के अनुसार उसने यह स्त्री का उपालंभ पुरुष के प्रति वर्णन किया है, तब जहाँगीर का क्रोध ठंडा हुआ। यह रुचि-भेद सांस्कृतिक है। यहाँ पर यह विवेचन नहीं करना है कि ऐसा उपालंभ पुरुष को स्त्री के प्रति देना चाहिए या पुरुष को स्त्री के प्रति; किन्तु यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।

यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे, तो जहाँगीर की तरह प्रमाद कर बैठने की आशंका है। तो भी इस प्रसंग में यह बात न भूलनी चाहिए कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समय-चक्र के प्रत्यावर्त्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद में परिवर्त्तन का आभास मिलता है। ऊपर की कही हुई संभावना या साहित्यिक सिद्धान्त मायावाद के प्रबलता प्राप्त करने के पीछे का भी हो सकता है; क्योंकि कालिदास ने रति का करुण विप्रलंभ वर्णन करने के साथ-ही-साथ अज का भी विरह-वर्णन किया है और मेघदूत तो विरही यक्ष की करुणभाव-व्यंजना से परिपूर्ण एक प्रसिद्ध अमर कृति है।

इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङ्मय की सुरुचि-संबंधी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत-से मिलेंगे। उन्हें बिना देखे ही अत्यंत शीघ्रता में आजकल अमुक वस्तु अभारतीय है अथवा भारतीय संस्कृति सुरुचि के

विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है। विज्ञ समालोचक भी हिन्दी की आलोचना करते-करते 'छायावाद' 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्त्तमान हिन्दी-कविता में अचेतनों में, जड़ों में, चेतनता का आरोप करना हिन्दी-वालों के अँगरेजी से लिया है; क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिन्दी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign element) है। कहीं अँगरेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज़ लव'। फिर क्या ? कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देख कर उन्हें अँगरेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है। उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदान्त ग्रंथ पंचदशी में कहा है 'अयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः'। वे भूल जाते हैं कि आनंदवर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा है—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।

ऐसे ही कुछ सिद्धान्त पिछले काल के अलंकार और रीति-ग्रंथों के अस्पष्ट अध्ययन के द्वारा और भी बन रहे हैं। कभी यह सुना जाता है कि भारतीय साहित्य में दुःखांत और तथ्यवादी साहित्य अत्यंत तिरस्कृत है। शुद्ध आदर्शवाद का सुखांत प्रबंध ही भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तब मानो ये आलोचकगण भारतीय संस्कृति के साहित्य-संबंधी दो आलोकस्तंभों, महाभारत और रामायण की ओर से अपनी आँखें बंद कर लेते हैं। ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता और प्रधानतः अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न हैं। सांस्कृतिक सुरुचि का समय-समय पर हुए विशेष परिवर्तनों के साथ, विस्तृत और पूर्ण विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है।

हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरों में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थीं। काव्यकार-परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार-परीक्षा पाटिलपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य-समस्या-पूरण भी एक कला है, किन्तु वह समस्यापूर्ति (श्लोकस्य समस्यापूणम् क्रीड़ार्थम् वादार्थम् च) कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती

थी। कला से जो अर्थ पाश्चत्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टि-कोण में नहीं।

ज्ञान के वर्गीकरण में पूर्व में और पश्चिम का सांस्कृतिक रुचि-भेद विलक्षण है। प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चिंतनधारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओत-प्रोत है, और इसलिए हम बाध्य हो रहे हैं अपने ज्ञान-संबंधी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु विचार-विनिमय के नये साधनों की उपस्थिति के कारण संसार की विचार-धारा से कोई भी अपने को अछूता नहीं रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम में हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्त्तन करना चाहिए क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नहीं हैं।

हिंदी में आलोचना कला के नाम से आरम्भ होती है। और साधारणतः हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्व और महत्व समझा जाता है। इस विभाग में सुगमता अवश्य है, किंतु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की संभावना जैसी पाश्चात्य साहित्य में है, वैसी भारतीय साहित्य में नहीं। उनके पास अरस्तू से लेकर वर्त्तमान काल तक की सौन्दर्यानुभूति संबंधिनी विचार-धारा का क्रमविकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामंजस्य नहीं है। बीच-बीच में इतने अभाव या अंधकार-काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लुप्त होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौन्दर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।

यों तो पाश्चात्य वर्गीकरण में भी मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल में ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का संगीत के अंतर्गत वर्णन करता है, किंतु वर्त्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीतकला से ऊँचा स्थान देती है। कला के इस तरह विभाग करने वालों का कहना है कि मानव-सौंदर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा दो भागों में किया जा सकता है। एक स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की, मूर्त्त होती है। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह-निर्माण-विद्या, मूर्त्तिकला और चित्रकारी, ये कला के मूर्त्त विभाग हैं और क्रमशः अपनी कोटि में ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी-विभाग करती हैं।

संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ हैं। संगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त्त कला है। काव्य-कला को अमूर्त्त मानने में जो मनोवृत्ति दिखलाई देती है वह महत्व उसकी परंपरा के कारण है। यों तो साहित्य-

कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त्त भी मानी जा सकती है; क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के द्वारा प्रत्यक्ष मूर्त्तिमती है। वर्णमातृका की विशद कल्पना तंत्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गई है। 'अ' से प्रारंभ होकर 'ह' तक के ज्ञान का ही प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, अहं के—आत्मा के हैं। वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के संबंध में अनेक प्राचीन देशों की आरंभिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव में चित्र-लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्रकला और वाङ्मय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।

संभव है कि इसी अमूर्त्त संबंधिनी महत्ता से प्रेरित होकर प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अंतर्गत माना हो। उनकी विचार-पद्धति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। संभवत: अमूर्त्त संगीत आभ्यंतर और मूर्त्त शरीर बाह्य इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नींव ग्रीस के विचारकों ने रक्खी; सो भी बिलकुल भौतिक दृष्टि से—अध्यात्म का उसमें संपर्क नहीं। इसीलिए प्लेटो का शिष्य अरस्तू कला को अनुकरण (Imitation) मानता है। लोकोत्तर आनंद की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।

कौटिल्य की तरह लोकोपयोग राजशास्त्र को प्रधान मानते हुए व्यक्तिगत जीवन के स्वास्थ्य के लिए प्लेटो संगीत और व्यायाम को मुख्य उपादेशी विद्या की तरह ग्रहण करता है। संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा संबंध जोड़कर वह लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है।

वर्त्तमान-काल में सौंदर्य-बोध की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपना अलग विचार-विस्तार करने लगा है। इसके आविर्भावक हेगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्मशास्त्र का और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है। इस विचार-धारा का सिद्धांत है कि मानव सौंदर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्मशास्त्र के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति-लाभ करता है। फिर शुद्ध तर्क ज्ञान से उससे एकीभूत होता है।

यह भी विचार का एक कोटिक्रम हो सकता है; परन्तु भारतीय विचार-धारा इस संबंध में—जो अपना मत रखती है, वह विलक्षण और अभूतपूर्व है। काव्य के संबंध में यही प्रारंभिक और मौलिक मान्यता कुछ दूसरी थी। उपनिषद् में कहा है—तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायाम् बहुधा संततानि। कवि और ऋषि इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्राचीन काल में माने जाते

थे। ऋषियों मंत्रद्रष्टारः। ऋषि लोग या मंत्रों के कवि उन्हें देखते थे। यही 'देखना' या दर्शन कवि की महत्ता थी।

इतना विराट् वाङ्मय और प्रवचनों का वर्णमाला में स्थायी रूप रखते हुए भी कविता शुद्ध अमूर्त्त नहीं कही जा सकती। मूर्त्त और अमूर्त्त के संबंध में उपनिषद् में कहा है—द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च—(बृहदारण्यक—2 अ० —3 ब्रा० 1)

मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश अमूर्त्त, अविनश्वर हैं; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्त्तनशील) हैं। इस तरह मूर्त्त और अमूर्त्त का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में ही माना गया है। तब यह विश्वास होता है कि हमारे यहाँ रूप की साधारण परिभाषा से विलक्षण कल्पना है। क्योंकि दृहदारण्यक में लिखा है :—

—स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हि रूपाणि जानांति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि—(3 अ० 9 ब्रा० 20)

वह आदित्य आलोक-पुंज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा रूप में और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्त्व का आरोप करता है; क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अंतरिक्ष अमूर्त्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौन्दर्य-बोध-संबंधी दो धारणाएँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने संवेदन को आकर देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं। इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

ग्रीक लोगों के सौन्दर्य-बोध में जो एक क्रम-विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक संभवतः पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव-स्वभाव सौन्दर्यानुभूति के द्वारा क्रमविकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इसमें स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है। और, इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत-प्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्नकोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि में।

भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बनाता है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।। मुण्डकोप० 2

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते हैं और यह पक्की अद्वैतभावना कही गई है; अर्थात्—पुरुष का शरीर प्रकृति है। कदाचित् अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट-कल्पना का मूल भी यही दार्शनिक विवेचन है। संभवत: पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है। कला के ईसाई आलोचक हेवेल ने संभवत: इसीलिए कहा है कि—The Hindu draws no distinction between what is sacred and profane.

पूर्व, भारत से पश्चिम का यह मौलिक मतभेद है। यही कारण है कि पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक या Materialistic बना हुआ है और भारत मूर्त्ति-पूजा और पंच-महायज्ञों के क्रिया-कांड में भी अध्यात्म-भाव से अनुप्राणित है।

यही कारण है कि ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त को, विशेषता देकर उसकी सीमा में ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यंतर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य-बोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त भेद संबंधी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन रही है। जब यह अमूर्त्त के साथ सौन्दर्य-शास्त्र का संबंध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त्त सौन्दर्य कहकर घोषित करते हैं, जो सौन्दर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते हैं। श्रेय, आत्म-कल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।

सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरंभ होती है। स्वाध्याय बुद्धि का यज्ञ है। कहा भी है—सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च—स्वाध्याय प्रवचन में सत्य का अन्वेषण करो। स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् को प्राप्त होता है। हमारे सब बौद्धिक व्यापारों का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत उद्योग होता रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में, जो परिवर्तनशील होने के कारण अनृत नाम से पुकारी जाती है, ओत-प्रोत है। कुछ लोग कह सकते हैं कि कवि से हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते हैं; किन्तु सत्य केवल 1+1=2 में ही नहीं सीमित है। अनृत को प्राय: बढ़ाकर देखने से सत् लघु कर दिया गया है; किंतु सत्य विराट् है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओत-प्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दोलक्षण बताये गये हैं—श्रेय और प्रेय। इसलिए सत्य की अभिव्यक्ति

हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है—काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धान्तों के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य का साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। अयमात्मा वाङ्मयः प्राणमयः (बृहदारण्यक)। उपविज्ञात प्राण विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और उनके सामंजस्य को स्थिर करने वाली सजीवता अविज्ञात प्राण शक्ति, ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।

मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धांत बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है। शास्त्र-संबंधी ज्ञान को इसीलिए विज्ञान मान सकते हैं कि उसके मूल में परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और उनका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता है।

काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरंभ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुंदर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से जो मेरा तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किंतु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती है; क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न

संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।

ज्ञान की जिस मनन-धारा का विकास पिछले काल में परंपरागत तर्कों के द्वारा एक-दूसरे के रूप में दिखाई देता है, उसे हेतु विद्या कहते हैं। किंतु वैदिक-साहित्य के स्वरूप में उषा-सूक्त और नासदीय-सूक्त इत्यादि यथा उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए कहा है—तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु।

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है उससे यह प्रकट होता है कि वह विज्ञान से अधिक संबंध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धांत तक पहुँचा देती हैं। संभवतः इसीलिए काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि भी छंद-शास्त्र और पिंगल के नियमों द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अंतर्गत माना गया है। छंदशास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का शास्त्रीय विषय है। वास्तुनिर्माण, मूर्त्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सब की विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्व स्व कर्मभिः।

स्थपितः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा ।। (मयमतम्, 5 अध्याय)

चित्र के संबंध में भी—

चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्पविशारदैः। (शिल्परत्न, अध्याय 16)

इस तरह वास्तुनिर्माण, मूर्ति और चित्र शिल्प-शास्त्र के अंतर्गत हैं।

काव्य के प्राचीन आलोचक दंडी ने कला के संबंध में लिखा है—नृत्यगीत-प्रभृतयः कलाकामार्थसंश्रयाः (3-162) नृत्य-गीत आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। और इन कलाओं की संख्या भी वे चौंसठ बताते हैं, जैसा कि कामशास्त्र या तंत्रों में कहा गया है। इत्थं कला चतुःषष्ठि विरोधः साधु नीयताम् (3-171)। काव्यादर्श में दंडी ने कला-शास्त्र के माने हुए सिद्धांतों में प्रमाद न करने के लिए कहा है, अर्थात्—काव्य में यदि इन कलाओं का कोई उल्लेख हो तो उसी कला के मतानुसार। इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु है। न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला (1-171 भरत नाट्यम्) की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं—कला गीत-वाद्यादिका। इसी से गाने-बजाने वालों को अब भी कलावंत कहते हैं।

भामय ने भी जहाँ काव्य का विषय संबंधी विभाग किया है, वहाँ वस्तु के चार भेद मानते हैं—देव चरित शंसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ

भामह का तात्पर्य है कि कला संबंधी विषयों को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है। काव्य का एक विषय कला भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।

कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं क्योंकि इसमें आनंदांश वा तल्लीनता की मात्रा अधिक है, किंतु है यह ध्वन्यात्मक। अनुभूति का ही वाङ्मय अस्फुट रूप है। इसलिए इसका उपयोग काव्य के वाहनरूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।

संगीत के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्यात्मक होती है। वाणी का संभवतः वह आरंभिक स्वरूप है। वाणी के चार भेद प्राचीन ऋषियों ने माने हैं। चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहिता-नेङ्गयंति, तुरीया वाचं मनुष्या वदंति (ऋग्वेद)। वाणी के वे चार भेद आगे चलकर स्पष्ट कर दिये गये, और क्रमशः इनका नाम परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी आगम शास्त्रों में मिलता है। परा, पश्यंती और मध्यमा गुहा निहित है। वैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं, शास्त्रों में परावाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परमर्शमयी शक्ति माना है। पश्यंती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शन-स्वरूप द्रष्टा और दृश्य के अंतराल में रहती है। वैखरी स्थान, करण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण को ग्रहण करनेवाली दृश्य-प्रधान होती है।

वृदाहरण्यक में कहा है—यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति। प्राण-शक्ति संपूर्ण अज्ञात वस्तु को अधिकृत करती है। वह अविज्ञात रहस्य है। इसीलिए उसका नित्य नूतन रूप दिखाई पड़ता है। फिर यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति, जो कुछ जाना जा सका वही वाणी है, वाणी उसका स्वरूप धारण करके, उस ज्ञान की रक्षा करती है।

ज्ञान-संबंधी करणों का विवेचन करने में भारतीय पद्धति ने परीक्षात्मक प्रयोग किया है। स्वप्रमितिक के ज्ञान के लिए पाँच इंद्रियाँ प्रत्यक्ष हैं। उन्हीं के द्वारा संवेदन होता है, उनमें तन्मात्रा के क्रम से बाह्य पदार्थों के भी पाँच विभाग माने गये हैं। 'आकाशाद् वायुः' वाले सिद्धांत के अनुसार आकाश का गुण शब्द ही इधर ज्ञान के आरम्भ में है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है और वर्णों के लिए आभ्यंतर और बाह्य दो प्रयत्न माने गये हैं। आभ्यंकर प्रयत्न उसे कहते हैं जो वर्णों की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु-व्यापार है। और वर्णोत्पत्तिकालिक व्यापार को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह वाङ्मय-अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है— य एको वर्णो बहुधा शक्ति-

योगात् वर्णाननेकान्नि हितार्थो दधाति विचैति चान्ते विश्वमादो स देवः स नो बुद्धया संयुनक्तु। भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है। इसलिए वही प्रकृत है।

आर्य-साहित्य में उन वर्णों के संगठन के तीन रूप माने गये हैं—ऋक् = पद्यात्मक, यजु = गद्यात्मक और साम = संगीतात्मक। 'वैदिकाश्च द्विविधा: प्रगीता अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीता: सामानि, अप्रगीताश्च द्विविधा: छन्दोवद्धास्तद्वि-लक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः द्वितीया यजूंषि' (सर्वदर्शनसंग्रह) यही आर्य-वाणी की आरंभिक उच्चारण शैली है, जो दूसरों के आस्वाद के लिए श्रव्य कही जाती है।

काव्य को इन आरंभिक तीन भागों में विभक्त कर लेने पर उसकी आध्या-त्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट आभास पा जाते हैं, और यही वाणी—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।

वाणी के द्वारा अनुभूतियों को व्यक्त करने के बाद एक अन्य प्रकार का भी प्रयत्न आरंभ होता है। दूर रहनेवाले, चाहे यह देश-काल के कारण से ही हो, केवल व्यष्टि का आश्रय लेनेवाली उच्चारणात्मक वाणी का आनंद नहीं ले सकते। इसलिए वह व्यक्ति द्वारा प्रकट हुई आत्मानुभूति सामूहिक या समष्टि-भाव से विस्तार करने का प्रयत्न करती है। और तब चित्र, लक्षण इत्यादि संबंधी अपनी बाह्य सत्ता को बनाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है। आगमों के अनुशीलन से, कला को अन्य रूप से भी बताया जा सकता है। शैवागमों में छत्तीस तत्त्व माने गये हैं, उनमें कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, नियति और काल माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इंद्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप, बोध के लिए है। कला संकुचित कर्तव्य शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्वप्रकाश में कहा है—व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा।

शिव-सूत्र-विमर्शिनी में क्षेमराज ने कला के संबंध में अपना विचार यों व्यक्त किया है—

कलयति स्वस्वरूपावेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनत्तीति कलाव्यापार:। इस पर टिप्पणी है—

कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला अर्थात्—नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।

'स्व' को कलन करने का उपयोग—आत्म-अनुभूति की व्यंजना में—प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया जाता है; अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत् में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो—यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल अर्थात् ऐसा नहीं, यह आत्मा के अविज्ञान अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं जिनकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य में या आत्मानुभूति में कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं। अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास-कौशल तथा छंद आदि भी अत्यन्त आवश्यक नहीं।

व्यंजना वस्तुतः अनुभूतमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौंदर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं। और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किंतु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएं हैं। प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।

हाँ, फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ?

काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके।

किन्तु यह बात तो नहीं है। सोलह मात्रा के छन्द में अन्तर्भावों को प्रकट

करने की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है, वह कविता संसार में विरल है। फिर क्या कारण है कि रामचन्द्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के उतने समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाएँ। रामचंद्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परम्परा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है। न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।

दोनों कवियों के शब्द-विन्यास कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है—वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है—वहीं कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।

इसीलिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शकों के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों में अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौटकर अपने कवि की अनुभूति वाली मौलिक वस्तु की सहानुभूतिमात्र ही रह जाती है। इसलिए व्यापकता आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।

□□

रहस्यवाद

काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसका मूल उद्‌गम सेमेटिक धर्म-भावना है, और इसीलिए भारत के लिए वह बाहर की वस्तु है। किन्तु शाम देश के यहूदी जिनके पैगम्बर मूसा इत्यादि थे, सिद्धांत में ईश्वर को उपास्य और मनुष्य को जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे।

सेमेटिक धर्म में मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। क्राइस्ट ने ईश्वर का पुत्र होने की ही घोषणा की थी, परन्तु मनुष्य का ईश्वर से यह सम्बन्ध जिहोवा के उपासकों ने सहन नहीं किया और उसे सूली पर चढ़वा दिया।*

पिछले काल में यहूदियों के अनुयायी मुसलमानों ने भी 'अनलहक' कहने पर मंसूर को उसी पथ का पथिक बनाया। सरमद का सर काटा गया। सेमेटिक धर्म-भावना के विरुद्ध चलनेवाले ईसा, मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्मभावना से अधिक परिचित थे।

सूफी संप्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचारधारा है जो अरब और सिंध का परस्पर संपर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि सूफी धर्म का पूर्ण विकास तो पिछले काल में आर्यों की बस्ती ईरान में हुआ, फिर भी उनके सब आचार इस्लाम के अनुसार ही हैं। उनके तौहीद में चुनाव है एक का, अन्य देवताओं में से, न कि संपूर्ण अद्वैत का। तौहीद का अद्वैत से कोई दार्शनिक सम्बन्ध नहीं। उसमें जहाँ कहीं पुनर्जन्म या आत्मा के दार्शनिक तत्व का आभास है, वह भारतीय रहस्यवाद का अनुकरण मात्र है, क्योंकि शामी धर्मों के भीतर अद्वैत कल्पना दुर्लभ नहीं, त्याज्य भी है।

कुछ लोगों का कहना है मेसोपोटामिया या बाबिलन के बाल, ईस्टर प्रभृति देवताओं के मन्दिरों में रहनेवाली देवदासियाँ ही धार्मिक प्रेम का उद्गम हैं और वहीं से धर्म और प्रम का मिश्रण, उपासना में कामोपभोग इत्यादि अनाचार का आरम्भ हुआ तथा यह प्रेम ईसाई-धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव-धर्म को मिला। किंतु उन्हें यह नहीं मालूम कि काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है—कामदस्तदग्रे सम-वर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गई। संभवतः विवेक-वादियों की आदर्श-भावना के कारण, इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम में जिस व्यापक भावना का समावेश है,

---

* Therefore the Jews sought the more to kill him, because he not only had broken the Sabbath, but said that God was his Father, making himself equal with God (St. John. 5) I and my Father are one. Then the jews took up stones again to stone him. (St. John, 10).

वह इन सब भावों को आवृत कर लेती है। इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रों में, कामकला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौंदर्य आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी। पीछे बारहवीं शताब्दी के सूफी इब्न अरबी ने भी अपने सिद्धांतों में इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्य ने जितने प्रकार के देवताओं की पूजा का समारम्भ किया है, उनमें काम ही सबसे मुख्य है। यह काम ही ईश्वर की अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा—व्यापक रूप है।*

देवदासियों का प्रचार दक्षिण के मन्दिरों में वर्तमान है और उत्तरीय भारत में ईसवीय सन् से कई सौ बरस पहले शिव, स्कंद, सरस्वती इत्यादि देवताओं के मन्दिर नगर के किस भाग में होते थे, इसका उल्लेख चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है और सरस्वती मन्दिर तो यात्रागोष्ठी तथा संगीत आदि कला-संवर्धी समाजों के लिए प्रसिद्ध था। देवदासियाँ मन्दिरों में रहती थीं, परन्तु वे उस देव-प्रतिमा के विशेष अन्तर्निहित भावों को कला के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए ही रहती थीं। उनमें प्रेम पुजारिनों का होना असंभव नहीं था। सूफी रबिया से पहले ही दक्षिण भारत की देवदासी अन्दल ने जिस कृष्ण-प्रेम का संगीत गाया था, उसकी आविष्कर्त्री अन्दल को ही मान लेने में मुझे तो सन्देह ही है। कृष्ण-प्रेम उस मन्दिर का सामूहिक भाव था, जिसकी अनुभूति अन्दल ने भी की। ऐतिहासिक अनुक्रम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फारस में जिस सूफी-धर्म का विकास हुआ था, उस पर काश्मीर के साधकों का बहुत कुछ प्रभाव था। यों तो एक-दूसरे के साथ सम्पर्क में आने पर विचारों का थोड़ा बहुत आदान-प्रदान होता ही है; किन्तु भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदों को 'सुमेरियन डॉकुमेंट' सिद्ध करने का प्रयास।**

शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्यवाला रहस्य-संप्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा काम-कला की सौन्दर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणलियाँ हैं, जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने ग्रन्थों में प्रचार किया था।

---

*Of the Gods man has conceived and worshipped, Ibn Arabi is of opinion that Derire is the greatest and most vital. It is the greatest of the universal forms of His self-expression. (M. Ziyauddin in "Vishwabharati.")

**द्रष्टव्य—डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार का इलस्ट्रेटेडी वीकली में लेख (सं०)।

भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झुँझलाहट है। रहस्यवाद के आनन्द-पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढाँचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनन्द है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनन्द और उसके पथ के लिए जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कहकर स्वीकार करने में बाधक है। किन्तु प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनन्द, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे; और आज के भी अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ आनन्द के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनन्द-भावना, प्रियकल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सेमेटिक है, कह कर संतोष कर लिया जाता है।

कदाचित् इन आलोचकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आरंभिक वैदिककाल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही, जब 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था; तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे। एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेकपक्ष के आदर्श थे। महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्द के प्रचारक थे। वरुण को देवताओं के अधिपति-पद से हटना पड़ा, इन्द्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनन्द की विचारधारा उत्पन्न की। फिर तो इन्द्र ही देवराज-पद पर प्रतिष्ठित हुए। वैदिक-साहित्य में आत्मवाद के प्रचारक इन्द्र की जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसंग है, वह उनके आनन्द के अनुकूल ही है। बाहरी याज्ञिक क्रिया-कलापों के रहते हुए भी वैदिक आर्यों के हृदय में आत्मवाद और एकेश्वरवाद की दोनों दार्शनिक विचारधाराएँ अपनी उपयोगिता में संघर्ष करने लगीं। सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनन्दवाली धारा का अधिक स्वागत किया। क्योंकि वे स्वत्व के उपासक थे! और वरुण यद्यपि आर्यों की उपासना में गौण रूप से सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुर के रूप में असीरिया आदि अन्य देशों में हुई। आत्मा में आनन्द-भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। उधर असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए। भारत के आर्यों ने कर्मकांड और बड़े-बड़े यज्ञों में उल्लास-पूर्ण आनन्द का ही दृश्य देखना आरम्भ किया और एकात्मवाद के प्रतिष्ठापक इंद्र के उद्देश्य से बड़े-बड़े यज्ञों की प्रधानता हो जाने पर भी कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नहीं कर सके—वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक धर्म की प्रधान धारा में, जिसके अन्तर में आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक

क्रियाओं का उल्लास था, व्रात्यों के लिए स्थान नहीं रहा। उन व्रात्यों ने अत्यन्त प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप में उपासना का क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होंने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्‌भावना की। फिर तो आत्मवाद के अनुयायियों में भी अग्निहोत्र आदि कर्मकांडों की आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगीं। उन्होंने स्वाध्याय-मंडल स्थापित किये। भारतवर्ष का राजनीतिक विभाजन भी वैदिककाल के बाद इन्हीं दो तरह के दार्शनिक धर्मों के आधार पर हुआ।

वृष्णि-संघ ब्रज में और मगध के व्रात्य और अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनों की स्थापना करने लगे। इन्हीं लोगों के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे जिन्होंने ईसा से हजारों वर्ष पहले मगध में बौद्धिक विवेचना के आधार पर दु:खवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दु:खमय माना गया और दु:ख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दु:खनिवृत्ति दु:खवाद का ही परिणाम है। फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न, दिगंबर, पानी गरम करके पीने वाले और मुँह पर कपड़ा बाँध कर चलनेवाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे। वैदिक-काल के बाद इन व्रात्यों के संघ किस-किस तरह का प्रचार करते घूमते थे, उन सब का उल्लेख तो नहीं मिलता; किन्तु बुद्ध के जिन प्रतिद्वंद्वी मस्करी गोशाल, अजित केश-कम्बली, नाथपुत्र, संजन बेलिट्ठिपुत्र, पूरन कस्सप आदि तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है' वे प्राय: दु:खातिरेकवादी, आत्मवाद में आस्था न रखने वाले तथा बाह्य उपासना में चैत्यपूजक थे। दु:खवाद जिस मननशैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर, तर्कों के आश्रय में बढ़ती रही। अनात्मवाद की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। फलत: पिछले काल में भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवादी का विकास भक्ति के रूप में हुआ। जिन-जिन लोगों में आत्म विश्वास नहीं था, उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई। प्रणतिवाली शरण खोजने की कामना—बुद्धिवाद की एक धारा—प्राचीन एकेश्वरवाद के आधार पर ईश्वर-भक्ति के स्वरूप में बढ़ी और इन लोगों ने अपने लिए अवलंब खोजने में नये-नये देवताओं और शक्तियों की उपासना प्रचलित की। हाँ, आनंदवाद वाली मुख्य अद्वैतधारा में भक्ति का विकास, एक दूसरे ही रूप में हो चुका था, जिसके संबंध में आगे चलकर कहा जायगा।

ऊपर कहाँ जा चुका है कि वैदिक-साहित्य की प्रधान धारा में उसकी याज्ञिक क्रियाओं की आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगी थीं और व्रात्यदर्शनों की प्रचुरता के युग में भी आनन्द का सिद्धान्त संहिता के बाद श्रुतिपरंपरा में आरण्यक-स्वाध्याय

मंडलों में प्रचलित रहा। तैत्तिरीय में एक कथा है कि भृगु जब अपने पिता अथवा गुरु वरुण के पास आत्म-उपदेश के लिए गए तो उन्होंने बार-बार तप करने की ही शिक्षा दी और बार-बार तप करके भी भृगु संतुष्ट न हुए और फिर आनन्द-सिद्धान्त की उपलब्धि करके ही उन्हें परितोष हुआ। विवेक और विज्ञान से भी आनन्द को अधिक महत्व देने वाले भारतीय ऋषि अपने सिद्धांत का परम्परा में प्रचार करते ही रहे।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविघताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। (तैत्तिरीय उप० 2 वल्ली 5 अनुवाक)

उपनिषद् में आनंद की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गयी थी, जो आनंद-सिद्धांत के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्यों में तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था, वहाँ प्रधान वैदिक-धारा के अनुयायी आर्यों में आनंद का सिद्धांत भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (मुण्डक०)

नैषा तर्केण मतिरापनेया। (कठ०)

आनंदमय आत्मा की उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।

इन लोगों ने अपने विचारों के अनुयायी राष्ट्रों में परिषदें स्थापित की थीं और व्रात्य-संघों के सदृश ही इनके भी स्वाध्यायमंडल थे, जो व्रात्य-संघों से पीछे के नहीं अपितु पहले के थे। हाँ, इन लोगों ने भी बुद्धिवाद का अपने लिए उपयोग किया था; किंतु उसे वे अविद्या कहते थे, क्योंकि वह कर्म और विज्ञान की उन्नति करती है और नानात्व को बताती है। मुख्यतः तो वे अद्वैत और आनन्द के ही उपासक रहे। विज्ञानमय याज्ञिक क्रिया-कलापों से वे ऊपर उठ चुके थे। कुरु, पांचाल, काशी और कोसल में उनकी परिषदें थीं ही, किंतु मगध की पूर्वीय सीमा पर भी उसके दुःख और अनात्मवादी राष्ट्रों के एक छोर पर विदेहों की बस्ती थी, जो संपूर्ण अद्वैतवादी थे। ब्राह्मण-ग्रंथ में सदानीरा के उस पार यज्ञ की अग्नि न जाने की जो कथा है उसका रहस्य इन्हीं मगध के व्रात्य-संघों से संबंध रखता था। किंतु माधव विदेह ने सदानीरा के पार अपने मुख जिस अग्नि को ले जाकर स्थापित किया था, वह विद्रोहों का प्राचीन आत्मवाद ही था। इन परिषदों में और स्वाध्यायमंडलों में वैदिक मंत्रकाल के उत्तराधिकारी ऋषियों ने संकल्पात्मक ढंग से विचार किया, सिद्धांत बनाये और साधना-पद्धति भी स्थिर की। उनके सामने ये सब प्रश्न आये—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।।
(केनोपनिषद्)

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्याम् ।।
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

इन प्रश्नों पर उनके संवाद अनुभवगम्य आत्मा को संकल्पात्मक रूप से निर्देशन करने के लिए होते थे । इस तरह के विचारों का सूत्रपात शुक्ल यजुर्वेद के 39 और 40 अध्यायों में ही हो चुका था । उपनिषद् उसी ढंग से आत्मा और अद्वैत के सम्बन्ध में संकल्पात्मक विचार कर रहे थे, यहाँ तक कि श्रुतियाँ संकल्पात्मक काव्यमय ही थीं और इसीलिए वे लोग 'कविर्मनीषी' में भेद नहीं मानते थे । किन्तु व्रात्य-संघों के बाह्य आदर्शवाद से, विवेक और बुद्धिवाद से भारतीय हृदय बहुत कुछ अभिभूत हो रहा था; इसीलिए इन आनन्दवादियों की साधना-प्रणाली कुछ-कुछ गुप्त और रहस्यात्मक होती थी ।

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम् प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ।।
वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय नाशिष्याय वा पुनः ।।
(श्वेताश्वतर०)

उनकी साधन-पद्धतियों का उल्लेख छांदोग्य-आदि उपनिषदों में प्रचुरता से है । ये लोग अपनी शिष्यमंडली में विशेष प्रकार की गुप्त साधना-प्रणालियों के प्रवर्त्तक थे । बौद्ध साहित्य में जिस तरह के साधनों का विवरण मिलता है, वे बहुत-कुछ इन ऋषियों और इनके उपनिषदों के अनुकरण-मात्र थे, फिर भी वे अपने ढंग के बुद्धिवादी थे । और वे उपनिषदों के 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्' (कठ०) वाले योग का अपने ढंग के अनात्मवाद के साधन के लिए उपयोग करने लगे ।

श्रुतियों का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमों को अवतारणा की और ये आत्मवादी आनंदमय कोष की खोज में लगे ही रहे । आनन्द का स्वभाव ही उल्लास है, इसलिए साधना-प्रणाली में उसकी मात्रा उपेक्षित न रह सकी । कल्पना और साधना के दोनों पक्ष

अपनी-अपनी उन्नति करने लगे, कल्पना विचार करती थी, साधना उसे व्यवहार्य बनाती थी। आगम के अनुयायियों ने निगम के आनन्दवाद का अनुसरण किया, विचारों में भी और क्रियाओं में भी। निगम ने कहा था—

आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते, आनंदेन जातानि जीवंति। आनंदं प्रयंत्यभिसंविशंति ॥

आगमवादियों ने दोहराया—

आनंदोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानत्मना।

आगम के टीकाकारों ने भी इस अद्वैत आनन्द को अच्छी तरह पल्लवित किया।

विगलितभेद-संस्कारमानंदरसप्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज)

हाँ, इन सिद्धों ने आनंदरस की साधना में और विचारों में प्रकारांतर भी उपस्थित किया - अद्वैत को समझने के लिए—

आत्मैवेदमग्र आसीत्...स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्विधापायतत्। इत्यादि वृहदारण्यक श्रुति का अनुकरण करके समता के आधार पर भक्ति की और मित्र-प्रणय की-सी मधुर कल्पना भी की। क्षेमराज ने एक प्राचीन उद्धरण दिया।

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दांपत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥

यह भक्ति का आरंभिक स्वरूप आगमों में अद्वैत की भूमिका पर ही सुगठित हुआ। उनकी कल्पना निराली थी—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥

यह भक्ति भेदभाव, द्वैत, जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता को नष्ट करने वाली थी। ऐसी ही भक्ति के लिए माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के गुरु ने कहा है—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।

अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेमाभक्ति की योजना तैत्तिरीय आदि श्रुतियों के ही आधार पर हुई थी। फिर तो सौंदर्य-भावना भी स्पष्ट हो चली—

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुंदरम्। (अष्टावक्रगीता 4/3)

इन आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनंद-मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य-संप्रदाय कहते थे। शिवसूत्रविमर्शिनी प्रस्तावना में क्षेमराज ने लिखा है :—

द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि

रहस्य-सम्प्रदाय जिसमें लुप्त न हो, इसलिए शिवसूत्रों की महादेवगिरि से प्रतिलिपि की गयी। द्वैतदर्शनों की प्रचुरता थी। रहस्य-संप्रदाय अद्वैतवादी था। इन लोगों ने पाशुपत-योग की प्राचीन साधन-पद्धति के साथ-साथ आनंद की योजना करने के लिए काम-उपासना-प्रणाली भी दृष्टांत के रूप में स्वीकृत की। उसके लिए भी श्रुति का आधार लिया गया।

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नांतरम्
(वृहदारण्यक)
उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः।
आत्मरतिरात्मक्रीड़ आत्मभिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।

इन छांदोग्य आदि श्रुतियों के प्रकाश में यह रति-प्रीति—अद्वैतमूला भक्ति रहस्यवादियों में निरंतर प्रांजल होती गयी। इस दार्शनिक सत्य को व्यावहारिक रूप देने में किसी विशेष अनाचार की आवश्यकता न थी। संसार को मिथ्या मानकर असंभव कल्पना के पीछे भटकना नहीं पड़ता था। दुःखवाद से उत्पन्न संन्यास और संसार से विराग की आवश्यकता न थी। अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग शैवागमों में मान लिया गया था। फिर तो सहज आनंद की कल्पना भी इन लोगों ने की। श्रुति इसी कोटि के साधकों के लिए पहले ही कह चुकी थी—

या बुद्ध्यते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविः यत्पिबति तदस्य सोपमानं यद्रमते तदुपसदो···। इसी का अनुकरण है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रासमाधिस्थितिः (शांकरी मानसपूजा)

सौंदर्य-लहरी भी उसी स्वर में कहती है—

सपर्या पर्यायस्तव भवति यन्मे विलसितम्। (27)

इन साधकों में जगत् और अंतरात्मा की व्यावहारिक अद्वयता में आनंद की सहज भावना विकसित हुई। वे कहते हैं—

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानंदाकारं शिवयुवति भावेन विमृषे॥ (आनंदलहरी, 35)

किसी काश्मीरी भक्त कवि[1] ने कहा है—

तत्तदिंद्रियमुखेन संततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥

इसमें इंद्रियों के सुख से अर्चन-रस का आसव पीने की जो कल्पना है, वह आनंद की सहज भावना से ओत-प्रोत है।

आगमानुयायी स्पंदशास्त्र के अनुसार प्रत्येक भावना में, प्रत्येक अवस्था में वह आत्मानंद प्रतिष्ठित है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोति परामृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पंदः प्रतिष्ठितः॥

और, उनकी अद्वैत साधना के अनुसार सब विषयों में—इंद्रियों के अर्थों में—निरूपण करने पर कहीं भी अशिव, अमंगल, निरानंद नहीं—

विषयेषु स सर्वेषु इंद्रियार्थेषु च स्थितम्।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥

---

1. संग्रह स्तोत्र 8—आचार्य उत्पल (सं०)

जिस मन को बुद्धिवादी मनोदुर्निग्रहं चलम् समझ कर ब्रह्म-पथ में विमूढ़ हो जाते हैं उसके लिए आनंद के उपासकों के पास सरल उपाय था। वे कहते हैं—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिंतयेत्।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः।।

मन चल कर जायगा कहाँ? बाहर-भीतर आनंदघन शिव के अतिरिक्त दूसरा स्थान कौन है?

ये विवेक और आनंद की विशुद्ध धाराएँ अपनी परिणति में अनात्म और दुःखमय कर्मवादी बौद्ध हीनयान-संप्रदाय तथा दूसरी ओर आत्मावादी आनंदमय रहस्य-संप्रदाय के रूप में प्रकट हुई। इसके अनंतर मिश्र विचारधाराओं की सृष्टि होने लगी। अनात्मवाद से विचलित होकर बुद्ध में ही सत्ता मान कर बौद्धों का एक दल महायान का अनुयायी बना। शुद्ध बुद्धिवाद के बाद इसमें कर्मकांडात्मक उपासना और देवताओं की कल्पना भी सम्मिलित हो चली थी। लोकनाथ आदि देवी-देवताओं की उपासना कोरा शून्य ही नहीं रह गयी। तत्कालीन साधारण आर्य जनता में प्रचलित वैदिक बहुदेवपूजा से शून्यवाद का यह समन्वय ही महायान-संप्रदाय था। और बौद्धों की तरह वैदिक धर्मानुयायियों की ओर से जो समन्वयात्मक प्रयत्न हुआ, उसी ने ठीक महायान की ही तरह पौराणिक-धर्म की सृष्टि की। इस पौराणिक-धर्म के युग में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक रामचंद्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दुःखसहिष्णुता में महान् रहे। किंतु पौराणिक युग का सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था। इनमें गीता का पक्ष जैसा बुद्धिवादी था वैसा ही ब्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्यभोग आनंद से संबद्ध था।

जैसे वैदिक-काल के इंद्र ने वरुण को हटा कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली, उसी तरह इंद्र का प्रत्याख्यान करके कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। किंतु शोधकों की तरह यह मानने को मैं प्रस्तुत नहीं कि वैदिक इंद्र के आधार पर पौराणिक कृष्ण की कल्पना खड़ी की गयी। कृष्ण अपने युग के पुरुषोत्तम थे; उनका व्यक्तित्व बुद्धिवाद और आनंद का समन्वय था। इंद्र की ही तरह अहं या आत्मवाद समर्थन करने पर भी कृष्ण की उपासना में समरसता नहीं, अपितु द्वैतभावना और समर्पण ही अधिक रहा। मिलन और आनंद से अधिक वह उपासना विरहोन्मुख ही बनी रही। और होनी भी चाहिए, क्योंकि इसका संपूर्ण उपक्रम जिन पुराणवादियों के हाथ में था, वे बुद्धिवाद से अनुभूति थे। संभवतः इसीलिए यह प्रेममूलक रहस्यवाद विरहकल्पना में अधिक प्रवीण हुआ। पौराणिक धर्म का दार्शनिक स्वरूप हुआ मायावाद। मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के मिश्र

उपकरणों से संगठित हुआ था। इसीलिए जगत् को मिथ्या—दुःखमय मानकर सच्चिदानंद की जगत् से परे कल्पना हुई। विश्वात्मवादी शिवाद्वैत की भी कुछ बातें इसमें ली गयीं। आनंद और माया उन्हीं की देन थी। बुद्धिवाद को यद्यपि आगमवादियों की तरह अविद्या मान लिया था—अख्यात्युल्लसितेषु भिन्नेषु भावेषु बुद्धिरित्युच्यते—तथापि विवेक में आत्मनिरूपण के लिए मायावाद के प्रवर्त्तक श्री गौड़पाद ने मनोनिग्रह का उपाय बताया था—दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् (मांडूक्यकारिका 43)।

काम-भोग से निवृत्त के लिए दुःख-भावना करने का ही उनका उपदेश नहीं था। किन्तु वे मानसिक सुख को भी हेय समझते थे—

नास्वादयेत्सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्। (मांडूक्यकारिका 45)

आनंद सत्-चित् के साथ सम्मिलित था, परंतु है यह प्रज्ञावाद—बुद्धि की विकल्पना। मायातत्त्व को आगम से लेकर उसे रूप ही दूसरा दिया गया। बुद्धिवाद की दर्शनों में प्रधानता थी, फिर तो आचार्य ने बौद्धिक शून्यवाद में जिस पांडित्य के बल पर आत्मावाद की प्रतिष्ठा की, वह पहले के लोगों से भी छिपा नहीं रहा। कहा भी गया—मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव हि।

महायान और पौराणिक-धर्म ने साथ-साथ बौद्ध-उपासक-संप्रदाय को विभक्त कर लिया था। फिर तो बौद्धमत शून्य से ऊब कर सहज आनंद की खोज में लगा। अधिकांश बौद्ध ऊपर कहे हुए कृष्णसंप्रदाय की द्वैतमूला भक्ति में सम्मिलित हुए और दूसरा अंश आगमों का अनुयायी बना। उस समय आगमों में दो विचार प्रधान थे। कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे और वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्ति-तरंग में लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए। उस काल की भारतीय साधना-पद्धति व्यक्तिगत उत्कर्ष में अधिक प्रयुक्त हो रही थी। दक्षिण के श्रीपर्वत से जिस मंत्रवाद का बौद्धों में प्रचार हो रहा था, वह धीरे-धीरे वज्रयान में किस तरह परिणत हुआ और आगम संप्रदाय में घुस कर अनात्मवादी बौद्धों ने आत्मा की अवहेलना करके भी वैदिक अंबिका आदि देवियों के अनुकरण में कितनी शक्तियों की सृष्टि की और कैसी रहस्यपूर्ण साधना-पद्धतियाँ प्रचलित कीं, उसका विवरण देने के लिए यहाँ अवसर नहीं। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उन्होंने बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिरत्न के स्थान पर कामिनी, काम और सुरा को प्रतिष्ठित किया। धारणी मंत्रों की योजना की। पीछे ये मंत्रात्मक भावनाएँ प्रतिमा बनने लगीं। मंत्रों में जिन विचारधाराओं का

संकेत था, वे देवता का रूप धर कर व्यक्त हुईं। परोक्ष-पूजापद्धति की प्रचुरता हुई।

पौराणिक-धर्म ने इसी ढंग पर देववाद का प्रचार किया। उपनिषदों के षोडश-कला-पुरुष के प्रतिनिधि बने सोलह कला वाले पूर्ण अवतार श्रीकृष्णचंद्र। सुंदर नर-रूप की पराकाष्ठा थी। नारी-मूर्ति में सुंदरी की, ललिता की—सौंदर्य-प्रतिमा के अतिरिक्त सौंदर्य-भावना के लिए अन्य उपाय भी माने गये। 'नरपति-जयचर्या' स्वर-शास्त्र का एक प्राचीन ग्रंथ है। उसमें मन की भावना के लिए बताया गया है—

> गौरांगीं नवयौवनां शशिमुखीं ताम्बूलगर्भाननां
> मुक्तामंडनशुभ्रमाल्यवसनां श्रीखंडचर्चांकिताम्।
> दृष्ट्वा कामपिकामिनीं स्वयमिमाँ ब्राह्मीं पुरो भावये
> दंतश्चितयतो जनस्य मनसि त्रैलोक्यमुन्मीलिनीम्।

यह सौंदर्य-धारणा हृदय में त्रैलोक्य का उन्मीलन करनेवाली है। यहाँ समझ लेना चाहिए कि भारत में सौंदर्य-आलम्बन नर और नारी की प्रतिच्छवि मन को महाशक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करने के उपाय में उपासना के स्वरूप में व्यवहृत होने लगी थी।

बौद्धों के उत्तराधिकारी भी शून्यवाद से घबरा कर अनेक प्रकार की मंत्र-साधना में लगे थे, आर्यमंजुश्रीमूलकल्प देखने से यह प्रकट होता है। फिर शैवा-गमों में जो अनुकूल अंश थे, उन्हें भी अपनाने से ये न रुके। योगाचार तथा अन्य गुप्त साधनाओं वाला बौद्ध-संप्रदाय आनंद की खोज में आगमवादियों से मिला। विचारों में सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं सर्वमनात्मम्—पर 'आनंदरूपममृतं यद्विभाति' ने विजय प्राप्त की। परंतु इनके संपर्क में आने पर शैवागमों का विश्वात्मवाद वाला शांभव सिद्धांत भी व्यक्तिगत संकुचित अहं में सीमित होने लगा। इस संकु-चित आत्मवाद को आगमों में निंदनीय और अपूर्ण अहंता कहते थे; किंतु बौद्धों ने उस सरल अद्वैतबोध को व्यक्तिगत आत्मवाद की ओर झुकाकर शरीर को वज्र की तरह अप्रतिहतगतिशाली बनाने के लिए तथा सांपत्तिक स्वतंत्रता के लिए रसा-यन बनाने में लगाया। बौद्ध विज्ञानवादी थे। पूर्व के ये विज्ञानवादी ठीक उसी तरह व्यक्तिगत स्वार्थों के उपासक रहे, जैसे वर्तमान पश्चिम अपनी वैज्ञानिक साधना में सामूहिक स्वार्थों का भयंकर उपासक है। आगमवादी नाथ-संप्रदाय के पास हठयोग की क्रियाएँ थीं और उत्तरीय श्रीपर्वत बना कामरूप। फिर तो चौरासी सिद्धों की अवतारणा हुई। हाँ, इन दोनों की परंपरा एक है, किंतु आलंबन में भेद है। एक शून्य कह कर भी निरंजन में लीन होना चाहता है और दूसरा ईश्वर-

वादी होने पर भी शून्य को भूमिका-मात्र मान लेता है। रहस्यवाद इन कई तरह की धाराओं में उपासना का केंद्र बना रहा। जहाँ बाह्य आडंबर के साथ उपासना थी, वहीं भीतर सिद्धांत में अद्वैत-भावना रहस्यवाद की सूत्रधारिणी थी। इस रहस्य-भावना में वैदिक-काल से ही इंद्र के अनुकरण में अद्वैत की प्रतिष्ठा थी। विचारों का जो अनुक्रम ऊपर दिया गया है, उसी तरह वैदिक-काल से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की परंपरा भी मिलती है।

ऋग्वेद के दसवें मंडल के अड़तालीसवें सूक्त तथा एक सौ उन्नीसवें सूक्त में इंद्र की जो आत्मस्तुति है, वह अहंभावना तथा अद्वैतभावना से प्रेरित सिद्ध होती हैं। अहं भुवं वसुन: पूर्व्यस्पतिरहं घनानि सं जयामि शश्वत:' तथा 'अहमस्मि महामहो' इत्यादि उक्तियाँ रहस्यवाद की वैदिक भावनाएँ हैं। इस छोटे-से निबंध में वैदिक वाङ्मय की सब रहस्यमयी उक्तियों का संकलन करना संभव नहीं; किंतु जो लोग यह सोचते हैं कि आवेश में अटपटी वाणी कहनेवाले शामी पैगंबर ही थे, वे कदाचित् यह नहीं समझ सके कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातों को चमत्कारपूर्ण सांकेतिक भाषा में कहते थे। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' तथा 'तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारम्' इत्यादि मंत्र इसी तरह के हैं।

वेदों, उपनिषदों और आगमों में यह रहस्यमयी आनंद-साधना की परंपरा के ही उल्लेख हैं। अपनी साधना का अधिकार उन्होंने कम नहीं समझा था। वैदिक ऋषि भी अपने जोम में कह गये हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत:।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।। (कठ० 1/2/21)

आज तुलसी साहब की 'जिन जाना तिन जाना नाहीं' इत्यादि को देख कर इसे एक बार ही शाम देश से आयी हुई समझ लेने का जिन्हें आग्रह हो, उनकी तो बात ही दूसरी है,; किन्तु केनोपिनिषत्, के 'यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद स:' का ही अनुकरण यह नहीं है, यह कहना सत्य से दूर होगा। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' इत्यादि श्रुति में बाहर और भीतर की पिंड और ब्रह्मांड की एकता का जो प्रतिपादन किया गया है, संत-मत में उसी का अनुकरण किया गया।

यह भी कहा जाता है कि यहां उपासना, कर्म के साथ ज्ञान की धारा से विशुद्ध रही और उसमें आराध्य से मिलने के लिए कई कक्ष नहीं बनाये गये। किन्तु छांदोग्य में जिस शून्य आकाश का उल्लेख दहरोपासना में हुआ है, उसी से बौद्धों के शून्य और आगमों की शून्य-भूमिका का संबंध है। फिर कबीर की शून्य महलिया शाम देश की सौगात कैसे कही जा सकती है ? (तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश:—छांदोग्य०)

तथा--'पद्मकोश प्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्' इत्यादि श्रुतियों में नीवार-शूकवत् तन्वी शिखा के मध्य में परमात्मा का जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वह मंदिर या महल कहीं विदेश से नहीं आया है। आगमों में तो इस रहस्य-भावना का उल्लेख है ही, जिसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

श्रीकृष्ण को आलंबन मान कर द्वैत-उपासकों ने जिस आनंद और प्रेम की सृष्टि की, उसमें विरह और दुःख आवश्यक था। द्वैतमूलक उपासना के बुद्धिवादी प्रवर्त्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के कारण दुःख के समीप अधिर हो सका और उसका उल्लेख भागवत में विरल नहीं है। इस प्रेम में पर का दार्शनिक मूल है 'स्व' को अस्वीकार करना। फिर तो वृहदारण्यक के 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्ति, के अनुसार वह प्रेम विरह-सापेक्ष ही होगा। किन्तु सिद्धों ने आगम के बाद रहस्यवाद की धारा—अपनी प्रचिलित भाषा में जिसे वे संध्या-भाषा कहते थे—अविच्छिन्न रक्खी और सहज आनंद के उपासक बने रहे।

अनुभव सहज मा मोल रे जोई।
चोकोट्टि विभ्भुका जइसो तइसो होई॥
जइसने आछिले स वइसन अच्छ।
सहज पथिक जोई भाँति माहो बास॥

(नारोपा)

शैवेवागम की अनुकृति ही नहीं, शिव को योगीश्वर-मूर्ति की भावना भी अरोपित करते थे।

नाडि शक्ति दिर धरिय खदे।
अनहा डमरू बाजए वीर नादे॥
कह्न कपाली योगी पइठ अचारे।
देह न अरी बिहरय एकारें॥ (कण्हपा)

इन आगमानुयायी सिद्धों में आत्म-अनुभूति स्वापेक्ष थी। परोक्ष विरह उनके समीप न था। वह प्रेम-कथा स्वपर्यवसित थी। उस प्रेमरूपक की एक कल्पना देखिये :—

ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुंजारी माली॥

उमत सबरो पागल सबरो माकर गुली गुहाउर।
तोहोरि णिय धरिणी णामे सहज सुन्दरी॥ (शबरपा)

ऊपरवाला पद्य शबरी रागिनी में है। संभवत: शबरी रागिनी आसावरी का पहला नाम है। सिद्ध लोग अपनी साधना में संगीत की योजना कर चुके थे। नादानुसंधान की आगमोक्त साधना के आधार पर बाह्य नाद का भी इनकी साधना में विकास हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। 'अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरंत:' सिद्धों ने आनंद के लिए संगीत को भी अपनी उपासना में मिलाकर जिस भारतीय संगीत में योग दिया है, उनमें भरत मुनि के अनुसार पहले ही से नटराज के संगीततमय नृत्य का मूल था। सिद्धों की परंपरा में संभवत: बैजू बावरा आदि संगीतनायक थे, जिन्होंने अपने ध्रुपदों में योग का वर्णन किया है।

इन सिद्धों ने ब्रह्मानंद का भी परिचय प्राप्त किया था। सिद्ध भुसुक कहते हैं—

विरमानंद विलक्षण सूध जो येथूबूझै सो येथु बूध।
भुसुक भणइ मह बूझिय मेले सहजानंद महासुह लेलें।

इन लोगों ने भी वेद, पुराण और आगमों का कबीर की तरह तिरस्कार किया है। कदाचित, पिछले काल के संतों ने इन सिद्धों का ही अनुकरण किया है।

आनम वेद पुराणे पंडिठ मान वहंति।
पक्क सिरिफल अलिय जिमबाहेरति भ्रमयंति॥ (कण्हपा)

आगमों में ऋग्वेद के काम की उपासना कामेश्वर के रूप में प्रचलित थी और उनका विकसित-स्वरूप परिमार्जित भी था। वे कहते थे—

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नांतरम्।
निदर्शनं श्रुति: प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम्॥

फिर भी सहजानंद के पीछे बौद्धिक गुप्त कर्मकांड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृंखलता से पार कर चुकी थी। हिन्दी के इन आदि रहस्यवादियों को, आनंद के सहज साधकों को, बुद्धिवादी निर्गुण संतों को स्थान देना पड़ा। कबीर इसी परंपरा के सबसे बड़े कवि हैं। कबीर में विवेकवादी राम का अवलंब है और संभवत: वे भी 'साधो सहज

समाधि भली' इत्यादि में सिद्धों की सहज भावना को ही, जो उन्हें आगमवादियों से मिली थीं, दोहराते हैं। कवित्व की दृष्टि से भी कबीर पर सिद्धों की कविता की छाया है। उन पर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य; परन्तु शामी पैगंबरों से अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थंकर, नाथ और सिद्ध। कबीर के बाद तथा कुछ-कुछ समकाल में ही कृष्णावली मिश्र रहस्य की धारा आरंभ हो चली थी। निर्गुण राम और सुधारक रहस्यवाद के साथ ही तुलसीदास के सगुण समर्थ राम का भी वर्णन सामने आया। कहना असंगत न होगा कि उस समय हिंदी-साहित्य में रहस्यवाद की इतनी प्रबलता थी कि स्वयं तुलसीदास को भी अपने महाप्रबंध में रहस्यात्मक संकेत रखना पड़ा। कदाचित् इसीलिए उन्होंने कहा है— अस मानस मानस चख चाही। किंतु कृष्णचंद्र में आनंद और विवेक का, प्रेय और सौंदर्य का सम्मिश्रण था। फिर तो ब्रज के कवियों ने राधिका-कन्हाई सुमिरन के बहाने आनंद की सहज भावना परोक्षभाव में की। मीरा और सूरदास ने प्रेम के रहस्य का साहित्य-संकलन किया। देव, रसखान, घनआनंद इन्हीं के अनुयायी थे। मीरा ने कहा—

सुली ऊपर सेज पिया की, किस विधि मिलणो होय।

यह प्रेम, मिलन की प्रतीक्षा में, सदैव विरहोन्मुख रहा। देव ने भी कुछ इसी धुन में कहना चाहा—

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोंहि में बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रग अवलीन की।
चहुँ ओर सुंदर सघन वन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजन अलीन की॥
बंसीवट-तट नटनागर नटत मो में,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भर रही भनक बनक ताल तानन की
तनक तनक ता में खनक चुरीन की॥

परंतु वे वृंदावन ही बन सके, श्याम नहीं। यह प्रेम का रहस्यवाद विरह-दुःख से अधिक अभिभूत रहा। यद्यपि कुछ लोगों ने इसमें सहज आनंद की योजना भी की थी और उसमें माधुर्य-महाभाव के उज्ज्वल नीलमणि को परकीय प्रेम के कारण गोप्य और रहस्यमूलक बनाने का प्रयत्न भी किया था, परंतु द्वैतमूलक होने के कारण तथा बाह्य आवरण में बुद्धिवादी होने से यह विषय में साहित्यक

ही अधिक रहा। निर्गुण संप्रदायवाले संतों ने भी राम की बहुरिया बन कर प्रेम और विरह की कल्पना कर ली थी; किंतु सिद्धों की रहस्य-संम्प्रदाय की परंपरा में तुकनगिरि और रसालगिरि आदि ही शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनी में आनद और अद्वयता की धारा बहाते रहे।

साहित्य में विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद आनंद-लहरी के 'शरीरं त्वं शंभो' का अनुकरण-मात्र है। वर्त्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं।

□□

रस

जब काव्यमय श्रुतियों का काल समाप्त हो गया और धर्म ने अपना स्वरूप अर्थात् शास्त्र और स्मृति बनाने का उपक्रम किया —जो केवल तर्क पर प्रतिष्ठित था—तब मनु को भी कहना पड़ा—-यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेदनेतरः।

परन्तु आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, जो मानव-ज्ञान की अकृत्रिम धारा थी, प्रवाहित रही। काव्य की धारा लोकपक्ष से मिलकर अपनी आनन्द साधना में लगी रही। यद्यपि शास्त्रों की परम्परा ने आध्यात्मिक विचार का महत्व उससे छीन लेने का प्रयत्न किया, फिर भी अपने निषेधों की भयानकता के कारण, हृदय के समीप न होकर वह अपने शासन का रूप ही प्रकट कर सकी। अनुभूतियाँ काव्यपरम्परा में अभिव्यक्त होती रहीं। 'जगृह पाठ्यम् ऋग्वेदात्' (भरत) से यह स्पष्ट होता है कि सर्वसाधारण के लिए वेदों के आधार पर काव्यों का पंचम वेद की तरह प्रचार हुआ। भारतीय वाङ्मय में नाटकों को ही सब से पहले काव्य कहा गया।

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव (अभिनवगुप्त)

शवागमों के 'क्रीड़ात्वेनाखिलम् जगत्' वाले सिद्धांत का नाट्य-शास्त्र में व्यावहारिक प्रयोग है।

इन्हीं नाटयोपयोगी काव्य में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अभिनव गुप्त ने कहा है 'आस्वादनात्मःऽनुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते'। नाटकों में भरत के मत से चार ही मूल रस हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गयी। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक। इन चित्तवृत्तियों में आत्मानुभूति का विलास आरंभिक विवेचकों को रमणीय और उत्कर्षमय मालूम हुआ। नाट्यों में वाणी के छंद, गद्य और संगीत इन तीनों प्रकारों का समावेश था। इस तरह आभ्यंतर और बाह्य दोनों में नाट्य-संघटना पूर्ण हुई। रसात्मक अनुभूति आनन्द मात्रा से संपन्न थी और तब नाटकों में रस का आवश्यक प्रयोग माना गया; किंतु रस संबंधी भरत मुनि के सूत्र ने भावी आलोचकों के लिए अद्भुत सामग्री उपस्थित की। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयो गाद्रसनिष्पत्तिः' की विभिन्न व्याख्याएं होने लगीं। स्वयं भरत ने लिखा है 'तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनाम लभते' (नाट्यशास्त्र, अ 7) अर्थात् प्रमुखस्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं। आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण में आनन्द के प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। हाँ, भारत में नाट्य-प्रयोग केवल कुतूहल-शान्ति के लिए ही नहीं था। अभिनव भारती में कहा है—

"तदनेन पारमार्थिकम् प्रयोजनमुक्तमिति व्याख्यानम् सहृदयदर्पणे प्रत्यग्रहीत् यदाह—नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शंभवे यतः ! प्रतिक्षणम् जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः ! इति एवं नाट्यशास्त्रप्रवचनप्रयोजनम्।" नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था। स्वयम् भरत मुनि ने भी नाट्य-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में ही माना था।

इज्यया चानया नित्यं प्रीयंतां देवता इति (4 अध्याय)

इधर विवेक या बुद्धिवादियों की वाङ्मयी धारा, दर्शनों और कर्मपद्धतियों तथा धर्मशास्त्रों का प्रचार करके भी, जनता के समीन न हो रही थी। उन्होंने पौराणिक कथानकों के द्वारा वर्णनात्मक उपदेश करना आरम्भ किया। उनके लिए भी साहित्यिक व्याख्या की आवश्यकता हुई। उन्हें केवल अपनी अलंकारमयी सूक्तियों पर ही गर्व था; इसलिए प्राचीन रसवाद के विरोध में उन्होंने अलंकार

मत खड़ा किया, जिसमें रीति और वक्रोक्ति इत्यादि का समावेश था।

इन लोगों के पास रस-जैसी कोई आभ्यंतरिक वस्तु न थी। अपनी साधारण धार्मिक कथाओं में वे काव्य का रंग चढ़ाकर सूक्ति, वाग्विकल्प और वक्रोक्ति के द्वारा जनता को आकृष्ट करने में लगे रहे। शिलालिन, कृशाश्व और भरत आदि के ग्रंथ अपनी आलोचना और निर्माण-शैली की व्याख्या के द्वारा रस के आधार थे। अलंकार की आलोचना और विवेचन के लिए भी उसी तरह के प्रयत्न हुए। भामह ने पहले काव्यशरीर का निर्देश किया और अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का विवेचन किया। इनके अनुयायी दंडी ने रीति को प्रधानता दी। सौंदर्य-ग्रहण की पद्धति समझने के लिए वाग्विकल्पों के चारुत्व का अनुशीलन होने लगा। अलंकार का महत्त्व बढ़ा; क्योंकि वे काव्य की शोभा मान लिये गये थे। पिछले काल में तो वे कनककुंडल की तरह आभूषण ही समझ लिये गये थे। काव्यालंकार सूत्रों में ये आलोचक कुछ और गहरे उतरे और उन्होंने अलंकारों की व्याख्या सौंदर्यबोध के आधार पर करने का प्रयत्न किया।

काव्यम् ग्राह्यमलंकारात, सौंदर्यमलंकार:—इत्यादि से सौंदर्य की प्रतिष्ठा अलंकार में हुई। काव्य के सौंदर्य-बोध का आधार शब्दविन्यास-कौशल ही रहा। इसी को वे रीति कहते थे। 'विशिष्ट-पद-रचना रीति:' से यह स्पष्ट है। रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति श्रव्य काव्यों के सम्बन्ध में विचार करने वालों के निर्माण थे, इसलिए आरम्भ में इन लोगों ने रस को भी एक तरह का अलंकार ही माना और उसे रसवद् अलंकार कहते थे। अलंकार मत के रीति-ग्रंथों के जितने लेखक हुए, उन्होंने शब्दों को ही प्रधान मान कर अपने काव्य-लक्षण बनाये। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्", 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' इत्यादि।

इन परिभाषाओं में शब्द और वाक्य ही काव्यरूप माने गये हैं। पंडितराज ने तो 'तददोषो शब्दार्थौ' में से अर्थ का बहिष्कार करने का भी आग्रह किया है। शब्द-मात्र ही काव्य है, शब्द और अर्थ दोनों नहीं। भले ही उसमें से रमणीयार्थ निकलना आवश्यक हो, पर काव्य है शब्द ही। इन शब्द-विन्यास-कौशल का समर्थन करने वालों को भी रस की आवश्यकता प्रतीत हुई; क्योंकि रस-जैसी वस्तु इनके काव्य-शरीर की आत्मा बन सकती थी। 'शृङ्गारतिलक' में स्वीकार किया गया है कि—

> प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै: रसस्थिति:
> यथामति मयाप्येषा काव्ये प्रतिनिगद्यते।

आलंकारिकों के काव्य-शरीर या बाह्य-वस्तु से साहित्यिक आलोचना पूर्ण

नहीं हो सकती थी। कहा जाता है कि 'अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर वाक्वैचित्र्य को पकड़ कर चला; पर वाक्वैचित्र्य दृश्य गंभीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं, वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है।' तब तो यह मानना पड़ेगा कि विशिष्ट-पद-रचना-रीति और वक्रोक्ति को प्रधानता देने वाले अलंकारवादी भामह, दंडी, वामन और उद्भट आदि अभिव्यंजनावादी ही थे।

साहित्य में विकल्पात्मक मनन-धारा का प्रभाव इन्हीं अलंकारवादियों ने उत्पन्न किया तथा अपनी तर्क-प्रणाली-शास्त्र की स्थापना की; किन्तु संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन, कदाचित् उन्हें अभिनव गुप्त की ओर से ही मिला। उन्होंने रस के सम्बन्ध में ध्वन्यालोक की टीका में लिखा है—

'काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक-प्रसन्नमधुरौजस्विशब्द समर्प्यमाण विभावादियोगादियमेव रसवार्त्ता। अस्तु वा नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः।'

रस को अपनाकर भी इन बुद्धिवादी तार्किकों ने अपने पांडित्य के बल पर उसके सम्बन्ध में नये-नये वाद खड़े किये। रस किसे कहते हैं, उसकी व्यापार-सीमा कहाँ तक है, वह व्यंग्य है कि वाच्य, इस तरह के बहुत-से मतभेद उपस्थित हुए। दार्शनिक युक्तियाँ लगाई गईं। रस कार्य हैं कि अनुमेय, भोज्य हैं कि ज्ञाप्य—इन प्रश्नों पर रस का, काव्य और नाटक दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से विचार होने लगा; क्योंकि इस काल में काव्य से स्पष्टतः श्रव्य काव्य का और नाटक से दृश्य का अर्थ किया जाने लगा था। किन्तु सामाजिकों या अभिनेताओं में आस्वाद्य वस्तु रस के लिए भरत की व्यवस्था के अनुसार सात्त्विक, आंगिक, वाचिक और आहार्य्य इन चारों क्रियाओं की आवश्यकता थी। अलंकारवादियों के पास केवल वाचिक का ही बल था। फिर तो रस को श्रव्य काव्योपयोगी बनाने के लिए कई उपाय किये गये। उन्हीं में से एक उपाय आक्षेप भी है। आक्षेप के द्वारा विभाव, अनुभाव या संचारी में से एक भी अन्य दोनों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। रस के सम्बन्ध में विकल्पवादियों के ये आरोपित तर्क थे। आनन्द परम्परावाले शैवागमों की भावना में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनन्दवाली व्याख्या हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धांत प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक-सामान्य प्रकाश-आनन्दमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।

रस और अलंकार दोनों सिद्धांतों में समझौता कराने के लिए ध्वनि की व्याख्या अलंकारसरणि-व्यवस्थापक आनन्दवर्द्धन ने इस तरह से की कि ध्वनि के भीतर ही रस और अलंकार दोनों आ गये। इन दोनों से भी जो साहित्यिक अभिव्यक्ति बची, उसे वस्तु कहकर ध्वनि के अन्तर्गत माना गया। काव्य की

आत्मा ध्वनि को मान कर रस, अलंकार और वस्तु, इन दोनों को ध्वनि का ही भेद समझने का उपक्रम हुआ। फिर भी आनन्दवर्द्धन ने यह स्वीकार किया कि वस्तु और अलंकार से प्रधान रस ध्वनि ही है—प्रतीयमानस्य चान्यप्रभेददर्शनेपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्। आनन्दवर्द्धन ने रस-ध्वनि को प्रधान माना; परन्तु अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की ही टीका में अपनी पंडित्यपूर्ण विवेचन-शैली से यह सिद्ध किया कि काव्य की आत्मा रस ही है।—तेन रसमेव वस्तुतः आत्मा वस्त्वलंकारध्वनिस्तु सर्वथा रसं प्रतिपर्यवस्यते (लोचन)।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि अलंकार-व्यवस्थापक आनन्दवर्द्धन ने श्रव्य काव्यों में भी रसों का उपयोग मान लिया था; परन्तु आत्मा के रूप में ध्वनि की ही प्रधानता इस विचार से रक्खी कि अलंकारमत में रस-जैसी नाट्य-वस्तु सबसे अधिक प्रमुख न हो जाय। यह सिद्धांतों की लड़ाई थी। आनन्दवर्द्धन ने रस की दृष्टि से विवेचना करते हुए महाभारत को शांत-रस-प्रधान और रामायण को करुण-रस का प्रबन्ध माना; किन्तु मुक्तकों में रस की निष्पत्ति कठिन देखकर उन्होंने यह भी कहा कि श्रव्य के अन्तर्गत मुक्तक काव्यों में रस की निबन्धना अधिक प्रयत्न करने पर ही कदाचित् संभव हो सकेगी।

> प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धुमिच्छता।
> यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनां॥
> अन्यथात्वस्य रसमयश्लोक एकोपि संयङ् न संपद्यते।

आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होंने वहाँ के आगमानुयायी आनंद सिद्धांत के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु माहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द पथ वाले शैवाद्वैत-वाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। नाटकों के स्वरूप तो उनके सिद्धांत और दार्शनिक पक्ष के अनुकूल ही थे। अभिनव गुप्त ने अपनी लोचन नाम की टीका में स्पष्ट ही लिखा है—

तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वम् परमेश्वराद्वयम् ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितम् तंत्रालोकग्रंथे विचारयेत्यास्ताम्।

अभिनव गुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द सिद्धांत की अभिनेय काव्य वाली परंपरा का पूर्ण उपयोग किया। शिवसूत्रों में लिखा है—नर्तक आत्मा, प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य-गोष्ठियों में प्रचलित रक्खा था; इसलिए उनके यहाँ रस का सांप्रदायिक प्रयोग होता था। विगलित-भेद-संस्कारमानन्द-रसप्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज)। इस रस का पूर्ण चमत्कार

समरसता में होता है। अभिनव गुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया। भट्ट-नायक ने साधारणीकरण से जिस सिद्धांत की पुष्टि की थी, अभिनव गुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थिति रति आदि वृत्तियाँ साधारणीकरण-द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है (परब्रह्मास्वाद सब्रह्मचारित्वम् वास्तवस्य रसस्य—लोचन) वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य में महान् परिवर्त्तन लेकर उपस्थित हुई। रति आदि कई वृत्तियाँ स्थायी मानी जा चुकी थीं; किन्तु आलोचक एक आत्मा की खोज में थे। रस को अपनाकर वे कुछ द्विविधा में पड़ गये थे। आनन्दवादियों की यह व्याख्या उन सब शंकाओं का समाधान कर देती थी। उनके यहाँ कहा गया है 'लोकानन्दः समाधिसुखं' (शिवसूत्र 1/18)। क्षेम-राज उसकी टीका में कहते हैं 'प्रमातृपदविश्रांति अवधानान्तश्च-मत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधि सुखम्'। इस प्रमातृपदविश्रांति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोकसंस्थ आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय संविद्-विश्रांति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धांत स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधि-सुख ही है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद—अहम् में विश्रांत होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरु उत्पल ने कहा है कि—प्रकाशस्यात्मविश्रांतिरहंभावो हि कीर्त्तितः।

प्रकाश का यहाँ तात्पर्य है चैतन्य। यह चेतना जब आत्मा में ही विश्रांति पा जाय वही पूर्ण अहंभाव है। साधारणीकरण-द्वारा आत्म-चैतन्य का रसानुभूति में, पूर्ण अहंपद में विश्रांत हो जाना आगमों की ही दार्शनिक सीमा है। साहित्य-दर्पणकार की रस-व्याख्या में उन्हीं लोगों की शब्दावली भी है—स्वत्वोद्रेकादखंडस्व प्रकाशानन्दचिन्मयः, इत्यादि।

यह रस बुद्धिवादियों के पास गया, तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है। फिर तो चमत्करापर-पर्याय अनुभवसाक्षिक रस को पंडितराज जगन्नाथ ने आगमवादियों की ही तरह 'रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽनन्दीभवति' के प्रकाश में आनन्द ब्रह्म ही मान लिया।

संभवतः इसीलिए दुःखांत प्रबन्धों का निषेध भी किया गया। क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी

कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। बुद्धिवाद के अनन्य समर्थक व्यास की कृति महाभारत शान्त रस के अनुकूल होने पर भी दुःखांत है। रामायण भी दुःखांत ही है।

शैवागम के आनन्द-संप्रदाय के अनुयायी रसवादी, रस की दोनों सीमाओं, शृंगार और शांत को स्पर्श करते थे। भरत ने कहा—

भावा विकाश रत्याद्यः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।

यह शांत रस निस्तरग महोदधिकल्प समरसता ही है। किन्तु बुद्धि द्वारा सुख की खोज करने वाले संप्रदाय ने रसों में शृङ्गार को महत्त्व दिया और आगे चल कर शैवागमों के प्रकाश में साहित्य की रस व्याख्या से संतुष्ट न होकर, उन्होंने शृंगार का नाम मधुर रख लिया। कहना न होगा कि उज्ज्वल नीलमणि का संप्रदाय बहुत कुछ विरहोन्मुख ही रहा, और भक्ति-प्रधान भी। उन्होंने कहा है—

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेनोदितोरहस्यत्वात्,
पृथगेव भक्तिरसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुरः।

कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसीलिए नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमें रसाभास की ही कल्पना होती थी। आगमों में तो भक्ति भी अद्वैतमूला थी। उनके यहाँ द्वैत-प्रथा 'तद्ज्ञानतुच्छत्वात् बन्धमुच्यते' के अनुसार द्वैत बन्धन था। इस मधुर-संप्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ, उसमें परकीय-प्रेम का महत्त्व इसीलिए बढ़ा कि वे लोग दार्शनिक दृष्टि से तत्व को 'स्व' से 'पर' मानने थे। उज्ज्वल नीलमणिकार का कहना है—

रागेणोल्लंघयन् धर्मम् परकीया बलार्थिना
तदीय प्रेम वसति बुधैरुपपतिस्मृतः
अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः।

शृंगार का परम उत्कर्ष परकीया में मानने का यही दार्शनिक कारण है—जीव और ईश की भिन्नता। हाँ, इस लक्षण में धर्म का उल्लंघन करने का भी संकेत है। विवेकवादी भागवत धर्म ने जब आगमों के अनुकरण में आनन्द की

योजना अपने संप्रदाय में की, तो उसमें इस प्रेमा-भक्ति के कारण श्रुति-परंपरा के धार्मिक बन्धनों को तोड़ने का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। उनके लिए परमतत्त्व की प्राप्ति सांसारिक परंपरा को छोड़ने से ही हो सकती थी। भागवत का वह प्रसिद्ध श्लोक इसके लिए प्रकाश-स्तंभ बना —

आसामहो चरणरेणुजुषामयं स्याम्
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।

यह आर्यपथ छोड़ने की भावना स्पष्ट ही श्रुति-विरोध में थी। आनन्द की योजना करने जा कर विवेकवाद के लिए दूसरा न तो उपाय था और न दार्शनिक समर्थन ही था। उन्होंने स्वीकार किया कि संसार में प्रचलित आर्य-सिद्धांत सामान्य लोक-आनन्द तत्व से परे, वह परम वस्तु है, जिसके लिए गोलोक में लास्य-लीला की योजना की गई; किन्तु समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पंद-शास्त्र के तांडवपूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्ण भाव उसमें न था। इन लोगों के द्वारा जब रसों की दार्शनिक व्याख्या हुई, तब उसे प्रेम-मूलक रहस्य में ही परिणत किया गया और यह रहस्य गोप्य भी माना गया। 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में एक जगह स्पष्ट कहा गया है—अयमुज्ज्वल-नीलमणिरेतन्मूल्यमजानद्भ्योऽनादरशंकया गोप्य एवेति।

भारतेंदुजी ने अपनी चंद्रावली नाटिका में इसका संकेत किया है। इस रागात्मिका भक्ति के विकास में हास्य, करुण, वीभत्स इत्यादि प्राचीन रस गौण हो गये और दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि नये रसों की सृष्टि हुई। माधुर्य के नेतृत्व में द्वैत-भावना से परिपुष्ट दास्य आदि रस प्रमुख बने। आनन्द की भावना इन आधुनिक रसों में विशृंखल ही रही। हिंदी के आरंभ में श्रव्य काव्यों की प्रचुरता थी। उनमें भी रस की धारा अपने मूल उद्गम आनन्द से अलग होकर चिरविरहोन्मुख प्रेम के स्रोत में बही। यह बाढ़ वेगवती रही, किंतु उसमें रस की पूर्णता नहीं थी। तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आत्मा की रस-अनुभूति एकांगी-सी बन गयी।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का और उनके सब स्वरूपों का नाट्य-रसों में आगमानुकूल व्याख्या से समन्वय हो गया था। असम् की सब भावों में, सब अनुभूतियों में पूर्णता मान ली गयी थी। वह बात पिछले काल के रस-विवेचकों के द्वारा विशृंखल हो गयी। हाँ, इतना हुआ कि सिद्धांत-रूप से ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार आदि सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गयी। वास्तव में

भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।

फिर भी रस अपने स्वरूप में नाट्यों की अपनी वस्तु थी। और उसी में आत्मा की मूल अनुभूति (संकल्पात्मक) पूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसीलिए स्वीकार किया गया—काव्येषु नाटकं रम्यम्।

□□

नाटकों में रस का प्रयोग

पश्चिम ने कला को अनुकरण ही माना है; उसमें सत्य नहीं। उन लोगों का कहना है कि "मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है, इसलिए अनुकरण-मूलक कला में उसको सुख मिलता है।" किंतु भारत में रस-सिद्धांत के द्वारा साहित्य में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा हुई; क्योंकि भरत ने कहा है—आत्माभिनयनं भावो (26-39) —आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रांति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की। आत्मा के निजी अभिनय में भावसृष्टि होती है। जिस तरह आत्मा की और इदम् की भिन्नता मिटाने में अद्वैतवाद का प्रयोग है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाव-वैचित्र्यों का—जो नर्त्तक-आत्मा के अभिनय-मात्र हैं—अभेद या साधारणीकरण भी रस में है। इस रस में आस्वाद का रहस्य है। प्लेटो इसलिए अभिनेता में चरित्रहीनता आदि दोष नित्य-सिद्ध मानता है; क्योंकि वे क्षण-क्षण में अनुकरणशील होते हैं, सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। किंतु भारतीयों की दृष्टि भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप में ग्रहण करो। इसमें विशुद्ध दार्शनिक अद्वैत भाव का भोग किया जा सकता है। यह देवतार्चन है। आत्म-प्रसाद का आनंद-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानंद ही है।

आस्वाद के आधार पर विवेचना करने में कहा जा सकता है कि आस्वाद तो केवल सामाजिकों को ही होता है। नटों को उसमें क्या? आधुनिक रंगमंच का एक दल कहता है कि "नट को आस्वाद, अनुभूति की आवश्यकता नहीं। रंगमंच में हम बाह्य-विन्यास (मेक-अप) के द्वारा गूढ़-से-गूढ़ भावों का अभिनय कर लेते

हैं।"* किंतु यह विवाद भारतीय रंगमंच के प्राचीन संचालकों में भी हुआ था। इसी तरह एक पक्ष कहता था—

'अष्टावेव रसनाट्येष्विति केचिदचूचुदन्, तदचारु यत: किंचिन्न रसं स्वदते नट:।' अर्थात् नट को आस्वाद तो होता ही नहीं, इसलिए शांत भी क्यों न अभिनयोपयोगी रस माना जाय। यह कहना व्यर्थ है कि 'शांतस्य शमसाध्यत्त्वान्नटे चेतदसंभवात् अष्टावेव रस: नाट्ये न शांतस्तत्र युज्यते'। शम का अभाव नटों में होता है। शांत का अभिनय असंभव है। नटों में तो किसी भी आस्वाद का अभाव है; इसलिए शांत रस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नहीं कि नट परम शांत, संयत हो ही। किंतु साधारणीकरण में रस और आस्वाद की यह कमी मानी नहीं गयी। क्योंकि भरत ने कहा है कि—

इंद्रियार्थश्च मनसा भाव्यते ह्यनुभावित:
नवेत्तिह्यमना: किंचिद्विषयं पंचहेतुकम् ॥ (24-28)

इंद्रियों के अर्थ की मन से भावना करनी पड़ती है—अनुभावित होना पड़ता है। क्योंकि अन्यमनस्क होने पर विषयों से उसका संबंध ही छूट जाता है। फिर तो—क्षिप्रं संजातरोमांचा वाष्पेणावृतलोचना, कुर्वीत नर्त्तकी हर्षप्रीत्या वाक्यैश्च सस्मितै: (26-50)। इन रोमांच आदि सात्त्विक अनुभवों का पूर्ण अभिनय असंभव है। भरत ने तो और भी स्पष्ट कहा है—एवं बुध: परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन्। वागङ्गलीलागतिभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत् (35-14)। तब यह मान लेना पड़ेगा कि रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं, प्रत्युक्ष नटों में भी है। हाँ, रस-विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं—कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो

---

*The new make-up method is worked out by applying plastic material to a cast of the face, working out the desired character on it and fashioning facial inlays of a secret composition which, affixed with water-soluble gum also a secret can transform the face into another, The flexibility of the material permits every expression. Barrymore, a deep student of history, hopes to play many historical characters by its use.

("Advance", 20 Dec., 36)

नाट्यव्यापारः सैव च संवित् परमार्थतो रसः (अभिनव भारती 6 अध्याय)। कवि में साधारणीभूत जो संवित् है, चैतन्य है, वही काव्यपुरस्सर होकर (अपने को) नाट्यव्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रसविवेचना में संवत् का साधारणीकरण त्रिवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।

इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नहीं कर पाते। फलतः उसके प्रति रोष-भाव ही जाग्रत होता है; यह तो स्पष्ट विषमता है।' किंतु रस में फलयोग अर्थात् अंतिम संधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इसलिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक-मात्र ही है, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती। इस कल्पना के और भी कारण हैं। वर्त्तमान काल में नाटकों के विषयों के चुनाव में मतभेद है। कथा-वस्तु भिन्न प्रकार से उपस्थित करने की प्रेरणा बलवती हो गयी है। कुछ लोग प्राचीन रस-सिद्धांत से अधिक महत्त्व देने लगे हैं—चरित्र-चित्रण पर। उनसे भी अग्रसर हुआ है दूसरा दल, जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहलपूर्ण है; अथच व्यक्ति-वैचित्र्य पर विश्वास रखनेवाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता-मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ठ हो गया है, चरित्र्य का समर्थक है, किंतु व्यक्ति-वैचित्र्यवाले अपने को याथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं।

यह विचारणीय है। कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देनेवाले ये दोनों पक्ष रस से कहाँ तक संबद्ध होते हैं। इन दोनों पक्षों का रस से सीधा संबंध तो नहीं दिखाई देता; क्योंकि इसमें वर्त्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थित में पाता है। फिर उसे साधारणतः अभेदवाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो? वर्त्तमान युग बुद्धिवादी है, आपाततः उसे दुःख को प्रत्यक्ष सत्य मान लेना पड़ा है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य-सा है। किन्तु इसमें एक बात और भी है। पश्चिम को उपनिवेश बनाने वाले आर्यों ने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएँ विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कदाचित् दुर्गम भूभागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही भाग्य से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की

इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण इस जीवन को (ट्रेजडी) दुःखमय ही समझ पाया। और यह उनकी मनुष्यता की पुकार थी—आजीवन लड़के के लिए। ग्रीक और रोमन लोगों को बुद्धिवाद—भाग्य से, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए मुक्त अवसर देता रहा; इसलिए उनका बुद्धिवाद, उनकी दुःख-भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी। यह भाग्य या नियति की विजय थी।

परंतु अपने घर में सुव्यवस्थित रहनेवाले आर्यों के लिए यह आवश्यक न था, यद्यपि उनके एक दल ने संसार में सबसे बड़े बुद्धिवाद और दुःख-सिद्धांत का प्रचार किया, जो विशुद्ध दार्शनिक ही रहा। साहित्य में उसे स्वीकार नहीं किया गया। हाँ, यह एक प्रकार का विद्रोह ही माना गया। भारतीय आर्यों को निराशा न थी। करुण रस था, उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद, निर्विकार आनन्द लेने में अधिक सुख माना।

आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय-दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम-सा ही मानता आया। सामाजिक इतिहास में साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धांत व्यापारों में चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा सँभाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। वर्त्तमान साहित्यिक प्रेरणा—जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं—मूल में संशोधनात्मक ही है। कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न करके समाज का संशोधन है; और कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का! किंतु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अंतर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया संपन्न होती है, और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल! रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना

दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।

□□

नाटकों का आरम्भ

कहा जाता है कि 'साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और इसके पीछे महाकाव्य आते हैं; किन्तु प्राचीनतम संचित साहित्य ऋग्वेद छंदात्मक है।' यह ठीक है कि नित्य के व्यवहार में गद्य की ही प्रधानता है; किंतु आरंभिक साहित्य-सृष्टि सहज में कंठस्थ करने के योग्य होनी चाहिए; और पद्य इसमें अधिक सहायक होते हैं। भारतीय वाङ्मय में सूत्रों की कल्पना भी इसीलिए हुई कि वे गद्य-खंड सहज ही स्मृतिगम्य रहें। वैदिक साहित्य के बाद लौकिक साहित्य में भी रामायण तथा महाभारत आदि-काव्य माने जाते हैं। इन ग्रंथों को काव्य मानने पर लौकिक-साहित्य में भी पहले-पहल पद्य ही आये; वैदिक-साहित्य में ऋचाएँ आरंभ में थीं। फिर तो इस उदाहरण से यह नहीं माना जा सकता कि पहले गद्य, तब गीति-काव्य, फिर महाकाव्य आते हैं।

संस्कृत के आदि-काव्य रामायण (वाल्मीकीय) में भी नाटकों का उल्लेख है—वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् (बालकांड सर्ग 5, 12)। ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। संभवतः रामायण-काल के नाटकसंघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे। महाभारत में भी रंभाभिसार के अभिनय का विशद वर्णन मिलता है। तब इन पाठ्य काव्यों से नाटक काव्य प्राचीन थे, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भरत के नाट्य-शास्त्र में अमृतमंथन और त्रिपुरदाह नाम के नाटकों का उल्लेख मिलता है। भाष्यकार पतंजलि ने कंस-बध और बलि-बंध नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इन प्राचीन नाटकों की कोई प्रतिलिपि नहीं मिलती। संभव है कि अन्य प्राचीन साहित्य की तरह ये सब नाटक नटों को कंठस्थ रहे होंगे। कालिदास ने भी

जिन भास, सौमिल्ल नाटककारों का उल्लेख किया है, उनमें और कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है, उनमें अभी भास के ही नाटक मिले हैं, जिन्हें कुछ लोग ईसा से कई शताब्दी पहले का मानते हैं। नाटकों के संबंध में लोगों का कहना है कि उनके बीज वैदिक संवादों में मिलते हैं। वैदिव काल में भी अभिनय संभवत: बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते रहे। एक छोटे-से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर आता है। इसमें तीन पात्र होते थे—यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु। यह ठीक है कि यह याज्ञिक क्रिया है किंतु है अभिनय-सी ही। क्योंकि सोमरसिक आत्मवादी इंद्र के अनुयायी इस याग की योजना करते रहे। सोम राजा का क्रय समारोह के साथ होता। सोम राजा के लिए पाँच बार मोल-भाव किया जाता। सोम बेचने वाले प्राय: बनवासी होते थे। उनसे मोल-भाव करने में पहले पूछा जाता—

'सोमा-विक्रयी! सोम राजा बेचोगे?'

'बिकेगा।'

'तो लिया जायगा।'

'ले लो।'

'गौ की एक कला से उसे लूँगा।'

'सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य हैं।'

'गौ भी कम महिमावाली नहीं। इसके मट्ठा, दूध, घी सब है।'

'अच्छा, आठवाँ भाग ले लो।'

'नहीं, सोम राजा अधिक मूल्यवान् है।'

'तो चौथाई लो।'

'नहीं और मूल्य चाहिए।'

'अच्छा आधी ले लो।'

'अधिक मूल्य चाहिए।'

'अच्छा, पूरी गौ ले लो, भाई।'

'तब सोम राजा बिक गये; परंतु और क्या दोगे? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो।'

'स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, बछड़े वाली गौ, जो चाहो सब दिया जायगा।' (यह मानो मूल्य से अधिक चाहनेवाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता था)

फिर जब बेचने के लिए वह प्रस्तुत हो जाता, तब सोम-विक्रेता को सोना दिखलाकर ललचाते हुए निराश किया जाता। यह अभिनय कुछ काल तक चलता। 'सम्मेत इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनाभिकम्पयति' सूत्र की टीका में कहा गया है 'हिरण्यं दत्त्वादत्त्वा स्वीकुर्वंत्रस्तं निराशं कुर्यात्'। उस जंगली को छकाकर

फिर वह सोना अध्वर्यु यजमान के पास रख देता; और उसे एक बकरी दी जाती। संभवत: सोना भी उसे दिया जाता। तब सोमा-विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता। सोम मिल जाने पर यजमान तो कुछ जप करने बैठ जाता। जैसे अब उससे सोम के झगड़े से कोई संबंध नहीं। सहसा परिवर्त्तन होता— हिरण्यं सहसाऽच्छित्य 'पृषता वरत्राकांडेनाहतिवा' (कात्यायन श्रौत सूत्र 7-8-25)। सोम-विक्रेता से सहसा सोना छीनकर उसकी पीठ पर कोड़े लगाकर उसे भगा दिया जाता। इसके बाद सोम राजा गाड़ी पर घुमाये जाते, फिर सोमरस के रसिक आनन्द और उल्लास के प्रतीक इंद्र का आवाहन किया जाता। भरत ने लिखा है कि—

महानयं प्रयोगस्य समय: समुपस्थित:
अयं ध्वजमह: श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।

देवासुर-संग्राम के बाद इंद्रध्वज के महोत्सव पर देवताओं के द्वारा नाटक का आरंभ हुआ। भरत ने नाट्य के साथ नृत्त का समावेश कैसे हुआ, इसका भी उल्लेख किया है। कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोमयाग-प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता नहीं थी; किंतु वैदिक काल के बाद जब आगम-वादियों ने रससिद्धांतवाले नाटकों को अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया, तो परमेश्वर के तांडव के अनुकरण में उसकी संवर्धना के लिए, नृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की। भरत ने भी कहा है—

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावत: (4-271)

परमेश्वर के विश्वनृत्त की अनुभूति के द्वारा नृत्त को उसी के अनुकरण में आनन्द का साधन बनाया गया। भरत ने लिखा है कि त्रिपुरदाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से तांडव की योजना इसमें की गयी। इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नृत्त पहले बिना गीत का होता था; उसमें गीत और अभिनय की योजना पीछे से हुई। और इसे तब नृत्त कहने लगे। इसका और भी एक भेद है। शुद्ध नृत्त में रेचक और अंगहार का ही प्रयोग होता था। गान वा तालानुसार भौंह, हाथ, पैर और कमर का कंपन नृत्य में होता था। तांडव और लास्य नाम के इसके दो भेद और हैं। कुछ लोग समझते हैं कि तांडव पुरुषोचित और उद्धत नृत्य को ही कहते हैं, किंतु यह बात नहीं, इसमें विषय की विचित्रता है। तांडव नृत्य प्राय: देव संबंध में होता था। 'प्रायेण तांडवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत्।' (4—275) और लास्य अपने विषय के अनुसार लौकिक तथा सुकुमार होता

था। नाट्य-शास्त्र में लास्य के जिन दश अंगों का वर्णन किया गया है वे प्रयोग में ही भिन्न नहीं होते थे, किंतु उनके विषयों की भी भिन्नता होती थी। इस तरह नृत्त नृत्य, तांडव और लास्य प्रयोग और विषय के अनुसार चार तरह के होते थे। नाटक में इन सब भेदों का समावेश था। ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में नृत्य की योजना पूर्व-रंग में देव-स्तुति के साथ होती थी। अभिनय के बीच-बीच में नृत्य करने की प्रथा भी चली। अत्यधिक गीत-नृत्य के लिए अभिनय में भरत ने मना भी किया है—'गीत-वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसंगतः। खेदो भवेत् प्रयोक्तृणां प्रेक्षकाणाम् तथैव च।'

नाट्य के साथ नृत्य की योजना ने अति प्राचीन काल में ही अभिनय को संपूर्ण बना दिया था। बौद्ध-काल में भी वह अच्छी तरह भारत-भर में प्रचलित था। विनय-पिटक में इसका ऊल्लेख है कि कीटागिरि की रंगशाला में संघाटी फैलाकर नाचने वाली नर्तकी के साथ मधुर आलाप करने वाले और नाटक देखनेवाले अश्वजित्, पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दंड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिये गये। (चूल्ल बग्ग)

रंगशाला के आनन्द को दु:खवादी भिक्षु निंदनीय मानते थे। यद्यपि गायन और नृत्य प्राचीन वैदिक काल से ही भारत में थे (यस्यां गायंति भूम्यां, पृथ्वी-सूक्त); किंतु अभिनय के साथ इनकी योजना भी भारत में प्राचीन काल से ही हुई थी। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि भारत में अभिनय कठपुतलियों से आरंभ हुआ, और न तो महावीरचरित्र ही छाया-नाटक के लिए बना। उसमें तो भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है—'ससंदर्भो अभिनेतव्यः' कठपुतलियों का भी प्रचार संभवतः पाठ्य-काव्य के लिए प्रचलित किया गया। एक व्यक्ति काव्य का पाठ करता था और पुतलियों के छाया-चित्र उसी के साथ दिखलाये जाते थे। मलाबार में अब भी कंबर के रामायण का छाया-नाटक होता है।[1] कठपुतलियों से नाटक आरंभ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किंतु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों में मानना चाहिए। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते हैं। कथा-

---

1. The existence in India of the Ramayan shadow play will surprise not a few people, the primitive drama is still to be found in Malabar where it is acted by strolling players and their puppets, and the author was lucky to witness a performance. (Note af Editor, The Illustrated Weekly of India, 7 July, 1933)

वस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों का जो ठीक-ठीक संचालन करता हो, वह सूत्रधार आजकल के 'डाइरेक्टर' की ही तरह का होता था।

संभव है कि पटाक्षेप और यवनिका आदि के सूत्र भी उसी के हाथ में रहते हों। सूत्रधार का अवतरण रंगमंच पर सबसे पहले रंग-पूजा और मंगलपाठ के लिए होता था। कथा या वस्तु की सूचना देने का काम स्थापक करता था। रंग-मंच की व्यवस्था आदि में यह सूत्रधार का सहकारी रहता था; किन्तु नाटकों में 'नांद्यते सूत्रधारा:' से जान पड़ता है कि पीछे लाघव के लिए सूत्रधार स्थापक का भी काम करने लगा।

हाँ, अभिनवगुप्त ने गद्य-पद्य-मिश्रित नाटकों से अतिरिक्त राग काव्य का भी उल्लेख किया है। (अभिनव भारती—अध्याय 4)। राघवविजय और मारीच वध नाम के राग-काव्य ठक्क और ककुभ राग में कदाचित् अभिनय के साथ वाद्य ताल के अनुसार गाये जाते थे। ये प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा में गीति-नाट्य कहे जाते हैं। इस तरह अति प्राचीन काल में ही नृत्य अभिनय से संपूर्ण नाटक और गीति-नाट्य भारत में प्रचलित थे। वैदिक, बौद्ध तथा रामायण और महाभारत-काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था।

□□

रंगमंच

भारत के नाट्य-शास्त्र में रंगशाला के निर्माण के संबंध में विस्तृत रूप से बताया गया है। जिस ढंग के नाट्य-मंदिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है, उससे जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोद कर बनाये जाने वाले मंदिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएँ बनती थीं।

'कार्य: शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमंडप:' से यह कहा जा सकता है कि नाट्य मंदिर दो खंड के बनते थे, और वे प्राय: इस तरह के बनाये जाते थे, जिनसे उनका प्रदर्शन विमान का-सा हो। शिल्प-संबंधी शास्त्रों में प्राय: द्विभूमिक, दोखंडे या तीनखंडे प्रासादों को, जो कि स्तम्भों के आधार पर अनेक आकारों के बनते थे, विमान कहते हैं। यहाँ 'द्विभूमि:' से ऐसा भी अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा भाग अभिनय के लिए बनता था। किन्तु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम

से व्यवहार में ले आये जाते हैं, उनकी ओर संकेत करना मैं आवश्यक समझता हूँ। रंगशाला में शिल्प का या वास्तु-निर्माण का प्रयोग किस तरह होता था, यह बताना सरल नहीं, तो भी नाट्य-मंडल तीन तरह के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्य। विकृष्ट नाट्य-मंडप की चौड़ाई से लम्बाई दूनी होती थी। उस भूमि के दो भाग किए जाते थे। पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे। आधे में रंग-शीर्ष और रंगपीठ और आधे में पीछे नेपथ्यगृह बनाया जाता था।

पृष्ठतो यो भवेत् भागो द्विधा भूतो भवेत् च सः
तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षम् प्रयोजयेत्।
पश्चिमे तु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत्। (नाट्य शास्त्र 2 अ०)

आगे के बड़े आधे भाग में बैठने के लिए, जिससे दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, ऐसा—सोपान की आकृति का—बैठक बनाया जाता था। कदाचित् वह आज की 'गैलरी' की तरह होता था।

स्तम्भानाम् बाह्यतः स्थाप्यम् सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टका दारुभिः कार्यम् प्रेक्षकाणाम् निवेशनम्॥

ईंटों और लकड़ियों से ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची बनाई जाती थीं। इसी प्रसंग में मत्तवारणी का उल्लेख है। अभिनवगुप्त के समय में भी मत्तवारणी का स्थान निर्दिष्ट करने में संदेह और मतभेद हो गया था। नाट्य-शास्त्र में लिखा है—

रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुः-स्तंभसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः॥
अध्यर्धहस्तोत्स्येधे न कर्त्तव्या मत्तवारिणी।

मत्तवारिणी के कई तरह के अर्थ लगाये गये हैं। अभिनव-भारती में मत्त-वारिणी के संबंध में किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देवमंदिर की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी। 'मत्तवारणी बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीय-भित्तिनिवेशेन देवप्रसादाट्टालिका प्रदक्षिणा-सदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये, उपरि मंडपांतर-निवेशनादित्यपरे'; किन्तु मेरी समझ में यह मत्तवारिणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही और चार खंभों से रुकावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारिणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है

कि वह मतवालों को वारण करे। यह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग से लगा दी जाती थी।

रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंग-शीर्ष कहते थे और सबसे आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था। इन दोनों के बीच में जवनिका रहती थी। अभिनवगुप्त कहते हैं—यत्र जवनिका रंगपीठतच्छिरसोर्मध्ये। रंगमंच की इस योजना से जान पड़ता है कि अपटी, तिरस्कारिणी और प्रतिसीरा आदि जो पटों के भेद हैं, वे जवनिका के भीतर के होते थे। रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर के दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष यंत्र-जाल, गवाक्ष, शालभजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते थे। संभवतः यही मुख्य अभिनय का स्थान होता था।

पिंडीबंध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना, प्रस्तावना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रंगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी। सरगुजा के गुहा-मंदिर की नाट्यशाला दो हजार वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रंगशाला बनवाई थी, जिसमें पत्थरों पर संपूर्ण शाकुंतल-नाटक उत्कीर्ण था। आधुनिक रामलीला के अभिनयों में प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे। एक तो वे, जिनके बड़े-बड़े नाट्य-मंदिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच, जो काठ के विमानों से बनाये जाते थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों में आवश्यकतानुसार घुमा-फिराकर अभिनयोपयोगी कर लिये जाते थे।

नाट्य-मंदिरों के भीतर स्त्रियों और पुरुषों के सुन्दर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उनमें स्थान-स्थान पर वातायनों का भी समावेश रहता था। नाट्य-मंडप में कक्षाएँ बनाई जाती थीं, जिनमें अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, ग्राम, जंगल, पर्वत और समुद्र का दृश्य बनाया जाता था। आधुनिक काल के रंगमंचों से कुछ भिन्न उनकी योजना अवश्य होती थी, किन्तु—

> कक्ष्याविभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च
> उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽटवी तथा। (नाट्यशास्त्र 14 अ०)

इत्यादि से यह मालूम होता है कि दृश्यों का विभाग करके नाट्य-मंडप के भीतर उनकी इस तरह से योजना की जाती थी कि उनमें सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था, और जिस स्थान की वार्ता होती थी, उसका दृश्य भिन्न कक्ष्या में दिखाने का प्रबन्ध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी संकेत कक्ष्याओं में उनकी दूरी से किया जाता था।

बाह्यम् वा मध्यम् वापि तथैवाभ्यंतरम् पुनः
दूरम् वा सन्निकृष्टम् वा देशाश्च परिकल्पयेत् ।
यत्र वार्ता प्रवर्त्तेत तत्र कक्ष्याम् प्रवर्त्तते ॥

रंगमंच में आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के विमानों के भी दृश्य दिखलाये जाते थे । यदि मृच्छकटिक और शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी नाटक खेलने ही के लिए बने थे, जैसा कि उनकी प्रस्तावनाओं से प्रतीत होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि रंगमंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उसमें बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अप्सराएँ दिखलाई जा सकती थीं । इन दृश्यों के दिखलाने में मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और बाँस के फंठों से काम लिया जाता था ।

प्रतिपादौ प्रतिशिरः प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम्
तृणजैः कीलजैर्माण्डैः सरूपाणीह कारयेत् ।
यद्यस्य यादृशं रूपं सारूप्यगुणसंभवम्
मृण्मयं गात्रकृत्स्नं तु नाना-रूपांस्तु कारयेत् ।
भांडवस्त्रमधूच्छिष्टैः लाक्ष्याभ्रदलेन च
नगास्तु विविधा कार्याः चर्मवर्मध्वजास्तथा । (नाट्यशास्त्र 24 अ०)

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ता है कि सरूप अर्थात् मुखौटों का भी प्रयोग दैत्य-दानवों के अंगों की विचित्रता के लिए होता था । कृत्रिम हाथ और पैर तथा मुखौटे मिट्टी, फूस, मोम, लाख और अभ्रक के पत्रों से बनाये जाते थे ।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गई है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला । अमरकोष में—प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्कारिणी च सा; तथा हलायुध में—अपटी कांडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्कारिणी । इसमें 'य' से नहीं किंतु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है ।

जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है । जव का अर्थ वेग और त्वरा से है तब जवनिका उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके । कांड पट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिसमें पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो । प्रतिसीरा और तिरस्कारिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं । प्रतिसीरा तो नहीं, किन्तु तिरस्कारिणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी में एक जगह आता है । द्वितीय अंक में जब राजा प्रमोद-वन में आते हैं, तो वहीं पर आकाश मार्ग से उर्वशी और चित्रलेखा का भी आगमन होता है ।

उर्वशी चित्रलेखा से कहती है—'प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्त्तिनी भूत्वा श्रोष्ये तावत् ।' और फिर आगे चलकर उसी अंक में—'तिरस्करिणीम् अपनीय'—तिरस्करिणी को हटाकर प्रकट होती है। प्रतिसीरा का भी प्रयोग संभव है खोजने से मिल जाय; किंतु अपटी शब्द अत्यन्त संदेहाजनक है। मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी के आदि में 'ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण' कई स्थानों पर मिलता है, विक्रमोर्वशी के टीकाकार रंगनाथ ने कहा है—'यतः नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नाटके मतः' इति नाटकसमयप्रसिद्धेर्यत्रासूचितपात्रप्रवेशस्तत्राकस्मिकप्रवेशेऽपटीक्षेपेणेति वचनं युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनांते सूचितानामेवाप्सरसां प्रवेश इति। केचित्पुनः—न पटीक्षेपोऽपटीक्षेपे इति विग्रहं विधाय पटीक्षेपं विनैव प्रविशंतीति समर्थयंते तदप्या पाद्य कुचोद्यमात्रमित्यास्तां तावत्। (विक्रमोर्वशी—प्रथम अंक)

इससे जान पड़ता है कि प्रवेशक की सूचना अत्यंत आवश्यक होती थी और यह कार्य अंकों के आरम्भ में चेटी, दासी या अन्य ऐसे ही पात्रों के द्वारा सूचित किया जाता था। उसके बाद अभिनय में वास्तविक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। विक्रमोर्वशी में प्रस्तावना में ही अप्सराओं की पुकार सुनाई पड़ती है और सूत्रधार रंगमंच में प्रस्थान कर जाता है और अप्सराएँ प्रवेश करती हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पटी अभी तक उठी नहीं है और अप्सराओं का प्रवेश हो गया है। रंगमंच के उसी अगले भाग पर वे आ गई हैं, जहाँ कि सूत्रधार ने प्रस्तावना की है। इसके बाद अपटीक्षेप होता है अर्थात् पर्दा उठता है तब पुरूरवा का प्रवेश होता है और सामने हेमकूट का भी दृश्य दिखाई पड़ता है; इसलिए कुछ विशेष ढंग के परदे का नाम अपटी जान पड़ता है। संभवतः अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था, जहाँ सहसा पात्र उपस्थित होता था। उसी अंक में अन्य पात्रों के द्वारा कथावस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था। यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यांतर (ट्रांसफर सीन) उपस्थित करने में उनका प्रयोग भी करते थे। यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थे, फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्य-विभाग उनमें दृश्यों के लिए शैल, विमान और यान तथा कृत्रिम प्रासाद-यंत्र और पटों का उपयोग होता था।

नाट्य-मंदिर में नर्तकियों का विशेष प्रबन्ध रहता था। जान पड़ता है कि रेचक, अंगहार, करण और चारियों के साथ पिंडी-बंध अथवा सामूहिक नृत्य का भी आयोजन रंगमंच में होता था। अति प्राचीन काल में भारतवर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गयीं। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे, तब रंगोपजीवना अप्सराएँ रंगमंच पर आयीं। कहा गया है—

कौशिकीश्लक्ष्णनेपथ्या शृंगाररससंभवा
अशक्या: पुरुषैःसातु प्रयोक्तुम् स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभु:।

रंगमंच पर काम करने वाली स्त्रियों को अप्सरा, रंगोपजीवना इत्यादि कहते थे। मालविकाग्निमित्र में स्त्रियों को अभिनय की शिक्षा देने वाले आचार्यों का भी उल्लेख है। उनका मत है कि पुरुष और स्त्री के स्वभावानुसार अभिनय उचित है, क्योंकि 'स्त्रीणां स्वभावमधुर: कंठो नृणां बलत्वं च'—स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पूरुष में बल है; इसलिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें; पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता। 'एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणां च पाठ्यविधि:'।

सामूहिक पिंडीबंध आदि चित्रनृत्यों का रंगमंच पर अच्छा प्रयोग होता था। पिंडीबंध चार तरह का होता था—पिंडी, शृंखलिका, लताबंध ओर भेद्यक। कई नर्तकियों के द्वारा नृत्य में अंगहारों के साथ परस्पर विचित्र बाहुबंध और संबंध करके अनेक आकार बनाये जाते थे। अभिनय में रंगमंच पर इनकी भी आवश्यकता होती थी और पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी रंगमंच-शाला की उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। नाटकोपयोगी दृश्यों के निर्माण-वस्त्र तथा आयुधों के साथ कृत्रिम केश-मुकुटों और दाढ़ी-इत्यादि का भी उल्लेख नाट्य-शास्त्र में मिलता है। केश-मुकुट भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए कई तरह से बनते थे।

रक्षो दानवदैत्यानां पिककेशकृतानि तु
हरिश्मश्रूणि च तथा मुखशीर्षाणि कारयेत्।
(नाट्य-शास्त्र 23-143)

कोयल के पंखों से दैत्य-दानवों की दाढ़ी और मूँछ भी बनाई जाती थी। मुकुट अभिनय के लिए भारी न हों, इसलिए अभ्रक और ताम्र के पतले पत्रों से हलके बनाये जाते थे। कंचुक इत्यादि वस्त्रों का भी नाट्य-शास्त्र में विस्तृत वर्णन है। इन वस्तुओं के उपयोग में इस बात का भी विचार किया जाता था कि नाटक के अभिनय में सुविधा हो। नाटक के अभिनय में दो विधान माननीय थे, और उन्हें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी कहते थे। भरत के समय में ही रंगमंचों में स्वाभाविकता पर ध्यान दिया जाने लगा था। रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। इस लोकधर्मी अभिनय में रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का उपयोग बहुत कम होता था 'स्वाभावो लोकधर्मी तु नाट्यधर्मी विकारत:' (नाट्य शास्त्र 13-193)

स्वाभाविकता का अधिक ध्यान केवल उपकरणों में ही नहीं; किन्तु आंगिक अभिनय में भी अभीष्ट था। उसमें बहुत अंग-लीला वर्जित थी।

अतिसत्व क्रियाएँ, असाधरण कर्म, अतिभाषित लोकप्रसिद्ध द्रव्यों का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अंगहार जिसमें प्रयुक्त होते थे—रंगमंच के ऐसे नाटकों को नाट्यधर्मी कहते थे। स्वगत, आकाश-भाषित इत्यादि को तब भी अस्वाभाविक माना जाता था, और उनका प्रयोग नाट्यधर्मी अभिनय में ही रंगमंच पर किया जाता था।

आसन्नोक्तं च यद् वाक्यम् न शृण्वंति परस्परम्
अनुक्तं श्रूयते वाक्यम् नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।

प्राचीन रंगमंच में स्वगत की योजना, जिसमें समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात को अनसुनी कर जाता है, नाट्यधर्मी अभिनय के अनुकूल होता था; और 'भाण' में आकाश-भाषित का प्रयोग भी नाट्यधर्मी के ही अनुकूल है। व्यंजनाप्रधान अभिनय का भी विकास रंगमंच पर हो गया था। भावपूर्ण अभिनय में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। नाट्य-शास्त्र के छव्वीसवें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। पक्षियों का रेचक से, सिंह आदि पशुओं का गति-प्रचार से, भूत-पिशाच और राक्षसों का अंगहार से अभिनय किया जाता था। इस भावाभिनय का पूर्ण स्वरूप अभी भी दक्षिण के कथकलि नृत्य में वर्तमान है।

रंगमंच में नटों के गति-प्रचार (मूवमेंट), वस्तु-निवेदन (डिलीवरी), संभाषण (स्पीच) इत्यादि पर भी अधिक सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता था। और इन पर नाट्य-शास्त्र में अलग-अलग अध्याय ही लिखे गये हैं। रंगमंच पर जिस कथा का अवतरण किया जाता था, उसका विभाग भी समय के अनुसार और अभिनय की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए किया जाता था।

ज्ञात्वा दिमसांस्तान्क्षणयावमुहूर्त्तलक्षणोपेतान्।
विभजेत् सर्वमशेषम् पृथक् पृथक् काव्यमंकेषु॥

प्राय: एक दिन का कार्य एक अंक में पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके, तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उसकी पूर्ति होनी चाहिए। एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक में आना नहीं चाहिए। प्रवेशक, अंकावतार और अपटीक्षेप का प्रयोग आजकल की तरह दृश्य या स्थान को प्रधानता देकर नहीं किया जाता था; किन्तु वे कथावस्तु के विभाजन-स्वरूप ही होते थे। पाँच अंक के नाटक रंगमंच के अनुकूल इसलिए माने जाते थे कि उनमें कथा-वस्तु की पांचों

संधियों का विकास होता था। और कभी-कभी हीन संधि नाटक भी रंगमंच पर अभिनीत होते थे, यद्यपि वे नियम-विरुद्ध माने जाते थे। दूसरी, तीसरी, चौथी संधियों का अर्थात् बिन्दु, पताका और प्रहरी का लोप हो सकता था, किन्तु पहली और पाँचवीं संधि का अर्थात् बीज और कार्य का रहना आवश्यक माना गया है। आरम्भ और फलयोग का प्रदर्शन रंगमंच पर आवश्यक माना गया है।

रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। क्योंकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किए जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप परिवर्तन किया है।

मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। धर्मांध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मंडपों में छोटे-मोटे अभिनय सर्व-साधारण के लिए सुलभ रह गये। उत्तरी भारत में तो औरंगजेब के समय में ही साधारण संगीत का भी 'जनाज़ा' निकाला जा चुका था; किन्तु रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यत: नौटंकी (नाटकी ?) और भाँड़ ही थे। रामलीला और यात्राओं का भी नाम लिया जा सकता है। सार्वजनिक रंगमंचों के विनिष्ट हो जाने पर यह खुले मैदानों में तथा उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे। रामलीला और यात्रा तो देवता-विषयक अभिनय थे; किन्तु नाटकी और भाँड़ों में शुद्ध मानव-संबंधी अभिनय होते थे। मेरा निश्चित विचार है कि भाँड़ों की परिहास की अधिकता संस्कृत-भाण मुकुंदानन्द और रससदन आदि की परम्परा में है, और नाटकी या नौटंकी प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ हैं। जैसे रामलीला पाठ्य-काव्य रामायण के आधार पर वैसी ही होती है, जैसे प्राचीन महाभारत और वाल्मीकि के पाठ्य-काव्यों के साथ अभिनय होता था। दक्खिन में अब भी कथकलि अभिनय उस प्रथा को सजीव किए है। प्रवृत्ति वही पुरानी है; परन्तु उत्तरीय भारत में बाह्य-प्रभाव की अधिकता के कारण इनमें परिवर्तन हो गया है और अभिनय की वह बात नहीं रही। हाँ, एक बात अवश्य इन लोगों ने की है और वह है चलते-फिरते रंगमंचों की या विमानों की रक्षा।

वर्तमान रंगमंच अन्य प्रभावों से अछूता न रह सका, क्योंकि विप्लव और

आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएँ नष्ट हो चुकी थीं। मुगल-दरबारों में जो थोड़ी-सी संगीत-पद्धति तानसेन की परम्परा से बच रही थी, उसमें भी बाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगा था। अभिनय में केवल भाण ही मुगल-दरबार में स्वीकृत हुआ था; वह भी केवल मनोरंजन के लिए।

पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहल नये रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी—इन्द्र-सभा, चित्रा-बकावली, चंद्रावली, हरिश्चन्द्र आदि के अभिनय होते थे, अनुकरण या रंगमंच में 'शेक्सपीरियन स्टेज' का; क्योंकि वहाँ भी 'विक्टोरियन' युग की प्रेरणा ने रंगमंच में विशेष परिवर्तन कर लिया था। 19वीं शताब्दी के मध्य में कीन की सहायता से अंग्रेजी रंगमंच में पुरावृत्त की खोजों के आधार पर शेक्सपियर के नाटकों के अभिनय की नई योजना हुई, और तभी हेनरी, इर्विंग-सदृश चतुर नट भी आए। किन्तु साथ ही सूक्ष्म तथा गम्भीर प्रभाव डालने वाली इब्सन की प्रेरणा भी पश्चिम में स्थान बना रही थी, जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।

भारतीय रंगमंच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहल बंगाल पर हुआ। किन्तु इन दोनों प्रभावों के बीच में दक्षिण में भारतीय रंगमंच निजी स्वरूप में अपना अस्तित्व रख सका। कथकलि-नृत्य मन्दिरों की विशाल संख्याओं में मर नहीं गया था। भावाभिनय अभी होते रहते थे। कदाचित् संस्कृत-नाटकों का अभिनय भी चल रहा था, बहुत दबे-दबे। आंध्र ने आचार्यों के द्वारा जिस धार्मिक संस्कृति का पुनरावर्त्तन किया था, उसके परिणाम में संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुद्धार और तत्सम्बन्धी साहित्य और कला की भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृत के नाटकों का अभिनय भी उसी का फल था। दक्षिण में वे सब कलाएं सजीव थीं; उनका उपयोग भी हो रहा था। हाँ, बाली और जावा इत्यादि के मन्दिरों में इसी प्रकार के अभिनय अधिक सजीवता से सुरक्षित थे। तीस बरस पहले जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था। उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है। कदाचित् उसका नाम 'ललित-कलादर्श-मंडली' था।*

दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी-स्टेज ने पश्चिमी 'ट्यूनों' का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उसके इस काम में बंगाल ने भी साथ दिया; किन्तु उतने भद्दे ढंग से नहीं। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का

---

*यह लेख 1936 के अन्त में लिखा गया और जुलाई 1937 में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के भाग 7 अंक 3 में प्रकाशित हुआ। मृच्छकटिक का वह अभिनय लेखक ने 1906 में देखा होगा। (सं०)

मिश्रण किया, वह सुरुचि से बहुत आगे बढ़ा। चित्रपटों में सरलता उसने रक्खी; किन्तु पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढंग बन्द नहीं किया। पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है। वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो; किन्तु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए—कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भंड़ैती से ही काम चल जाएगा।

हिंदी के कुछ अकाल-पक्व आलोचक, जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद! अभी वे इतने भी सहनशील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले—जिससे वह दर्शकों को उलझा लेता है—तीन-चार मिनट के लिए काला परदा खींचकर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दें। हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलनेवाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। हाँ, पारसी स्टेज के आरम्भिक विनय-सूत्रों में एक यह भी था कि वे लोग प्राचीन इंगलैंड के रंगमंचों की तरह स्त्रियों का सहयोग नहीं पसंद करते थे। 18वीं शताब्दी में धीरे-धीरे स्त्रियाँ रंगमंच पर इंगलैंड में आईं; किंतु सिनेमा ने स्त्रियों को, रंगमंच पर अबाध अधिकार दिया। बालकों को स्त्रीपात्र के अभिनय की अवांछनीय प्राणाली से छुटकारा मिला; किन्तु रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उनमें अभाव; विशेषतः हिन्दी रंगमंच के लिए। बहुत से नाटक मण्डलियों द्वारा इसलिए नहीं खेले जाते कि उनके पास स्त्री-पात्र नहीं हैं, रंगमंच की तो अकाल-मृत्यु हिंदी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मण्डलियाँ कभी-कभी साल में एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर, कोई अभिनय कर लेती हैं। पुकार होती है आलोचकों की हिन्दी में नाटकों के अभाव की। रंगमंच नहीं है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता क्योंकि दोषदर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है, जैसा कीन ने किया था। युग के पीछे हम चलने का स्वांग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों का यथार्थ अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते—कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों के सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक्-चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए टनों मेकअप का ससाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सेनिज़्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम-विकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के 'आज' को ही सब जगह खोजते

रहेंगे ? और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों का सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है ? अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमन्त्रण नहीं करता। वर्तमान और प्रतिक्षण का वर्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुन्दर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के सम्बन्ध में विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है; किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। जिस तरह हम वास्तविक या प्राचीन शब्दों में लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय को भी देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर 'नये' को नहीं पाया है।

श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देखकर जिस हिन्दी रंगमंच की स्वतन्त्र स्थापना की थी, उसमें इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिन्दी-रंगमंच की इस स्वतन्त्र चेतना को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नयी पश्चिमीय प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जाएँ। हाँ, उन सब साधनों से जो वर्तमान विज्ञान-द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिए। आलोचकों का कहना है कि "वर्तमान युग की रंग-मंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविकता भी हो।" वास्त-विकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं—हमको अपराधियों से घृणा नहीं, सहानुभूति रखनी चाहिए, इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जाएँगे। प्रभाव का असंबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। रेडियो ड्रामा के संवाद भी लिखे जाने लगे हैं, जिनमें दृश्यों का सम्पूर्ण लोप है। दृश्य वस्तु श्रव्य बनकर संवाद में आती है; किन्तु साहित्य में एक प्रकार के एकांकी नाटक भी लिखने का प्रयास हो रहा है। वे यही समझकर तो लिखे जाते हैं कि उनका अभिनय सुगम है। किन्तु उनका अभिनय होता कहाँ है ? यह पाठ्य छोटी कहानियों का

ही प्रतिरूप नाट्य है। दृश्यों की योजना साधारण होने पर भी खिड़की के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने में मकड़ी का जाला दृश्यों में प्रमुख होते हैं— वास्तविकता के समर्थन में !

भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं; किन्तु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गायी गयी गजलों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर भी तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल-चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते हैं और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही है ? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थीं। वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है। किन्तु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं, तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिंदी का ही रह जायगा ? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटकों के लिए ही है !

मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किन्तु इसके लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी-नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी साँस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि रंगमंच नाटक के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु-रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी-रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

□□

आरम्भिक पाठ्य काव्य

नाट्य से अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति-ग्रंथों में श्रव्य कहते हैं। कारण कि प्राचीनकाल में ये सब सुने या सुनाए जाते थे; इसलिए श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि धर्म-ग्रन्थों के लिए भी व्यवहृत थे। किन्तु आजकल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें पाठ्य कहना अधिक सुसंगत होगा। वर्णनात्मक होने के कारण वे काव्य जो अभिनय के योग्य नहीं पाठ्य ही हैं।

प्लेटो के अनुसार काव्य वर्णनात्मक और अभिनयात्मक दोनों ही हैं। जहाँ कवि स्वयं अपने शब्दों में वर्णन करता है, वह वर्णनात्मक और जहाँ कथोपकथन उपन्यस्त करता है, वहाँ अभिनयात्मक। ठीक इसी तरह का एक और पश्चिमीय सिद्धांत है, जो कहता है कि नाटक संगीतात्मक और महाकाव्य है। परन्तु पाठ्य-विभेद नाट्य-काव्य के भीतर तो वर्तमान रहता है; हाँ नाट्य-भेद का वर्णनात्मक में अभाव है। पाठ्य में एक द्रष्टा की वस्तु की बाह्यवर्णना की प्रधानता है; यद्यपि वह भी अनुभूति से संबद्ध ही है। यह कहा जा सकता है कि यह परोक्ष अनुभूति है, नाट्य की तरह अपरोक्ष अनुभूति नहीं। जहाँ कवि अपरोक्ष अनुभूति-मय (Subjective) हो जाता है, वहाँ यह वर्णनात्मक अनुभूति रस की कोटि तक पहुँच जाती है। यह आत्मा की अनुभूति विशुद्ध रूप में 'अहम्' की अभि-व्यक्ति का कारण बन जाती है। साधारणतः सिद्धांत में यह रहस्यवाद का ही अंश है।

इसी तरह वाह्य वर्णनात्मक अर्थात् 'इदम्' का परामर्श भी आत्मा के विस्तार की ही आलोचना और अनुभूति है, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की क्रिया है, 'इदम्' को 'अहम्' के समीप लाने का उपाय है। वर्णनों से भरे हुए महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन आता है। उसके सुख-दुःख, हर्ष-क्रोध, राग-द्वेष का वैचित्र्यपूर्ण आलेख मिलता है। जब हम देखते हैं कि वेद और वाल्मीकि दोनों ही आरम्भ में गाये गये हैं, तब यह धारणा हो जाती है कि वे जीवन तत्व को समझने के उत्साह हैं।

आरम्भ में बड़े-बड़े प्रभावशाली कर्मों का वर्णन कवियों ने अपनी रचना में किया। मानव के हर्ष-शोक की गाथाएँ गायी गयीं। कहीं उन्हें महत्ता की ओर प्रेरित करने के लिए, कहीं अपनी दुःख की, अभाव की गाथा गाकर जी हलका करने के लिए। वैदिक से लेकर लौकिक तक ऐसे श्रव्य-काव्यों का आधार होता था—इतिहास। जहाँ नाट्य में आभ्यंतर की प्रधानता होती है, वहाँ श्रव्य में बाह्यवर्णन ही मुख्यतः अपेक्षित है। वह बुद्धिवाद से अधिक सम्पर्क रखने वाली वस्तु बनती है; क्योंकि आनन्द से अधिक उसमें दुःखानुभूति की व्यापकता होती

है और वह सुनाया जाता था, जनवर्ग को अधिकाधिक कष्टसहिष्णु, जीवन-संघर्ष में पटु तथा दुःख के प्रभाव से परिचित होने के लिए। नाटकों की तरह उसमें रसात्मक अनुभूति, आनन्द का साधारणीकरण न था। घटनात्मक विवेचनाओं की प्रभावशालिनी परम्परा में उत्थान और पतन की कड़ियाँ जोड़कर महाकाव्यों की सृष्टि हुई थी—विवेकवाद को पुष्ट करने के लिए।

ये वर्णनाएँ दोनों तरह की प्रचलित थीं। काल्पनिक अर्थात् आदर्शवादी, वस्तुस्थिति अर्थात् यथार्थवादी। पहले ढंग से लेखकों ने जीवन को कल्पनामय आदर्शों से पूर्ण करने का प्रयत्न किया। समुद्र पाटना, स्वर्ग विजय करना, यहाँ तक कि असफल होने पर शीतल मृत्यु से आलिंगन करने के लिए महाप्रस्थान करना, इसके वर्णन के विषय बन गये। इन लोगों ने काव्य-न्याय की प्रतिष्ठा के साथ काल्पनिक अपराधों की भी सृष्टि की, केवल आदर्श को उज्ज्वल, विवेक-बुद्धि को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए। भारतीय साहित्य में रामायण तथा उसके अनुयायी बहुत-से काव्य प्राय: आदर्श और चारित्र्य के आधार पर ग्रन्थित हुए हैं। सब जगह 'कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्, धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च' की पुकार है। चारित्र्य की प्रधानता उसकी विजय से अंकित की जाती है। रामायण काल का शोक श्लोक में जिस तरह परिणत हो गया, वह तो विदित ही है; परन्तु चरित्र में आदर्श की कल्पना पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है।

महाभारत में भी करुण-रस की कमी नहीं है; परन्तु वह आदर्शवादी न होकर यथार्थवाद-सा हो गया है। और तब उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य का पूरा समावेश हो गया है। उसके भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन, युधिष्ठिर अपनी चरित्रगत विशिष्टता में ही महान् हैं। आदर्श का पता नहीं; परन्तु ये महती आत्माएँ मानो निन्दनीय सामाजिकता की भूमि पर उत्पन्न होकर भी पुरुषार्थ के बल पर दैव, भाग्य, विधानों और रूढ़ियों का तिरस्कार करती हैं। वीर कर्ण कहता है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम्।

उसके बाद आता है पौराणिक प्राचीन गाथाओं का सांप्रदायिक उपयोगिता के आधार पर संग्रह। चारों ओर से मिलाकर देखने पर यह भी बुद्धिवाद का, मनुष्य की स्वनिर्भरता का, उसके गर्व का प्रदर्शन ही रह जाता है।

मानव के सुख-दुःख की गाथाएँ गायी गयीं। उसका केन्द्र होता था धीरोदात्त विख्यात लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यों में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है।

नाटक में, जिसमें कि आनन्द-पथ का, साधारणीकरण का सिद्धांत था,

लघुत्तम के लिए भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि में जन-साधारण का अवतरण कराया जा सकता था परन्तु विवेक-परम्परा के महाकाव्यों में महानों की चर्चा आवश्यक थी।

लौकिक संस्कृति का यह पौराणिक या आरंभिक काल पूर्णरूप से पश्चिम के 'क्लासिक' के समकक्ष था। भारत में इसके बहुत दिनों के बाद छोटे-छोटे महाकाव्यों की सृष्टि हुई। इसे हम तुलना की दृष्टि से भारतीय साहित्य का 'रोमांटिक' काल कह सकते हैं, जिसमें गुप्त और शुंग-काल के सम्राटों की छत्रछाया में, जब बाहरी आक्रमण से जाति हीनवीर्य हो रही थी, अतीत को देखने की लालसा और बल ग्रहण करने की पिपासा जगने पर पूर्वकाल के अतीत से प्रेम, भारत की यथार्थवाद वाली धारा में कथा-सरित्सागर और दशकुमारचरित का विकास—विरहगीत—महायुद्धों के वर्णन संकलित हुए। कालिदास, अश्वघोष, दंडी, भवभूति और भारवि का काव्यकाल इसी तरह का है।

हिंदी में संकलनात्मक महाकाव्यों का आरंभ भी युगवाणी के अनुसार वीर-गाथा से आरंभ होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य के ढंग के —महाभारत की परंपरा में हैं। वाल्मीकि का अवतार तो पीछे हुआ, रामायण की विभूति तो तुलसी के दलों में छिपी थी। यद्यपि रहस्यवादी संत आत्म-अनुभूति के गीत गाते ही रहे, फिर भी बुद्धिवाद की साहित्यिक धारा राष्ट्र-संबंधी कविताओं, धार्मिक संप्रदायों के प्रतीकों को विकसित करने में लगी रही। कुछ संत लोग बीच-बीच में अपने आनंद-मार्ग का जय-घोष सुना देते थे। हजारों बरस तक हिंदी में बुद्धिवाद की ही तूती बोलती रही, चाहे पश्चिमी बुद्धिवाद के अनुयायी उसे भारतीय पतन-काल की मूर्खता ही समझकर अपने को सुखी बना लें। बाहरी आक्रमणों से भयभीत, अपने आनंद को भूली हुई जनता साहित्य के आनंद की साधना कहाँ से कर पाती? सार्वजनिक उत्सव-प्रमोद बंद थे। नाट्यशालाएँ उजड़ चुकी थीं। मौखिक कहा-सुनी, मंदिरों के कीर्त्तनों और छोटे-मोटे सांप्रदायिक व्याख्यानों के उपयोगी पद्यों का सृजन हो रहा था। भिन्नता बताने वाली बुद्धि साहित्य के निर्माण में, संप्रदायों का अवलंबन लेकर द्वैत-प्रथा की ही व्यंजना करने में लगी रही। हाँ, प्रेम विरह-समर्पण के लिए पिछले काल के संस्कृत रीति-ग्रंथों के आधार पर वात्सल्य आदि नये रसों की काव्यगत अधूरी सृष्टि भी हो चली थी। यही श्रव्य या पाठ्य-काव्यों की संपत्ति थी। नाट्यशास्त्र में उपयोगी पाठ्य का विमर्श किया गया था। यह काव्यगत पाठ्य का ही साहित्यिक विस्तार है, जिसमें रस, भाव, छंद, अलंकार, नायिकाभेद, गुण-वृत्ति और प्रवृत्तियों का समावेश है। जिनको लेकर श्रव्य-काव्य का विस्तार किया गया है, वे दस अंग नाट्याश्रयभूत हैं। अलंकार के मूल चार हैं —उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इन्हीं आरंभिक अलंकारों को लेकर आलंकारिकों ने सैकड़ों अलंकार बनाये। काव्यगुण,

समता, समाधि, ओज, माधुर्य आदि की भी उद्भावना इन्हीं लोगों ने की थी। नायिकाएँ जिनसे पिछले काल का साहित्य भरा पड़ा है, नाटकोपयोगी वस्तु हैं। वृत्तियाँ कौशिकी, भारती आदि भी नाट्यानुकूल भाषा-शैली के विश्लेषण हैं। और भी सूक्ष्म, देश-संबंधी भारत की मानवीय प्रवृत्तियों की आवंतिकी, दाक्षिणात्या, पांचाली और मागधी की भी नाट्यों में आवश्यकता बतायी गयी है। इस तरह प्राचीन नाट्य-साहित्य में उन सब साहित्य-अंगों का मूल है, जिनके आधार पर आलंकारिक साहित्य की आलोचना विस्तार करती है।

प्राचीन अद्वैत भावापन्न नाट्य-रसों को भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न इसी काल में हुआ। जीवन की एकांगी दृष्टि अधिक सचेष्ट थी। संतों को साहित्य में स्थान नहीं मिला। वे लाल बुझक्कड़ समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुए। नाचने, गाने-बजाने वाले, नटों, कुशीलवों से उनका रस छीनकर भाँड़ों और मुक्तक के कवियों ने विवेकवाद की विजय का डंका बजाया। कबीर ने कुछ रहस्यवाद का लोकोपयोगी अनुकरण आरंभ किया था कि विवेक हुँकार कर उठा।

महाकवि तुलसीदास ने आदर्श, विवेक और अधिकारी-भेद के आधार पर युगवाणी रामायण की रचना की। उनका प्रश्न और उत्तर एक संदेश के रूप में हुआ —'अस प्रभु अछत हृदय अधिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।'

कहना न होगा कि दुःखों की अनुभूति से, बुद्धिवाद ने एक त्राणकारी महान् शक्ति का अवतरण किया। सबके हृदयों में उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया; परन्तु परिणाम वही हुआ; जो होना चाहिए।

कभी-कभी राम के ही दो भेद बनाकर द्वंद्व खड़ा कर दिया जाता। कबीर के निर्गुण राम के विरुद्ध साकार, सक्रिय और समर्थ राम की अवतारणा तुलसीदास ने की। मर्यादा की सीमा राम और लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का भी संघर्ष कम न रहा। ये दार्शनिक प्रतीक विवेकवादी ही थे, यद्यपि कृष्ण में प्रेम और आनंद की मात्रा भी मिली थी।

बीच-बीच में जो उलझनें आनंद और विवेक की साहित्य वाली धारा में पड़ी, उनका क्रमोल्लेख न करके मैं यही कहना चाहता हूँ कि काव्यधारा 'मानव में राम हैं — या लोकातीत परम शक्ति है' इसी के विवेचन में लगी रही। मानव ईश्वर से भिन्न नहीं है, यह बोध, यह रसानुभूति विवृत नहीं हो सकी।

किसी सीमा तक राधा और कृष्ण की स्थापना में स्वात्मानंद का ही विज्ञापन, द्वैत दार्शनिकता के कारण, परोक्ष अनुभूति के रूप में होता रहा। श्रीकृष्ण में नर्त्तकभाव का भी समावेश था, मधुरता के साथ। प्रेम के पुट में तल्लीनता ही द्वैतदर्शन की सीमा बनी। भारत के कृष्ण में अट्ठारह अक्षौहिणी के विनाश-दृश्य के सूत्रधार होने की भी क्षमता थी और नर्त्तक होने की रसात्मकता भी थी।

वैदिक इंद्र की पूजा बंद करके इंद्र के आत्मवाद को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न श्रीकृष्ण ने किया था, किंतु कृष्ण के आत्मवाद पर बुद्धिवाद का इतना रंग चढ़ाया गया कि आत्मवाद तो गौण हो गया, पूजा होने लगी श्रीकृष्ण की। फिर विवेकवाद की साहित्यिक धारा को उनमें पूर्ण आलंबन मिला। उन्हीं के आधार पर अपनी सारी भावनाओं को कुछ-कुछ रहस्यात्मक रूप से व्यक्त करने का अवसर मिला। मीरा और सूर देव और नंददास इसी विभूति से साहित्य को पूर्ण बनाते रहे। रस की प्रचुरता यद्यपि थी, क्योंकि भारतीय रीति ग्रंथों ने उन्हें श्रव्य में भी बहुत पहले ही प्रयुक्त कर लिया था, फिर भी नाट्य रसों का साधारणीकरण उनमें नहीं रहा।

एक बात इस श्रव्य-काव्य के संबन्ध में और भी कही जा सकती है। अवध में कबीर के समन्वयकारक, हिंदू-मुसलमानों के सुधारक निर्गुण राम और तुलसीदास के पौराणिक राम के धार्मिक बुद्धिवाद का विरोध, भाषा और प्रांत दोनों साधनों के साथ, ब्रजभाषा में हुआ। कृष्ण में प्रेम विरह और संघर्ष वाले सिद्धांत का प्रचार करके भागवत के अनुयायी श्री वल्लभस्वामी और चैतन्य ने उत्तरीय भारत में उसी कारण अधिक सफलता प्राप्त की। उनकी धार्मिकता में मानवीय वासनाओं का उल्लेख उपास्य के आधार पर होने लगा था। फलतः कविता का वह प्रवाह व्यापक हो उठा। सुधारवादी शुद्ध धार्मिक ही बने रहे। रामायण का धर्मग्रंथ की तरह पाठ होने लगा, परन्तु साहित्य-दृष्टि से जन-साधारण ने कृष्ण चरित्र को ही प्रधानता दी।

समय-समय पर आवरण में पड़ी हुई मानवता अपना प्रदर्शन करती ही है। मनुष्य अपने सुख-दुःख का उल्लेख चाहता है। वर्तमान खड़ी बोली उसी आत्मानुभूति को, युग की आवश्यकता के अनुसार—वह राष्ट्रीयता की हो या वेदना की सीधे-सीधे कहने में लगी। कहना न होगा कि सीतल इत्यादि ने खड़ी बोली की नींव पहले से रख दी थी। सहचरी शरण—कहीं-कहीं कबीर और श्री हरिश्चंद ने भी इसको अपनाया था।

हिंदी के इस पाठ्य या श्रव्य-काव्य में ठीक वही अव्यवस्था है, जैसी हमारे सामाजिक जीवन में विगत कई सौ वर्षों में होती रही है। रसात्मकता नहीं, किंतु रसाभास ही होता रहा। यद्यपि भक्ति को भी इन्हीं लोगों ने मुख्य रस बना लिया था, किंतु उसमें व्याज से वासना की बात कहने के कारण वह दृढ़ प्रभाव जमाने में असमर्थ थी। क्षणिक भावावेश हो सकता था। जगत् और अंतरात्मा की अभिन्नता की विवृति उसमें नहीं मिलेगी। एक तरह से हिंदी-काव्यों का यह युग संदिग्ध और अनिश्चित-सा है। इसमें न तो पौराणिक काल की महत्ता है और न है काव्य-काल का सौंदर्य। चेतना राष्ट्रीय पतन के कारण अव्यवस्थित थी। धर्म की आड़ में नये-नये आदर्शों की सृष्टि, भय से त्राण पाने की दुराशा ने इस युग के

साहित्य में, अवध वाली धारा से मिथ्या आदर्शवाद और ब्रज की धारा से मिथ्या रहस्यावाद का सृजन किया।

मिथ्या आदर्शवाद का उदाहरण—

जानते न अधम उधारन तिहारो नाम,
और की न जानें पाप हम तो न करते !

मिथ्या रहस्यावाद—

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावत।

इसका प्रभाव इतना बढ़ा कि शुद्ध आदर्शवादी महाकवि तुलसीदास का रामायण काव्य न होकर धर्म-ग्रंथ बन गया। सच्चे रहस्यावादी पुरानी चाल की छोटी-छोटी मंडलियों में लावनी गाने और चग खड़काने लगे।

□□

यथार्थवाद और छायावाद

हिंदी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्वार-काल में श्री हरिश्चंद्र ने प्राचीन नाट्य-रसानुभूति का महत्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में 'चंद्रावली' में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रस-परम्परा स्पष्ट थी और साथ ही 'सत्य हरिश्चंद्र' में प्राचीन फल-योग की आनंदमयी पूर्णता थी, किंतु 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेम-योगिनी' हिंदी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी इसी श्रेणी का समझता हूं। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का

चित्रण भी हिंदी में उसी समय आरम्भ हुआ। 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धांत कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिंदी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किंतु श्री हरिश्चंद्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण-आर्य-संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आंदोलन करने वाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग से पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा। देवी शक्ति से तथा महत्व से हट-कर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण सस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी में प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेंट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेंदु जी को उनका विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिंदी और बंगला के महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और श्री हेमचंद्र ने हिंदी और बंगला में आदान-प्रदान किया। हेमचंद्र ने बहुत-सी हिंदी की प्राचीन कविताओं का अनुवाद किया और हरिश्चंद्र ने 'विद्या-सुंदर' आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक ओर सांप्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर—जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही संबद्ध होती थीं— मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे—यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किंतु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकदंभपूर्ण आडंबरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान् दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श

करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिनमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वंद्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तंभ में किया है, परन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं और, वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निंदनीयता भी—जो सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित रहती हैं—अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं। वास्तव में कर्म, जिनके सम्बन्ध में देश-काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वे संपूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूंढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है—स्त्री नारी है और पुरुष नर है—इनका परस्पर केवल यही संबंध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धांत बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है। और, यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब संबंधों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इन नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बंधनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बंधनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों

का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है—वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं—साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और, यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था, किंतु साहित्यकार न तो इतिहासकर्त्ता है। और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य, समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है; इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।

सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्त्व और लघुत्व दोनों सीमांतों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म-अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिंदी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य-साहित्य ही बना।

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना[1] के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परंपरा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन

---

1. बोध की बहिरंग-प्रत्यंतभूमि वेदना (Awareness) अपनी स्वभाव-निरप्रेक्षता में शून्यपदा है—आकाशवाची 'ख' मात्र है। 'सु' और 'दु' के उपसर्ग-योग उसके अनुकूल-वेदनीयत्व (सु+ख) एवं प्रतिकूल-वेदनीयत्व (दु+ख) के द्योतन करते हैं। किंतु व्यवहारतः—जो समाज की दशा और प्रतिक्रिया के योग-फल की व्यंजना है—शब्दों के वर्तमान अर्थबोध प्राचीनों से सर्वथा भिन्न हैं। सुतराम् सामाजिक दुखातिशयता-वश व्यवहार में आज वेदना से दुख का ही तात्पर्य रूढ़ हो उठा है। वस्तुतः वेदना के उभय बाहु सुखावेदना और दुखावेदना हैं। (सं०)

भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिंदी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यंतर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार—

> व्यतिषजति पदार्थानांतरः कोपि हेतुः।
> न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयंते॥

बाह्य उपाधि से हट कर आंतरहेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अधिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिंदी में पहले वे कम समझे जाते थे; किंतु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है—'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।'

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतंत्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

> मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवांतरा
> प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छिति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुंतक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

> प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
> शब्दाभिधेययोरंतः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कांति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य-भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। '(शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन 208)' कुंतक के मत में ऐसी भणिति 'शास्त्रादिप्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकी' होती है। यह रम्यच्छायांतरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबंध तक में होती है। कुंतक के शब्दों में यह 'उज्ज्वला छायातिशयरमणीयता (133) वक्रता की उद्भासिनी है।

> परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित्।
> प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ।। 34 ।।
> —वक्रोक्तिजीवित 2 उन्मेष।

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुंदर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—'वे आँखें कुछ कहती हैं।' अथवा—

> निद्रानिमीलितदृशो मदमंथराया
> नाप्यर्थवंति न च यानि निरर्थकानि।
> अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
> स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनंति ।।

किंतु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुंदरता से किया।

> यस्त्यलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु।
> वाक्ये संघटनायां च सप्रबंधेपि दीप्यते ।। ध्वन्यालोक 63-2

वह ध्वनि प्रबंध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है आनंद-वर्धन के शब्दों में—

> मुख्या महाकवि गिरामलंकृति भृतामपि।
> प्रतीयमानच्छायैषाभूषा लज्जेव योषितां ।।
> —ध्वन्यालोक 3-37

कवि की वाणी में यह प्रतीयामन छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं है, किंतु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ह्री है—घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है—

परां दुर्लभां छायां आत्मरूपतां यांति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किंतु आंतर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आंतर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था। 'निरहंकार मृगांक, पृथ्वी गतयौवना, संवेदनमिवाम्बरं', मेघ के लिए 'जनपदबधूलोचनैः पीयमानः' या कामदेव के कुसुम-शर के लिए 'विश्वसनीयमायुधं' ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आंतर सादृश्य को प्रकट करनेवाले हैं। और भी—'आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि, मधुनक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रजः' इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यंजनाएं बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिर-निःशब्दता का अनुभव किया था—

शुचिशीतलचंद्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः॥

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनंदवर्धन ने कहा है—तेऽलंकाराः परां छायां यांति ध्वन्यंगतां गताः (ध्वन्यालोक 2-28)

प्राचीन साहित्य में छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिंदी में जब इस तरह के प्रयोग आरंभ हुए, तो कुछ लोग चौंके सही, परंतु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्म-स्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यंत आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आंतर की ओर चल पड़ी थी।

जब 'वहति विकलं कायो न मुञ्चति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य

के साथ चिरबंधन में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आंतर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है—उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिंदी ने आरंभ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया। कुंतक के शब्दों में 'अतिक्रांत-प्रसिद्धव्यवहारसरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति से पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विश्रृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परंतु सिद्धांत में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किंतु प्रकृति से संबंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया—भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श कर के भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति—छाया कांतिमयी होती है।

□□

कवि निराला की कविता 'गीतिका'

(अभिमत)

निराला जी, हिन्दी-कविता की नवीन धारा के कवि हैं, और साथ ही भारती मन्दिर के गायक भी हैं। उनमें केवल पिक की पंचम पुकार ही नहीं, कनेरी की-सी एक ही मीठी तान नहीं, अपितु उनकी गीतिका में सब स्वरों का समारोह है।

उनकी स्वर-साधना हृदय के ग्रामों को झंकृत कर सकती है कि नहीं, यह तो कवि के स्वरों के साथ तन्मय होने पर ही जाना जा सकता है।

'गीतिका' हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखायें पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यंजना मूर्तिमती है। आलंबन के प्रतीक, उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति, युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदंड नहीं है। निराला जी ने नृम्ण और ओज, सौंदर्य्य-भावना और कोमल-कल्पना का जो माधुर्य्यमय संकलन किया है, वह उनकी कविता में शक्ति-साधना का उज्ज्वल परिचायक है।

'अमिय-गरल शशि सीकर रविकर राम-विराग भरा प्याला। पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है···' यह मतवाला के मुख-पृष्ठ पर छपा हुआ हिन्दी में उनका जो सबसे पहला छंद मैंने देखा है, वह आज इन कई बरसों के बाद भी कवि के जीवन में, रचना में, खुली आँखों और निर्विकार हृदय से देखने वाले को, स्पष्ट और विकसित दीख पड़ेगा।

□□

प्राचीन आर्य्यावर्त्त–प्रथम सम्राट् इन्द्र ओर दाशराज्ञ युद्ध

विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते।
अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम्॥
ऋक्—2-21-1

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य॥
ऋक्—4-21-10

पाश्चात्य विद्वानों ने संसार की सब से महान् और प्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' और उसके परिवार के शास्त्रीय ग्रन्थों का अनुशीलन करके हमारी ऐतिहासिक स्थिति को बतलाने की चेष्टा की है, और उनका यह स्तुत्य प्रयत्न बहुत दिनों से हो रहा है। किन्तु इस ऐतिहासिक खोज से जहाँ हमारे भारतीय इतिहास की

सामग्री बनने में बहुत-सी सहायता मिली है उसी के साथ अपूर्ण अनुसंधानों के कारण और किसी अंश में सेमेटिक प्राचीन धर्म पुस्तक (Old Testament) के ऐतिहासिक विवरणों को मानदण्ड मान लेने से बहुत-सी भ्रांत कल्पनायें भी चल पड़ी हैं। बहुत दिनों तक पहले, ईसा के 2000 वर्ष पूर्व का समय ही सृष्टि के प्राग् ऐतिहासिक काल को भी अपनी परिधि में ले आता था। क्योंकि 2000 वर्ष पूर्व-जलप्रलय का होना माना जाता था और सृष्टि के आरम्भ से 2000 वर्ष के अनन्तर जल-प्रलय का समय निर्धारित था—इस प्रकार ईसा से 4000 वर्ष पहले सृष्टि का आरम्भ माना जाता था। बहुत संभव है कि इसका कारण वही अन्तर्निहित धार्मिक प्रेरणा रही हो जो उन शोधकों के हृदय में बद्धमूल थी। प्राय: इसी के वशवर्ती होकर बहुत से प्रकांड पंडितों ने भी, ऋग्वेद के समय-निर्धारण में संकीर्णता का परिचय दिया है। हर्ष का विषय है कि प्रत्नतत्त्व और भूगर्भ शास्त्र के नये-नये अन्वेषणों और आविष्कारों ने मानव जाति के प्राग्-ऐतिहासिक काल को और उसके साथ ही आर्य्य संस्कृति को भी अधिक पुरातन सिद्ध कर दिया है। फलत: उस काल की सीमा विस्तृत हो चली है।

F. G. C. Hearenshaw अपने संसार के इतिहास में लिखते हैं—"पिछले कई वर्षों से मिस्र की प्राचीनता में विश्वास बढ़ रहा था। उसके मितीवार इतिहास का क्रम तो प्राय: ईसा पूर्व 4004 वर्ष से चला; पर इसके भी हजारों बरस पहले से वहाँ के लोग सुसंगठित जीवन व्यतीत कर रहे थे। अब वर्तमान काल की खोजों और उपलब्धियों ने प्राचीनता का अधिकार वेबिलोनिया की सभ्यता को देने का निश्चित अभिमत दिया है। इसके अतिरिक्त वेबिलोनिया की सभ्यता के पूर्व उससे भी कुछ अधिक पुरानी सभ्यता इलाम की है।"[1]

सभ्यता का प्रश्न हल करने के लिए अवशिष्ट चिह्नों से काम लिया जाता

---

1. Egypt until the last few years has been generally regarded as having the best title to priority : its calender was fixed in or about 4004 B.C. and for a thousand years before that it had lived a more or less settled life. But the weight of modern evidence seems to be definitely estabishing a claim to a still earlier antiquty on behalf of the civilisation of Babylonia, while behind the Babylonian civilisation there seems to lie a still more primitive civilisation of Elam (p. 33. World History—F. G. C. Hearenshaw)

और यही उसकी प्राचीनता के मापक हैं। अभी कुछ दिनों पहले तक भारतवर्ष में खोदाई का काम पूर्णत: न होने के कारण ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले के कोई चिह्न न मिले थे और इस कारण आर्य्य संस्कृति की प्राचीनता में सन्देह किया जाता था। केवल ऋग्वेद के मंत्रों से सामाजिक और साहित्यिक विकास के अनुमान पर अधिक से अधिक 2000 वर्ष ईसा पूर्व की आर्य्य सभ्यता में पाश्चात्य अपना विश्वास प्रकट कर रहे थे। हरप्पा और मोहुंजोदरो की हाल की खोदाई ने—कुछ पत्थर के टुकड़ों को ही प्रामाणिक महत्ता देने वालों की—आँखें खोल दी हैं, जिसकी प्राचीनता को डॉ॰ मार्शल जैसे विद्वानों ने भी पैंतीस सौ ईसवी पूर्व की माना है। प्राय: इतना ही समय ब्रीस्टेड (Breasted) आदि विद्वान् मिस्र के पिरामिडों को देते हैं। सर मार्शल लिखते हैं—"जैसे-जैसे खोदाई का कार्य अधिक विस्तृत हो गया, यह प्रमाणित होने लगा कि भारत से मेसोपोटामियाँ का संबंध केवल संस्कृति की समानता के आधार पर नहीं था, किन्तु दोनों देशों में गाढ़तम व्यापारिक और अन्य संपर्कों के कारण था। इसी लिए 'इंडो-सुमेरियन सभ्यता' शब्द को हटा कर उसके स्थान पर 'सिन्धु की सभ्यता' रखा गया।"[1]

इस 'इंडो-सुमेरियन' सभ्यता का विश्वास करने का कारण, प्रोफेसर इलियट स्मिथ जैसे विद्वानों की सम्मति है। वे लिखते हैं—"सुमेरिया की मूल जाति की पूर्वीय और पश्चिमीय शाखाये ही क्रमश: भारत और ब्रिटिश द्वीपपुँज एवं आयरलैंड में पहुँचीं।"[2] उसी ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—"आधुनिक खोजों ने यह सिद्ध कर देने की चेष्टा की है कि बेबिलोनिया के सुमेरियन, प्राग् ऐतिहासिक काल के मिस्र-निवासी, उन्नत प्रस्तर युग के यूरोपीय तथा दक्षिण फारस

---

1. With the progress of exploration, however, it has become evident that the connection with Mesopotamia was due, not to actual identity of culture but to intimate commercial or other intercourse between the two countries. For this reason the term "Indo-Sumerian" has now been discarded and "Indus" adopted in its place (B. H. U. Magazine, 1928).
2. This distinguished ethnologist is frankly of opinion that the Sumerians were the congeners of the pre-dynastic Egyptians of the mediterranean (or Brown race) the eastern branch of which reaches to India and the western to British Isles and Ireland (P. 7, Myths of Babylonia).

और भारत के आर्य्य एक ही जाति के मनुष्य थे ।"[1]

अभी तक सुमेरिया की सभ्यता को सबसे प्राचीन मानने के कारण 'इंडो-सुमेरियन' नाम देना निर्बाध समझा जाता था, किन्तु अत्यन्त नयी खोजों ने ऐतिहासिकों को सिन्धु की एक स्वतन्त्र सभ्यता मान लेने के लिए विवश किया। इस प्रकार इन शोधो के आधार पर ही अब यह कहा जा सकता है कि अवशिष्ट चिह्नों के द्वारा भी भारत अपनी प्राचीनता प्रमाणित कर सकता है। यद्यपि आर्यों की आत्मवाद-प्रणाली अत्यन्त प्राचीन काल से ही भौतिक सत्ता के प्रदर्शनों में उतनी श्रद्धा न रखती थी, ऐसा मेरा अनुमान है, ऋषियों की वाणी में माननीय महत्त्व को अमर कर रखने की शक्ति पर ही उनका विश्वास था, फिर भी कौन कह सकता है कि कितने स्मृति-चिह्न अभी दबे पड़े हैं। कितने ही बर्बर आक्रमणों से आर्य्य साहित्य का जितना विनाश हुआ है, उसका अनुमान करना भी कठिन है। इसलिए ऐतिहासिक विवरणों का अभाव होना कुछ असंभव नहीं। यद्यपि 'परजीटर' (Pargeter) आदि के पुराणों की प्रामाणिकता में अधिक विश्वास प्रकट किया है तथापि सभ्यता के उद्गम को, जहाँ तक हो सके, पश्चिम में स्थापित करने की प्रेरणा ने शोषकों को उनसे सहमत नहीं होने दिया। यद्यपि भौतिक अवशिष्ट चिह्नों पर ही इन शोधक विद्वानों का अधिक विश्वास है, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तथापि, वे अनुसंधान में पुस्तक, अभिलेख और विवरणों के सम्बन्ध में अपनी मूल मनोवृत्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में होने वाले मिस्र देशवासी धर्मयाजक मनेथो (Manetho) ने अपने देश के इतिहास में जिन राजाओं के तीस वंशों का वर्णन किया है, उन्हें प्रामाणिक मान लेने के लिए प्रोफेसर फ्लिण्डर्स पिट्री (Flinders Petre) ने अधिक आग्रह किया है। बाबुल का धर्म याजक बेरोसस (Berosus) ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में हुआ, जिसने ग्रीक भाषा में अपने देश का कुछ वृत्तांत लिखा था। अब उसके आधार पर उक्त देश का इतिहास बनाने और धार्मिक सामंजस्य स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। उसी तरह, ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी के ग्रीक राजपूत मेगास्थनीज़ ने भारतीय इतिहास का समय तत्कालीन पुराणों के

1. The result of modern research tend to establish a remote racial connection between the Sumerians of Babylonia, the Prehistoric Egyptians and the Neolithic (late stoneage) inhabitants of Euroope as well as the Southern Persians and the "Aryans" of India. P. XXX—Myths of Babylomia).

आदिम रूप से निर्धारित किया है और उस पूर्व काल में भी भारतीयों के प्राचीन इतिहास का विवरण महीनों और वर्षों के साथ राजाओं की संख्या के उल्लेख से पूर्ण है। मेगास्थनीज़ ने 6451 वर्ष और 3 महीने चन्द्रगुप्त से पहले 154 राजाओं का राज्य करना लिखा है, किन्तु भारतीय इतिहास लिखने वाले पाश्चात्य विद्वान् इस ओर ध्यान भी नहीं देना चाहते।

मिस्र, चैल्डिया, बेबिलोनिया, इलाम आदि देश अपने धार्मिक अनुष्ठान और जातियों के सहित कुछ मिट्टी और पत्थर के चिह्न छोड़कर मिट गये, पर आर्यावर्त्त या सिन्धु की गोद में अभी आर्य्य जाति अपने धर्मानुष्ठानों के साथ जीवित है।

तिलक ने ज्योतिष के आधार पर अपने अन्वेषणों से यह प्रमाणित किया है कि बहुत से विवरण वेदमंत्र छः हजार वर्ष ईसा पूर्व से पीछे के नहीं हैं। मेगास्थनीज़ के भारतीय इतिहास के विवरण से अविरुद्ध होने के कारण भी हमारी सभ्यता उक्त काल से और पहले की मानी जा सकती है।

इसलिए बाइबिल-वर्णित जल-प्रलय वाले नूह की संतान—हेम, सेम या याफ्त के वंशधरों का उल्लेख करके संसार के प्राग् ऐतिहासिक काल के आर्यों का इतिहास बनाया जाना अधिक भ्रमात्मक ही सिद्ध होगा। क्योंकि, ऋग्वेद की ऋचाओं में जल-प्रलय का वर्णन नहीं मिलता, जैसा पीछे के अथर्व के मंत्रों में उसका उल्लेख है। मेरा विश्वास है कि सुमेरिया के जलप्लावन में 'पीर निपीश्तीम्' का जो वर्णन है, वह एक कल्पना है, जो जलप्लावन से बच जाने के बाद वहाँ के निवासियों ने गढ़ी थी। जलपुत्र या जलशक्ति का नाम ऋग्वेद में अपान्नपात् है। अवेस्ता में भी अपान्नपात् जल के देवता माने गये हैं। द्वितीय मंडल का पैंतीसवां सूक्त उन्हीं की प्रार्थना में है। वहाँ वे जलपुत्र हैं। सुमेरिया वालों ने जल-प्रलय से बचने पर इन्हीं आर्य देवता को त्राणकर्त्ता का रूप दिया था। उनके पीर निपीश्तीम् (Pir Nepisphtim) भी जल के बीच में द्वीप के रहनेवाले देवता थे। जैसा आगे चलकर दिखलाया गया है, ये सुमेरियावासी भी आदिम आर्य्य संतान ही थे; उससे इनका ऋग्वैदिक देवता से परिचित होना असंभव नहीं। किन्तु अपनी रक्षा का संबंध, जो उन्होंने उक्त देवता से जोड़ दिया है, उससे प्रतीत होता है कि वह घटना ऋग्वेद से पीछे की है। अन्यथा, ऋग्वेद में भी जल-प्रलय का प्रसंग आता।

अभी तक यही विश्वास था कि ऋग्वेद से पीछे के शतपथ ब्राह्मण में जिस जलप्रलय का वर्णन मिलता है वह सेमेटिक जाति के बेबिलोनिया वालों से उधार

लिया हुआ है, किन्तु मैक्डानल के विचार से यह एक अनावश्यक कल्पना है।[1] अब मैक्डानल के विचार की पुष्टि भूगर्भ शास्त्र के विद्वानों द्वारा भी होने लगी है। हिमालय की खोज करके लौटे हुए Dr. E. Trinkler का अभिमत 18 अक्टूबर सन् 28 के 'पायनियर' में प्रकाशित हुआ है। उनका विचार है कि बालू में दबे हुए प्राचीन नगर के चिह्न इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हिमालय और उसके प्रांत में भी जल-प्रलय वा ओघ का होना निश्चित-सा है।

'सिन्धु की सभ्यता' प्राचीन सुमेरियन सभ्यता से संस्कृति की विशेषता के कारण जब विभिन्न मान ली गयी है, तब वह मेना (Mena) के मिस्र विजय[2] ('ब्रोस्टेड' Breasted के मतानुसार) 3400 बी०सी० से पूर्व की ही प्रमाणित होगी। मिस्र की प्राथमिक सभ्यता से पहले ही सिन्धु की घाटी में नागरिक सभ्यता का विकास हो चुका था, जिसके लिए और भी हजारों वर्ष पहले का समय चाहिए। वह सिन्धु की सभ्यता ऋग्वेद के आर्यों की सप्तसिन्धु वाली सभ्यता से भिन्न नहीं प्रमाणित होगी।

जब हम देखते हैं कि ग्रीकों के हरक्युलिस की जन्मभूमि मेगास्थनीज के कथनानुसार आर्य्यावर्त्त है, टाह (Ptah)[3] ने पूर्व से ही जाकर मिस्र में सभ्यता फैलायी, और सुमेरिया के आदि-निवासी और भारत के आर्य्य एक ही वंश के हैं तब हम उस प्राचीन ऋषि के इस कथन को क्यों न सत्य मान लें—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अब सबसे पहले हमें उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। आर्य्यों के अग्रजन्मा देव थे; ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य्य-शास्त्रों की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता आर्य्य साहित्य में 'मेरु' नाम से लगता है।

कहा जाता है कि मेरु पर देवताओं का स्वर्ग है। पांडवों के महाप्रस्थान की

---

1. It is generally regarded as borrowed from a Semitic source, but this seems to be an unnecessary hypothesis.
   (P. 139, Vedic Mythology)
2. इस निबन्ध की अन्तिम पाद टिप्पणी द्रष्टव्य (सं०)
3. संभव है त्वष्टाः से त्वष् के लोप से त्वष्टाः टाह (Ptah) हो गया हो। (सं०)

मेरु

यात्रा में उत्तर कुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है। आदिपर्व (122 अध्याय) के अनुसार पांडव पहिले किंपुरुष-वर्ष पहुँचे, फिर उत्तर-हरिवर्ष गये, और तब उत्तर-कुरु के द्वार पर पहुँचे। इस उत्तर-कुरु को विजय करने से वे रोके गये और उनसे कहा गया कि यह देवभूमि है। यहीं से कुछ उपहार लेकर वे लौट आये।

'वृहत्संहिता' में उत्तर प्रदेश के प्रसंग में कहा गया है—

उत्तरतः कैलासो हिमवान् वसुमान् गिरिर्धनुष्मांश्च।
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च ॥14-24॥

मेरु और उसके पास ही उत्तर-कुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रन्थों में मेरु के समीप ही उत्तर-कुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों देश और पर्वत—पास-पास के हैं। यह उत्तर-कुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में पवित्र और पूर्वजों का देश माना जाता है। भीष्म-पर्व (महाभारत) में इसका विशद वर्णन है। यहाँ के लोग शुक्ल (गौरवर्ण), अभिजात, संपन्न, नीरोग और दीर्घ-जीवी होते हैं। इस प्रदेश का अनुसंधान लग जाने से मेरु का पता भी चल सकता है। सामश्रमी महोदय लिखते हैं—"अस्ति चान्यः कुरुवर्षः स नूनं मेरुसम्बद्धः"[1] किन्तु वे उत्तरकुरु को तिब्बत मानते हैं। परन्तु तिब्बत की प्राचीन सीमा आजकल की शासन-सीमा से निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। वर्तमान तिब्बत काश्मीर के द्वारा उसी भूमि से संलग्न है जिसे हम आगे चलकर बतावेंगे।

युधिष्ठिर के राजसूय में तंगण देश के निवासियों ने कुछ उपहार दिये थे। ये लोग मेरु और मंदराचल के बीच बहने वाली शैलोदा-नदी के तट के रहने वाले थे (सभापर्व 52 अध्याय)। इधर 'वृहत्संहिता' में तंगण वर्तमान कुल्लू के पास ही निर्दिष्ट किया गया है "अभिसारदरदतंगणकुलूतसैरिंध्रवनराष्ट्राः" (14-29)

ग्रीकों ने अभिसार देश (Abissorion) सिन्धु और झेलम के बीच में माना है और काकेशस (हिन्दूकुश) पर्वत के पाददेश में बसने वाली जातियों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज़ ने शैलोदा (Soleadae) जाति का भी वर्णन किया है। यह शैलोदा नदी-तट की जाति है, जिसका वर्णन सभापर्व (52 अध्याय) में है।

वेंदिदाद फरगर्द 1 में पारसियों की पवित्र भूमि का वर्णन है। अहुरमज्द

---

1. अस्ति चान्यः कुरुवर्षः स नूनं मेरु सन्निहितः—यह पाठ ऐतरेयालोचन के द्वितीय संस्करण [कलकत्ता 1906] के पृष्ठ 42 पर प्राप्त है। (सं०)

कहते हैं—तीसरी पवित्र भूमि जो मैंने बनायी वह दृढ़ और पवित्र मौरु[1] है। चौथी अच्छी भूमि उन्नत पताकावली बखधी (बाल्हीक) है।[2] पाँचवीं अच्छी भूमि निशय है, जो मौरु और बखधी (वाल्हीक) के बीच में है।[3]

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरु और वाल्हीक (आधुनिक बलख) के बीच 'निशय' प्रदेश था। ऐतरेय ब्राह्मण में हिमालय के उत्तर के दो विराज् प्रदेशों का साथ ही वर्णन किया गया है, वे हैं—उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र। (8-3-14) उत्तर शब्द का प्रयोग जो इन देशों के नाम के साथ आता है उसका तात्पर्य मैं यही समझता हूँ कि ये हिमालय के उत्तर में हैं, और इसका कारण है—मद्र, कुरु और कोशल का हिमालय के दक्षिण में भी अस्तित्व! स्यालकोट (शाकल) को मद्र की राजधानी और अयोध्या को कोशल की राजधानी कहते है। ऐसे ही प्रदेशों का संगठन सिन्धु के उस पार भी था। फारस के एक बड़े अंश को प्राचीन काल में 'मीडिया' (Media) कहते थे। यह संभवत: उत्तर-मद्र था, और अफगानिस्तान तथा फारस का कुछ अंश आरकोशिया (Archotea) कहलाता था। यह उत्तर-कोशल था। इसी उत्तर-कोशल में (हरिरूद—Harirud) सरयू के तट पर वह अयोध्या रही होगी जिसका संकेत अथर्व के 10-2-31 मंत्र में—"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या"—से किया गया है। अवेस्ता में कहा है कि छठी पवित्र भूमि घर छोड़ाने वाली हरयू (सरयू) है। इसके नीचे टिप्पणी में हरयू का प्राचीन पारसीक रूप हरैवा तथा फिरदौसी के अनुसार हरिरूद

---

1. The third of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created was the strong holy Mouru.

   (Darmesteter, Vendidad, p. 5.)

2. The fourth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the berutiful Bakhdhi with high lifted banners.

   (The Avestha Vendidad, p. 5.)

3. The fifth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was Nisaya that lies between Mouru and Bakhdhi.

   (Vendidad, p. 5.)

माना गया है।[1] हिन्दूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी काश्मीर तक के प्रदेश को प्राचीन उत्तर-कुरु कहा जा सकता है। क्योंकि जिस निशय प्रदेश का वर्णन पारसियों ने किया है उसी का ठीक-ठीक प्रसंग ग्रीकों के ग्रंथ में भी पाया जाता है।

सिकंदर जब हिन्दूकुश (Indian Cacaussus) पर्वत पर पहुँचा तो ग्रीक लोगों ने उसे काकेशस का विजेता माना। वाल्हीक के पास ही भरत के ननिहाल केकय का वर्णन वाल्मीकि में भी आया है। वह गिरिव्रज हिन्दूकुश के खबक या कोहदामन (कोशन) के समीप रहा होगा। कोहदामन का उल्लेख मुगलों की चढ़ाई में भी मिलता है। भरत की यात्रा में इसी को 'सुदामानं च पर्वतं' कहा है। संभवत: केकय देश के समीप होने से सिकन्दर के साथियों ने उसे काकेशस कहा है। हिन्दूकुश से उत्तर कर सिकंदर ने वर्तमान चारिकार के समीप 'अलेग्जेंड्रिया' नाम का नगर बसाया। पर्दिकस को सिन्धु की ओर जाने के लिए कहकर स्वयं कुभा की ओर चला और चित्राल की घाटी में पहुँचा, क्रटेरस को कुनार की घाटी सर करने की आज्ञा दी और स्वयं बाजौर पहुँचकर मसागा (Messaga) का ध्वंस किया, जो वर्तमान मालकंद गिरिपथ के समीप है। फिर उसने निशा प्रदेश और मेरुविजय करने की इच्छा प्रकट की। वर्तमान स्वात और पंजकोड़ा के ऊपर के इस प्रदेश को Hyperborrians (उत्तर-कुरु) के नाम से ग्रीकों ने निर्दिष्ट किया है। 'ऐतरेयालोचन' में आर्य सत्यव्रत सामश्रमी इसी सुवास्तु (Suvat) को आर्य्यों की आदिभूमि मानते हैं। 'आर्य्यावासस्तदाप्ययं सुवास्तु-प्रदेश एवासीत्'—(ऐतरेयालोचन, 24)। इसकी प्रधान नगरी उक्त काल में भी पारसीकों द्वारा कथित निशय (Nasiaya) नाम से विख्यात थी और इसके समीप के शैल को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इस मेरोस (Meros) या मेरु को अब कोहमोर कहते हैं। ग्रीकों ने इस विराट् शैल को त्रिश्रृंग कहा है और ऋग्वेद ने भी इसे त्रिककुद माना है। विष्णुपुराण में इसी त्रिककुद को त्रिकूट नाम से अभिहित किया है मेरु का वर्णन करते हुए विष्णुपुराण में लिखा है—

---

1. The Tenth of the good lands and Countries with I, Ahura Mazda, created, was the beautiful Harahvaiti (foot note) Harauvate; Apaxwaia; corrupted into Arrokhag (name of the country in the Arabic literature) and Arghand (in the modern name of the river Argh and-ab).

(Vendidad, p. 7.)

"त्रिकूट: शिशिरश्चैव पतंगो रुचकस्तथा।
निषधाद्या दक्षिणतस्तस्य केसरपर्वता: ॥"

इसी त्रिककुद का उल्लेख ऋग्वेद में 'यद्ध प्रसर्गे त्रिककुम्निवर्तदप' के रूप में आया है (1-121-4)।

तिलक के कथनानुसार मेरु प्रदेश उत्तरीय ध्रुव में है। परन्तु इस सिद्धांत को आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी और अविनाशचंद्र दास नहीं मानते। क्योंकि पारसी लोगों के ही कथनानुसार अवेस्ता के आर्य्यानावायजो (आर्य्य-निवास) में हिम-प्रलय होने पर नायक यम आर्य्यों को लेकर वार प्रदेश की ओर गये। यह वार प्रदेश उत्तरीय ध्रुव के समीप की साइबीरिया मानी जा सकती है; क्योंकि वहीं के लिए अवेस्ता में लिखा है—"अहुरमज्द ने उत्तर दिया, वहाँ प्राकृत और अप्राकृत प्रकाश है। कभी-कभी चंद्र, सूर्य और नक्षत्रों के दर्शन नहीं होते, लम्बी उषा में वर्ष भर का एक दिन होता है।[1] और इधर ऐतरेय में मिलता है कि कश्यप नाम के आदित्य 'महामेरु' नामक पर्वत पर सदा रहकर उसे प्रकाशित करते हैं। इसलिए मेरु प्रदेश वह नहीं हो सकता, जहाँ छह महीने का दिन और छह महीने की रात होती है। 'यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिव:। लोका यत्र ज्योतिष्मन्त: ॥' (ऋग्वेद 9-113-9) में उक्त प्रदेश को सदा ज्योतिष्मान् बताया है। छह महीने का दिन और छह महीने की रात वाले 'वार' प्रदेश की गणना वह नहीं कर सकता जो उसके पहले आर्य्य-निवास वा मेरु प्रदेश के चौबीस घंटे वाले दिन-रात के देशों में नहीं रह चुका है।

संसार का इतिहास लिखने वाले (Hearenshaw) का मत है कि अब तक के प्रमाणों से यही कहा जा सकता है कि मध्य एशिया में आदिम मनुष्यों की उत्पत्ति हुई।[2]

तुलनात्मक शब्दशास्त्र के जन्मदाता एडिलंग (Adelung), जिनका शरीरांत 1806 में हुआ, काश्मीर को मानव-जाति का पालना बताते थे और

---

1. There are uncretaed light and created lights. The onething missed threre is the sight of the stars, the moon, and the sun and a year seems only as a day (p. p. 19 and 20, Vendidad).
2. Regions of central Asia, and it was there, so far as at present we can tell, that, from among the anthropoids, Primitive Man emerged (p. 12).

उसी को स्वर्ग समझते थे।[1]

जिस सोम का व्यवहार प्राचीन भारत में होता था, वह काश्मीर के उच्च शिविरों पर उत्पन्न होता था और इन हरी-भरी गहरी घाटियों तथा उच्च शिखरों की भूमि में आर्य्य लोग ऋग्वेद के मंत्रों के संकलन-काल से भी पहले रहते थे।[2]

इसलिए देवों का स्वर्ग तथा पारसीकों का प्रथम आर्य-निवास (Ariyana-Vaijo) अफगानिस्तान, काश्मीर तथा बलख के बीच की रमणीय भूमि थी। इसी की समीपवर्ती शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु के परिवार रूप से आर्य्य-साहित्य में अत्यन्त पवित्र मानी गयी है। लिंग पुराण में लिखा है—

> मानसोपरि माहेंद्री प्राच्यां मेरोः स्थिता पुरी।
> दक्षिणे भानुपुत्रस्य वरुणस्य तु वारुणे॥
> सौम्ये सोमस्य विपुला तासु दिग्देवताः स्थिताः।
> अमरावती संयमिनी सुषा चैव विभा क्रमात्॥
> दक्षिणां प्रक्रमेद् भानु क्षिप्तेषुरिव धावति।

मानसरोवर के ऊपर मेरु के पूर्व महेंद्र की नगरी अमरावती, मेरु के दक्षिण यम की नगरी संयमिनी, के पश्चिम मे वरुण की नगरी सुषा (Sussa ?) और मेरु के उत्तर सोम की नगरी विभा है। मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य क्रम से इन नगरियों के ऊपर से जाते हैं। विष्णु पुराण (अध्याय 9) में भी इसी तरह का वर्णन है। छठे श्लोक की टीका में—"सूर्यः प्रत्यहं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वन्नपि" इत्यादि से मेरु की प्रदक्षिणा का स्पष्ट उल्लेख है, सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने का यही पौराणिक कारण बतलाया गया है।

---

1. Adelung, the father of comparative philology who died in 1806, placed the cradle of mankind in the valley of the Kashmere which he identified with paradise (The origin of Aryans).
2. The Som used in India certainly grew on mountains probably in the Himalyan highlands of Kashmere. It is certain that Aryan tribes dwelt in this land of tall summits of deep valleys in very early times, probably earlier than that when Rig hymns were ordered or collected—Ragozin 170 Vedic India.

श्री शंकराचार्य ने—"स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेतार्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यम् स्वराज्यं पर्येता।" (छान्दोग्य 3-10-4) के भाष्य में इसका यथाकथंचित् समाधान करते हुए लिखा है—"मानसोत्तर मूर्धनि मेरोः प्रदक्षिणावृत्तितुल्यत्वात्।" फिर आगे चलकर लिखते हैं—"सर्वेषां च मेरुत्तरतो भवति।" मानसरोवर के उत्तर में मेरु की स्थिति मानकर और सूर्य को उसकी प्रदक्षिणा करते हुए समझकर भी मेरु को सबसे उत्तर मानने की कल्पना आचार्य को भूगोल-भ्रमण संबंधी नये आविष्कारों के कारण हुई होगी। किन्तु जब सब से उत्तर में मेरु है तो फिर ऊपर के प्राचीन पौराणिकों के विचारानुसार उक्त मेरु के भी सौम्य अर्थात् उत्तर में सोम की नगरी विभा कहाँ होगी? किन्तु आचार्य ने स्वयं इस सिद्धांत में विरोध देखा और इसी के परिहार के लिए उन्होंने स्पष्ट चेष्टा भी की—"अत्रोक्तः परिहार आचार्यैः।" किंतु इस उपनिषद्, पुराण और ज्योतिष संबंधी विरोध का स्पष्ट समन्वय नहीं किया जा सका।

ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी का अपने अक्षों पर भ्रमण सिद्ध करने वाले नवीन सिद्धांत के साथ सूर्य की मेरु प्रदक्षिणा वाले प्राचीन विचार का सामंजस्य स्थिर करने के लिए सुमेरु और कुमेरु की कल्पना पीछे से की गयी है। क्योंकि, पूर्व काल में ऐसा माना जाता था कि पृथ्वी अचला है और उसके मध्य में कनक-पर्वत मेरु का निर्देश करके चारों दिशाओं में इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्र की चार नगरियाँ मानते थे। सूर्य मेरु के चारों ओर दक्षिणावर्त्त घूमते हुए इन्हीं पर से होते हुए परिक्रमा करते हैं। इसी विचार से विष्णु-पुराण में लिखा है कि जम्बू दीप के बीचोंबीच मेरु पर्वत है—

जंबूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः।
तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनक पर्वतः॥
भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम्।
हरिवर्षं तथैवान्यं मेरोर्दक्षिणतो द्विज॥
रम्यकं चोत्तरे वर्षं तस्यैवानुहिरण्यकम्।
उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारते तथा॥

मेरु के समीप दक्षिण में प्रथम भारतवर्ष है, उसी के पास किंपुरुष है,। महाभारत के अनुसार किंपुरुषवर्ष यमुना के उद्गम के पास है। इसी प्रकार पश्चिम और उत्तर के वर्षों का भी वर्णन है। उत्तर कुरु आदि मेरु से संलग्न हैं।

अवगाढ़ा उभयतः समुद्रौ पूर्व-पश्चिमौ।
जंबूद्वीपे महाराजः षडिमे कुलपर्वताः ।।
हिमवान् हेमकूटश्च, निषधो, नील एव च।
मेरुश्च श्रृंगवांश्चैव सर्वे रत्नाकराः शुभाः ।।
देवः स्वां नगरीं नित्यं मानसोत्तरमूर्धनि।
मेरुं तु पश्यति विभुस्तत्स्थो मेरुगतां पुरीम् ।।
उदक्शृंगवतोर्धे तु याम्येन कुरुसंज्ञितम्।
वर्षं तु कथितं दिव्यं सर्वोपद्रववर्जितम् ।।

ऊपर के अवतरणों से प्रमाणित होता है कि मेरु और उत्तर कुरु का ठीक वैसा ही संबंध है जैसा कि ग्रीकों ने मेरु-विजय, निशा-प्रदेश और 'हाइपर बोरियन्स' (Hyperborrians) के प्रसंग में लिखा है। इसी मेरु के संबंध में असुरों और देवों के युद्ध का वर्णन है। ग्रीकों ने भी इसी प्रदेश को देखकर कहा था कि पिता दानवेश (Dainesus) ने एक बार स्वर्ग विजय किया था, अब दूसरी बार सिकन्दर ने किया। यह कोहमोर वैदिक त्रिककुद और पौराणिक त्रिकूट का एक श्रृंग है। त्रिकूट के ये तीनों उच्च श्रृंग पेशावर से ही दिखाई देते हैं। यहीं पर स्वर्ग-सुख का आनन्द लेने के लिए सिकन्दर ने दस दिन बड़ा भारी महोत्सव मनाया था। उक्त प्रदेश की निसर्ग-रमणीयता का उल्लेख करके ग्रीकों ने बड़े उल्लास से कहा था कि सचमुच यह पृथ्वी का स्वर्ग है।

इस मेरु और स्वर्ग के संबंध में अनेक ग्रंथकारों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज ने लिखा है कि निशय-देश और मेरु भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत माने जाते हैं और भारत की यह सीमा सिकन्दर के आक्रमण के समय भी मानी जाती थी। यह तो थी मूलभूमि; पर इसके पूर्ण विस्तृत रूप के लिए पिछले काल में और भी दो नाम मिलते हैं—आर्यावर्त्त और भारत। यद्यपि इसके संबंध में पुराणों में कितने ही विवरण दिये गये हैं, किंतु अधिक संगत यही मालूम होता है कि वैदिक भरत-जाति की आवास-भूमि होने के कारण ही इसे भारतभूमि कहने लगे थे। समयों का इतना विशेष अन्तर है कि इस नाम के साथ काल का निर्देश नहीं किया जा सकता। भृगुप्रोक्त मनुस्मृति में उस काल की आर्य्यावर्त्त की सीमा वर्तमान भारत से संकुचित ही दिखायी देती है। हिमालय और विंध्याचल के बीच की ही भूमि को आर्यावर्त्त मानते थे। संभवतः दक्षिण के प्रायद्वीप से भारत का उस काल से संबंध नहीं था, और उधर निषध पर्वतमाला हिमालय का ही परिवार मानी जाती थी। यहाँ हिमालय साधारण नाम है। स्वर्ग और मेरु का निर्देश करने के अनन्तर हमें यह भी देखना पड़ेगा कि आर्य्यावर्त्त का वैदिक विस्तार कितना था। जिन भौगोलिक नदियों और पर्वतों का वर्णन वैदिक

साहित्य में मिलता है उनसे अधिकृत भूमि को वैदिक काल का आर्य्यावर्त्त मान लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

अविनाशचंद्रदास ने वैदिक काल के इस देश को 'सप्तसिंधु' नाम से अभिहित किया है। अधिक ध्यान देने से तो यह मालूम पड़ता है कि उक्त मेरु प्रदेश और तत्संलग्न सप्तसिंधु में आर्य्यों की घनी बस्ती थी। किन्तु, उतनी ही सीमा में आर्य्या-विस्तार को संकुचित रखने के लिए वैदिक काल के अन्य भौगोलिक प्रमाण वारण करते हैं। दास ने अपने 'ऋग्वेदिक इंडिया' में बड़ी विद्वत्ता से भूगर्भ आदि शास्त्र के आधार पर सिद्ध किया है कि प्राचीन सप्तसिंधु चारों ओर समुद्रों से घिरा था। उन्होंने उसी प्रदेश को आर्या-भूमि माना है···जैसा कि आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने पांडित्यपूर्ण 'ऐतरेयालोचन' में निर्देश किया था। उक्त दोनों महादेवों ने सिंधु की सहायक नदियों को ही ऋग्वेद के मंत्र "प्रसप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमु: प्र सृत्व-रीणामति सिधु-रोजसा" (10-75-1) तथा "त्रि: सप्त सस्रा नद्यो"—(10-64-8) मंत्रों में वर्णित नदियाँ मान लिया है। किंतु मेरा अनुमान है कि ये त्रधा—तीन सप्तक मंत्रार्थ के अनुसार ही अलग-अलग तीन स्थानों में होने चाहिएं। और, ये तीनों सप्तक—अपनी सहायक नदियों के साथ—गंगा, सिंधु और सर-स्वती के हैं।

वैदिक आर्य्यावर्त्त

ऋग्वेद के "अनु प्रत्नस्यौकसौ हुवे"—(1-30-9) इत्यादि में प्रत्न-ओक= प्राचीन वास-भूमि का जो अर्थ लगाया जाता है; और जिससे यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि इन लोगों की आदि-भूमि कहीं दूसरी रही, ठीक नहीं। सामश्रमीजी ने "पुराणमोक: सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जह्वाव्याम्" (3-58-6) को उद्धृत करके यह दिखलाया है कि समय-समय पर व्यक्तिविशेषों की वास-भूमि का इसमें उल्लेख है, न कि आर्य्यों के सामूहिक आवास का। पुराण-ओक गंगा तट पर भी ऋग्वेद के मंत्र से प्रमाणित है। यह गंगा का सप्तक यमुना, सदानीरा आदि सहायक नदियों से बनता था। कीकट आदि तक की नदियाँ इसमें गिनी जा सकती हैं। इस सप्तक की पूर्व सीमा सदानीरा थी। सिंधु की सात नदियों का सप्तक प्रसिद्ध है। तीसरा सप्तक सरस्वती का होगा—ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि, ऋग्वेद के छठे मंडल का 61वां सूक्त सरस्वती की महिमा का गान करता है। उसमें "उत न: प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा" (10) कहकर सरस्वती सात बहनों वाली मानी गयी है। सिंधु के सप्तक वाली सरस्वती से ही काम नहीं चल सकता। क्योंकि आगे चलकर उसी सूक्त में "प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा" (13) इस उक्ति से और सबों से यह अपस्तमा प्रभूत जल वाली मानी गयी है। उधर 'प्र सप्तसप्त' वाले मंत्र में—

'अति सिन्धुरोजसा' है, इसलिए इस सरस्वती को सिन्धु के सप्तक वाली सरस्वती से हम भिन्न मानते हैं।

पंजाब की सरस्वती के अतिरिक्त, एक दूसरी सरस्वती भी थी। अवस्था में जिन पवित्र देशों का वर्णन है, उनमें सप्तसिंधु अलग वर्णित है। जैसे—पंद्रहवाँ उत्तम देश ह्प्तहिंदव है।[1] दसवाँ उत्तम प्रदेश हरह्वैती है। हरह्वैती के दो अपभ्रंश रूप मिलते हैं—अररोखाग (अरबी साहित्य में प्रयुक्त देश नाम) और अरगंद (जो आधुनिक 'अरंगद-आब' नदी के नाम में पाया जाता है)।[2]

ह्प्तहिंदव जिस प्रकार सप्तसिंधु का विकृत रूप है, वैसा ही हरह्वैती-सरस्वती का है। अरगंदाब, अफगानिस्तान के कंदहार प्रांत की एक बड़ी नदी है। वर्तमान काल के मानचित्र में हारुत से लेकर कंदहार तक की नदियों का एक सप्तक आप अच्छी तरह से देख सकेंगे, जिसके नीचे ज़िरे (Zirreh) का दलदल और एक रेगिस्तान भी है। अविनाशचंद्र दास ने—"ऐका चैतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिस्य आ समुद्रात्"—(7-95-2) के आधार पर पंजाब की सरस्वती का राजपूताना समुद्र में गिरना लिखा है। किंतु और मंत्रों में गिरने का वर्णन नहीं मिलता। अत: जिस प्रकार सामश्रमी ने "रसाद्वित्वं तु नूनमंगीकार्यम्" से 'रसा' नाम की दो नदियाँ मान लेने की सम्मति प्रकट की है, वैसे ही सरस्वती के लिए भी आवश्यक मानना होगा। जैसा हम ऊपर दिखला आये हैं कि सरस्वती अपस्तमा है; वैसे ही और भी प्रमाण उसके अपनी सहायक नदियों में प्रबल होने के मिलते हैं। 'प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणामायसी पू:। प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्या:'—(7-95-1)। इसमें अपने साथ की नदियों से वह प्रबल और एक दूसरी सिंधु के सदृश मानी गयी है। इस प्रकार यह सरस्वती का सप्तक दक्षिण पश्चिमी अफगानिस्तान में ठहरता है।

इसमें दास के मत से भी कोई असम्भावना नहीं दिखाई देती है। यद्यपि उन्होंने प्राचीन सप्तसिंधु वा आर्यावर्त्त को चतुस्समुद्र से घिरा हुआ माना है, फिर

---

1. Fifteenth of the good lands and Countries which I, Ahura Mazda, created; was the Seven Rivers (p. 9, Vendidad).
2. The Tenth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the beautiful Harahvaitih.

   (F. N.) Harahvaitih; Apaxvaiia; corrupted into the Arrokhag (Name of the Country in the Arabic literature) and Arghand (in the modern name of river Arghand-ab)—(p. 7, Vendidad.)

भी वे लिखते हैं कि "सप्तसिंधु उत्तर-पश्चिम की ओर गांधार प्रांत के द्वारा पश्चिम एशिया एशियामाइनर से मिला हुआ था।" (ऋग्वेदिक, इंडिया पृ० 560) इसलिए चारों समुद्रों वाली सीमा का सिद्धांत हमारे गांधार के सारस्वत प्रदेश के लिए बाधक नहीं होता।

ऊपर कहे हुए गंगा, सिंधु और सरस्वती के तीनों सप्तकों की भूमि, वैदिक काल के आर्य्यों की भूमि थी। जह्नाव्य अर्थात् गंगा की घाटी, सिंधु और सरस्वती के पवित्र मंगलमय तथा परम-प्रिय प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों से भी संहिता-काल के आर्य्य लोग अपरिचित नहीं थे। अथर्व संहिता के पंचम कांड में परुष, महावृष, मूजवत्, बाल्हीक इत्यादि के नाम तो आये ही हैं, इनके अतिरिक्त तत्कालीन आर्य्यावर्त्त के अत्यंत पूर्व स्थित मगध का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु ऋक् संहिता में मगध का भी कीकट नाम से उल्लेख है—"किं ते कृण्वंति कीकटेषु गावो" (3-53-14)।

दास कीकट को ऋक्कालीन प्रदेश नहीं मानना चाहते। वे कहते हैं, पांचाल कोसल आदि भी उस काल के प्रदेश नहीं थे (पृ० 561)। किन्तु विशेष नाम न होने से क्या हुआ जब ऋग्वेद के प्राचीन मण्डल (क्योंकि दसवें मंडल को लोग पीछे का मानते हैं)—3-58-6 में 'जह्नाव्य' गंगा के प्रदेशों का उल्लेख है, सो भी पुराणमोकः—प्राचीन वासभूमि कहकर। अतः गंगा के समीप का वह देश ऋक्-काल का अवश्य है जिसकी पूर्व सीमा में कीकट (दक्षिणी बिहार) देश था। उधर 'आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च'—(7-18-19) में यमुना तीरवर्ती देश का भी उल्लेख है; फिर पांचाल, कोसल मगध का नाम न होने से कुछ बिगड़ता नहीं। हो सकता है, अत्यंत पूर्व स्थित होने के कारण इनकी बस्ती घनी न रही हो और इन नामों से अलग-अलग स्वतंत्र राष्ट्र न स्थापित हुए हों।

ऐतरेय में उत्तर-मद्र का भी उल्लेख है। उत्तर-मद्र को इसी लेख में पहले मध्यकालीन मीडिया से अभिन्न माना गया है। उत्तर-मद्र पश्चिम में और मगध-पूर्व में आर्य्यों के प्रभाव-क्षेत्र से संलग्न थे। पश्चिम में तो 'समुद्रं रसिया सहाहुः' (10-121-4) में वर्णित रसा अर्विस्तान, रूम या मेसोपोटामियाँ की, समुद्र में मिलने वाली टिगरिस नदी का भी नाम आया है, क्योंकि अवेस्ता के अनुसार यह राँघा प्रदेश भी पवित्र माना गया है।

यद्यपि सरमा के उपाख्यान-संबंधी ऋग्वैदिक सूक्तों में रसा के उस पार असुरों की आवास-भूमि का उल्लेख है; परन्तु उत्तर-मद्र की स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। यह प्रदेश ऋक् संहिता-काल में उतना नहीं बसा था; हो सकता है कि इसी कारण ऋक्-काल में इसकी स्वतंत्र आख्या न बनी हो। ऋक्-काल में सरस्वती की घाटी में भी रहनेवाले आर्य्यों से संघर्ष ही चल रहा था। इसीलिए सरस्वती को 'वृत्रघ्नी' कहा है। ऋक्-मंत्र 10-27-17 में सामश्रमी ने आक्षस

नदी का भी उल्लेख माना है। इसलिए उक्त प्रमाणों से गंगा से लेकर वर्तमान हेलमंद की घाटी और वाल्हीक से लेकर दक्षिण के ऋक्-कालिक राजपूताना के समुद्र तक हम आर्य्यों की एक घनी बस्ती मानते हैं, जिसके बीच में मेरु स्थित है। मगध, अंग तथा मीडिया और मेसोपोटामियाँ के प्रदेश भी आर्य्य-क्षेत्र कहे जा सकते हैं, किंतु इन प्रदेशों में आर्य्यों को अनार्य्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलंबी अधार्मिकों से बराबर युद्ध और संघर्ष करना पड़ता था।

यहाँ मुझे थोड़ा-सा उस बढ़ते हुए विचार पर भी अपनी सम्मति प्रकट कर देनी है; जिसे आजकल बहुत प्रधानता दी जा रही है। वह है आर्य्यों के पहले भारतवर्ष के एक अत्यंत द्रविड़ सभ्यता मानने का सिद्धांत---सो भी ऋग्वेद-काल में। किंतु अत्यन्त प्राचीन काल में आर्य-द्रविड़ सभ्यता का संघर्ष असम्भव था; क्योंकि द्रविड़ (कृष्ण) जाति की जन्मभूमि दक्षिणी महाद्वीप, राजपूताना समुद्र के द्वारा, प्राचीन आर्य्यावर्त्त से अलग था और वह महाद्वीप वर्त्तमान अरब, दक्षिणी भारत और अफ्रीका को एक में मिलाए था। प्राचीन ऋग्वेद में आप कितने ही समयों के तारतम्य को स्पष्ट देख सकेंगे, किन्तु उसके साथ ही 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का सिद्धांत स्पष्ट बतलाता है मुख्यत: आर्य्य संस्कृति एक थी, जिसे न मानने वाले उसी प्राचीन जाति के लोग भी अनार्य्य कहलाते थे। ऋग्वेद के आर्यावर्त्त में वैदिक सभ्यता वाले आर्यों को इन्हीं उच्छृंखल धर्म-विहीनों से युद्ध करना पड़ता था, जो प्राय: दस्यु जीवन की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे।

जैसा पहले कहा गया है, दक्षिणी द्रविड़ों से या उनकी सभ्यता से आर्य्यों का संघर्ष होना मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है, क्योंकि एक तो राज-पूताना समुद्र बीच का व्यवधान था दूसरे द्रविड़ों का अधिक आकृति-संबंध भी उन सुमेरियन और सिंधु के अवसिष्ट चिह्नों को छोड़ जाने वाले मनुष्यों से नहीं मिलता। द्रविण एक स्पष्ट दक्षिणी महाद्वी की जाति है जिसका मूल उद्गम अफ्रीका की कालाअधित्यका (Kalabari Platcau in South Africa) है जैसा कि Comron cadle expeditionके प्रयास से सिद्ध किया जा रहा है।[1] यह दक्षिणी द्रविण सभ्यता स्वतन्त्र रूप से कहीं भी उस प्राथमिक अवस्था के ऊपर न उठी जिसे उन्होंने पहली बार अन्य जाति से ग्रहण किया था। कब-कब, कहाँ-कहाँ, आर्य्यावर्त्त के दिव्य विजेताओं और अफ्रीका के कृष्णों से रक्त-मिश्रण के द्वारा न्यूनाधिक श्वेत-कृष्ण-जातियाँ बनीं, इसका अनुमान करना कठिन है।

इस प्राचीन सप्तसिन्धु के अन्तर्गत मेरु प्रदेश में ही अग्रजन्मा उत्पन्न उत्पन्न

---

1. I am able definitely to confirm that man emerged in the lap of this mother earth in this strange wild country. (Dr. Cadle Pioneer 17th October, 1928).

हुए। मेरु पर ही स्वर्ग था। पश्चिमी विद्वानों ने हमारे उस प्राचीन इतिहास को 'मइयालोजी' मान रखा है। उनमें इस धारण के कारण हमारे निरुक्तकार भी हैं। निरुक्त संभवतः उस काल में बना जब कि प्राचीन वैदिक मंत्रों के अर्थ लोगों को विस्मृत हो चले थे। क्योंकि, उसमें कहीं-कहीं एक-एक शब्द की व्याख्या चार-चार प्रकार से की गई है। इसमें रुक्तकारों का एक और भी उद्देश्य था, वह था वेदों का अपौरुषेत्व प्रमाणित करना। किन्तु स्वयं निरुक्ताकार अपने पूर्ववर्ती— वेदों के अर्थ-निर्णय में—एक ऐतिहासिक मत भी मानते थे—'तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका।' वैदिक यंत्रों के ये अर्थ उपनिषद् और ब्राह्मण-कला की कल्पनाएँ हैं। जब बहुदेववाद और कर्मकांड-सम्बन्धी मन्त्रों का एकेश्वरवाद के साथ समन्वय होने लगा था और जब 'उषा वा मेध्यस्य शिरः' के सिद्धांत का प्रचार हुआ, प्राचीन ऋग्वेद आदि की मात्राएँ तक गिनी गयीं और वे अपौरुषेय बना दिए गये। यद्यपि ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद तो क्या शुद्ध दार्शनिक विचारों तथा आत्मानुभूति की भी झलक दिखाई देती है, किन्तु देवों का स्वतन्त्र अस्तित्व और उनका इतिहास मान लेने के लिए पिछले काल के एकेश्वरवादी और अपौरुषेयवाद प्रस्तुत न हुए।

अब भी सनातनधर्म का बहुदेववाद मूल में प्राचीन ऐतिहासिकों का अनुयायी है और आर्य्यसमाज एकेश्वरवादी निरुक्त का अनुमान करता है, जिसके अनुसार देवों को वे रूपक द्वारा मूर्तिमान की गयी सर्व-शक्तिमान की शक्तियाँ मानते हैं।

वेदों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश प्राचीनतर ऐतिहासिक संप्रदाय को न मानकर हमारा इतिहास भ्रामक बना देने के लिए निरुक्त के अर्थ को ही पथ-प्रदर्शक माना है। साथ ही 'माइथालोजी' मानते हुए भी उन्हें ऋक्-मंत्रों से भूगोल, नदियों और ज्योतिष-संबंधी गणनाओं के आधार पर आर्य इतिहास और समय निर्धारण की सूझी है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन ऐतिहासिकों का मत सर्वथा निर्मूल न हो सका। रैगोजिन ने वैदिक इंडिया के 303 पृष्ठ पर लिखा है—"बहुत से साधारण वैदिक नामों का एक ही सपाटे में अप्राकृतिक शक्तियों और अमर्त्यों से जो सम्बन्ध लगाया जाता है, वह ठीक नहीं। वास्तव में कितने ही अन्तरिक्ष युद्धों का सम्बन्ध प्राकृत मर्त्य वीरों के भयानक संघर्षों से है।"[1]

1. And it becomes patent that probably a majority of the common mames, which are sweepingly set down as names of friends and other supernatural agents, really are those of tribes, peoples and men while many an alleged atmospheric battles turns out to have been an honest sturdy, hand-to-hand conflict between bonafide mortal champions (Vedic India, 303).

उस प्राचीन वैदिक अथवा वर्त्तमान संसार के प्राग्-ऐतिहासिक काल में आर्यावर्त के आर्य्यों में आकाशी देवताओं की उपासना प्रचलित थी। संभव है वीरपूजा भी उस उपासना का प्रधान अंग रही हो। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य बुद्धि थी और इन सब देवताओं के राजा अथवा एकाधिपति वरुण माने जाते थे। वरुण के राजत्व का वैदिक मंत्रों में कई बार उल्लेख मिलता है। वरुण की उपासना आकाश की सर्वप्रथम शक्ति के रूप में चन्द्रमा की उपासना से संबद्ध थी। मित्र के रूप में तो सूर्य की उपासना प्रचलित थी ही। पर आकाश का, जो इस संसार के आवरण रूप में दिखाई पड़ता है, संपूर्ण विभव नक्षत्र मंडल के साथ रात्रि में ही प्रकट होता है। उस समय चंद्रमा की ही प्रधानता रहती है। चंद्रमा में सुधा, औषधियों की जीवनसत्ता मानने वाले लोग थे। असुर शब्द की व्युत्पत्ति (असुन, प्राणान् रक्षति) भी इसी का द्योतक है। क्योंकि वेदों में वरुण प्राय: असुर उपाधि से संबोधित किये गये हैं। इस प्रकार के असुरोपासकजन प्राण-रक्षक केवल आकाशस्थ वरुण की प्रधानता मानते थे। उस प्राचीन काल में विचार-धारा का आकस्मिक परिवर्त्तन हुआ और ज्ञान की विभिन्नता से सामाजिक और धार्मिक संघर्ष चला। तब उन अग्रजन्माओं में दो प्रधान भेद हुए।[1] एक प्राचीन

---

1. इस संदर्भ में अवलोकनीय होगा—

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों का पूजा का प्रचार
उस ओर आत्मविश्वास-निरत सुर-वर्ग कह रहा था पुकार—
'मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म मंगल-उपासना में विभोर
उल्लासशील मैं शक्ति-केंद्र, किसकी खोजूं फिर शरण और
आनंद-उच्छलित-शक्ति-स्रोत जीवन-विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव-नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा
प्राणों के सुख-साधन में ही संलग्न असुर करते सुधार
नियमों में बँधते दुर्निवार

था एक पूजता देह हीन
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास-हीन-
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें—क्यों न हो युद्ध
उनका संघर्ष चला अशाँत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता

वरुण के अनुयायी असुर और दूसरे इंद्र के नेतृत्व में देवगण और त्वष्टा के नेतृत्व में असुर लोग रहने लगे। इन्हीं त्वष्टा अर्थात् जरथुष्ट्र, जरत्वष्ट्रि को प्राचीन अहुर्मज्द (Ahurmazd) असुर महत् के उपासक पारसी आर्यों ने अपना आचार्य माना।[1] बाह्लीक में इन लोगों का प्रधान धार्मिक केंद्र था। पिछले काल में यहाँ की अग्निशाला और देव मंदिर का एक नया रूप हो गया था। किंतु बौद्धों से पहले प्राचीन काल में यह अहुर्मज्द का प्रधान उपासना मंदिर था। इब्न फजलुल्लाह अलउमरी मिस्री ने अपनी मसालिकुल अब्सार के मसालिकुल अम्सार में बल्ख (बाह्लीक) के इस मंदिर का नाम नौबहार दिया है। उसके बनाने वाले भारत के किसी राजा का उल्लेख करते हुए वह लिखता है कि यहाँ पर नक्षत्रों की पूजा करने वाले लोग आते थे, जो चंद्र-पूजक थे। इसके प्रधान पुजारी का नाम बरमक होता था। बर-मग से मगों में श्रेष्ठ याजक लक्षित होता है। मग लोग ही मज्द धर्मावलंबी कहे जाते थे—जो परवर्ती काल का ईरान का धर्म था।

ऋग्वेद में त्वष्टा और इंद्र के संघर्ष का स्पष्ट विवरण है, जिसके मूल में एक क्षुद्र घटना थी। 'त्वष्टुर्गृहे अपिबत्सोममिन्द्रः' (ऋक् 4-18-3) —सोम के लिए इंद्र और त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप में कलह हुआ था। इस प्रकार प्राचीन आर्य्यावर्त्त में ही उन अग्रजन्माओं में पारस्परिक युद्ध होकर दो विभाग हो गये और सरस्वती तट पर वृत्र-असुर के मारे जाने से असुरोपासक आर्य्य धीरे-धीरे पश्चिमी ईरान की ओर मीडिया तक हटने को बाध्य हुए। ऋग्वेद में त्वाष्ट्र को दास कहा गया है।[2] यही त्वाष्ट्र वृत्रासुर था, जिसका वध इंद्र ने किया। यों तो इसका नाम वृत्र था परंतु अहिशब्द से भी यह संबोधित किया गया है। "तस्माद् वृत्रोऽथ यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायूश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद् दानव इत्याहुः"— (शतपथ, 1-5-2-9) अर्थात् दनु और दनायु ने माता-

---

हो प्रलय-भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्त्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
—सचमुच मैं हूँ श्रद्धा-विहीन।"
कामायनी—इड़ासर्ग (सं०)

1. One of them, Isatvastra, a son of the second wife, subsequently, became head of the priestly class. (p.p. 15 and 16, Zoroaster by Bernard H. Springell)
2. सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्। अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयःसाख्यस्य त्रिताय॥—ऋक् 2-11-19

पिता के समान उसको अपनाया इसलिए उसे दानव भी कहते हैं। दास, असुर और दानव ये सभी विरोधसूचक शब्द हैं।

ऋग्वेद के —"इंद्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं"—(1-32-1) इत्यादि मंत्रों में इंद्र के वीर्य और पौरुष का वर्णन है। उसमें वृत्र को मारकर सप्तसिंधु के जलों को मुक्त करने की भी चर्चा है जो उसी सूक्त के बारहवें मंत्र "अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिंधून्"—में उल्लिखित है। जिस प्रकार त्वाष्ट्र असुर-वीर था, उसी प्रकार ऐतिहासिकों के मत से इंद्र कई जगह संबोधित किये गये हैं। ऋग्वेद के मंडल 10, सूक्त 120 में इंद्र की उत्पत्ति के संबंध में लिखा है "तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः" (मंत्र 1)। यह नृम्ण (पौरुष की मूर्ति अथवा मनुष्यों से सम्पर्क रखने वाला) भुवन में ज्येष्ठ उच्च स्थान अर्थात् मेरु प्रदेश में उत्पन्न हुआ। इंद्र के पार्थिव सदन का भी उल्लेख है "प्रति प्र याहीन्द्र मीलहुषो नृन्महः पार्थिवे सदने यतस्व (1-169-6)।" इंद्र की उत्पत्ति का भी उल्लेख मिलता है। "पुराँ भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत। इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः" (1-11-4)। इंद्र के लिये दीर्घायु होने की भी प्रार्थना मिलती है—"परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।

वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः—(1-10-12)।" इंद्र के लिए सुंदर नासिका वाला और अयस् का वज्र धारण करने वाला तथा सुंदर घोड़ों के रथ पर उसके चलने की प्रशंसा अनेक मंत्रों में मिलती है—"क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृधे शवः। श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान्दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् (1-81-4) त्वमिन्द्र नर्यो याँ अवो नॄन्तिष्ठा वातस्य सुयुजो वहिष्ठान् यंते काव्य उशना मन्दिनं दाद् वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम् (1-121-12)"—"न त्व वाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते" (7-32-23)। इसमें इन्द्र के समान किसी के न होने का उल्लेख है। सुदास पैजवन से इंद्र की मैत्री का भी वर्णन मिलता है, जब कि सुदास ने इन्द्र से मैत्री के लिये प्रार्थना की थी—"वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे (10-133-6)। "इंद्र का संबंध मनुष्यों से था"—"इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां—(3-34-2)।" दिवोदास इत्यादि आर्य्यों के युद्ध में इन्होंने बहुत सहायता दी थी। यह सम्राट् भी हुए—"आवदिंद्रं यमुना तृत्सवश्च"—(7-18-19) का अर्थ करते हुए सामश्रमी ने लिखा है—'यः इन्द्रः सम्राट्......' इत्यादि। पिछले काल में इसी कारण सम्राटों का 'ऐन्द्र महाभिषेक' होने लगा और इन्द्र एक पदवी बन गयी।

त्वष्टा वेदों में विश्वकर्मा अर्थात् आविष्कारक कहे गए हैं। वैदिक काल का एक प्रमुख व्यक्ति होने के कारण इनके बहुत से अनुयायी थे, किन्तु इंद्र का संप्रदाय भी प्रबल हो चला था और इसमें था धर्म संबंधी गहरा मतभेद।

वैदिक आर्यावर्त्त

त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को भी सोम के लिए इंद्र ने मारा था। 'गाथा अहुनावैती' और 'स्पेंतमैन्यु' में सोम की निंदा का कारण त्वष्टा के पुत्र का वध हो सकता है। दास ने इस ऐतिहासिक घटना को 'माईथालॉजी' से मिला दिया है। वे यह तो मानते हैं कि पुत्रवध से त्वष्टा और उनके अनुयायियों ने इंद्र का विरोध किया, परंतु साथ ही वे कहते हैं कि इन्द्र की पूजा भी बंद कर दी गयी। पर मैं समझता हूँ कि तब तक इन्द्र की पूजा का आरंभ ही नहीं हुआ था। यही घटना तो इन्द्र को विशेषता देती है, जो पीछे जाकर उनकी पूजा का कारण बन गयी है। वरुण भी तो त्वष्टा के अनुयायियों में एक ही प्रकार से पूजित नहीं हुए, भिन्न-भिन्न देशों में उनकी पूजा का प्रकार बदलता रहा।

इसी त्वष्टा और इन्द्र के विरोध ने धीरे-धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण कर लिया, नहीं तो पहले इनमें मेल ही था। रामायण में तो यहाँ तक लिखा है—

"असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिता आसन् वारुणीग्रहणात्सुराः॥" (वाल्मीकि)

शतपथ के अनुसार देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की संतान थे। किंतु यह सोम संबंधी झगड़ा बहुत बढ़ा। त्वष्टा की उस समय आर्य्यों में विशेष प्रतिपत्ति थी परन्तु इंद्र अधिक बलशाली थे। इस झगड़े में एक रहस्य और भी था। इन्द्र के कुछ नवीन धार्मिक विचार थे, संभवतः वे सृष्टि के प्रथम आत्मवादी थे। उपनिषदों की इंद्र-विरोचन-कथा में इसका दार्शनिक रूप मिलता है, परन्तु ऋग्वेद में तो (10-119) आत्मस्तुति-परक एक सूक्त ही इंद्र का है। यद्यपि लोगों ने उसे भ्रम से, सोम पिये हुए इंद्र की बहक मान लिया है, परन्तु —"अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः" (12) इत्यादि प्रयोगों को मैं तो ठीक वैसा ही समझता हूँ जैसा पिछले काल में श्रीकृष्ण का आत्मविभूति का वर्णन गीता में है। क्योंकि, ऋग्वेद 10 मंडल का 48वाँ सूक्त भी इसी भावना से ओत-प्रोत है। देखिए—प्रथम मंत्र "अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्।" इसके ऋषि भी स्वयं इन्द्र हैं।

वरुण भी देव! सो भी कैसे? आकाशस्थ! संसार से बहुत ऊँचे। एक स्वतंत्र महत्ता से इस आत्मवाद का संघर्ष होना अनिवार्य था। ऐसे आत्मवादी प्रत्येक काल के 'शरियत' मानने वालों के कोपभाजन और नास्तिक बने हैं। त्वष्टा (Zarthustra) ने वाह्लीक के पास अपने प्राचीन धर्म का दृढ़ दुर्ग बनाया और धर्म का संस्कार कर असुर-उपासना प्रचलित की।

"वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमर्वि जज्ञाना रजसः परस्मात् ।
मही साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिं सीः परमे व्योमन् ।।"

(यजुर्वेद, 13-44)

—में त्वष्टा और वरुण का संबंध और उनकी साहस्री माया का स्पष्ट उल्लेख है। इस संबंध में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के स्वराज्यसूक्त (80) का यह मंत्र भी देखिये —"अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते। त्वष्टा चित्तव मन्यव इंद्र वेविज्यते भियार्च्चन्ननु स्वराज्यम् ।।"—(14)"नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः। तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि संदधुरर्च्चन्ननु स्वराज्यम् ।।"(15) मंत्र-संख्या 14 में साम्राज्य या स्वराज्य स्थापन करने वाले इन्द्र के भय से त्वष्टा को काँपते कहा है और 15 में देवों द्वारा इंद्र में पूर्ण मनुष्यता (नृम्ण) और ओज के स्थापन की घोषणा है।

उस अत्यंत प्राचीन वैदिक काल में आर्य्यों के दो शाखाओं में विभक्त होने का कारण, त्वष्टा और इंद्र का संघर्ष था। त्वष्टा वेदों में विश्वकर्मा अर्थात् आविष्कारक कहे गये हैं। वैदिक काल के एक प्रमुख व्यक्ति होने के कारण इनके बहुत से अनुयायी भी थे; किंतु इंद्र का संप्रदाय भी प्रबल हो चला था; और इस में कारण था धर्म-संबंधी गहरा मतभेद। त्वष्टा का संप्रदाय ईश्वरीय महत्ता से पूर्ण धर्म का शासन स्वीकार करता था; किंतु इंद्र आत्म-विश्वास के प्रचारक और आत्मवाद के समर्थक थे। संभव है कि, उस प्राचीन काल में इन दोनों सिद्धातों के साथ-साथ कुछ फुटकर आचार-विचार भी, अपनी विशेषताओं के कारण, मतभेद बढ़ाने में सहायक रहे हों; जैसे, सोम संबंधी भली-बुरी धारणायें किंतु प्रत्येक बड़े-बड़े धार्मिक विरोधों के मूल में सिद्धांत संबंधी मतभेद युद्धों का होना अनिवार्य बना देता है।

ऋग्वेद में इस धार्मिक संघर्ष का स्पष्ट परिचय मिलता है। वरुण उस प्राचीन काल में एक माननीय देवता थे और त्वष्टा इत्यादि वरुण पूजा के प्रधान

इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध

समर्थक थे। वरुण और त्वष्टा का संबंध अनेक वैदिक मंत्रों में मिलता है। वरुण राजा और असुर कहकर पूजित थे। वसिष्ठ-कुल के लोग इस उपासना के प्रधान याजक थे। यही असुर-वरुण असीरिया के युद्ध उपास्य देवता असुर, ईरान के अहुर-मज्द, वेबिलोन के असुर-मआजश और सुमेरिया के ई-ओंस थे। वैदिक आर्यों से अलग होकर पिछले काल में ईरानी आर्यों के द्वारा प्रचलित यही असुरवरुण की उपासना अनेक रूपों में पश्चिमी एशिया के प्राचीन सभ्य देशों में फैली और इधर इंद्र-पूजा वा इंद्र का संप्रदाय वैदिक आर्यों में प्रधानता ग्रहण

करने लगा। कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है[1] कि, इंद्र-पूजा चैल्डियन लोगों से सीखी गयी। इम्दिगिर जो चैल्डियन लोगों के आँधी गरज के देवता हैं, आर्यों के यहाँ आकर इंद्र बन गये। इसके विवरण में उनका यह कहना है कि आर्यों के पहले भारत-भूमि दक्षिण अनार्य द्रविड़ों के स्थान पर तूरानी द्रविड़ों के द्वारा अधिकृत थी और कौशिक लोग इंद्र-पूजा के प्रचारक थे। इन कौशिकों को वे 'कुसाइट' के साथ संबद्ध बताते हैं। 'कुसाइट' लोगों को कुछ विशेष कारणों से वे तूरानी-द्रविड़ मानते हैं। यहाँ पर हम इन विद्वानों को उसी भ्रम में सम्मिलित देखते हैं, जिसने रैगोजिन जैसे विद्वान् को भी पुरु-वंशियों को अनार्य-वंशीय मानने के लिए प्रेरित किया था। पुरु, अनार्य द्रविड़ नहीं थे, इसका प्रमाण तो आगे दिया ही जायगा, यहाँ तो हमें इंद्र-पूजा की विशेषता पर ही ध्यान देना है। कहा जाता है कि, ऋग्वेद के तीसरे मंडल में वरुण का स्तव बहुत ही कम मिलता है और जो कुछ थोड़ा-सा उल्लेख भी है, वह इंद्र के पीछे या विश्वेदेव के मंत्रों में है। कौशिक लोग भारत से ही अन्य देशों में गये, यह तो वे भी स्वयं मानते हैं। तब इंद्र-पूजा चैल्डिया से आर्यों में न आकर भारतीय कौशिकों के द्वारा ही चैल्डिया में गयी होगी—यह कल्पना अधिक संगत मालूम होती है। विश्वामित्र इंद्र-पूजा के प्रधान प्रचारक थे और अधिक संभव तो यह है कि इंद्र के समय में ही उनके बाहुबल से प्रवत्तित उस नवीन अभ्युदय काल में वे इंद्र के व्यक्तिगत समर्थक रहे हों। कौशिकों के और पौरवों के द्रविड़ होने की कल्पना वेदों में नहीं पायी जाती। हाँ, इसके विरुद्ध कौरवों के आर्य होने का प्रमाण वैदिक मंत्रों में, प्रचुरता से, मिलता है। ऋग्वेद में दिवोदास पुरु को आर्य कहा गया है[2] और कौशिकों के सूक्तों में आर्यों (भरतों) की रक्षा के लिए बहुत-सी प्रार्थनायें भी मिलती हैं।

वरुण की पूजा से हटकर इंद्र का अनुयायी होने का प्रमाण भी मिलता है। ईरानी आर्य्य 'अहुरमज्द' या असुर-वरुण की प्रशंसा करते हुए इंद्र को पाप-मति कहते हैं। ठीक उसी तरह वरुण की उपासना से हटकर इंद्र-पूजा की ओर आकृष्ट होते हुए आर्यों का उल्लेख ऋग्वेद के चौथे मण्डल के 42 वें सूक्त (2, 5 और-7 मन्त्रों) में है। ऋषि ने वरुण और इंद्र का संवाद कराया है और उसमें वरुण के

---

1. J. B. O. R. S. Page 221. Vol. VI, pt. 9.
2. त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते। भरद्राजाय दाशुषे॥ ऋक् 6-16-5

ऊपर इंद्र को ही प्रधानता दी है।[1] इसी तरह दसवें मण्डल के 124वें सुक्त (3 और 4 मन्त्रों) में भी वरुण को छोड़कर इंद्र का आश्रय ग्रहण करने का स्पष्ट उल्लेख है[2]। ऊपर के प्रमाणों से यह स्पष्ट देखा जाता है कि, इंद्र के अनुयायी वरुण-पूजा से मुँह मोड़ रहे थे और इसी कारण त्वष्टा के पुत्र वरुणोपासक वृत्र ने असुरों का नेतृत्व ग्रहण किया। यह तो पौराणिक गाथाओं से स्पष्ट है कि, सुरा के लिए ही देवासुर संग्राम हुआ था। देवासुर-संग्राम के फलस्वरूप आर्य्यावर्त्त में आंतरिक कलह भीषण हो चला। प्राचीन आर्य्यों में कुल-शासन प्रथा प्रचलित थी, जिसमें कुल मुख्य था, और पुरोहितों की प्रधानता रहती थी। छोटे-छोटे आर्य्यों के दल विभक्त भूखंड़ों में अपने परिवार के साथ बसते थे। वरुणोपासना, अपनी प्राचीनता के कारण, इन कुलों में प्रायः प्रचलित थी। देवासुर संग्राम होने के समय ऐसा अनुमान होता है कि इन कुलों में से धर्म-भीरुओं (जो प्राचीन-उपासना से विरोध करने का साहस न रखते थे) असुरों का पक्ष ग्रहण किया था। उन लोगों का यह विशिष्ट दल टूट कर सामूहिक रूप से असुरसंप्रदाय संगठित हुआ था। कुल और वंश की तथा आर्य्य आभिजात्य की मर्यादा का स्थान धार्मिक एकता ने ले लिया था। उन लोगों ने अपनी प्राचीन शासनप्रणाली का अंत करके राजपद को एकनिष्ठ बनाया; किन्तु वैदिक आर्य्यों ने —जो देव कहे जाते थे— अपनी पुरानी प्रथा प्रचलित रखी थी। इसका प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण (3-14)

---

1. वरुण—अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयंतः।
   क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः॥ 2॥
   ऋक् 4-42-2

   इंद्र—मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते।
   कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः॥ 5॥
   ऋक् 4-42-5

   ऋषि—विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्र ब्रवीषि वरुणाय वेधः।
   त्वं वृत्राणि श‍ृण्विषे जघन्वान्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्॥ 7॥
   ऋक् 4-42-7

2. शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि ऋक् 10-124-3
   बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि ऋक् 10-124-4

में मिलता है।[1]

स्त्री, भूमि और आचार संबन्धी वैमनस्य तथा अन्य कारणों से भी परस्पर विरोध होना कभी-कभी अनिवार्य हो उठता है। यदि उसमें धार्मिक उत्तेजना भी मिल गयी, तब तो विरोध में अधिक तीव्रता बढ़ती ही है। आर्य्यों में गृह-युद्ध होने के, उस समय जहाँ और बहुत से कारण रहे होंगे, इनमें देवासुर संग्राम से हुई हानियों की स्मृति भी कुलों में सजीव रही होगी। कर्मकांड कराने वाले पुरोहितों की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को प्रधानता देने की भी प्रतिद्वंद्विता इसमें अधिक काम कर रही थी—फलस्वरूप दाशराज्ञ-युद्ध हुआ। ऋग्वेद के सातवें मंडल में इस दाशराज्ञ-युद्ध का उल्लेख है।[2] इस दाशराज्ञ-युद्ध में सुदास से अन्य दस राजाओं का घोर संग्राम हुआ था। इस युद्ध में इंद्र ने सुदास की रक्षा और सहायता की थी। देवासुर संग्राम में, सरस्वती-तट पर वृत्र के मारे जाने का उल्लेख ऋग्वेद में है और इसीलिए सरस्वती की महिमा में उसे वृत्रघ्नी कहा गया है।[3] किंतु उस वृत्रयुद्ध में कितने ही खंड-युद्ध, इंद्र और वृत्र के अनुयायियों में हुए, जिनमें सुदास के पिता दिवोदास और वृत्र के अनुयायी शंबर भी लड़े थे। इंद्र ने दिवोदास के

---

1. देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त त एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्तोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त तांस्तोऽसुरा अजस्यंत उदीच्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशि यतेत वा यातयेद्वेश्वरो हानृणाकर्तो, इति ते देवा अब्रुवन्न-राजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति (ऐतरेय ब्राह्मण, तृतीय अध्याय, 3 खंड)

2. एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठा:॥

(ऋक् 7-33-3)

उद्द्यामिवेत्तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुर्दाशराज्ञे वृतास:।
वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरूं तृत्सुभ्यो अकृणे दु लोकम्॥ (ऋक् 7-33-5)
युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्र च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजाभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभि: सह॥

(ऋक् 7-83-6)

3. यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये॥ (ऋक् 6-61-5)
उत स्या न: सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनि:। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्॥

(ऋक् 6-61-7)

लिए शंबर के 99 दुर्ग नष्ट किये थे।[1] और दिवोदास की ही रक्षा के लिए तुर्वशों और यदुओं को भी नष्ट किया था। तुर्वशों और यदुओं के साथ यह युद्ध सरयू तट पर हुआ था।[2] दिवोदास की तरह त्रसद्दस्यु के पिता अर्जुननि कुत्स ने भी शुष्ण और वृत्रानुयायी कुयव से युद्ध किया था।[3]

उक्त मंत्रों से यह प्रमाणित होता है कि यदु, तुर्वशु और पुरु आदि तथा भरतों का प्रमुख आर्य्य-वंश इंद्र के पक्ष और विपक्ष में, वृत्र-युद्ध के समय, किस प्रकार लड़ चुके थे। जब इंद्र की प्रचंड शक्ति के द्वारा वृत्र की धार्मिक सत्ता का आर्य्यावर्त्त से त्रिसप्तक प्रदेश से, नाश हुआ और असुरोपासक लोग ईरान तथा उसके पश्चिम में हटने के लिए बाध्य हुए, (पर चिच्छीर्षा ववृजुस्त इद्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः। प्र यद्दिवो हरिवः स्थातुरुग्र निरवृताँ अधमो रोदस्योः— ऋक् 1-33-5), तब भी उस युद्ध की कटु-स्मृति और कुल-मुखियों का वध भिन्न-भिन्न आर्य्य वंशों में विरोध के कारण-स्वरूप विद्यमान था। जैसा कि, हम पहले कह आये हैं, कुछ धार्मिक पुरोहितों के संघर्ष के कारण प्राचीन कुल संबंधी बुराइयों को लेकर आर्य्यावर्त्त में जो गृह-युद्ध हुआ—यही दाशराज्ञ-संग्राम है। त्रिसप्तक प्रदेश में यद्यपि इन्द्र के अनुयायियों की प्रधानता हो चली थी, फिर भी वृत्र-हत्या में हानि उठाये हुए यदु, तुर्वशु, अनु, द्रुह्य आदि आर्य्य-वंश रक्त का प्रतिशोध चाहते थे, वृत्र-युद्ध में भरत-जाति के प्रमुख दिवोदास ने इन्द्र की सहायता की थी, जिससे आर्य्यों के भिन्न-भिन्न वंशों को क्षति उठानी पड़ी। इसी कारण आर्य्यों की मूल भरत-जाति के नेता दिवोदास के वश से अन्य आर्य्य-दल

---

1. अया वीती परि स्रव यस्त इंदो मदेष्वा। अवाहन्नतीर्नव॥

(ऋक् 9-61-1)

पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम्। अध त्यं तुर्वशं यदुम्॥

(ऋक् 9-61-2)

2. उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्दो विद्वाँ अपारयत्।

(ऋक् 4-30-17)

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः।

(ऋक् 4-30-18)

3. त्वं हि त्यदिन्द्र कुत्समावःशुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥

(ऋक् 7-19-2)

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्॥

(ऋक् 7-19-3)

द्वेष करने लगे और उक्त काल में दिवोदास के साहसी तथा उद्दंड कुमार सुदास से तथा उनके कुलपुरोहित वसिष्ठ से विरोध भी हो गया, जिसके कारण सुदास ने विश्वामित्र को अपना कुल-पुरोहित और प्रधान याजक बनाना चाहा। विश्वामित्र ने अपने तीसरे मंडल के सूक्तों में सुदास का यज्ञ कराने की बात कही है। कुछ लोगों का अनुमान है कि, वसिष्ठ की होम-धेनु छीन लेने का यह तात्पर्य है कि, विश्वामित्र ने सुदास आदि राजाओं के कुल की पुरोहिती ले ली थी और यही वसिष्ठ के होम-धेनु हरण करने की कथा का मूल है। सुदास और वसिष्ठ से जो विरोध हुआ था, उसका उल्लेख विष्णु-पुराण के चौथे अध्याय में है।[1] यही नाम वाल्मीकीय रामायण में सौदास के रूप में मिलता है, जिन्होंने वसिष्ठ को शाप देने के लिए जो जल ग्रहण किया था, उसे अपने पैरों पर गिराकर कल्माषपाद की उपाधि ग्रहण की थी।[2] अंबरीष और त्रिशंकु की कथायें भी प्रसिद्ध हैं। इन सबसे निष्कर्ष निकलता है कि, वसिष्ठ के हाथ से उन दिनों की पुरोहिती छीनी जाकर विश्वामित्र के हाथों जा रही थी। शुनःशेफ वाली कथा से प्रकट है कि वरुणोपासना के संबंध में ही वसिष्ठ और विश्वामित्र का झगड़ा तीव्र हुआ और वरुण की बलि के लिए लाया गया शुनःशेफ मुक्त हुआ तथा उसमें विश्वामित्र की विजय हुई।[3] विश्वमित्र की ओर प्राचीन राजकुल अधिक आकृष्ट हुए। विश्वामित्र इंद्र को

---

1. आगताय च वसिष्ठाय निवेदितवान्। स चाचिन्तयत्, अहो! राज्ञोऽस्य दौःशील्यम्। येनैतन्मांसमस्माकं प्रयच्छति। किमेतद् द्रव्यजातमिति ध्यानपरोऽभूत, अपश्यच्च तन्मानुषमांसम्। ततश्च क्रोधकलुषीकृतचेता राजानं प्रति शापमुत्ससर्ज, यस्मादभोज्यमस्मद्विधानां तपस्विनाम् अवगच्छन्नपि भवान् मह्यं ददाति, तस्मात् तवैवात्र लोलुपा बुद्धिर्भविष्यतीति॥ (विष्णु-पुराण 4-4-27) ततश्च स कल्माषपादसंज्ञामवाप, वशिष्ठशापाच्च षष्टे काले राक्षसभावमुपेत्याटव्यां पर्यटन् अनेकशो मानुषानभंक्षयत्॥ (विष्णु पुराण 4-4-32)
2. ततः क्रुद्धस्तु सौदासस्तोयं जग्राह पाणिना। वसिष्ठं शप्तुमारेभे भार्या चैनमवारयत्॥ राजन्प्रभुर्यतोऽस्माकं वसिष्ठो भगवानृषिः। प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम॥ ततः क्रोधमयं तोयं तेजोबलसमन्वितम्। व्यसर्जयत धर्मात्मा ततः पादौ सिषेच च॥ तेनास्य राज्ञस्तौ पादौ तदा कल्माषतां गतौ। तदाप्रभृति राजासौ सौदासः सुमहायशाः (वाल्मीकीय रामायण, उत्तर-कांड 65 सर्ग, 29-32)
3. वसिष्ठ विश्वामित्र संघर्ष, शुनःशेफ-अम्बरीष की कथा के संदर्भ में वाल्मीकीय रामायण के बालकांड के 53-60 सर्ग अवलोकनीय। (सं०)

अधिक महत्ता देते थे, जैसा कि, उनके तीसरे मंडल के सूक्तों में अधिक दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि, महावीर इंद्र के अत्यंत प्रशंसक होने के कारण इंद्र की सहायता पाने की आशा रखनेवाले राज-कुल विश्वामित्र को ही अधिक मानने लगे। इंद्र की सहायता उस काल के वृत्र-युद्धों के बाद अत्यंत आवश्यक हो गयी थी; क्योंकि वही उस समय प्रधान राज-शक्ति के केंद्र थे।[1] दूसरी ओर वसिष्ठ के सूक्तों से उनकी धार्मिक विधियों में संदिग्धता प्रमाणित होती है। ऐसा जान पड़ता है कि वे पुरोहिती के लिए अत्यंत चंचल चित्त हो रहे थे। इंद्र की प्रशंसा में कहे गये उनके बहुत से सूक्त हैं; किंतु वरुण के लिए भी कम नहीं हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपनी द्विविधाजनक मनोवृत्ति से उत्पन्न अनेक किंवदंतियों तथा जनरवों से अपनी व्याकुलता का भी स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसमें उन्होने—अपने को झूठे देवों की उपासना करने वाला; यातुधान, मायावी इत्यादि कहने वालों से—अपनी रक्षा करने की प्रार्थनां की है।[2]

उस समय मायावी वरुण के समर्थक होने के कारण इन्द्र के अनुयायियों के द्वारा वसिष्ठ के लिए ऐसी बातें कही जाती थीं और विश्वामित्र इन्द्र की सहकारिता के कारण अधिक प्रशंसित होते थे। वसिष्ठ कभी सुदास के विरोध के कारण अपने प्राचीन घराने की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए चल-चित्त होकर इन्द्र का समर्थन करते हैं और कभी वरुण से अपने प्राचीन धर्म से विचलित होने के कारण,

---

1. युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वे।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्याणीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि॥
(ऋक् 3-46-1)
महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षमया च जनान्॥
(ऋक् 3-46-2)
2. यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्॥
(ऋक् 7-104-14)
यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट॥
(ऋक 7-104-16)

अपराधों की क्षमा चाहते हैं।[1] कभी तो वरुण से अपनी पुरानी सहकारिता का उल्लेख करते हुए उनसे कृपा की प्रार्थना करते हैं और कभी इन्द्र की प्रशंसा भी करते देखे जाते हैं। वसिष्ठ के समय में ही अग्नि की एक उपासना पद्धति प्रचलित हुई थी, जो नव-जात थी और जिसे 'इन्द्राग्नी कहते थे। यह वरुण-पूजा से अवश्य ही भिन्न प्रकार की उपासना रही होगी।[2] किंतु विश्वामित्र, वरुण के उतने प्रशंसक न होने के कारण, इन्द्र-पक्ष के राज-कुलों के प्रधार पुरोधा हो गये और भरतवंश के प्रमुख राजकुमार सुदास ने वसिष्ठ से विरोध करके जब विश्वामित्र को अपना प्रधान याजक बनाया, तब तो उनकी महत्ता अन्य पुरोहित कुलों के डाह के लिए यथेष्ट कारण हुई। सुदास की उच्छृंखलता के कारण या और किसी कारण से वसिष्ठ ने उस यज्ञ में भाग नहीं लिया। ऐसा अनुमान है कि वह सुदास का अश्वमेघ-यज्ञ था, जिसे विश्वामित्र ने कराया।[3]

---

1. किमाग आस वरुण ज्येष्टं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
   प्र तन्मे वोचो दूलभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम॥

   (ऋक् 7-86-4)

   क्व त्यानि नौ सख्या बभूवु: सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
   बृहन्तं मानं वरुण स्वधाव: सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥

   (ऋक् 7-88-5)

   यत्किं चेदं करुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
   अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिष:॥

   (ऋक् 7-89-5)

2. शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्येन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम।
   उभा हि वां सुहवा जोहवीमि ता वाजं सद्य उशते धेष्ठा॥

   (ऋक् 7-93-1)

3. महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तम्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षा:।
   विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्र:॥

   (ऋक् 3-53-9)

   हंसा इव कृणुथ श्लोकमद्रिभिर्मदन्ता गीर्भिरध्वरे सुते सचा।
   देवेभिर्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो वि पिबध्वं कुशिका: सोम्यं मधु॥

   (ऋक् 3-53-10)

   उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुच्चता सुदास:।
   राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्या:॥

   (ऋक् 3-53-11)

अश्वमेघ-यज्ञ इन्द्र के ही प्रीत्यर्थ किया जाता था और यह अश्वमेघ-यज्ञ, हरिवंश के अनुसार, जन्मेजय के द्वारा वर्जित किया गया। अश्वमेघ राज-सत्ता-की प्रधानता का द्योतक एक प्राचीन आर्य-अनुष्ठान था। इन्द्र के अनुयायी भरत-वंशीय सुदास ने जब उसका आरंभ किया, तब वरुणोपासना से प्रेम रखने वाले, अन्य आर्य्य राजकुलों के साथ घनिष्ठता रखने के कारण, वसिष्ठ का उस यज्ञ में याजक पद को अस्वीकार कर देना बहुत संभव है। और, वह ऐसा अवसर था कि इन्द्र की सहायता करने वाले भरत-प्रमुख राजन्य के विरुद्ध अन्य प्रति-स्पर्धी राजकुल सहज ही उत्तेजित हो सकते थे। जिस सरयू-तट के युद्ध में यदु-तुर्वशों के नेता अर्ण और चित्ररथ मारे गये थे, उसकी स्मृति अभी मलिन नहीं हुई थी। वसिष्ठ से सुदासा का झगड़ा भी हो गया था। इसी समय सुदासा ने अश्वमेघ का भी अनुष्ठान किया। इससे बढ़कर दाशराज्ञ-युद्ध के लिए और कौन अवसर आता? ऋग्वेद के तीसरे मंडल के 53वें सूक्त के जिन मंत्रों की बातें कही गई हैं, वे इसके साक्षी हैं। 'अश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः' इसी घटना का संकेत करता है। विश्वामित्र के कहे हुए इसी सूक्त के 20, 21, 22 और 23 मंत्र वसिष्ठ के अनुयायी लोगों में वर्जित और अश्राव्य हैं। सातवें मंडल के 104वें वें सूक्त में जो मंत्र, अपने उपर किये गये आक्षेपों से सुरक्षित होने के लिए वसिष्ठ ने प्रार्थना रूप से, कहे हैं, वे भी अधिकतर विश्वामित्र की ही ओर संकेत करते हैं। तीसरे मंडल के 53वें सूक्त में तो विश्वामित्र ने यहाँ तक कहा है कि "न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति" (3/53/23)। वसिष्ठ के बाँधे जाने, छूटने और उनके पुत्रों के मारे जाने की भी कथा प्रसिद्ध है। उक्त अश्वमेध की पुरोहिती को लेकर वसिष्ठ का जो अपमान हुआ, उससे भी इस युद्ध को अधिक सहायता मिली। एक प्रकार से यह अश्वमेघ रण-निमंत्रण था। फलतः यमुना से लेकर शुतुद्रि (शतद्रु) और परुष्णी के तटों पर कई युद्ध हुए, जिनमें सुदास एक ओर और अन्य दस राजा एक ओर खड़े होकर लड़े—इसी का नाम दाशराज्ञ युद्ध है।

इस दाशराज्ञ-युद्ध के लड़ने वाले दस राजा कौन थे, इस संबंध में कई मत हैं।

दाशराज्ञ-युद्ध के संबंध में रैगोजिन का मत है कि—तृत्सु प्रधान आर्य आक्रमणकारी जाति के लोग हैं, जिन्होंने पंजाब पर पहले आक्रमण किया था। द्रविड़ जाति के पुरु लोग अन्य राजाओं के साथ मिलकर उस आक्रमण को रोकने

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम॥

(ऋक् 3-53-12)

के लिए लड़ते थे और इस युद्ध में उनके प्रधान पुरु थे। भरत जाति भारत की प्राचीन रहने वाली अनार्य्य जाति थी, जिसे विश्वामित्र ने शुद्ध किया था। अनु तो स्पष्ट ही कोल जाति के थे। इन लोगों ने पुरु-जाति के प्रमुख कुत्स के नेतृत्व में सुदास तृत्सु से युद्ध किया। सी० बी० वैद्य महोदय का मत है कि, जो आर्य्य पंजाब में आकर पहले बसे थे, सूर्यवंश के थे। भरत सूर्यवंशी हैं और प्रथम आने वाले वे ही हैं। सिंधु नदी से सरयू तक वे फैल गए। मैक्डानल के अनुसार वह अयोध्या वाली सरयू है। वे सूर्यवंशी खैबर की घाटी से पंजाब में आये, पीछे आने वाले दूसरी टोली के आर्य्य चंद्रवंशी थे, जो गंगा की दरी से होते हुए चित्राल गिरि-पथ से आये। सरस्वती-तट पर उन्होंने राज्य स्थापित किया; इसका प्रमाण—भाषाशास्त्र की दृष्टि से ग्रियर्सन और हार्नले के अनुसार—वैद्यजी ने दिया है कि —यही चंद्रवंशी आर्य्य धीरे-धीरे दक्षिण में फैले, जिनकी भाषा अवधी, राजस्थानी और पंजाबी से भिन्न है। वैद्यजी का यह भी कहना है कि प्रयाग में चंद्रवंशियों के आदि पुरूरवा की राजधानी बताना पुराणों का भ्रम है, ये लोग गिलगिट-चित्राल के पथ से आकर पहले-पहल अम्वाला, सरहिंद स्थानों में बसे। फिर ये दक्षिण की ओर फैले। पहले आये हुए सूर्यवंशी भरतों का पीछे आये हुए चंद्रवंशी यदु, तुर्वशु आदि से युद्ध हुआ। यदु, तुर्वशु पूर्व में सरयू तक बस चुके थे, जिनसे भरतों का युद्ध हुआ। अमेरिका की पाँच जातियों के युद्ध का उदाहरण देकर वैद्यजी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि इन यदु, तुर्वशु, अनु, द्रुह्यु और पुरु इत्यादि नवागत चंद्रवंशी आर्य्यों के साथ पाँच अनार्य्य (पक्थ, भलान, भनन्तालिन, विषाणिन् और शिव) जातियों का गुट्ट[1] भरतवंशी राजा के विरुद्ध संघटित हुआ; अर्थात् वह दाशराज्ञ-युद्ध पहले के आये हुए सूर्यवंशी और पीछे के आए हुए चंद्रवंशी आर्य्यों का भूमि-लिप्सा के लिए पारस्परिक युद्ध हुआ, जिसमें सूर्य-वशी भरतों की ही विजय रही।

संक्षेप में रैगोजिन इत्यादि पाश्चात्यों के मत में दाशराज्ञ-युद्ध अनार्य्य भारतीयों पर विदेशी आर्य्यों का आक्रमण है और वैद्यजी ने उसमें इतना संशोधन और किया है कि, युद्ध में कुछ अनार्य्य भले ही सम्मिलित रहे हों; किंतु प्रधानतः उसमें आक्रमणकारी और आक्रांत, दोनों ही आर्य्य थे। इस कल्पना के द्वारा वैद्यजी ने सूर्य-वंश और चंद्र-वंश के पौराणिक आख्यान की संगति लगा ली है। इन दोनों समीक्षकों के मत के मूल में पाश्चात्य शोधकों की वही मनोवृत्ति या विचारधारा है, जो भारत को आरंभ में अनार्य्य देश मानकर उस पर विदेशी आर्यों का

---

1. आ पक्थासो भलानसो भन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ योऽनयत्सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन्युधा नृन्॥
(ऋक् 7-18-7)

आक्रमण करना युक्ति-युक्त समझती है, जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि आर्य लोग यहाँ के अभिजन नहीं, प्रत्युत विदेशी हैं।

प्राचीन आर्य्यवर्त्त त्रिसप्तक प्रदेश में सीमित था। सरस्वती, सिंधु और गंगा की सहायक नदियों से सजला-सफला भूमि वैदिक काल के आर्य्यावर्त्त की सीमा के
भीतर मानी जाती थी। किंतु, सरस्वती से मेरा तात्पर्य पंजाब की
सरस्वती सरस्वती से नहीं है। अफगानिस्तान की 'हिलमंद' नदी ऋग्वेद की
का सप्तक सरस्वती है। वर्त्तमान भारत के मानचित्र को सामने रख कर
ऋग्वेद काल की ऐतिहासिक आलोचना असंभव है। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं को समझने के लिए ऊपर कहे हुए त्रिसप्तक प्रदेश के आर्य्यावर्त्त (जो हिमालय और विंध्य के मध्य में था) को आँखों के सामने रखना होगा। तब यह कहना व्यर्थ है कि, आर्य्य लोग कहीं दूसरे स्थान से आये थे; क्योंकि खैबर की घाटी तब भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिम की सीमा नहीं थी। ऐसा समझ लेने पर दाशराज्ञ-युद्ध को विदेशी आर्य्यों और भारतीय द्रविड़ों का युद्ध न कहकर आर्य्यावर्त्त के आर्य्यों का ही गृह-युद्ध कहना संगत होगा। दाशराज्ञ के संबंध में जिस त्रसद्दस्यु का उल्लेख हुआ है, वह सुवास्तु प्रदेश का था, जिसे अब स्वात कहा जाता है।

इसी सुवास्तु प्रदेश को सत्यव्रत सामश्रमी ने आर्य्यों का मूल स्थान बताया है। 'तुग्व' सुवास्तु प्रदेश का एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। रैगोजिन का यह कहना असंगत है कि पुरु लोग पश्चिम के रहने वाले द्रविड़ जाति के थे। उन लोगों की अध्यक्षता में अन्य राजाओं ने तुत्सुओं से युद्ध किया; क्योंकि पौरवों का सरस्वती के दोनों तटों पर रहना ऋग्वेद से प्रमाणित है।[1] इस मंत्र में पुरु जाति का उल्लेख 'पूरवः' बहुवचन से है। ऋग्वेद काल की सरस्वती (हिलमंद) के दोनों तटों पर इनका राज्य था। ये पुरु लोग वृत्रयुद्ध में दिवोदास और इंद्र के सहकारी थे। उस युद्ध में पुरुवंशी कुत्स शुष्ण से और दिवोदास शंबर से लड़े थे[2]। त्रसद्दस्यु का स्वात की घाटी तक अधिकार होने का प्रमाण भी हम ऊपर दे आये हैं। तब यदि यह माना जाय कि, वर्तमान हिलमंद और स्वात प्रदेश की रहने वाली पुरु जाति

---

1. उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम्॥

(ऋक् 7-96-2)

2. त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदोर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥

(ऋक् 1-51-6)

भारत पर आक्रमण करती है, तो रैंगोजिन के अनुसार द्रविड़ पौरवों का पंजाब के आर्य्यों पर उलटा आक्रमण हो जाता है। वास्तव में तो इन लोगों की भ्रांत कल्पना यह है कि, विदेशी आर्य्यों ने भारतीय द्रविड़ों पर आक्रमण किया। जिन तृत्सुओं को रैंगोजिन ने आक्रमणकारी आर्य्य बताया है, वे तृत्सु आर्य्य-सैनिक नहीं; किंतु भरतों के पुरोहित थे और इसीलिए वसिष्ठ को प्रधान या आदि तृत्सु भी कहा गया है।[1]

वैद्यजी का कहना है कि, चंद्रवंशी आर्य्य अर्थात् पुरु, तुर्वशु, अनु और द्रुह्यु आदि गंगा घाटी से होते हुए कुरुक्षेत्र में आये और यहाँ पर बसने और राज्य करने के लिए उन्हें सूर्यवंशी भरतों से लड़ना पड़ा। आप पुराणों में वर्णित प्रयाग को पौरवों की आदि राजधानी भी नहीं मानते; किंतु चौथे मंडल के 30वें सूक्त में वर्त्तमान सरयू तट पर यदु-तुर्वशों का भरतों से युद्ध होने का उल्लेख आप प्रमाण में देते हैं। आश्चर्य की बात होगी कि, गंगा से पूर्व की नदी का तो दाशयज्ञ-युद्ध से संबंध लगाया जाय, किंतु गंगा का कोई उल्लेख न हो। वास्तव में तो दाशराज्ञ-युद्ध की पूर्वीय सीमा यमुना नदी ही थी 'आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्रभेदं सर्वताता मुषायत् अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलि शीर्षाणि जभ्रु रश्व्यानि (ऋग्वेद 7-18-19)। दाशयज्ञ-युद्ध संबंध सूक्तों में परुष्णी और यमुना का ही उल्लेख मिलता है। विश्वामित्र के तीसरे मण्डल के 33वें सुक्त में भरतों के एक और युद्ध का उल्लेख है। यदि उसे भी दाशराज्ञ-युद्ध का एक अंश माना जाय, तो सतलज और व्यास के तटों पर भी युद्ध का होना प्रमाणित है। जिस यदु-तुर्वशों के युद्ध का होना सरयू तट पर कहा जाता है, वैद्यजी उसे वर्त्तमान अयोध्या के समीप की सरयू समझते हैं; यह ठीक नहीं। ऋग्वेद की सरयू[2] अफगानिस्तान की हरिरूद या अवेस्ता की हरयू है। वहीं यदु-तुर्वशों से युद्ध हुआ था। यादवों का उस सरयू तट पर रहना इससे भी प्रमाणित होता है कि वे वृषपर्वा आदि असुरों के संबंधी थे। असुरों के देश के समीप वही सरयू हो सकती है, वर्त्तमान अयोध्या के समीप की सरयू नहीं।और, पुरु लोग तो स्पष्ट ही ऋग्वेदीय मंत्रों में आर्य्य कहे गये हैं। जिन

---

1. दण्डाइवेद्गोअजनास आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
   अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां बिशो अप्रथन्त।

   (ऋक् 7-33-6)

   किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
   प्र तन्मे वोचो दूलभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥

   (ऋक् 7-86-4)

2. उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः॥

   (ऋक् 4-30-18)

प्रमाणों के आधार पर रैंगोजिन यदु-तुर्वशों को अनार्य या द्रविड़ मानते हैं अथवा वैद्यजी उन्हें भरतों के विरोधी चंद्रवंशी समझते हैं, वे भ्रामक हैं; क्योंकि यदु-तुर्वशु जाति के लोग भी इंद्र के द्वारा सुरक्षित किये गये हैं।[1]

वैद्यजी का यह कहना भी सुसंगत नहीं है कि, भरत सूर्य-वंशी राजा थे; या उनके वंशज सूरदास से नवागत चंद्रवंशी आर्य्यों का युद्ध हुआ। भाषाशास्त्र के अनुसार आर्यों की जिस दूसरी टुकड़ी के भारत में आने की कल्पना की गयी—वह अधिक विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि वर्त्तमान भारत के मानचित्र का और प्राचीन आर्य्यावर्त्त की सीमा का विभेद ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। अब यह देखना होगा कि, भरत को सूर्यवंश का प्रमाणित करने में वैद्यजी कहाँ तक सफल हुए हैं। उनका कहना है कि, निरुक्त के अनुसार भरत का अर्थ सूर्य है और साथ ही आदि-भरत में एक व्यक्तित्व मानकर पौरवों के आदिपुरुष पुरु से संघर्ष होने का भी अनुमान करते हैं; किंतु वैदिक काल का इतिहास ढूँढ़ने में निरुक्त के अर्थ का अवलंबन नितांत भ्रमपूर्ण होगा। जिस वृत्र को ऐतिहासिक लोग असुर, त्वष्टा का पुत्र, मानते हैं, उसे निरुक्तकार मेघ बतलाते हैं। ऐसी रूपकीय कल्पनाओं से इतिहास का बनना असंभव हो जायेगा। दूसरा प्रमाण वे पुराणों से भरत के स्वायंभुव मनु के पौत्र होने का देते हैं। इसे मान लेने पर उन्हीं के कथनानुसार भरत को सूर्यवंशी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पुराणों के अनुसार सूर्यवंशी के आदिपुरुष वैवस्वत मनु थे। स्वायंभुव मनु के वंशज का सूर्य-वंशी बनना असंभव है।

वैद्यजी का यह भी मत है कि, चंद्रवंशी आर्य्यों की पाँच जातियाँ थीं और यही वैदिक साहित्य में 'पंचजना:' के नाम से पुकारी गयी हैं। अनु, द्रुह्यु, पुरु, यदु और तुर्वशु को एक मंत्र में एकत्र देखकर उन्होंने इस सिद्धांत की कल्पना की है।[2] किंतु इसमें इन लोगों के चंद्रवंशी होने का कोई प्रमाण नहीं। पुराणों में इन्हें चंद्र-वंशी और दिवोदास या सुदास को पौराणिक वंशावली में सूर्यवंश का देखकर भरतों को सूर्य-वंशी मान लेने का वे आग्रह करते हैं—यद्यपि भरत जाति पुराणों के द्वारा चंद्रवंश की ही स्पष्टत: मानी जाती है। इधर वाल्मीकि ने नहुष और उनके पुत्र ययाति को सूर्यवंश में माना है। दिवोदास तथा उसके पुत्र 'प्रतर्दन' का उल्लेख विष्णुपुराण के चौथे अंश के आठवें अध्याय में चंद्र-वंशावली में किया गया है।

---

1. त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं तुर्वीति वय्यं शतक्रतो।
   त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव। (ऋक् 1-54-6)
2. यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु मद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः। (ऋक् 1-108-8)

इस प्रकार वैदिक राजाओं की नामावली लेकर, पिछले काल की घटनाओं का उनसे संबंध जोड़कर, जो पौराणिक वंशावली पुराण-प्रादुर्भाव-काल में प्रस्तुत की गयी है, उससे वैदिक काल के इतिहास का निर्णय करना ठीक नहीं है। और जबकि, चंद्र और सूर्यवंश का उल्लेख वेदों में स्पष्ट नहीं मिलता, तब वैद्यजी का यह प्रयत्न केवल पश्चिमीय मत (जो आर्य्यों के बाहर से आने का है) का समर्थन मात्र है। आर्य्यों का दो टोली में आने का वैद्यजी ने सूर्य और चंद्र-वंश में सामंजस्य किया है। वस्तुतः यह दाशराज्ञ-युद्ध भरत जाति के प्रमुख राजा के विरुद्ध अन्य आर्य राज-कुलों का विद्रोह था, आर्यों और अनार्यों, चंद्रवंशियों तथा सूर्यवंशियों का युद्ध नहीं। ऋग्वेद के 7वें मण्डल के 18वें सूक्त के आधार पर दाशराज्ञ-युद्ध में लड़ने-वाले दस राजाओं का जो चयन किया गया है, वह समीचीन नहीं। दाशराज्ञ का स्पष्ट उल्लेख तो 7वें मण्डल के 33 और 83वें सूक्तों है। इन दोनों सूक्तों में उन दस राजाओं का नाम नहीं।[1] हाँ, 83वें सूक्त में यह तो अवश्य मिलता है कि, सुदास से लड़ने वाले दसों राजा यज्ञ विरोधी थे[2] तब हमारे उस मत को वह दृढ़ आधार मिलता है कि, सुदास के अश्वमेध-यज्ञ के विरोध में ही यह दाशराज्ञ युद्ध हुआ। सुदास का वह यज्ञ यमुना के तट पर पूर्ण हुआ, जहाँ पर इंद्र को अश्व के सिर उपहार में मिले।[3] यदि 18वें सूक्त के, अनुसार ही दस राजाओं का चयन करना संगत हो, तो उक्त सूक्त में पुरु, अनु, द्रुह्यु, भृगु, मत्स्य, विकरण, शिग्रु, यदु, तुर्वशु और अज लोगों के नाम स्पष्ट ही मिलते हैं, और ये आर्य्य जाति के नाम हैं। फिर उसी सूक्त में उल्लिखित पाँच अनार्य्यों को (पक्थ,-भलान, भन्तालिन, विषाणिन, शिव इत्यादि को) भी जोड़ देने से दस न होकर ये पंद्रह राजा हो जाते हैं। पक्थ, भलान आदि अनार्य्य तो उसी सूक्त में गायें चुराने वाले कहे गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि जब भारतवंशी आपस में

---

1. एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः॥

(ऋक् 7-33-3)

युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह॥

(ऋक् 7-83-6)

2. दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।

(ऋक् 7-83-7)

3. आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्र रश्व्यानि॥

(ऋक् 7-18-19)

लकडियों की तरह छितराये हुए थे और परस्पर लड़ रहे थे, तव इन अनार्य्यों को भी इनकी गायें चुराने का अवसर मिला होगा[1]। वास्तव में तो यह युद्ध इंद्रानुयायी सुदास और यज्ञ न करने वाले वृत्रानुयायी अन्य आर्य्य कुलों में हुआ था। दाशराज्ञ संबंधी 83वें सूक्त (9 मंत्र) में इनके वृत्रानुयायी होने का स्पष्ट उल्लेख है 'वृत्राण्यन्य: समिथेषु जिघ्नते'।

इस युद्ध के संबंध में ही सभवत: वसिष्ठ विपाशा-तट पर छोड़ गये और राजनीति के अनुसार उन्हें दक्षिणा भी दी गयी। तब उन्होंने भी कहा कि, मनुष्यों! सुदास के अनुयायी बनो, जैसा कि, तुम लोग उसके पिता को मानते थे।[2] ऐसा अनुमान होता है कि तृत्सुओं की पुरोहिती बनी रही, किन्तु भरतों के आचार्य का पद विश्वामित्र को मिला। विश्वामित्र भरतों के दीक्षा गुरु हुए और वसिष्ठवंशी कर्मकांडी पुरोहित बने रहे। विश्वामित्र इंद्र के परम प्रशंसक थे और उन्हीं की प्रेरणा से इंद्र ने सुदास की सहायता की। विश्वमित्र ने उस युद्ध में शतद्रु-तट पर जो सहायता सुदास को दी उसका प्रमाण है—तीसरे मण्डल का तेंतीसवां सूक्त जिसके 91 और 92 मंत्रों में भरतों के शतद्रुपार होने का वर्णन है। विश्वामित्र ने तो यहाँ तक कहा है कि कुशिकों के कारण ही इंद्र सुदास पर प्रसन्न हुए।[3] इंद्र की सहायता से ही सुदास को उस दाशराज्ञ-युद्ध में विजय मिली। और उन इन्द्र को तुष्ट करने वाले विश्वामित्र ही थे—स्वयं उन्होंने कहा है कि "य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम् विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्" (3-53-12)

कुछ लोगों का अनुमान है कि दाशराज्ञ-युद्ध 3102 बी० सी० में हुआ और उसी युद्ध का स्मरण-स्वरूप महाभारत-युद्ध है क्योंकि यह भी पौरवों के ही गृहकलह का रूपांतर है। किंतु दाशराज्ञ-युद्ध को अलग मानने के बहुत से कारण हैं। वह 'भारत-युद्ध' नहीं है। यह वैदिक युद्ध इंद्र और वृत्रासुर अथवा देवासुर-संग्राम का ही पिछला अंश है, जिसे 7500 बी०सी० से कम का अनुमान नहीं

---

1. दाण्डाइवेद्गोअजनास आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
   अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथन्त॥ (ऋक् 7-33-6)
2. इमं नरो मरुत: सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः।
   अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु॥
   (ऋक् 7-18-25)
3. महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिधुमर्णवं नृचक्षाः।
   विश्वामित्रो यदहवत्सुदासमप्रिययात कुशिकेभिरिन्द्रः॥
   (ऋक् 3-53-9)

किया जा सकता। पूना के एक शोधक विद्वान् भी इसे 6000 बी० सी० से पीछे का नहीं मानते।

इस युद्ध के बाद आर्य्य लोगों के बहुत से दल—अपने मतभेद लिये—आर्य्यावर्त्त से बाहर चले गये—और, उन्होंने नये उपनिवेश बसाये।

आर्य्यों के नये उपनिवेश-बृहत्तर आर्य्यावर्त्त

आर्य्यों की वाणिज्य करने वाली जाति के पणि लोग उस संघर्ष में असुरों से मिल गये थे। यही लोग संभवतः प्राग्-ऐतिहासिक काल के "फिनीशियन" लोगों के पूर्वज थे। ऋग्वेद (मण्डल 10 के 108वें सूक्त) में उनका उल्लेख है।[1] इसी संघर्ष के कारण आज भी जरत्त्वष्ट्र के अनुयायी धर्म में दीक्षित होते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—"हम देवों को भगाते हैं और अपने को जरथुस्त्रीय देवविरोधी स्वीकार करते हैं।"[2] उधर ऋग्वेद में इंद्र-शत्रुओं के निर्वासन की चर्चा है—"उतब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतशिचदारत। दधाना इन्द्र इद्दुवः" (ऋक् 1-4-5)

इस प्रकार प्राचीन काल के पूज्यमान असुर पिछले काल में वेदों में विरोधी माने गये। और देव लोग ईरानी आर्य्यों के यहाँ शत्रु समझे गये। आजकल ईरानी संस्कृति में देव-जादा या काला-देव, सफेद-देव उसी ध्वनि का द्योतक है, एवं अवेस्ता के अनुसार इन्द्र, शौर्व (शर्व ?) तथा नासत्य दुष्टात्माओं में गिने जाते हैं। "हाग" का भी विचार था कि अहुरमज्द का धर्म प्राचीन बहु-देववाद मूलक वैदिक विचारों से एक धार्मिक विद्रोह-रूप था। यद्यपि ऋग्वेद में मंत्रों के संकलन से यह सूचित होता है कि उस काल में वैदिक धर्म समन्वयवादी हो गया था। उसमें सब प्रकार की भावनाओं के मन्त्र मिलते हैं। फिर भी ईरानी आर्य्यों ने उसी धर्म के एक प्राचीन समुदाय को विकसित कर स्वतन्त्र उपासना का प्रचार किया, उसमें वरुण-असुर की प्रधानता थी और सोमपान इत्यादि के संबंध में कुछ नये सुधार किये गये थे। वैदिक आर्य्यों में इस तरह दो परस्पर-विरोधी सम्प्रदाय बन गये। इसके प्रमाण दोनों के धर्मग्रंथों में मिलते हैं।

यह ईरानी धर्म, वरुण की प्रधानता के कारण, एकेश्वरवादी होने पर भी द्वैत

---

1. इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ।।
(ऋक् 10-108-2 इत्यादि)

2. I drive away the Devas. I profess myself a Zarthustrian, an expeller of Devas, a follower of the teachings of Ahura a hymnsinger, a praiser of Amshaspands (p. 55, Zoroaster).

अथवा द्वंद्व को मानने वाला था। अहुर (असुर) सब मलिनताओं से परे पवित्रात्मा और अह्रिमान उसका प्रतिद्वन्द्वी दुष्टात्मा। इस प्रकार संसार के भले-बुरे काम बाँट दिये गये। यही सर्पाकृति अह्रिमान पिछले काल में अन्य धर्मों के शैतान का रूप धारण करता है, जो स्वर्ग नष्ट करने के लिये उद्यत था। संभवतः इस स्वर्ग-नाश का संबंध अवेस्ता-वर्णित जल-प्रलय से है।

एक प्रसिद्ध ग्रंथ (Conflict between religion and science) में लिखा है कि इस द्वन्द्व का समाचार यहूदियों ने पहले-पहल वेबिलोनिया से, जहाँ वे बन्दी थे, 7वीं-8वीं शताब्दी ईसवी पूर्व में सुना। प्राचीन वेबिलोनिथा, असीरिया और मीडिया के आर्य्यों की अहुर व असुर की उपासना में साम्य देखकर, विशेषकर यहूदियों के मुख से वेबिलोनिया-द्वंद्व की गाथा सुनने के आधार पर यहूदियों की धर्म-पुस्तक को सीमा का पत्थर समझने वाली भूल से यह कहा जाता है कि अपने ध्वंसावशेषों के द्वारा अपनी प्राचीनता का प्रमाण देने वाले सुमेरिया देश से ही यह धर्म-संस्कार फैला है।[1] यहूदियों का जेहोवा भी ईरानी असुर-वरुण का नामांतर है।[2]

फिर आगे चलकर (पृष्ठ 338) लिखा है कि यह तो हो सकता है कि असुर उपासक संप्रदाय के विकास में उन्नत विचार वाले वेबिलोनिया के धर्माचार्यों की छाप हो और फारस का मित्र-धर्म भी उसी प्राचीन संस्कृति वाले देश के संदेश-वाहकों के प्रचार का परिणाम हो।[3]

---

1. If the view is accepted that Ashur is Anshar, it can be urged that he was imported from Sumeria—(p. 327, Myths of Babylonia).
2. For, as an ethical god Varun may be placed next to the Israelite Yehweh, and the difference between thh decay of Varun and the strenuous and successful of Hebrew prophets to uphold thes upermacy of Yehweh needs more consideration (Universal History : Ch. 21, Stanley G. Cook).
3. It may be therefore there the cult of Ashur was influenced in its development by the doctrines of advanced teachers from Babylonia, and that persian Mithraism was also the product of missionary efforts extended fromt hat great and ancient cultural area (p. 338, Myths of Babylonia).

प्राचीन शिनीर या सुमीर को वर्त्तमान सभ्यता का जनक मानने के लिए इस प्रकार बहुत से विद्वानों ने अनुरोध किया है, उसके मूल में यही सब कारण हैं। उनके मत से असुर का धर्म पारसियों ने बैबिलोनिया से सीखा। 'Darmistier' जैसे अवेस्ता के अनुवादक ने तो यहाँ तक कह डाला है—इस धर्म पर ग्रीक, यहूदी और कितने ही धर्मों का प्रभाव है। और Prof. Geldner का मत है कि ये गाथाएँ ही सबसे पुरानी हैं जिन्हें कि 'जरथुस्त्र' का संदेश कहा जा सकता है। उनके सम्बन्ध में Darmistiter का मत है कि वे अधिक से अधिक ईसवी पूर्व पहली शताब्दी की है।[1]

किंतु पक्षपातपूर्ण संकीर्ण विचार में कितना सत्य है, नीचे का अवतरण देखने से उसका पता लग जायगा, और यह जरथुस्त्र का धर्म वा संप्रदाय कितना प्राचीन है, यह भी आप जान सकेंगे। जैकब ब्रायण्ट नामी एक सुधी लेखक अपने 'एना-लेसेस ऑफ ऐंश्येंट माईथोलाजी' में बहुत से प्रामाणिक लेखकों को उद्धृत करता है, जैसे प्लिनी दि एल्डर, प्लुटार्क, प्लेटो, यूडाक्सस इत्यादि; और वह इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि 'जरथुस्त्र' नाम एक नहीं अनेक व्यक्तियों का है।

प्लिनी मूसा से कई हजार वर्ष पहले जरथुस्त्र को मानता है। प्लुटार्क उसे ट्राय-युद्ध से 5000 वर्ष पहले का कहता है। यूडाक्सस जराथुस्त्र को प्लेटो की मृत्यु से 6000 वर्ष पूर्व का मानता है। प्लेटो की त्यु 348 बी०सी० में हुई।[2]

---

1. They can hardly be older than the first century before our era or even before Philo of Alaxandria, for the neo-platonic ideas and beings are-found in them just in the philonian stage (p. IXV, Vendidad).
2. Jacob Bryant, a very careful writer, and as accurate as the knowledge of his day permitted him to be in his well-known analysis of the Ancient Mythology, published in 1807, in which he deals at some length with the subject of Zoroaster, quotes such fairly reliable writers as Pliny the elder, Plutarch, Plato and Eudoxus amongst many others and comes to the conclusion that the name of Zarthusthra or Zerdusht as given by some must have been borne by more than one person and this is possibly correct. It would also account for the tradition that Zarthusthra was accorded immortality as a result of his intimate communi-

अब आप विचार कर सकते हैं कि जिस धर्म के आधार पर पवित्र-विज्ञान के आकार का निर्माण प्लेटो ने किया और ग्रीस के जिन प्राचीन दार्शनिकों ने जिस जरथुस्त्र धर्म से बहुत कुछ लिया वह पारसी धर्म उनसे भी पीछे का है; ऐसा मानने में पक्षपात है या नहीं ? ट्राय का युद्ध 1300 या 1400 ईसवी पूर्व का माना जाता है। उससे भी 6000 वर्ष पूर्व अर्थात् 7500 ईसवी पूर्व में जरत्त्वष्ट्र (प्राचीन-त्वष्टा) का होना, ग्रीक दार्शनिकों और इतिहासकारों ने माना है। मेगास्थनीज के दिये हुए राजवंश-संख्या और समय-निरूपण से भी वही मिलता है, जिसका समर्थन हमारे पुराणों की तालिका करती है। फिर उस समय को क्यों न माना जाय ? यदि त्वष्टा का धार्मिक संघर्ष इतना प्राचीन है तो यह बात स्वयं प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन सुमेरिया, इजिप्ट और बैबिलोनिया आदि में प्राचीन असुर-उपासना का धर्म इन्हीं मीडिया में विताड़ित आर्य्यों के धर्म का प्रतिबिंब है। इन सब देशों में मित्र-वरण की उपासना ईरानी धर्म-याजकों के प्रचार के द्वारा प्रचलित हुई। और उनकी सभ्यता से ये सब देश आलोकित हुए। अत: यह Indo-Iranian-Period इससे सात-आठ हजार वर्षों से भी प्राचीन है। इसी काल में सुमेरियन सभ्यता का प्रभात होता है। अब आवश्यक है कि सुमेरिया इत्यादि के संस्कृति-केन्द्र होने की परीक्षा की जाय।

त्वष्टा के अनुयायी वृत्र या अहि का निवास ऋग्वेद में निण्य लिखा है : "वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः" (ऋक् 1-32-10)। यह निण्य प्राचीन सुमेरिया का निम्न नामक स्थान है। अवेस्ता के अनुसार भी Azi Dohak अहि Bawri बावेरु (बैबिलोन) में रहता था। सरमा के उपाख्यान से भी असुर-निवास का रसा के उस पार होना प्रमाणित है। सुमेरु प्रदेश से हटाये जा कर असुर संप्रदायवालों ने वरुण की नगरी सुषा (Sussa), इलाम की राजधानी के पास ही के प्रदेश को फिर से सुमेर नाम दिया। और Land of Noiri आर्य्य-साहित्य में प्रसिद्ध निरय (असीरिया का ऊपरी प्रदेश) रहा हो तो क्या आश्चर्य है—"असुर्य्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः (ईशोपनिषत्—3)।[1]

---

cations With the creator, Ormuzd. Pliny places him many thousand years before Moses. Pliutarch tells us that he lived 5000 years before the death of plato which occurred in 348 B. C.—(p. 11, Zoroaster).

1. इसी मन्त्र के उत्तरार्द्ध—"तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनः'—के "आत्महनो जनाः' में असूर्या = असीरिया में जाने वाले मूल असुर जाति के उन जनों की एक सहज परिभाषा भी अनुमेय है—जो इन्द्र के आत्मवाद के विरोधी और वरुणोपासना की प्राचीन परम्परा के कट्टर अनुयायी रहे।

छांदोग्य की विरोचन और इन्द्र की ज्ञान प्राप्ति वाली कथा का तात्पर्य मनोरंजक है। स्पष्ट है कि देवों के नायक इन्द्र आत्मवाद तक पहुँचे किंतु प्रजापति के कहने पर कि 'जलपात्र में देखो'—केवल अपना मुँह देखकर असुर नायक विरोचन देहात्मवादी हुए। एवंविध असुर शरीर को मुख्य मानने लगे तथा उनमें मृत शरीर को मिक्षा, अलंकार से सजाकर सुरक्षित रखने की प्रथा चली। ईजिप्ट के ममी निर्माण के मूल में छांदोग्य की इस कथा की छाया है। अंतत: असीरिया की धार्मिक सभ्यता के संबंध में Myths of Babylonia and Assyria के लेखक को लिखना पड़ा —"संभव है कि असीरिया के धार्मिक संस्कारों का दूसरा उद्गम फारस हो, क्योंकि असीरिया के असुर भी ठीक फारस के समान पंखदार चक्र में राजा के ऊपर छाया किये हुए दिखाई देते हैं। पवित्र वृक्ष भी पारसियों की 'माइथोलोजी' के अनुसार ही असीरिया में सम्मानित था।[1] यहाँ तक कि प्राचीन असीरिया के राजाओं के नाम भी सेमेटिक नहीं थे।"

असीरिया की सभ्यता सुमेरिया और बैबिलोन की सभ्यता से पीछे 1300-1400 बी०सी० की मानी जाती है। इसलिए इन विद्वानों ने उस पर ईरानी सभ्यता की छाप मान लेने में कोई बाधा नहीं देखी। इसके और भी कारण हैं। Dr. Hugo Winkler ने मैत्रायणों (Mittanians) के एक शिलालेख का उद्धार किया है। उसका समय ईसा पूर्व 14वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। वह शिलालेख एशिया माइनर, वर्तमान अंगोरा, के समीप Bogazkoi में इन्द्र वरुण, नासत्य आदि आर्य्य नामों को अपनी छाती में छिपाये पड़ा था। यहीं तक नहीं, इन मैत्रायणों की ही सहकारी एक और जाति हिटाइट (Hittite) थी, जिसने अपनी शूरता से प्राचीन सुमेरिया और बैबिलोनिया के असुर राजाओं को विकंपित कर दिया था। 'Story of Assyria' में Ragozin लिखते हैं कि—"चैल्डिया और असीरिया के शिलालेखों में हिटाइट लोगों का नाम 'खत्ती' लिखा

आत्मसत्ता के वे प्रतिध—इन्द्रानुयायिनी परम्परा में—"आत्महनो जना:" के रूप में स्मर्तव्य हुए जिनका निवेश असुर्या (असीरिया) वगिनार्थ वैचारिक परम्परा के अन्धकार से आच्छादित और आत्मवाद के अभिनव आलोक से सर्वथा वियुक्त होने से 'अन्धेन तमसावृता:' कहा गया। (सं०)

1. Another possibee source of cultural influence is Persia. The supreme God Anura-Mazda (Ormazd) was, as has been indicated, represented, like Ashur, hovering over the King's head, enclosed in a winged disk or wheel, and the sacred tree figured in persian Mythology. (P. 355, Myths of Bobylonia).

है। इसमें संदेह नहीं कि यह उल्लेख मेसोपोटामिया में हिटाइट लोगों के प्राथमिक आक्रमण का प्रमाण है।"[1]

इसी का समर्थन 'Myth of Babylonia' के लेख में देखिए—"मेस्पेरो जैसे प्रामाणिक लोगों को भी सम्मति है कि हट्टि या हिटाइट लोगों का जो उल्लेख बैबिलोनिया की 'बुक ऑफ ओमेन' नाम की प्राचीन पुस्तक में है, वह अक्काद (Chaldia) के प्रथम सार्गन के भी पहले का है।"[2]

आगे चलकर उसी लेखक ने लिखा है—"विकलर विश्वास करते हैं कि मित्तानी (मैत्रायण) राज्य हट्टी लोगों की पहली लहर के द्वारा स्थापित किया गया था जो पूर्व से आये थे।[3] इन हिटाइट क्षत्रियों के उपास्यदेवता थे शतक्रतु (Sutekh) और तार्क्ष्य (Torku)। तार्क्ष्य गरुड का वैदिक नाम है।"

इन पाश्चात्य विद्वानों के ही विचार से ये मैत्रायण और खत्ती एक ही जाति के थे। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में जाति विभाग के अनुसार भी ये लोग सेमेटिक नहीं थे। परन्तु देखना चाहिये कि उस जाति का असली नाम कितनी चालाकी से छिपाया जाता है। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में व्यवहृत विकृत Hittites का प्रचार किया गया है। 2800 ईसा पूर्व यानी 'सार्गन' के पहले भी जो उनका क्षत्रिय (Khatti) था, उसका कहीं प्रयोग नहीं। मेरा अनुमान है कि ये आर्य्य किसी धर्म-संप्रदाय के प्रति उतना आग्रह नहीं रखते थे, जितना अपनी शूरता और विजयों के प्रति। उन्होंने अपना नाम केवल क्षत्रिय ही रखा था।

हीरेनशा (Hearenshaw) अपने संसार के इतिहास (पृष्ठ 19) में लिखते हैं—"सबसे पहले एशिया माइनर की लोहे की खान को खोदने वाले हिटाइट

---

1. As 'Khatti' is the name invariably given to the Hittites in the chaldean and Assyrian inscriptions, there can be no doubt that this is a record of an early Hittite invasion in Mesopotamia... (p. 34, The story of Assyria).
2. Some authorities including Maspero are of opinion that the inclusions of the Hatti which is found in the Babylonian Book of Omens belong to the earlier age of Sargon of Accad—(p. 264, Myths of Babylonia).
3. Winkler believes that Mittani kingdom was first established by early waves of Hatti people who migrated from east—(p. 268, Myths of Babylonia).

(खत्ती) लोग ही थे। इस लोहे की सभ्यता के आदि आविष्कारक आर्य्य—क्षत्रिय ही थे।"[1]

'Indian Mythical Legend' की भूमिका में लिखा है—"साधारणत: यह मानी हुई बात है कि आर्य्य लोगों ने घोड़े को पहले पालतू बनाया जिसके कारण आगे चल कर बहुत से साम्राज्य बने और बिगड़े।'[2]

मिश्र के इतिहास में भी आर्य्यों के द्वारा ही घोड़े के प्रचार का उल्लेख मिलता है। (Egyption Myth and Legend—page 264)। Hyksos ने 2200 ईसा पूर्व में मिश्र देश में राज्य किया और इन्हीं आक्रमणकारी इक्ष्वाकुओं (Hyksos) ने घोड़े से मिस्र देश को परिचित कराया था। इसके पहले के पिरामिड बनाने वाले राजाओं में Sonkhkor = शंखकार जैसे आर्य्यध्वनि वाले नाम मिलते हैं। सुमेरिया की जाति के ही ये प्रागैतिहासिक काल के निवासी माने जाते हैं नील-नद की सभ्यता ने पिरामिड बनाने वाले को अधिक से अधिक 4000 से 3000 बी०सी० के बीच में उत्पन्न किया है। परन्तु सिंधु की सभ्यता ने (मार्शल के अनुसार) 4000 से 3000 बी०सी० का प्रमाण दे दिया है। इसलिए यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि 'ओसेरिस' पूजक मिस्र निवासियों की प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता भी इन्हीं असुर उपासकों के उस 'विराट् द्वंद्व' का एक अंश मात्र रही।

H. G. Wells ने जिस 'Sargon of Accad' को विजेताओं में सर्वप्रथम माना है उसके प्रसिद्ध हम्मूरब्बी के सिंहासनों को कँपाने वाले यही क्षत्रिय थे जिन्हें Hittite कहकर पाश्चात्य शोधकों ने घपले में डाल रखा है। Khatti जाति की सभ्यता 3000 बी०सी० से पहले की है।[3] यहूदियों के सर्व-प्रधान व्यक्ति Abraham ने Ephron खत्ती से भूमि ली थी। अस्तु।

---

1. Asia Minor was the region where iron mines were first worked and that the Hittites were the people who first conveyed this gift of the Gods to men—(Indian Mythical Legend).
2. It is generally believed that the Aryans were the tamers of the horse which revolutionised warfare in ancient days and caused the great empires to be overthrown and new empires to be formed—(P. XXX, Indian Mythical Legend.)
3. Myths of Bobylonia, p. 263.

यह मानी हुई बात है कि प्रसिद्ध सार्गन ने चैल्डिया में सेमेटिक वंश की स्थापना की थी। इसके पहले के शासन करने वाले सेमेटिक नहीं थे। सार्गन के पहले भी—3000 ई० पूर्व में—क्षत्रियों की सभ्यता सुदूर पश्चिमी दक्षिणी एशिया में सूसा से आरमीनिमा तक सर्वत्र व्याप्त थी। ये भी आर्य्यों के समान पितृ-देवों की ही उपासना करते थे, सेमेटिक लोगों के समान मातृ-उपासक नहीं थे।[1]

आरमीनिया के वान प्रदेश के शिलालेखों की भाषा से Mr. Syce ने प्रमाणित कर दिया है कि पूर्वकालिक आर्मीनियम लोग न तो सेमेटिक थे न तूरानी थे; उनका विचार है, और यह विचार प्रतिदिन पुष्ट होता जा रहा है कि वे क्षत्रिय वंश की एक शाखा थे।[2]

आरमीनियन लोग अब तक आर्य्य जाति के माने जाते हैं, और उस प्रारंभिक काल में भी भाषा के विचार से वे सेमेटिक नहीं थे। आर्य्य-भाषा-भाषियों की विजय का संकेत उस प्राचीन प्राग्ऐतिहासिक काल में सुमेरिया और इलाम के लेखों में देखकर पाश्चात्य सोग आश्चर्य तो प्रकट करते हैं, परन्तु वहाँ की स्पष्ट आर्य्य-सत्ता को स्वीकार करने में उन्हें संकोच होता है।

इन ऊपर के अवतरणों से मुझे यह दिखला देना था कि सुमेरिया और असीरिया, ईजिप्ट तथा बाबुल में प्रारंभिक काल से ही आर्य्य-संस्कृति का प्राधान्य था और वे उन्हीं आर्य्यों की संतान थे, जिन लोगों ने प्राचीन आर्य्यावर्त्त से देव-असुर द्वंद्व होने के कारण सुदूर देशों में जाकर अपने लिए घर बनाया और उन देशों में बसने वाली आदिम जातियों से मिल कर धार्मिक आदान-प्रदान के द्वारा एक नवीन—आर्य्यों से बिलकुल स्वतन्त्र—सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। और, यह भी प्रमाणित करना है कि ये असुरोपासक अपने प्राचीन इतिहास को धीरे-धीरे भूल चले—कुछ तो धार्मिक मतभेद के कारण और कुछ समय के इतने लम्बे अंतर से। इनके धर्मों के मूल में वही असुरोपासना थी, यद्यपि धीरे-धीरे उसमें अनार्य्य या सेमेटिक जाति के संसर्ग से अत्यन्त प्राचीन समय में कुछ नयी बातें भी घुस पड़ी थीं। जैसे, स्त्रियों का छाती पीटकर रोना, 'Ailnu Ailnu' कहते हुए चिल्लाना।

---

2. Myths of Babylonia, p. 105.
3. M Syce has conclusively shown from the language of-monuments at Van (बाण असुर ?) that the Proto-Armenians were not semites neither were they Turanians. He thinks and the conclusion is gaining wider and firmer ground that they were a branch of the great Hittite family. (p. 205, The Story of the Nations Series—Assyria).

यह प्रथा असीरिया में प्रचलित थी। संभवत: शतपथ (काण्ड 3, प्रपाठक 1), में — 'तेऽसुरा आत्तवचस: हेऽलवो-हेऽलवो इतिव्वदन्त: पराबभूवु: ''' असुर्य्या हैषा वाग्" (सायण ने लिखा है—'असुर्य्या असुरेष्वाहिता') इसी का संकेत है। ऐसी ही एक प्रथा बालक-बलि की भी उन लोगों में थी।[1] यह बालक-बलि पूर्णरूप से सेमेटिक पूजा थी। पिछले काल के भारतीय उपाख्यानों में क्या, ऐतरेय में ही एक ऐसा प्रसंग आया है —रोहिताश्व की बलि का। यह जानकर आश्चर्य होगा कि उस बलि के द्वारा तर्पणीय देवता भी असुर वरुण ही थे जिनके लिए शनु:शेफ की बलि होती। मालूम पड़ता है, संतानार्थी आज भी जिस प्रकार आसुरी मनौतियाँ करते हैं उसी प्रकार हरिश्चन्द्र भी किसी असुरयाजक के चक्र में पड़ गये थे। किंतु विश्वामित्र ने यह अनार्य्य और आसुर-कर्म आर्य्यावर्त्त में न होने दिया और शुन:-शेफ की मुक्ति करा दी। बालक प्रह्लाद के वध की किंवदन्ती भी हिरण्यकश्यप असुर से ही संबंध रखती है।

ऐसे बहुत से अनार्य्य आचार भी उन असुरों के क्रिया-कलाप में थे, किंतु प्रधान असुर आकाशी वरुण की उपासना तब भी सबसे प्रधान थी।

प्राचीन काल में सुमेरियनों का स्वर्ग भी जल में था। सुमेर लोग दजला-फरात की संधि में बसने वाले थे। G. Leonard Woolsey का कथन है—

The original home of the Sumerians is unknown. They came from a hill county some where in central Asia and so widely spread that kinsfolk of those whom we find later in Mesopotamia were already settled in the north west provinces of India. How they Come in Mesopotamia we do not know. Whether they dashed down through Elamite hills or came by sea skinting the eastern shore of persian gulf as is perhaps more likely." (Universal history of the world, 5—12)

इंद्र उस काल के विरोधी देवनायक थे जब कि त्वष्टा वरुण-संप्रदाय के आचार्य थे और इस द्वंद्व की रंगभूमि आर्य्यावर्त्त थी। इसके प्रमाण ऋग्वेद और

---

1. Considering the human sacrifices and especially of children were a standing institution among other semetic cannanitic races. There can be little doubt that originally in prehistorically remote times this decree was understood literally and acted upon —(p. 124, The Story of Assyria).

सुमेरियन सभ्यता के पूर्ववर्ती जरथुस्त्र के उद्धरणों में विद्यमान हैं। पिछले काल तक—मौर्यों के समय में भी—सरस्वती-तट आर्य्य-सीमा में था, फिर उसके हटने का कारण आर्य्यों की कोई प्रवृत्ति नहीं जान पड़ती। क्योंकि, सप्तसिंधु या आर्य्यावर्त्त से हटकर ही पश्चिम में असुर उपासकों को अपनी सभ्यता का प्रचार करना पड़ा। आर्य्यावर्त्त तो अपने धर्म के अवांतर भेदों के साथ जहाँ का तहाँ अविचल रहा। यह इंद्र-वृत्र का युद्ध संसार के प्रागैतिहासिक काल का भले ही हो, परन्तु आर्य जाति का इतिहास है। Indian Myth में इंद्र के संबंध में लिखा है कि इंद्र अत्यंत प्राचीन देवता थे, वे प्रस्तर युग में पूजे जाते थे।[1]

सुमेरिया का ई-ओंस असुर वरुण का विकृत रूप है[2]। प्राचीन चैल्डिया में वही ईरानी उपासना 'अस्सर मआजद' के नाम से प्रचलित थी। Ea-onnes ठीक वैसे ही Artisan के देव थे जैसे त्वष्टा थे। वरुण और वे फारस की खाड़ी के देवता थे। वहीं से उन्होंने सुमेरिया में पदार्पण किया। प्राचीन सुमेरिया में वे आदि निवासियों को घर बनाना इत्यादि सिखाने के लिए आये थे (Indian Myth)। वरुण के उपासक त्वष्टा के अनुयायियों ने वहाँ पहुँच कर सभ्यता का प्रचार किया—इस विवरण से तो ऐसा ही प्रतीत होता है। क्योंकि, सर जान मार्शल भी वर्त्तमान काल की खोजों से इसी सिद्धांत के समीप पहुँच रहे हैं।[3]

---

1. It is possible that he may have been invoked and propitiated by Neolithic or even by paleolithic flat knippers—(p. 2, Indian Myth).
2. Indian Varun was similarly a sky God as well as an ocean God before systematizing Brahmanic teachers relegated him to a permanent abode at the bottom of sea. It may be that Eaonnes and Varun were of common origin. (p. 31, Myth of Babylonia).
3. The Opinion has lately been gaining ground that the cradle of Sumerian and Egyptian civilization is to be sought some where east of Mesopotamia—migrations then undoubtedly were and those on a large scale and nothing is more probable than that the teeming populations of Northern India expanded westward through across the Iranian plateau and northward to the plains of Trans-Caspia—(Sir John Marshell, 92. The Benares Hindu University magazine).

ईजिप्ट की प्राचीन गाथाओं में एक अत्यन्त प्राचीन देवता 'टाह' की पूजा का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है ईजिप्ट में यह एक आक्रमणकारी जाति के द्वारा ले आये गये और अत्यंत प्राचीन प्राग्-ऐतिहासिक काल में वे शिल्पियों के देवता कहकर पूजित हुए।[1]

यह Ptah शब्द त्वष्टा का स्मारक है। सबसे पहले मेम्फिस में इन्हीं का मंदिर बना और ईजिप्ट के यही प्रधान देवता माने गये। Osiris Assor-ah भी मिश्र की असुर उपासना के अंग थे। उनमें चंद्रमा की वैसी ही शक्ति मानी जाती थी—जैसे वरुण में।[2]

इस प्रकार आर्य्यावर्त्त से विताड़ित त्वष्टा और वरुण की साहस्री माया के परशिया, मेसोपोटामिया, बैबिलोनिया, सुमेरिया, असीरिया और ईजिप्ट में फैलने का प्रमाण ऋग्वेद और अवेस्ता में मिलता है। बैबिलोनिया का Baal भी ऋग्वेद में वर्णित इंद्र-शत्रु बल की प्रतिकृति है। बल के जीतने और बलभिद् आदि उपाधि धारण करने के प्रायः उल्लेख हैं। ऋग्वेद में कहीं-कहीं ऐसा भी ध्वनित होता है कि यह वृत्र का भाई था।

तम्मूज़ की कथा और उसके मारे जाने का प्रसंग भी असीरिया में अधिक प्रचलित था। यह तम्मूज भी दानवों का राजा था। ऋग्वेद में वृत्र का एक संकेत 'तमस्' भी है।[3] बैबिलोनिया में भी दुष्टात्माओं का उच्च देवताओं से युद्ध करने के प्रसंग का उल्लेख मिलता है, जिसमें तम्मूज़ के मारे जाने का वर्णन है। यह तम्मूज बैबिलोनिया के मृत और पराजित देवता थे, जिनकी पूजा उस संप्रदाय के अनुयायी करते थे। उनके यहाँ उसके लिए शोक भी मनाया जाता था। एक प्रकार से यह 'नृम्ण' इंद्र की विजय की स्वीकृति थी जिसे आसुरी सभ्यता मानती थी।

सारांश यह है कि महावीर इंद्र की विजयों ने प्राचीन आर्य्यावर्त्त के 'त्रिसप्तक नद-प्रदेश' से असुर उपासकों को हटा दिया। ईरान में वह असुर

---

1. It is possible that Ptah was imported into Egypt by an invading tribe in prehistoric times. He was an artisan God according to tradition. Egypt's first temple was erected to Ptah by king Mena—(Egyptian Myth and Legend Introduction, XII).
2. Egyptian Myth की भूमिका।
3. देवी यदि तविषी त्वावृधोतय इन्द्र सिषक्त्युषसं न सूर्यः। योधृष्णुनाशवसा बाधते तम इर्यति रेणुं वृयदर्हरिष्वणिः—ऋग् 1-56-4 (सं०)

उपासना, 'अहुर-मज्द' धर्म, फूला-फला। यह ऐतिहासिक प्रसंग 7500 ईसा पूर्व से भी पहले का है। पिछले काल में भी मैत्रायण, इक्ष्वाकु और क्षत्रिय जैसी आर्य्य धर्मानुयायी जातियाँ कभी-कभी उन असुर देशों में भी अपनी विजय वैजयंती उड़ा आती थीं।

आर्य्य-सभ्यता के इतिहास का वह प्रारंभिक अध्याय है, जब इंद्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, जब असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त्त में जब साम्राज्य स्थापन किया।

'त्रिसप्तक प्रदेश' की बसनेवाली भिन्न-भिन्न आर्य्य संस्थाओं का, जो अपना स्वतंत्र शासन करती थीं और आपस में लड़ती थीं, सम्राट् बनकर इंद्र ने एक में व्यूहन किया और वैदिक काल की भरत, तृत्सु, पुरु आदि वीर मंडलियाँ एक 'इंद्रध्वज' की छाया में अपनी उन्नति करने लगीं। संसार में इंद्र पहले सम्राट् थे। पिछले काल में असुरों ने उन प्राचीन घटनाओं के संस्मरण से अपना पुराण चाहे विकृत रूप में बनाया हो परंतु है वह सत्य इतिहास, आर्य्यों का ही नहीं अपितु मनुष्यता का, जब मनुष्य में आकाशी-देवता पर से आस्था हटकर आत्मसत्ता का विश्वास उत्पन्न हुआ।[1]

---

1. वैदिक वाङ्मय और अन्य देशों की अनुश्रुतियों के आधार पर इस निबंध में प्राचीन आर्य्यवास और आर्य्यों के परवर्त्ती उपनिवेशों के संदर्भ में उस मूल वैचारिक द्वंद्व का विवेचन हुआ है जो देवासुर-संग्राम से दाशराज्ञ-युद्ध पर्यंत एक लंबे संघर्ष में परिणत हुआ। वह द्वंद्व मानव-समाज के प्रायः समस्त परवर्त्ती द्वंद्वों का प्रजापति बना और चेतना के धरातल पर विभाजन की जो रेखा उसने खींच दी, उसी को खींचते-तानते मानव-समाज वर्गों में बँटता और द्वंद्व-बहुल होता गया। उस वैचारिक संघर्ष के—आकाशी युद्धों के रूपक में—आज प्राप्त उल्लेखों से विस्मित होना ठीक नहीं। अयुतों वर्ष व्यापी उस बहुस्तरीय संघर्ष एवं उसके परिणामों की ऐतिहासिक विवेचना अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पुरानी मान्यताओं को दृढ़ता से पकड़ रखने वाले—असुर कहे जाने वाले—आर्य्यों के पश्चिमाभिमुखी अभियान के क्रम में स्थापित हुए उनके नए उपनिवेशों का जो परिशोध इस विवेचना के द्वारा प्रस्तुत हुआ है उसके सहारे अनेक उपलब्धियाँ संभावित हैं। परवर्त्ती शोधोपलब्धियाँ इस निबंध की स्थापना को पुष्ट करती जा रही हैं : और अब, एक आक्रामक जाति के रूप में आर्य्यों के यहाँ आने और भारत को उप-निवेश बनाने की मिथ्या धारणा निरस्तप्राय है। डा० केडिल ने कालाहारी अधित्यका (दक्षिणी अफ्रीका) के अपने शोध-संदर्भ में जो यह

कहा है कि—'इस विचित्र जंगली प्रदेश में मनुष्य उत्पन्न हुआ' उसका यह अभिप्राय नहीं हो सकेगा कि समग्र पृथ्वी पर फैली मानव जाति का वही अग्रजन्मा है।

पीत जाति की भूमि चीन में भी प्रागैतिहासिक नर-कंकाल पाये गये हैं। मध्यचीन के आन्ह्वेई प्रांत का नर कंकाल दो लाख वर्ष पुराना और 'पीकिंग मनुष्य' (Beijing man) छः लाख वर्ष पहले का कहा जा रहा है। भूमध्य-रेखा के समीप उष्ण-मरु और रूक्ष वायुमंडल में कृष्णवर्णा जाति और उत्तरीय ध्रुव के समीप शीतप्रधान आर्द्र वातावरण में पीतवर्णा जाति के उद्भव और प्रसार स्पष्ट हैं। कुछ दिनों पूर्व Indian Physic Journal 'प्रमाण' में प्रोफेसर यू० आर० राव ने पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति का कारण चुंबकीय-क्षेत्र को बताया है। निश्चय ही भिन्न शक्ति-तरंग वाले अनेक चुंबकीय-क्षेत्र इस पृथ्वी पर होंगे और जीवोत्पत्ति में कारणभूत वस्तुत: वे क्षेत्र नहीं प्रत्युत उन्हें केंद्र बनाकर ऊर्जित होने वाले उनकी शक्ति तरंग है। भिन्न-भिन्न तरंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवोत्पादन की क्षमता होगी: और, अन्य जीवों से विलक्षण चेतना-संपन्न मनुष्य की उत्पत्ति के मूल में कुछ विशिष्ट शक्ति-तरंग वाले चुंबकीय-क्षेत्रों का होना आवश्यक है। तब, ऐसा केवल चीन अथवा अफ्रीका में ही न होगा पृथ्वी के धरातलीय विपर्यासों ने कब, कहाँ और कैसे-कैसे क्षेत्र-परिवर्त्तन किये ओर उनका जैव-विकास को कैसा योग मिला यह तो भौतिक विज्ञान का विषय है किंतु अभी तक सामान्य सूचना में आये तथ्यों का फलयोग कुछ ऐसा ही संकेत देता है।

चीन और अफ्रीका अर्थात् पीत और कृष्ण जाति के भू-खंडों पर मिले नर-कंकालों ने एक और गंभीर प्रश्न यह उपस्थित कर दिया है कि उस मानव जाति का केंद्र और उसके प्रागैतिहासिक अवशेष कहाँ हैं जिसका वर्ण श्वेत से ताम्र पर्यंत—भौगोलिक प्रभावों से परिवर्तित—अनेक आभाओं से रंगीन, हमें आज प्राप्त है: और जो गंगा से नील की घाटी और स्कैंडिनेविया पर्यंत आज भी पृथ्वी की सर्वाधिक प्रभविष्णु महाजाति अथवा आर्य्य--जाति है। प्रागैतिहासिक अवशेषों की ऐसी अलभ्यता के कारण आर्य्यों की प्राचीनता और उनकी मौलिक भूमि के संबंध में अनेक भ्रांत धारणायें बनती चली आ रही हैं: उसके समाधान का समुचित उपचार इस निबंध का मूल्यवान विषय है।

प्रायः तीन वर्ष पूर्व तनजानिया (अफ्रीका) के लेतोली क्षेत्र में डा० मेरी लीके ने कुछ अति प्राचीन मानुष चिह्न पाये हैं जिनका उल्लेख पश्चिमी-

मिशिगन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर द्वारिकेश ने 12 जून, 1982 के टाइम्स ऑफ इण्डिया में किया है। रेडियो-कार्बन-परीक्षण से वे चिह्न छत्तीस लाख वर्ष पुराने सिद्ध हुये हैं। इस निबंध में कथित मूल द्रविड़भूमि के इन मानुष-चिह्नों का आज उस Shivalik Man के Rama Picthus से जो संबंध लगाया जा रहा है उससे भी आर्य्य-द्रविड़ संघर्ष की भूमि अफ्रीका ही ठहरती है—आर्य्यावर्त्त किंवा उसका सप्तसिंधु प्रदेश नहीं। हिमालय के परिसर अथवा मेरु-प्रदेश से आर्य्य-मानवों का अफ्रीकी-अभियान दक्षिणी और उत्तरी अफ्रीका के निवासियों के वर्ण की भिन्नता प्रमाणित करती है। इस महा-जाति की प्रागैतिहासिक वातविकताओं को केवल इस कारण से नकारा नहीं जा सकता कि उसके वैसे पुरातन अदशेषों का अभाव है। उस सिंधु सभ्यता के अति दूर-पूर्वजों अथवा आर्य्य-अग्रजन्माओं की प्रागैतिहासिक वस्तुता कहाँ गई ? इस प्रश्न के साथ ही हमें उन प्रलय संबंधिनी अनुश्रुतियों को नहीं भूलना चाहिये जो सभी पश्चिमीय देशों में आर्य्य-मूल वाली जाति-शाखाओं के स्मृति-संस्कारों में रक्षित चली आ रही हैं। उस महाजाति का जब—कामायनी के अनुसार—'गया सभी कुछ' तब वैसी प्रलयाधीन हो चुकी मानव समष्टि के आदि-कालीन भौतिक अवशेषों का मिलना क्या दुष्कर न होगा ? वह तो अपनी इयत्ता को—'बचाकर बीज रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत'—(स्कंदगुप्त-पंचम अंक, पंचम दृश्य) स्थापित किये हैं। स्कंदगुप्त के इसी गीत में इस महाजाति के इस पश्चिमीय अभियान का भी संकेत स्पष्ट है जहाँ कहा गया है—'अरुण-केतन लेकर निज हाथ, वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत'। मनु ने मानवी सृष्टि अर्थात् मानव-जाति के आर्य्य भाग की वैवस्वती संतान धारा (ऐक्ष्वाकु अथवा मिश्र का हिक्कोस) के वरुण-पथ किंवा असीरिया, बेबिलोनिया, ईजिप्ट आदि की ओर जाने का संकेत एक प्रागैतिहासिक सत्य है।

हिमालय के Shivalik man का Rama Picthus आज गहन अनुसंधान का विषय बनता जा रहा है। ईजिप्ट की प्राचीन अनुश्रुति है कि उनके पूर्वज उस पुण्ट देश से आये थे जहाँ बाघ, चीते, बंदर और लंगूर बहुतायत से होते (Historians History of the World) हैं। यह पुण्ट या पुण्य देश प्राचीन आर्य्य-वास ही हो सकता है। शिवालिक पहाड़ियों में ये सभी जंतु बहुतायता से होते हैं। अनुश्रुति है कि केसरीनंदन कपिशूर हनुमान का जन्म मेरु पर हुआ। मेरु-प्रसंग में केसर-पर्वत का उल्लेख विष्णुपुराण में हुआ है।

संभव है उनके पिता का केसरी नाम मेरुवर्ती केसर-पर्वत से संबंधित और स्थान-वाची हो। आर्य्यों ने ही अश्वों को आरोहणोपयोगी और एक पालतू पशु बनाया : और, मिश्र में भी अश्वों का प्रचार आर्य्यों के द्वारा ही हुआ। फिर, भविष्य पुराण का यह कथन—"सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेश-मुपाययौ (4-21-16)" काल्पनिक गाथा नहीं प्रत्युत एक महत्त्व के ऐति-हासिक तथ्य का प्रकटीकरण है।

इस निबंध में वर्त्तमान हरह्वैती को वैदिक सरस्वती कहा गया है जिसके परिसर से काण्व समुदाय मिश्र को गया होगा। काण्वों की मूल-भूमि का वहाँ 'पूर्व के पुण्य देश' के रूप में स्मृति-शेष रहना फिर स्वाभाविक है। आर्य्यों की दो शाखाओं चंद्रवंशीय श्वेत और सूर्यवंशीय रक्त वर्णों की एक मिश्र प्रजाति द्वारा अधिकृत होने से उस देश का मिश्र नामकरण सार्थक है। दोनों जातियों में जो परस्पर विग्रह या उच्चावच भाव था उसको वहाँ के प्रथम राजा मेना ने समाप्त किया। अब, देखा जाय कि मिश्र का वह प्रथम शासक मेना क्या आर्य्य-वंशीय है? आर्य्य परंपरा में प्रायः मातृ नाम से भी संतान संबोधित हुआ करते थे, जैसे जबाला का पुत्र जाबालि। व्यक्ति या मानव-समूह के नाम पर स्थानों की संज्ञा होती है। ऐसा सोचा जा सकता है कि मेना (मेनका) पदवाच्य किसी मातृसत्ताक जाति विशेष से संबंधित होने से—हिमालय का एक विशिष्ट अंशभाग होने से—मेनका को हिमालय की पत्नी और उसके वास-पर्वत को हिमालय-पुत्र मैनाक कहा जाता रहा हो। आज भी हिमालय के कुछ भागों में मातृ-सत्तापरक समाज है। फिर, यह भी संभव है कि मिश्र का यह आदि-शासक मेना उसी मैनाक प्रदेशीय जाति की संतान रहा हो। प्रलय में 'गया सभी कुछ' मानकर संतोष करने वालों की—आर्य्यों की भावमयी श्रुतियों, अनुश्रुतियों एवं रूप-कीय गाथाओं में उस समृद्ध संस्कृति के अपार्थिव-अवशेष संस्कार-रूप में जीवित हैं, जो इतिहास की रेखाओं को पुष्ट कर सकते हैं। अगले लेख 'आदि पुरुष' (कामायनी का आमुख) की यह पंक्ति—"आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्त्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारंभ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंग की रेखाओं से, बीती हुई और भी बातों का उल्लेख स्मृति-पट पर अंकित रहता है"—इस प्रसंग में ध्यातव्य और मननीय है। प्रतीकों और रूपकों में समाज और उसके इतिहास के तथ्यों को रक्षित रखने की यहाँ परंपरा रही है। अनुश्रुति है कि इंद्र ने सभी पर्वतों

के पंख काट दिये, केवल मैनाक छूट गया। यह भी संभव है इंद्र ने किसी अभियान विशेष की अनुमति और उसके लिए अपना प्रश्रय केवल मैनाकों को दिया हो और अन्य लोगों को उससे वारित किया हो। मैनाक को छोड़ कर शेष पर्वतों के पंख काटने का रूपक-रहस्य इस प्रकार अनुमेय हो सकता है। और, वहीं की मेनका-कुल की संतति ने मिश्र जाने पर भी अपने मातृ-सत्ताक चिह्न को संजोए रखकर मेना के रूप में उभय आर्य्य-वर्गों को एकीकृत कर शासन किया हो तो विस्मय क्या ? जैसे 'हिक्कोस' से इक्ष्वाकु का बोध होता है वैसे 'मेना' के मूल में भी हिमालय की मेंनका-संतति हो सकती है। इक्ष्वाकुओं की भी मूल भूमि हिमवंत प्रदेश में थी। इस प्रदेश—हिमानीपाद (शिवालिक)—से अपनी देव-कल्पनाओं और अपने आध्यात्मिक विचारों के साथ लोग गये। नामों का सादृश्य और मान्यताओं का सादृश्य भी स्पष्ट है। वहाँ के एक प्रमुख धर्म-याजक 'मनेथो' का नाम भी कुछ ऐसा ही सादृश्य रखता है। एक देवता सत्ती का भी उल्लेख पाया जाता है जो वहाँ एक कबीले से संबंधित है। Flinders Petrie ने सती को वहाँ लाये गये विदेशीय देवताओं की कोटि में रखा है—(Encyc. of Rel. and Ethics, Vol. 5, Page 250)। वह देवराज्ञी मानी जाती थी। मेना में मेनका किंवा उसकी आत्मजा पार्वती-धारा के समानांतर सती-धारा का भी वहाँ विद्यमान रहना संभव है, भले ही सती एक छोटे समूह द्वारा ही आराधित रही हो। यदि उसके देवराज्ञी-भाव को ही प्रमुख माना जाय तो शची का परिवर्त्तित रूप भी सती हो सकता है : किंतु, प्रत्येक दशा में इस देवता की आर्य्यस्रोतृता स्पष्ट है।

इधर मध्य-प्रदेश के प्रायः 600-700 वर्गमील के क्षेत्र में बिखरी अनेक शैल-गुहायें और उनकी प्रस्तर-भित्तियों पर बने चित्र आज शोध करने वालों को अपनी रेखाओं में कुछ प्रागैतिहासिक कथा बता रहे हैं। शीत, आतप और वर्षा से रक्षा करने वाली गुहा अनंत-प्रभू की गोद कही गयी है—

थी अनंत की गोद सदृश विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय
उसमें मनु ने स्थान बनाया सुंदर स्वच्छ और वरणीय

फिर, उसकी संतति मानव में अपने गुहा-निकेतों को निरंतर परिष्कृत और सज्जित करते जाने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। गुहामानव

निरा जंगली नहीं रहा, उसकी सभ्यता के सतत विकास का प्रमाण संवेदनों के समस्वर बिंबों को संजोने वाले भावबोध की अभिव्यक्ति की चेष्टा में उरेही गयी ऐसी आकृतियों में रक्षित है। वैसी ही कुछ उरेही आकृतियाँ मध्यप्रदेश के पहाड़गढ़ गुहा में पाई गई हैं। वहाँ अंकित एक ऐसा पशु जीव-शास्त्रियों के सम्मुख पहेली बना है जिसकी आधी देह मृग की और आधी वृषभ की है। उस चित्र को बनाने वाले ने पृथ्वी पर संचरित किसी ऐसे प्राणी को निश्चय ही देखा सुना होगा। एक अन्य चित्र में रथ का अंकन है जो अपने अगली पहियों के छोटे होने के कारण अवश्य ही किसी तीव्रगामी और युद्धोपयोगी रथ की प्रतिच्छवि है। रेडियोकार्बन परीक्षण के द्वारा ये अंकन पच्चीस हजार वर्ष पुराने सिद्ध हुए हैं। तब, आर्य्य सभ्यता का इस भूमि पर इसके पर्याप्त पूर्व से विकास रहा होगा। क्योंकि यह निर्विवाद है कि घोड़ों का वाहन के रूप में प्रयोग आर्य्यों द्वारा ही आरंभ किया गया है। पश्चिम में उस ईजिप्ट तक—जहाँ का प्रथम शासक मेना था—इस पशु का आर्य्यों के द्वारा ले जाया जाना सिद्ध हो चुका है। ऋग्वेद में अश्व-पर्याय के रूप में भी मेना का उल्लेख है। फिर, इस भूमि पर पच्चीस हजार वर्ष अथवा इससे पहले या बाद किसी अनार्य्य जाति के निवास और उस जाति पर कहीं बाहर से आकर आर्य्यों का आक्रमण मानना कथमपि संगत नहीं। सुतराम् इस निबंध में प्राचीन आर्य्य-वास कहीं अन्यत्र नहीं माना गया, प्रत्युत स्कंदगुप्त नाटक के एक गीत में भी निबंध-लेखक द्वारा कहा गया है—"कहीं से हम आये थे नहीं, हमारी जन्मभूमि थी यहीं" (पंचम अंक, पंचम दृश्य)। श्रेय अथवा सत्यज्ञान ही संकल्पात्मक अनुभूति के रूप में कवि में उपस्थित होता है जिसकी अभिव्यक्ति ही काव्य है (द्रष्टव्य—काव्य और कला)। और, काव्य केवल छंदों में ही नहीं बसता : दृष्ट किंवा अनुभूतसत्य का कवन अर्थात् संक्षेपण और उसका शब्दात्मक संप्रेषण या उसकी अभिव्यक्ति अपने किसी भी रूप में काव्य पदावाच्य ही है।

आर्य्य-वास संबंधिनी इस स्थापना के पक्ष में अनेक साक्ष्यों में से यह एक उदाहरण के रूप में है। हिमानीपाद 'शिवालिक' के निवासी मानव की पश्चिम यात्रा असीरिया-बेबिलोनिया होकर ही अफ्रीका तक हुई होगी और उस परंपरा में क्षत्रियों (खत्तो) कुशिकों (कुसाइट्स) और मैत्रायणों (मित्तानियन्स) के परवर्त्ती अभियान रहे होंगे जिनका उल्लेख इस निबंध में सप्रमाण आया है।

आज किसी अज्ञात संकोचवश आर्य्य के स्थान पर शिवालिक मानव कहकर उनके जिस पश्चिमाभिमुखी अभियान को Rama Picthus की संज्ञा दी जा रही है—उस अभियान के अध्ययन के पर्याप्त संकेत इस निबंध में हैं। आवश्यकता केवल थोपी गई पश्चिमीय मान्यताओं की धूल झाड़कर एक निरपेक्ष अन्वेषण की है। 'कामायनी' में हिमालय के भौतिक आयतन की जो भावात्मक उपमा—'मानों तुंग तरंग विश्व की, हिमगिरि की वह सुढर उठान"—दी गई है उसकी लाक्षणिकता भी इस प्रसंग में ध्यातव्य होगी।

अपने प्राचीन आर्य्य-वास से निकल कर इस महाप्राण जाति ने मध्य एशिया—श्वेत रूस से स्पेन पर्यंत पश्चिम में और उत्तर में स्कैंडिनेविया से दक्षिण में उत्तरी अफ्रीका तक अपनी मानवता का विस्तार किया है। चंद्रगुप्त में कार्नेलिया के उस कथन की अपने सामान्यार्थ के अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थवत्ता है, जहाँ वह कहती है --'अन्न देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है, (तृतीय अंक-द्वितीय दृश्य)। कदाचित् मनुष्य और मानव में व्यंजना की विलक्षणता से कुछ अर्थभेद भी है। विभिन्न-भू भागों की कृष्ण-पीत जातियाँ मनुष्य तो हैं किंतु मानव नहीं। उन्हें मानवीय संस्कार अभी वांछित है—वे मानवीकरण के योग्य हैं।

इसी अभिप्राय से ऋचा-निर्दिष्ट 'कृणुध्वं विश्वमार्य्यम्' की भावना लेकर आर्य्य-मानवों के अन्य-क्षेत्रीय संचार हुए। उन विभिन्न देशों में बसने वाली जातियों के आनुपूर्वी इतिहास, उनकी सामाजिक परम्परायें, धार्मिक मान्यताओं का अतीत एकायन-प्राय है। अवश्य अपनी इयत्ताओं में उन्होंने अपने पृथक् व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया है किंतु भिन्न देशीय वातावरण के संस्कारों की परतें उधरने पर मौलिक आर्य्य-स्फुलिंग स्पष्ट हो ही जाते हैं और वैदिक संकल्प 'कृणुध्वं विश्वमार्य्यम्' के अनेक चरणों की सिद्धि अपनी साकारता में प्रत्यक्ष होती है।

—संपादक

□□

आदि पुरुष

आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किंतु मन्वंतर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। प्राय: लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किंतु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है; क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच में संबंध लगा हुआ-सा दीखता है। घटनाएँ कहीं-कहीं अतिरंजित-सी भी जान पड़ती हैं। तथ्य-संग्रहकारणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किंतु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से संबद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्त्तमान संस्कृति का क्रम-पूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति-पट पर अमिट रहता है; परन्तु कुछ अति-रंजित-सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती हैं। संभवत: इसीलिए हमको अपनी श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ा; जिससे कि उन अर्थों का अपनी वर्त्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय।

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाध्य है। यह मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी, उसके तिथिक्रम मात्र से संतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष होती है। फिर, वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किंतु, सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।

जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिससे मनु को देवों से विलक्षण, मानव की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। '**मनवे वै प्रातः**' इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शत-पथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय में मिलता है। देवगण के उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अंतिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वंतर के प्रवर्त्तक मनु हुए। मनु, भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें श्रद्धादेव कहा गया है, 'श्रद्धादेवो वै मनु;' (का० 1 प्र० 1) भागवत में इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है।

"ततो मनुः श्रद्धादेवः संज्ञायामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्।" (9-1-11)

छांदोग्य उपनिषद् में मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। 'यदा वै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धधन् मनुते' यह कुछ निरुक्त की-सी व्याख्या है। ऋग्वेद में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। श्रद्धा वाले सूक्त में सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, 'कामगोत्रजा श्रद्धा-नामर्षिका।' श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, इसलिए नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। मनु प्रथम पथ-प्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्वलित करने वाले तथा अन्य कई वैदिक कथाओं के नायक हैं :—मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे यदनूकृत्येमाः प्रजा यजन्ते (5-1 शतपथ)। इनके संबंध में वैदिक साहित्य में बहुत-सी बातें बिखरी हुई मिलती हैं; किंतु उनका क्रम स्पष्ट नहीं है। जल-प्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय से आरम्भ होता है, जिसमें उनकी नाव के उत्तरगिरि हिमवान प्रदेश में पहुँचने का प्रसंग है। यहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु भी जिस स्थान पर उतरे उसे, मनोरव-सर्पण' कहते हैं। 'अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्या मा गिरौ सन्तमुद-कमन्तश्चैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्—तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत् तावदेवान्ववस-सर्प। तदप्येयदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति। (8-1)

श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किंतु असुर पुरोहित के मिल जाने से इन्होंने पशु-बलि की 'किलाताकुली—इति हासुर ब्रह्मावासुतः। तौ होचतुः श्रद्धादेवो वै मनुः—आवं नु वेदावेति। तौ हागत्योचतुः—मनो वाजयाव त्वेति।'

इस यज्ञ के बाद मनु में पूर्व परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी—उसने इड़ा के संपर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। इड़ा के संबंध में शतपत में कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई और उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने पूछा कि 'तुम कौन हो?' इड़ा ने कहा, 'तुम्हारी दुहिता हूँ।' मनु ने पूछा कि 'मेरी दुहिता कैसे?' उसने कहा, 'तुम्हारे दही, घी इत्यादि के हवियों से ही मेरा पोषण हुआ है।' 'तां ह मनुरुवाच—'का असि?' इति। 'तव दुहिता' इति। 'कथं भगवती? मम दुहिता'? इति। (शतपथ 6 प्रपाठक 3 ब्राह्मण)

इड़ा के लिए मनु को अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से वे कुछ खिचे। ऋग्वेद में इड़ा का कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथ-प्रदर्शिका मनुष्यों का शासन करने वाली कही गयी है। "इड़ामकृवण्वन्मनुषस्य शासनीम्" (1-31-11 ऋग्वेद)। इड़ा के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कई मंत्र मिलते हैं। "सरस्वती साधयंती धियं न इड़ा देवी भारती विश्वतूर्तिः स्वधयावर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।" (ऋग्वेद 2-3-8) "अपनो यज्ञं भारती तूय मेत्विड़ा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्वर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।" (ऋग्वेद—10-110-8) इन मंत्रों में माध्यमा, वैखरी और पश्यती की प्रतिनिधि भारती, सरस्वती के साथ इड़ा का नाम आया है। लौकिक संस्कृत में इड़ा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है—"गो भू वाचस्त्विड़ा इला"—(अमर) इस इड़ाया वाक् के साथ मनु या मन के एक और विवाद का शतपथ में उल्लेख मिलता है जिसमें दोनों अपने महत्व के लिए झगड़ते हैं 'अथातो मनसश्च' इत्यादि (4 अध्याय, 5 ब्राह्मण)। ऋग्वेद में इड़ा को धी, बुद्धि का साधन करने वाली; मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। पिछले काल में संभवतः इड़ा को पृथ्वी आदि से संबद्ध कर दिया गया हो, किंतु ऋग्वेद 5-5-8 में इड़ा और सरस्वती के साथ मही का अलग उल्लेख स्पष्ट है। "इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवी मयोभुवः" से मालूम पड़ता है कि मही से इड़ा भिन्न है। इड़ा को मेधसावाहिनी नाड़ी भी कहा गया है।

अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य-स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन होना पड़ा। 'तद्वै देवानां आग आस' (7-4 शतपथ)। इस अपराध के कारण उन्हें दंड भोगना पड़ा 'तं रुद्रोऽभ्यावस्य विव्याध' (7-4 शतपथ)। इड़ा देवताओं की स्वसा थी। मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी। इसीलिए यज्ञों में इड़ा-कर्म होता है। यह इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है।

इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमश: श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। 'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु' (ऋग्वेद 10-151-4)। इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा-सृष्टि हुई है। हा, 'कामायनी' की कथा शृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार, मैं नहीं छोड़ सका हूँ।

महारात्रि, 1992

—जयशंकर प्रसाद
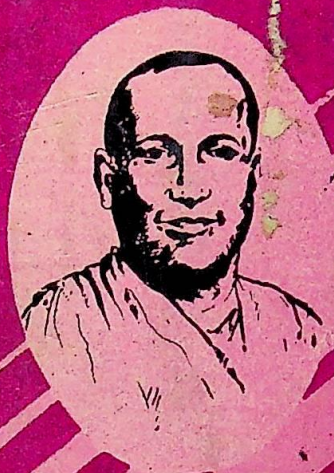
प्रसाद ग्रंथावली

जयशंकर 'प्रसाद'

जयशंकर 'प्रसाद' (१८८९-१९३७ ई.) आधुनिक हिंदी के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-स्रष्टा के रूप में अजर-अमर हैं। कामायनी के महाकवि, शीर्षस्थ नाट्यकार, गौरवशाली कहानीकार प्रसाद सफल उपन्यासकार एवं विद्वान निबंधकार भी हैं। भारतीय साहित्य का गहन अध्ययन एवं भारतीय संस्कृति के प्रति अपार अनुराग उनके अमर साहित्य के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है। किंतु वे आधुनिकता के महान् वाहक एवं उन्नायक भी हैं। नारी के प्रति गंभीर श्रद्धा तथा दलितों के प्रति गहरा संवेदन उन्हें भारतीय जन-जागरण से जोड़ देता है। शैव-आनंदवाद का प्रतिपादन उन्हें एक दार्शनिक-कलाकार सिद्ध करता है, जिसमें नारी, श्रमजीवी इत्यादि के प्रति सम्मान तथा राष्ट्रीयता के विशद निरूपण ने नव्यता की भव्य सृष्टि कर दी है। निस्संदेह, बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न प्रसाद, रवीन्द्र एवं एलिअॅट इत्यादि के स्तर के विश्व-कलाकार हैं।